हिन्दी-उपन्यास में नारी-चित्रण

१८७०-१९५० ई०

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का संक्षिप्त रूप
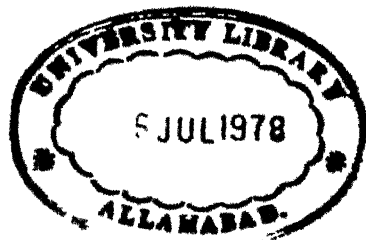
बिन्दु अग्रवाल
एम० ए०, डी० फिल०

राधाकृष्ण प्रकाशन

●

प्रकाशक
ओमप्रकाश
राधाकृष्ण प्रकाशन
२ अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली–६

●

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

मूल्य
४५ रुपये

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० की उपाधि के लिए प्रस्तुत इसी शीर्षक के मेरे शोध-प्रबन्ध का संक्षिप्त रूप है।

इस प्रबन्ध पर मैंने सन् १९५३ मे कार्य करना प्रारम्भ किया था। सन् १९६० मे जब मुझे डी० फिल० की उपाधि प्राप्त हुई तभी म इसे प्रकाशित करा देना चाहती थी। पर मन के किसी कोने मे यह भाव अटका हुआ था कि यदि इसमे मै नवीनतम उपन्यासो की भी विवेचना समाविष्ट कर सकती तो और भी अच्छा होता। इसी असमजस मे इतने वर्ष निकल गये। इधर हिन्दी उपन्यास का इतनी तेजी से विकास हुआ है कि यदि इस ग्रन्थ मे पिछले पन्द्रह सोलह वर्षों के उपन्यासो का विवेचन भी सम्मिलित किया जाय तो उसका रूप बहुत बदल जायेगा। अत अन्त मे मैने यही उचित समझा कि परवर्ती उपन्यासो का विवेचन स्वतन्त्र रूप से ही किया जाय, और शोध-प्रबन्ध को वर्तमान रूप मे ही प्रकाशित कर दिया जाय। प्रस्तुत ग्रथ म मूल प्रबन्ध का विवेचन और विश्लेपण ज्यो का त्यो रहने दिया गया है, केवल पीठिका और भूमिका के रूप म मैने नारी की सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति का जो सर्वेक्षण प्रस्तुत किया था उसे छोड दिया है, और यत्र-तत्र कुछ उद्धरण कम कर दिए है ताकि ग्रथ का कलेवर सामान्य पाठको के रस-ग्रहण मे बाधा न बने।

आज इतने वर्षों के अन्तराल के बाद जब यह ग्रन्थ प्रकाश मे आ रहा है तो मेरा मन पुन उन गुरुजनों एवं स्वजनों के प्रति कृतज्ञता से भर आया है जिनके आशीर्वाद और प्रोत्साहन से मै यह कठिन कार्य पूरा कर सकी। विशेष रूप से मै श्रद्धेय डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० उदयनारायण तिवारी, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय और डा० शैलकुमारी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहती हूँ जिनसे मुझे समय-समय पर बहुमूल्य सहायता प्राप्त होती रही है।

बिन्दु अग्रवाल

अध्याय-क्रम

भारत जी को

अध्याय १

हिन्दी उपन्यास का क्रम-विकास

उपन्यास आधुनिक युग की देन है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार, मुद्रण-कला के विकास और जनतात्रिक सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप उपन्यास का जन्म और विकास होता है। हिन्दी मे भी उपन्यासो का जन्म इन्ही प्रेरणाओ से हुआ। उपन्यास मे आख्यानो की-सी रोचकता और विस्तार होते हुए भी उसमे आख्यानो के विपरीत दैनिक जीवन की सामान्य घटनाओ का वर्णन होता है। इसी प्रकार उसमे महाकाव्यो की-सी प्रबन्धता और चरित्र-चित्रण होते हुए भी महाकाव्यो के विपरीत साधारण जनो के यथार्थ जीवन का चित्रण होता है। इसीलिए उपन्यास को 'जन-जीवन का महाकाव्य' कहा गया है।

हिन्दी मे उपन्यास-रचना का प्रारम्भ हुआ तो उसका सम्बन्ध प्राचीन औपन्यासिक परम्परा मे नाम मात्र को भी न था। हिन्दी उपन्यास साहित्य का वह पौधा है जिसे अगर सीधे पश्चिम से न भी लिया गया हो तो भी उसकी बँगला कलम तो ली ही गई थी।

बॅगला साहित्य मे उपन्यासो की हलचल से प्रभावित होकर सर्वप्रथम आधुनिक हिन्दी के जनक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का ध्यान उपन्यास-रचना की ओर गया। उन्होने 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नाम का उपन्यास लिखा। यद्यपि यह उपन्यास मराठी उपन्यास का अनुवाद माना जाता है, तथापि यह सामाजिक समस्याओ एव उपन्यासो की सम्भावनाओ के प्रति लेखको का ध्यान आकर्षित करता है। भारतेन्दु ने अपने समकालीन लेखको को भी इस ओर प्रोत्साहित किया जिसके कारण अनेक लेखक बँगला उपन्यासो के अनुवाद करने मे जुट गए।

प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यास

हिन्दी मे अग्रेजी ढग का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' (१८८२) था। यह उपन्यास नव जागरण का सदेश देता है। इसमे लेखक ने तत्कालीन मध्यवर्ग के जीवन और समाज का यथार्थ एव विस्तृत चित्रण किया है।

इस काल मे अनेक सामाजिक और नीति-परक उपन्यास लिखने के प्रयास किए गए। इस प्रकार के उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति मे दो मुख्य प्रेरणाये थी : (१) कुछ लोग पाश्चात्य-जीवन-प्रणाली और उसकी वेश-भूषा की भाँति उपन्यासो को भी पाश्चात्य देन कहकर उसको भारतीय जलवायु के प्रतिकूल समझते थे, (२) कुछ तिलिस्मी उपन्यासो को देखकर लोग इसे सस्ती और विकारो को उत्पन्न करने वाली वस्तु समझते थे। अत: दोनो प्रकार के भ्रमो के उन्मूलन के लिए लेखक-गण ऐसे शिक्षाप्रद उपन्यास लिखने मे

जुट गए जिनमे प्राच्य आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई। इनमे मेहता लज्जाराम शर्मा का नाम सर्वोपरि है।[१] इनके अतिरिक्त प० बालकृष्ण भट्ट[२], बाबू राधाकृष्णदास[३], प० अयोध्यासिंह उपाध्याय[४], कार्तिकप्रसाद खत्री[५], रत्नचन्द प्लीडर[६] प्रमुख है। ठा० जगमोहनसिह का 'श्यामा स्वप्न' भी प्रसिद्ध है जिसमे रीतिकालीन स्वच्छन्द प्रेम की परिपाटी का अवलम्बन किया गया है। पर उपर्युक्त सभी उपन्यासकारो ने अपने उपन्यासो मे वर्गगत चरित्रो को प्रकाश मे लाने का प्रयास किया है। इनमे घरेलू जीवन के चित्रण एव नैतिक आदर्शों पर विशेष ध्यान दिया गया है, साथ मे धार्मिक और राजनैतिक स्थिति पर भी प्रकाश पड जाता है।

इन उपन्यासो की लोकप्रियता देखकर देवकीनदन खत्री ने 'चद्रकान्ता' और 'चद्रकान्ता-सतति' लिखकर एक नये ढग के उपन्यासो की परम्परा चलाई। इनमे चमत्कार पर ही अधिक आग्रह है। ये उपन्यास इतने अधिक लोकप्रिय हुए कि इन रचनाओ के सम्बन्ध मे प० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "'चन्द्रकान्ता' पढने के लिए ही न जाने कितने उर्दू जीवी लोगो ने हिन्दी सीखी"।[७] बहुत दिनो तक 'तिलिस्म' और 'ऐय्यारी' उपन्यासो की भरमार रही।

इन उपन्यासो मे लोकरुचि को देखकर गोपालराम गहमरी ने वैचित्र्य के साथ विश्वसनीय घटनाओ का आधार लेकर पाश्चात्य ढग पर जासूसी उपन्यासो की रचना की।[८] उन्होने सन् १९०० मे 'जासूस' नाम की एक मासिक पत्रिका भी निकाली जो ३० वर्ष तक प्रकाशित होती रही।

इस काल के उपन्यासकारो मे प० किशोरीलाल गोस्वामी विशेष रूप से प्रसिद्ध है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी रचनाओ को साहित्य की कोटि मे रखा है।[९] ये ही एक ऐसे उपन्यासकार है जिन्होने युग-प्रचलित प्राचीन और नवीन सभी प्रवृत्तियो को

---

१. 'आदर्श हिन्दू', 'आदर्श गृहस्थ', 'आदर्श दम्पति', 'बिगड़े का सुधार', 'धूर्त रसिकलाल', 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी'।

२. 'नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान एक सुजान'।

३. 'निस्सहाय हिन्दू'।

४. 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'अधखिला फूल'।

५. 'दीनानाथ'।

६. 'नूतन चरित्र'।

७. रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', (सन् १९४५, पृष्ठ ४३४)।

८. 'हत्या का रहस्य', 'रहस्य-विप्लव', 'जासूस की बुद्धि', 'ठनठनगोपाल', 'गुप्तचर', 'झडा डाकू' आदि।

९. 'साहित्य की दृष्टि से उन्हे हिन्दी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए।' रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (पृष्ठ ४३४)।

आत्मसात कर लिया था। उन्होने तिलिस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखे। ऐतिहासिक उपन्यासो मे भिन्न-भिन्न कालो की सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति का यथार्थ चित्रण नही मिलता। उनका उद्देश्य शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का था भी नही।[1]

इस प्रकार प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यास कथानक की दृष्टि से चार प्रकार के है—तिलिस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक और सामाजिक। आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन के प्रभाव के कारण उस समय के सभी प्रकार के उपन्यासो मे उपदेश की प्रवृत्ति पाई जाती है। इन उपन्यासो मे अधिकतर समाज का ही चित्रण मिलता है। तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासो का महत्व लोकरुचि के कारण है। ऐतिहासिक उपन्यास एक तो अल्प सख्या मे लिखे गए, दूसरे तत्कालीन परिस्थिति की अनभिज्ञता के कारण इनका महत्व भी गौण है। सामाजिक उपन्यासो की परम्परा बहुत आगे तक चलती रही। बँगला उपन्यासो के प्रभाव के कारण हिन्दी का उपन्यासकार सामाजिक चित्रण एव भारतीय सस्कृति की ओर अधिक उन्मुख हुआ। वकिम बाबू के ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासो को लोगो ने बडे चाव से पढा। इसके अतिरिक्त रमेशचन्द्र दत्त, शरच्चद्र चट्टोपाध्याय, चारुचन्द्र, राखाल बन्द्योपाध्याय और रवीन्द्रनाथ के बँगला उपन्यासो तथा अनेक मराठी, गुजराती और अग्रेजी के श्रेष्ठ उपन्यासो का भी अनुवाद होने लगा था। इन सभी उपन्यासो का स्तर तत्कालीन हिन्दी उपन्यासो से ऊँचा था। अतः अनूदित उपन्यासो के कारण हिन्दी लेखको का ध्यान अति-प्राकृत, वैचिञ्यपूर्ण, घटना-बहुल ऐय्यारी और तिलिस्मी उपन्यासो से हटकर प्राचीन भारतीय सस्कृति के आदर्शों की पृष्ठभूमि मे तत्कालीन सामाजिक समस्याओ का चित्रण करने की ओर आकृष्ट हुआ।

प्रेमचन्द-युग

मुशी प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य मे युग-प्रवर्तक के रूप मे आये। उन्होने साहित्य के स्तर को ऊँचा किया और हिन्दी उपन्यास को बँगला के समकक्ष ले जाने का सफल प्रयास किया। उनका महत्व विशेषत पाँच दिशाओ मे है: (१) उन्होने उपन्यास को अधिक सगठित और क्रमबद्ध कथावस्तु दी (२) उपन्यासो मे लेखक की भावनाओ अथवा मान्यताओ के आधार पर निर्मित कठपुतली पात्रो के स्थान पर जीते-जागते मानव-चरित्रो की प्रतिष्ठा की, (३) उन्होने अपने युग की आवश्यकता के अनुरूप ऐसे उपन्यासो की रचना की जिनसे समाज को आगे विकास का मार्ग मिला, (४) उन्होने सामाजिक समस्याओ का विश्लेषण करते समय उनके यथार्थ और व्यावहारिक समाधान पर भी दृष्टि रखी, और (५) अपनी गहरी, सूक्ष्म और व्यापक सहानुभूति के द्वारा उपन्यासो के ससार को नए प्राण दिए। प्रेमचन्द ने प्रथम बार जीवन के प्रत्येक पहलू को साहित्य मे स्थान दिया। उच्च, मध्य, निम्न सभी वर्गों का चित्रण करते हुए उन्होने किसान, मजदूर,

---

१. दृष्टव्य : किशोरीलाल गोस्वामी : 'तारा' : भूमिका।

जमीदार, महाजन, राजे-रजवाडे, साम्राज्यवाद के हथकण्डे, सत्याग्रह-सग्राम, मानव की कुटिल प्रवृत्तियो पर, दाम्पत्य जीवन और प्रेमी प्रेमिकाओ की समस्याओ पर, विधवा, वेश्या, बाल-विवाह, अनमेल विवाह और आभूषण-प्रियता आदि सभी विषयो पर समाज-सुधार की दृष्टि से प्रकाश डाला है। द्विवेदीकालीन साहित्य मे जो सुधारवादी प्रवृत्ति चल रही थी, उसको प्रेमचन्द ने ही सुदृढ बनाया। उपन्यास की कथावस्तु को काल्पनिक कुहासे से निकालकर सामाजिक समस्याओ, राजनैतिक हलचलो और आर्थिक विषमताओ की भूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्रेमचन्द को ही है। उन्होने सामाजिक समस्याओ के यथार्थ चित्रण के साथ-साथ उनका आदर्श-मूलक समाधान भी दिया है। अपने इस दृष्टिकोण को प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' कहा है। प्रेमचन्द की इस प्रवृत्ति का प्रभाव तत्कालीन सभी लेखको पर पडा।

इस युग के उपन्यासो मे सामाजिक समस्याओ के अन्तर्गत नारी की विभिन्न समस्याये विशद रूप से चित्रित हुईं। प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' (१८१८) लिखकर सर्वप्रथम वेश्या-वृत्ति की समस्या का गम्भीरता से अध्ययन किया। यह उपन्यास हिन्दी उपन्यास के विकास मे मील का पत्थर है। इसके प्रकाशन ने हिन्दी मे क्रान्ति की एक लहर दोडा दी और वेश्या-वृत्ति[१], विधवा-समस्या[२], अनमेल विवाह[३], स्वच्छन्द प्रेम की समस्या[४], मध्यवित्त जीवन के आत्म-प्रवचित रूप[५], सम्मिलित परिवार का विघटन[६] आदि के सम्बन्ध मे अनेक उपन्यास इस युग मे लिखे गए।

राजनैतिक चित्रण की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास कोई स्वतन्त्र रूप नही अपना सके है। उपन्यास का ध्येय सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होने के कारण सामाजिक उपन्यासो मे राजनैतिक जीवन की भी छाप पड गई है।[७] हम व्यक्ति के सामाजिक और राजनैतिक जीवन को एकदम काट-छॉटकर देख भी नही सकते।

---

१. वेश्या-वृत्ति-सम्बन्धी मुख्य उपन्यास—विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक : 'माँ'; भगवती प्रसाद वाजपेयी : 'पतिता की साधना'; भगवतीचरण वर्मा : 'तीन वर्ष'।

२. विधवा-समस्या-सम्बन्धी उपन्यास—प्रेमचन्द : 'वरदान' और 'प्रतिज्ञा', चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' : 'मनोरमा' और 'मंगल प्रभात', जैनेन्द्र : 'परख', राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह : 'राम-रहीम'।

३. अनमेल विवाह और बाल विवाह संबधी उपन्यास—प्रेमचन्द : 'सेवा सदन' और 'निर्मला'; भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'अनाथ पत्नी'।

४. जयशंकर 'प्रसाद' : 'कंकाल'; प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गोदान'।

५. प्रेमचन्द : 'गबन'।

६. प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम', 'गोदान'।

७. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि'; राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह : 'पुरुष और नारी'; ठाकुर श्रीनाथ सिंह : 'जागरण'; निराला : 'अप्सरा'।

गाँवो की ओर भी इस युग के उपन्यासकारो का ध्यान गया। गाँव और शहर दोनो के जीवन का चित्रण इस युग के उपन्यासो मे मिलता है।[१] शहर मे जहाँ जनता का विरोध साम्राज्यवाद के विरुद्ध[२] है वहाँ गाँव मे महाजनी सभ्यता के विरुद्ध। इस समय का उपन्यासकार विभिन्न स्तरो के स्वार्थ को भली प्रकार समझ गया था। विभिन्न वर्गों के अन्तर्विरोधो और स्वार्थों का चित्रण 'रगभूमि' मे विभिन्न पात्रो द्वारा हुआ है। यही नही, इस उपन्यास मे पूँजीवाद के उत्थान-पतन और औद्योगिक जटिलताओ का भी समावेश मिलता है। अपनी कुलीनता और न्याय की दाद देने वाले जमीदार और सामत वर्ग किस प्रकार किसानो का शोषण करते है, यह 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' मे बडी सशक्त शैली मे व्यक्त हुआ है। इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासो की कथावस्तु साम्राज्यवाद और सामतवाद से सघर्ष करती हुई विकास करती है, यद्यपि अन्त मे वे दोनो का समन्वय सुधारवादी ढग से कर देते है।

प्रेमचन्द-युग मे कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गए।[३] यद्यपि प्रेमचन्द ने इस ओर ध्यान नही दिया किन्तु वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढकुडार' (१९३०) लिखकर ऐतिहासिक उपन्यास का सूत्रपात किया। इस उपन्यास के पूर्व के उपन्यासो मे लेखक इतिहास के नाम पर तिलिस्म, ऐय्यारी और अतिरजित प्रेम-कथाओ को ही प्रश्रय देते थे। भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' उपन्यास भी उल्लेखनीय है। इसमे हमे गुप्त-कालीन वैभव की झाँकी मिलती है।

इस प्रकार प्रेमचन्द-युग मे सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखे गए। प्रेमचन्द ने प्रथम बार सामाजिक, राजनैतिक, और आर्थिक समस्याओ का चित्रण हिन्दी उपन्यास मे किया। प्रारम्भ मे उन्होने यथार्थ और आदर्श मे समन्वय किया था, किन्तु धीरे-धीरे प्रेमचन्द समन्वय और आदर्शवादिता को तिलाजलि देकर यथार्थ की कठोर भूमि पर आ गए। उन्होने मानव की सम्भावनाओ एव दुर्बलताओं का सम्यक चित्रण किया है।[४]

'विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, सस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द मे मिलते है उतने औरो मे नही'।[५] इस युग के अन्य लेखको ने भी

---

१. ग्रामीण जीवन-सम्बन्धी उपन्यास—सियारामशरण गुप्त : 'गोद', 'अन्तिम आकाक्षा', 'नारी'; शिवपूजन सहाय : 'देहाती दुनिया'; जयशंकर 'प्रसाद', : 'तितली'; प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'गोदान'।
२. प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम', 'गोदान'।
३. वृन्दावनलाल वर्मा : 'विराटा की पद्मिनी', 'गढ़कुंडार'; जयशंकर 'प्रसाद' : 'इरावती' (अधूरा उपन्यास)।
४. द्रष्टव्य : डा० श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' (पृष्ठ ३१४)।
५. डा० नगेन्द्र : 'विचार और विवेचन' (पृष्ठ ९१)।

विभिन्न समस्याओ एव मानव के विभिन्न रूपो का चित्रण किया अवश्य हे किन्तु एक तो किसी भी अन्य उपन्यासकार की सहानुभूति प्रेमचन्द की भाँति व्यापक न थी, दूसरे उन्होने मानव-जीवन और उसकी समस्याओ को वह ममत्व ओर गम्भीरता प्रदान नही की हे जो प्रेमचन्द ने की।

प्रेमचन्द ने आर्थिक वैषम्य का चित्रण किया है किन्तु 'उन्होंने अर्थ-वैषम्य को सामाजिक जीवन की ग्रन्थि नही बनने दिया है।'[१] पात्र आर्थिक वैषम्य से पीडित हे किन्तु वे उसका समाधान बाह्य सघर्ष द्वारा ढूँढ लेते है। इस युग के लगभग सभी लेखक गांधीवादी शान्तिपूर्ण नीति पर विश्वास करते थे। वे क्रान्ति की अपेक्षा हृदय-परिवर्तन के मार्ग को श्रेयस्कर समझते थे।

इस युग मे समस्त समस्याओ का चित्रण विषय-निष्ठ शैली मे किया गया हे, व्यक्ति-निष्ठ होकर नही। व्यक्ति-जीवन की जटिलताओ, वैषम्य और सघर्ष के चित्रण के साथ मानव-मन का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण मनोवैज्ञानिक चित्रण भी अनिवार्य रूप से हुआ है, किन्तु यह चित्रण परिस्थिति के प्रभाव के रूप मे हुआ हे, मनोवैज्ञानिक अध्ययन के उद्देश्य से नही। प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासकारो को चमत्कार और कौतूहल उत्पन्न करने के प्रयास मे व्यक्ति के मन की ओर झाँकने का न तो अवकाश था और न उपयोग ही। उन पात्रो मे व्यक्तित्व का अभाव रहता था। पाठक का ध्यान व्यक्ति पर नही, व्यक्ति के क्रिया-कलापो पर केन्द्रित रहता था। किन्तु प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारो ने विशेष परिस्थिति मे पडे हुए पात्र के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की विस्तृत व्याख्या की हे। यह मानसिक अन्तर्द्वन्द्व नैतिक-व्यावहारिक विवेक पर ही आश्रित है। नैतिकता का ध्यान रखते हुए अपने विवेक की कसौटी पर व्यावहारिक रूप मे जो मानसिक अन्तर्द्वन्द्व सभव हो सकता था, उसी का चित्रण हुआ है। व्यक्ति के अन्तर्जगत की समस्याओ और उसके तीव्र अन्तर्द्वन्द्वो एव अनुभूतियो को अवाछित महत्व नही दिया गया है।

किसी भी साहित्यिक युग को पूर्ववर्ती और परवर्ती युगो से पूर्णत· विच्छिन्न नही किया जा सकता। पुरानी मान्यताओ के साथ ही नई मान्यताओ का उदय होने लगता है।

प्रेमचंदोत्तर काल

प्रेमचन्द-युग मे ही नए धरातल विकसित हो रहे थे। बाह्य सघर्ष के साथ-साथ व्यक्ति के अन्तर्मन की गुत्थियो को भी महत्व दिया जाने लगा था। इलाचन्द्र जोशी लिखित 'घृणामयी', (१९२९), जैनेन्द्र लिखित 'परख' (१९३०) और 'सुनीता' (१९३६) इस बात की पुष्टि करते है। 'गोदान' और 'सुनीता' दोनो कृतियाँ एक ही सन् मे प्रकाशित हुई थी, यद्यपि एक की भावभूमि प्रेमचन्द-युग की है और दूसरे की अगले युग की।

इन नए धरातलो के विकसित होने का मुख्य कारण है—मनोविज्ञान और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के सिद्धान्तो की खोज। सन १८८५ मे फ्रायड द्वारा जिस नए प्रयोगात्मक

---

१. वही : (पृष्ठ ९२)।

मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषण-पद्धति की नीव पडी, उसका प्रभाव विश्व साहित्य के माध्यम से हिन्दी उपन्यास पर प्रेमचन्द-युग मे ही पडने लगा था। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने व्यक्ति के मन और उसके अवचेतन की गहराइयो पर नए ढग से प्रकाश डाला। फ्रायड, एडलर, युग इत्यादि मनोवैज्ञानिक चिकित्सको ने मानव-मन को समझने मे बडी सहायता दी। इन मनोवैज्ञानिको का प्रभाव अग्रेजी साहित्य पर विशेष रूप से पडा था। इन अग्रेजी उपन्यासो का प्रभाव बँगला उपन्यासो पर पडा। रवीन्द्रनाथ ने घर-बाहर की समस्या रखी, जो आगे चलकर 'सुनीता' मे दिखाई दी। शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय पर यह प्रभाव और भी गहरे रूप मे पडा। उन्होने स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण, उनकी मनोवेदना, दमित और विद्रोहिणी नारी एव भटकते पुरुष का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। इस बँगला साहित्य का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पर्याप्त रूप से पडा। फलस्वरूप उपन्यास की कथावस्तु और उसके शिल्प मे भी काफी अन्तर आ गया।

प्रेमचन्द-युग के उपन्यासो मे वर्णनात्मक शैली का प्राधान्य था, पर अब मनोवैज्ञानिक-विश्लेषणात्मक शैली अधिकाधिक प्रचलित होती गई। प्रेमचन्द-युग की कथावस्तु का विस्तार समुद्र की भाँति विस्तृत था, पर इन नए मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे कथावस्तु बहुत सीमित हो गई। अभिव्यजना इतनी बढ गई कि कथा-प्रवाह और चरित्र-विकास का स्थान गोण हो गया। पात्रो की सख्या भी घट गई। इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे उपन्यासकार एक सीमित परिधि के भीतर एक सीमित दृष्टिकोण से देखने लगा। अत कथावस्तु मे एक ओर सकोच आया तो दूसरी ओर तीव्रता। स्थान, काल और क्रिया-कलापो मे बुद्धिसगत एकता आई। प्रेमचन्द-युग के उपन्यासो मे विस्तार तो था किन्तु वह गहराई, तलस्पर्शिता एव तीव्रता न थी जो बाद के उपन्यासो मे दिखाई देती है।

प्रेमचन्द-युग मे हार्डी की भाँति व्यक्ति और परिस्थिति या नियति का सघर्ष दिखाई देता है। किन्तु बाद मे इस सघर्ष के अतिरिक्त और भी सघर्ष उभर कर आये। समाज के विकास के साथ नए सघर्षो का उदय होता है। इन्ही नये सघर्षो की उपज से उपन्यास का विकास दिन-प्रति-दिन होता रहा। पहले व्यक्ति अपने परिवेश से सघर्ष करता था, फिर वह सघर्ष क्रमश दो वर्गों और दो परिवारो से होता हुआ दो व्यक्तियो के सघर्ष का रूप ले उठा।[1] इस विकास की चरम परिणति व्यक्ति-चरित्र-प्रधान उपन्यासो मे हुई। इन उपन्यासो मे मानव-चरित्र से व्यक्ति-चरित्र महत्वपूर्ण हो गया। व्यक्ति की व्यक्तिगत विशेपताये, उसका मन, उसकी चेतना ही साहित्य का मख्य अग बन गई। इस मानसिक सघर्ष का चित्रण ही अपने आपमे एक अन्त बन गया, वही उपन्यास का ध्येय हो गया।

---

१. 'समाज के भीतर वर्ग और वर्ग का सघर्ष, फिर वर्ग के भीतर कुल और कुल का, कुल में परिवार और परिवार का और अन्ततोगत्वा परिवार के भीतर व्यक्ति और व्यक्ति का संघर्ष—इन सब पर टिककर उपन्यासकार की दृष्टि विकसित होती रही।' सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन : 'कल्पना' : जून १९५२ (पृष्ठ ४२३)।

इन उपन्यासो की कथावस्तु की प्रेरणा अब वे सामाजिक समस्याये न रही जो अब तक रहा करती थी। वे सब समस्याये समाज मे किसी न किसी रूप मे प्रचलित तो रही पर सामाजिक जागृति के कारण उनकी ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करने की कोई आवश्यकता लेखको ने अनुभव न की। उनका ध्यान यौन-सम्बन्धो की समस्या, स्वच्छन्द प्रेम की समस्या, आर्थिक परिवर्तनो के कारण उत्पन्न विकार और बधन—इन्ही की ओर विशेष रूप से गया।

इस युग के लगभग प्रत्येक उपन्यासकार ने यौन-सम्बन्धो की समस्याओ तथा स्वच्छन्द प्रेम की समस्याओ को मनोवैज्ञानिक ढग से अपने-अपने दृष्टिकोण और टैकनीक द्वारा प्रस्तुत किया है। उनका चित्रण प्रेमचन्द-युग की तरह वस्तुनिष्ठ न होकर व्यक्तिनिष्ठ ढग पर हुआ है जिससे उसमे गहराई और तलस्पर्शिता आई है।

इस चित्रण मे मोटे तौर पर दो प्रवृत्तियाँ दिखाई देती है। पहली मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रवृत्ति और दूसरी समाजवादी चित्रण की प्रवृत्ति। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय ने यौन-सम्बन्धी समस्याओ और स्वच्छन्द-प्रेम की समस्याओ को मनोवैज्ञानिक रूप दिया है। इन्होने ऐसे चरित्र उपस्थित किए है जो सामाजिक उत्तरदायित्व से इन्कार करते हुए अपनी भावनाओ मे लीन है। दूसरी ओर समाजवादी प्रवृत्ति मार्क्स से प्रभावित थी। यशपाल, रागेय राघव, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', 'अचल', भगवतीचरण वर्मा और नागार्जुन ने मुख्यत समाजवादी दृष्टिकोण अपनाया है। उन्होने सामाजिक परिस्थिति मे व्यक्ति को व्यापक एव सर्वागीण रूप मे देखने का प्रयत्न किया है।

जैनेन्द्र ने हिन्दी कथा-प्रवाह की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को अन्तर्जगत की ओर मोड़ने की चेष्टा की है। वे वर्णनात्मक से अधिक गवेषणात्मक है। उन्होने अपने उपन्यासो मे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति अपनाते हुए जीवन के गाँधीवादी सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा की है। उन्होने शिक्षित मध्यवित्त परिवार के भीतर व्यक्ति-जीवन की प्रेम और सैक्स की उन समस्याओ को उठाया है जिनका व्यापक जीवन मे सामजस्य न हो सकने के कारण व्यक्ति के मन मे आत्मपीडक कुठाओ और असतोषो का जन्म होता है। 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' मे स्त्री-पुरुष के प्रेम की समस्या चित्रित है।

इलाचन्द्र जोशी के सभी उपन्यासो के चरित्र प्रकृति से अत्यन्त दुर्बल, चारित्रिक शक्ति से रहित, हीन-भावनाओ से ग्रसित, विज्ञान की पुस्तको मे दिये गये रुग्ण मानस के व्यक्ति है। उन्होने फ्रायड के इन सिद्धान्तो को पूर्ण रूप से ग्रहण किया है कि व्यक्ति की काम-वासनाये दमित होने के कारण अवचेतन और अर्धचेतन मे उमडती-घुमडती रहती है और फिर मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर व्यक्ति को असामाजिक बना देती है। 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'सन्यासी' और 'मुक्ति-पथ' के पात्र इसी प्रकार के है।

अज्ञेय पर मुख्यत फ्रायड के मनोविश्लेषण-विज्ञान और अग्रेजी के कवि टी० एस० इलियट और उपन्यासकार डी० एच० लारेन्स का प्रभाव पडा है। स्त्री-पुरुष के स्वाभा-

विक आकर्षण पर ही आपने अपना प्रसिद्ध उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' (१९४४) लिखा है। पुरुष का अह और उसके प्रति नारी के तन-मन-समर्पण का ही रूप इनके उपन्यासो मे अधिक मिलता है। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास मे आपने शिशु-मानस के विश्लेषण, उसकी मानसिक प्रक्रिया एव उसके अचेतन मन का विशद उद्घाटन किया है।

इसके विपरीत समाजवादी प्रवृत्ति के अनुयायी यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रागेय राघव, 'अचल', भगवतीचरण वर्मा और नागार्जुन ने प्रेमचन्द की वस्तुनिष्ठ यथार्थवादी परम्परा को आगे बढाने की चेष्टा की है। यशपाल ने समाज की जर्जर मान्यताओ के खोखलेपन को उद्घाटित किया है और उसमे मार्क्स के सामाजिक-राजनैतिक सिद्धान्त आरोपित किए है। अपने सिद्धान्त के लिए यशपाल कही-कही कथावस्तु की यथार्थता का ध्यान भी छोड देते है। राजनैतिक सिद्धान्त के साथ-साथ इनके उपन्यासो मे रोमास का भी योग रहता है जिससे दोनो के ही चित्रण मे यशपाल को केवल आशिक सफलता ही मिली है। उनके राजनैतिक सिद्धान्त कथानक पर आरोपित प्रतीत होते है। फलस्वरूप नारी के मन की सारी समस्या नितान्त स्थूल सैक्स की समस्या के रूप मे सकीर्ण बन गई है।[1] 'पार्टी कामरेड', 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' और 'मनुष्य के रूप' इस बात के प्रमाण है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के प्रथम उपन्यास 'सितारो के खेल' मे रोमानी वातावरण था किन्तु 'गिरती दीवारे' मे नायक चेतन निम्न-मध्य-वर्ग के जीवन का प्रतीक है। इस उपन्यास मे 'अश्क' ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि व्यक्ति की जीवनी-शक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह बडे से बडे सकट के सामने भी हार नही मानती।

'अचल' और रागेय राघव की सामाजिक चेतना मे रोमान्टिक प्रवृत्ति पाई जाती है। नागार्जुन प्रेमचन्द की परम्परा के सच्चे अर्थ मे यथार्थवादी लेखक है। 'रतिनाथ की चाची' मे प्रेमचन्द के बाद पहली बार गाँव के सच्चे जीवन के चित्र दिये गये है जिनका आगे चलकर आचलिक उपन्यासो मे विकास हुआ।

मनोवैज्ञानिक और सामाजिक उपन्यासो के अतिरिक्त इस काल मे कुछ उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गये। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६) हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासो मे गिना जाता है। इसमे ऐतिहासिकता और औपन्यासिकता दोनो का सफल निर्वाह हुआ है। तत्कालीन परिस्थितियो को सफलता पूर्वक पुनरुज्जीवित करने के लिए यह रचना बेजोड है। इसी प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा का उपन्यास 'झाँसी की रानी' भी सफल ऐतिहासिक रचना है। इसकी कथावस्तु लेखक के दीर्घ परिश्रम और अन्वेषण से प्राप्त हुई है। इस काल मे लिखा गया इनका दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'मृगनयनी' भी उत्कृष्ट कृति है। रामरतन भटनागर की

---

१. शिवदानसिंह चौहान : 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' (पृष्ठ १६६)।

'अम्बपाली' और चतुरसेन शास्त्री लिखित 'वैशाली की नगरवधू' भी सफल ऐतिहासिक उपन्यासो मे है।

इस काल के ऐतिहासिक उपन्यासो मे मार्क्सवादी विचारधारा भी मिलती है। यशपाल ने 'दिव्या' मे बोद्धधर्म के ह्रास, वर्णाश्रम-व्यवस्था के पुनरुत्थान, ब्राह्मणो के षडयत्र और दासो के विद्रोह की प्राचीन सामतीय पृष्ठभूमि मे नारी का चरित्र-चित्रण किया है। इस उपन्यास मे यह प्रतिपादित किया गया है कि सामन्तीय समाज मे नारी केवल वासना की कठपुतली है। राहुल साकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यास 'सिह सेनापति' और 'जय यौधेय' मे ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर प्राचीन गणराज्यों की व्यवस्था और सस्कृति पर प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार हिन्दी की औपन्यासिक परम्परा भारतेन्दु-युग मे एक पतली धारा के रूप मे प्रकट होकर धीरे-धीरे विकसित होती हुई आधुनिक युग मे सहस्र-धारा विशाल नदी का रूप ग्रहण कर लेती है जिसमे समसामयिक जीवन की सभी समस्याओ, सभी प्रवृत्तियो और सभी आदर्शो की झलक पाई जाती है। आधुनिक हिन्दी उपन्यास आधुनिक भारतीय जीवन के सच्चे प्रतिबिम्ब है।

अध्याय २

नारी के प्रति उपन्यासकारों के दृष्टिकोण में क्रमिक विकास

प्रेमचन्द के पूर्व

भारतेन्दु-युग उपन्यास-साहित्य का जन्म-काल है। सन १८७० मे 'हिन्दी नये साँचे मे ढली' और आधुनिक साहित्य के प्रारम्भ के साथ-साथ उसके महत्वपूर्ण अग उपन्यास का भी श्रीगणेश हुआ। बाह्य प्रभावो एव देश की परिस्थिति के अनुरूप इस समय अनेक प्रकार के उपन्यास लिखे गये, जैसे तिलिस्मी, ऐय्यारी, जासूसी, ऐतिहासिक, पौराणिक ओर सामाजिक। इन उपन्यासो मे चित्रित नारी भी विभिन्न रूपो मे सामने आई। उपन्यासकारो ने जिन-जिन दृष्टिकोणो से नारी-चित्रण किया है उनकी पृष्ठभूमि मे तीन मुख्य प्रभाव लक्षित होते हे—(१) बाह्य प्रभाव (२) रीतिकालीन परम्परा का प्रभाव ओर (३) सामाजिक पुनर्जागरण का प्रभाव। इन प्रभावो का मिला-जुला रूप हिन्दी उपन्यासो मे दृष्टिगोचर होने पर भी विशेष प्रकार के उपन्यासो मे विशिष्ट प्रभाव परिलक्षित होते है।

देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी मे तिलिस्मी और ऐय्यारी उपन्यास लिखने की परम्परा चलाई। इन उपन्यासो की कल्पना पर फारसी के 'तिलिस्म होशरुबा' और फारस की कथा-परम्पराओ का प्रभाव था। इस प्रभाव के कारण इन उपन्यासो मे चित्रित अधिकाश पात्रो की कल्पना भी फारसी ढग पर की गई है। इस कारण इन उपन्यासो की अधिकाश नारियाँ भारतीय प्रतीत नही होती। वे उन सभी मूलभूत प्रवृत्तियो से रहित है जो भारतीय नारी के साथ युग-युग से सम्बद्ध रही है। उपन्यासकारो ने ऐय्यार नायक और ऐय्यार नायिका के चरित्र-चित्रण मे कोई विशेष अन्तर नही रखा है। नारियाँ भी पुरुषो के समान ही ऐय्यार है। वे जाल-फरेब, झूठ, चालाकी सभी का उपयोग करती हैं। कैद मे जाकर पुरुष और नारी दोनो ही समान रूप से लाचार हो जाते है। तिलिस्म का रहस्य जानने मे, वेश बदलने मे, झूठ बोलने मे, एक-दूसरे को मारने मे नारी पुरुष से किसी प्रकार भी कम दिखाई नही देती, वरन् अपनी कुटिलता के आधिक्य के कारण कही-कही दो पग आगे बढी हुई दृष्टिगोचर होती है। एक नारी दूसरी के प्रति उतनी ही कटु हो सकती हे जितना साँप ओर नेवला। 'चद्रकान्ता-सन्तति' मे धनपति के वेश मे कुन्दन किशोरी को जीवित जलाने तक के लिए प्रस्तुत हो जाती है।[1] यही नही, कमलिनी

---

१. **देवकीनंदन खत्री : 'चन्द्रकान्ता-सतति' चौथा हिस्सा, चौथा संस्करण (पृष्ठ ११३)।**

और मनोरमा के मन मे जो तीव्र द्वेष-भावना है वह अन्यत्र मिलनी कठिन है। फिर भी मुख्य-मुख्य नारी ऐय्यारो को कुछ नैतिक बधन मानने पडते है। एक नारी ऐय्यार दूसरी नारी ऐय्यार की न तो हत्या कर सकती है और न दुर्व्यवहार। वह केवल उसे बन्दी बना सकती है। वे दूसरो के रहस्यो एव भेदो का समुचित आदर भी करती है।

ये नारियाँ ऐय्यार नायिका की अन्तरग सखियाँ भी होती है। इन ऐय्यार या अन्तरग सखियो मे एक बात मुख्य रूप से पाई जाती है कि ये नायिकाओ के प्रति सदैव सच्ची रहती है। ये अपने प्राणो की आहुति चढाकर भी अपने वचन ओर स्वामिभक्ति पर अटल रहती है। 'चद्रकाता' उपन्यास मे चन्द्रकान्ता की अन्तरग सखियाँ चपला और चम्पा ऐसी ही है। वे स्वामिभक्ति मे सब कुछ करने के लिए तत्पर हो जाती है। 'कुसुम-कुमारी' की मालती अपनी महारानी की रक्षा के हेतु अपने प्राण तक दे देती है।[1]

प्रणय के क्षेत्र मे भी तिलिस्मी उपन्यासो मे नारियो का चित्रण फारसी परिपाटी पर ही हुआ है यद्यपि उसमे रीतिकालीन शृगारिक भावना का भी समावेश दृष्टिगोचर होता है। इन उपन्यासकारो ने नारी के दो चरम रूपो का चित्रण किया है। एक तो ऐसी नारियाँ है जो अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी करने को प्रस्तुत हो जाती है, यहा तक कि विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न पुरुषो से प्रेम-याचना भी करती है, जैसे 'चद्रकान्ता-सतति' मे माधवी। किन्तु ऐसे नारी पात्रो को उपन्यासकार अपनी सवेदना नही दे पाया है। दूसरी वे नारियाँ है जो प्रेम की अनन्यता मे विश्वास करती है। ये नायिकाये अधिकतर प्रमुख नायिका के रूप मे ही चित्रित हुई है। इन नायिकाओ के प्रति नायको का प्रेम भी अनन्य होता है। इनका प्रेम कोई भी बाधा-बधन स्वीकार नही करता, जैसे 'चद्रकान्ता' मे कुमार वीरेन्द्रसिह और चद्रकान्ता का प्रेम। ऐसे प्रेम को आदर्श के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। ये नायिकाये रीतिकालीन नायिकाओ की भाति अति सुन्दर और कोमल प्रवृत्ति की होती है।

इस प्रकार तिलिस्मी उपन्यासो के लेखको ने नारी के व्यक्तित्व का सतुलित या सम्यक् चित्रण नही किया है। कुछ नारियाँ तो कठोर से कठोर कार्य करती प्रतीत होती है और कुछ कुसुम से भी कोमल दृष्टिगोचर होती है। कुछ नारियाँ पुरुष-वेश धारण-कर पौरुष का अभिनय बडी सफलता से करती है तो कुछ नारियो की शृगार-छटा रीतिकालीन कवियो की नायिकाओ से किसी प्रकार कम प्रतीत नही होती।[2]

---

१. देवकीनंदन खत्री : 'कुसुमकुमारी' (पृष्ठ ६७)।

२. 'अहा इस समय की छबि भी देखने लायक है। बदन में कोई जेवर न होने पर भी उसके हुस्न और नजाकत में किसी तरह का फर्क नहीं पड़ा था। सिर्फ एक सादी साड़ी सुफेद रंग की पहने हुए थी, जिसके अन्दर से चम्पे का रंग लिए हुए गोरे बदन की आभा निकल रही थी, सिर के बाल खुले हुए थे, जिसमें से कई घूँघरवाली लटें गुलाबी गालों पर लहरा रही थीं; काली काली भौंहें कमान की तरह खिची हुई थीं, जिनके नीचे की बड़ी-

इन उपन्यासकारो ने पात्रो के चरित्र-चित्रण पर भी ध्यान नही दिया है। चरित्र-चित्रण करना इनका उद्देश्य था भी नही। ये तो पाठको के मनोरजन के हेतु उपन्यास लिखते थे, इसलिए ऐसी कौतूहलमयी और वैचित्र्यपूर्ण घटनाओ का समावेश करते थे जिनसे उपन्यास अधिक रोचक बने, अधिक से अधिक पाठक उसे पढने को उत्सुक हो।

तिलिस्मी उपन्यासो की भाँति जासूसी उपन्यासो मे भी नारी का स्थान गौण है। लेखक की दृष्टि घटनाओ को रहस्यपूर्ण बनाने की ओर है, नारी-चित्रण की ओर नही। इनमे भी नारी के दो चरम रूप दृष्टिगोचर होते है, या तो वे देवी है या फिर दानवी। गोपाल-राम गहमरी के 'ठनठनगोपाल' मे हरदेवी और रेशमी, 'गुप्तचर' मे सुलोचना और लीला का चरित्र आदर्श नारी के रूप मे चित्रित हुआ है। हरदेवी लज्जालु, साहसी और धर्मनिष्ठ है। वह अपहरण कर ली जाने पर भी सतीत्व की रक्षा करती है। वह अपनी अपार सम्पत्ति को सब पापो का मूल समझकर त्याग देती है। वह विधवा माता से भी बहुत प्रेम करती है। दूसरी ओर 'झडा डाकू' मे उर्मिला और 'अद्भुत खून' मे लूसी कुटिल नारी स्वभाव को प्रतिबिम्ब करती है। लूसी चरित्रहीन है, पति की अनुपस्थिति मे प्रेमी के साथ चली जातो है ओर बाद मे उसकी मृत्यु का कारण बनती है। उर्मिला एक भीषण डाकू की पत्नो है। नारी-सुलभ गुणो का उसमे एकदम अभाव है। जासूसो को फदे मे डालकर वह अपने डाकू पति की सहायता करती है।

इसके अतिरिक्त इन उपन्यासकारो ने नारी को अबला भी माना है। कही तो उसका धन लूट लिया जाता है ओर वह दर-दर भटकती फिरती है, कही उसका अपहरण हो जाता है ओर वह बिना परो वाले पक्षी की भाँति असहाय प्रतीत होती है।

इस प्रकार तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासो के लेखको ने नारी-चरित्र की ओर ध्यान नही दिया। सच पूछा जाय तो ये दोनो प्रकार के उपन्यास वास्तविक अर्थ मे उपन्यास थे भी नही। उपन्यास को जनसाधारण का महाकाव्य कहा गया है किन्तु इन्होने जनसाधारण को चित्रित करने की कोई चेष्टा नही की। इनकी दृष्टि केवल पाठको के मनोरजन करने की ओर थी। इन्होने, विशेषकर देवकीनदन खत्री ने, सम्पन्न सामन्त-युगीन नारी को लिया हे, साधारण और आधुनिक नारी के वहाँ दर्शन नही होते। उनका दृष्टिकोण उस समाज का दृष्टिकोण है जो पुरुष की सत्ता पर आधारित है, नारी को जहाँ न कुछ कहने का अधिकार हे न पाने का। पुरुष उस पर मनचाहा शासन करता है। इसी का परिणाम था कि इन लेखको ने नारी का मनचाहा चित्रण किया। जैसे जीवन मे वैसे ही साहित्य मे नारी केवल पुरुप के मनोरजन का साधन थी, और अपने अस्तित्व तक के लिए उसकी कृपा पर अवलम्बित थी।

बड़ी रतनार आँखें रनवीर सिह की तरफ़ प्रेम-बान चला रही थीं।'
देवकीनन्दन खत्री : 'कुसुमकुमारी' (पृष्ठ ४९)

पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क और विभिन्न भारतीय सामाजिक आन्दोलनो के कारण राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र मे भारतीय दृष्टिकोण बदल रहा था और इस बदलते हुए नवीन दृष्टिकोण को लेकर आधुनिक साहित्य का भी विकास हुआ। इस दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब उस समय के खडी बोली के काव्य और निबन्ध-साहित्य पर विशेष रूप से दिखाई देता है, उपन्यास पर प्रभाव अपेक्षाकृत कम पडा। इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय उपन्यास अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे था और इसीलिए अभी लोग उसे केवल मनोरजन की वस्तु समझते थे। फिर भी उपन्यासो की लोकप्रियता को देखकर और तत्कालीन राजनैतिक, और सामाजिक अवस्था मे प्रभावित होकर कुछ धर्म-प्रचारको और समाज-सुधारको ने अपने मत-प्रचार के लिए उपन्यास को साधन के रूप मे माना।

राष्ट्रीय जागरण के कारण कुछ उपन्यासकारो ने महिलाओ मे भी देशभक्ति की भावना का सचार करने का प्रयत्न किया। इसलिए अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर उन इतिहास-प्रसिद्ध वीर ललनाओ के चरित्र प्रस्तुत किये जिन्होने अपने देश और गोरव की रक्षा के लिए आत्म-बलिदान किया था। इन ऐतिहासिक उपन्यासो मे ऐतिहासिकता की प्राय उपेक्षा की गई है। घटनाओ और चरित्रो को मनमाने ढग पर घुमाव देकर इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि नायिका का कृत्य असाधारण रूप से उज्ज्वल लगे। इसके लिए अतिरजित कल्पना की भी शरण ली गई है। ऐसा करने मे इन लेखको का उद्देश्य यही था कि तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासो मे रुचि रखने वाले साधारण पाठक भी इनकी ओर आकृष्ट हो सके और इनसे अपना मनोरजन कर सके। ऐतिहासिक तथ्यो पर आधारित यथार्थवादी उपन्यास यह कार्य नही कर सकते थे।

ऐतिहासिक उपन्यासकारो की ही भाँति कुछ धर्म-प्रवण लेखको ने उपन्यास को धर्म के प्रचार का माध्यम बनाया। भारतवर्ष पर पाश्चात्य शिक्षा एव पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ रहा था। कुछ सनातन-धर्मी लोगो को भय था कि कही भारतीय नारी पाश्चात्य नारी की भाँति न बन जाये। इसलिए उस प्रभाव से बचाने के हेतु उन्होने पौराणिक कथाओ का आश्रय लिया। पौराणिक उपन्यास लिखने के मूल मे तीन और कारण निहित थे। अभी तक उपन्यासकार ने जनसाधारण के जीवन को चित्रित करना नही सीखा था इसलिए उपन्यास के विषय और उपादान बहुत सीमित थे, अत उनका ध्यान पुराणो की ओर गया। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण जो दूसरा कारण था वह था स्त्री शिक्षा के प्रसार की भावना। उस समय नारियो के पढने के लिए कोई सामग्री न थी। वे तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासो को पढना पसन्द नही करती थी। धार्मिक कथाओ मे उनकी रुचि थी। इसीलिए उपन्यासकारो ने पौराणिक सती और पतिव्रता नारियो के उदाहरण प्रस्तुत किए जिनसे नारियो की धार्मिक भावना भी सन्तुष्ट हो, उन्हे प्राचीन गौरव एव आदर्श का ज्ञान हो तथा उन चरित्रो को पढकर वे चरित्र-

वान और कर्तव्य-परायण बन सके। इन उपन्यासो मे सती सावित्री, सीता, अनसूया, रुक्मिणी, सुभद्रा, दमयन्ती, चद्रलेखा, सती सीमतिनी, मदालसा, सती बेहुला आदि के उदाहरण प्रस्तुत किए गये। इसके अतिरिक्त पौराणिक उपन्यास लिखने का तीसरा कारण था कि कुछ धार्मिक प्रवृत्ति के उपन्यासकारो मे प्राचीन गौरव के पुनरुत्थान की भावना थी। वे केवल नारी को ही नही, प्राणीमात्र को भारतीय सस्कृति और सभ्यता की शिक्षा देना चाहते थे। बाबू रत्नचन्द्र प्लीडर ने 'नूतन चरित्र' की भूमिका मे लिखा था 'इसके पढने से यह प्रकट होगा कि धर्म पर चलने से चाहे कुछ हानि भी हो और क्लेश भी उठाना पडे परन्तु वह क्लेश जल्द दूर हो जाता है और धर्म-विरुद्ध आचरण करने वाले का कभी अच्छा नही होता।'

भारतेन्दु-युग के उपन्यासकारो का ध्यान तत्कालीन नारी की सामाजिक हीनावस्था की ओर भी गया। भारतेन्दु-युग के पूर्व नारी के केवल दो ही रूप हिन्दी साहित्य में चित्रित हुए थे। कभी तो वह सृष्टि की विधात्री, पवित्रता तथा स्नेह की मूर्ति के रूप मे चित्रित हुई है ओर कभी साधना मे बाधा, मात्र भोग्या, शृगारिक भावनाओ मे लिप्त कामिनी के रूप मे। भारतेन्दु ने प्रथम बार नारी को सम्मान की दृष्टि से देखा और उसके व्यक्तित्व को महत्व देने की एव उसके विकास करने की चेष्टा की।

भारतेदु भारतीय नारी की पतितावस्था को देखकर अत्यन्त दुखी थे। उन्होने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक 'नीलदेवी' की रचना इसी उद्देश्य से की थी कि इससे भारतीय नारी को अपनी हीनावस्था का कुछ ज्ञान हो सके। उन्होने 'नीलदेवी' की भूमिका मे स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि वह पाश्चात्य नारी के बाह्याडम्बर को छोडकर उसके सद्गुणो को हृदयगम करे। उन्होने लिखा 'जब मुझे अग्रेज रमणी लोग, मेद-सिचित केशराशि, कृत्रिम कुतल जूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित क्षीण कटि देश कसे, निज-निज पति-गण के साथ प्रसन्न वदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भॉति फिरती हुई दिखलाई पडती है तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियो की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दु ख का कारण होती है। इससे यह शका किसी को न हो कि मैं भी यह इच्छा रखता हूँ कि इन गौरागी युवती समूह की भॉति हमारी कुल-लक्ष्मी-गण भी लज्जा को तिलाजलि देकर अपने पति के साथ घूमे, किन्तु और बातो मे जिस प्रकार अग्रेज स्त्रियॉ सावधान होती है, पढी-लिखी होती हे, घर का काम-काज सँभारतीं है, अपने सतान-गण को शिक्षा देती है, अपना स्वत्व पहचानती है, अपनी जाति और देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती है, उसमे सहायता देती है और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही मे नही खोती, उसी भाति हमारी गृह-देवता भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करे, यही लालसा हे। इस उन्नति पथ का अवरोधक हम लोगो की वर्तमान कुल परम्परा मात्र है और कुछ नही है। आर्य-जन मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्वदा स्त्रीगण इसी अवस्था मे थी। इस विश्वास को दूर करने के हेतु यह

ग्रन्थ विरचित होकर आप लोगो के कोमल कर कमलो मे समर्पित होता हे। निवेदन यही है कि आप लोग इन्ही पुण्य-रूप स्त्रियो के चरित्र को पढे, सुने और क्रम से यथाशक्ति अपनी वृद्धि करे।'

इस प्रकार भारतेदु की सामाजिक चेतना अत्यन्त विकसित थी। उन्होने पाश्चात्य नारी के दुर्गुणो को छोडकर अच्छे गुणो की सराहना की और भारतीय नारी को भी वैसी ही बनने की प्रेरणा दी। यह दुःख की बात है कि भारतेदु उपन्यास के क्षेत्र मे अधिक कुछ न दे पाये। उनके बाद जो उपन्यासकार हुए उनमे भारतेदु की-सी नवीन दृष्टि नही मिलती। किशोरीलाल गोस्वामी, प० लज्जाराम मेहता तथा ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने अनेक सामाजिक उपन्यास लिखे, पर वे वर्णाश्रम की परिपाटी को मानने वाले थे अत. उन्होने नारी की तत्कालीन समस्याओ, जैसे बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, देवदासी-प्रथा, विधवा और वेश्या की समस्याओ को वर्ण्य-विषय तो बनाया है किन्तु इनका चित्रण और समाधान प्राचीन मान्यताओ के अनुसार ही किया है। उनके उपन्यासो को पढते समय ऐसा लगता है मानो वे पाश्चात्य सभ्यता एव शिक्षा के प्रसार से बहुत भयभीत थे। वे भारतीय नारी को उसके प्रभाव से सर्वथा दूर रखना चाहते थे। इसलिए वे अपनी रचनाओ मे स्थान-स्थान पर पाश्चात्य नारी की भर्त्सना करते गये हे। साथ ही उन्होने प्राचीन सस्कृति की महिमा का गुणगान करने का कोई भी अवसर नही चूका है। ईश्वरी-प्रसाद शर्मा ने 'मागधी कुसुम' (१९११) की भूमिका मे अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा था. 'तो भी हिन्दी उपन्यासो मे जिस प्रकार हिन्दू समाज के नियमो को लात मारी जाती है, वैसा इस उपन्यास मे नही किया गया है और ग्रथकार की इस ओर दृष्टि बराबर रही है कि उसके उपन्यास मे हिन्दू समाज के नियम का उल्लघन न होने पावे।' इसी प्रकार उन्होंने 'वामा-शिक्षक' (१८८३) की भूमिका में भी लिखा—'यह पुस्तक हिन्दुओ की लड़कियो को हिन्दुओ की रीति-नीति के अनुसार लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से लिखी गई है।'

अत इन उपन्यासकारो ने हिन्दू सस्कृति और हिन्दू समाज के नियमो पर विशेष बल दिया। वे नारी को शिक्षा देना चाहते थे। किन्तु केवल इतनी शिक्षा जिससे वह चिट्ठी-पत्री पढ-लिख सके, धार्मिक ग्रन्थो का अध्ययन कर सके। बाल-विवाह के विरोधी होते हुए भी वे बारह वर्ष से पद्रह वर्ष तक की अवस्था मे कन्या के विवाह को आदर्श मानते थे। पर्दे के विरोधी होते हुए भी घर से बाहर सामाजिक क्षेत्र मे नारी के कार्य को उचित नही समझते थे। यदि नारी को अर्थोपार्जन की आवश्यकता पड ही जाये तो भी वे यही चाहते थे कि वह घर बैठी ही काम करे, जैसे 'वामा-शिक्षक' में किशोरी घर मे ही टोपियाँ सिलकर जीविका कमाने का प्रस्ताव रखती है। विधवा-विवाह के वे कट्टर विरोधी थे। वे विधवा के पवित्र जीवन पर ही विशेष बल देते थे। उनके मन मे कही न कही यह भाव छुपा हुआ था कि नारी पुरुष से हीन होती है, और सहज ही पथभ्रष्ट हो जाती है। यही कारण है कि वे नारी-समस्याओ के प्रति सही दृष्टिकोण न

अपना सके। उदाहरण के लिए वे वेश्या को जन्मजात दुश्चरित्र समझते थे। उसके प्रति उनके मन मे न कोई सहानुभुति थी, न उद्धार की भावना। यहाँ तक कि पुरुष-समाज को दूसरे दुराचारो से बचाये रखने के लिए वेश्या का होना आवश्यक मानते थे। ठाकुर जगमोहन सिह ने 'श्यामास्वप्न' (१८८८) मे तो स्त्री-मात्र को त्याज्य बताया है। उन्होने उपन्यास के अन्त मे लिखा है, 'इसे केवल स्वप्न ही मत समझो, इसको सुनकर इसके सार को ग्रहण करो। इस सागर को मथन कर इसका सार अमृत ले लो, स्त्री-चरित्रो से बचो। बस शकराचार्य के इसी कहे का स्मरण रक्खो—'द्वारकिमेक नरकस्य नारी' और महाराज भर्तृहरि के कहे को.—

> **आवर्त्तः संशयानाम विनय भव न पत्तनं साहसानां**
> **दोषाणां सन्निधानं कपट शतमयं क्षेत्रम् प्रत्ययानाम्**
> **स्वर्गद्वारस्य विघ्नो नरकपुर मुखं सर्वमायाकरण्ड**
> **स्त्री रत्नं केन सृष्टं विषय मृतमयं प्राणिनां मोहपाशः ॥'[1]**

यह ठीक है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण साधारणत अन्य उपन्यासकारो मे नही मिलता किन्तु उपर्युक्त उदाहरण से सिद्ध होता है कि नारी के प्रति ऐसे विचार भी अभी लेखको में प्रचलित थे। जो इस सीमा तक नही जाते थे वे भी नारी को पुरुष से छोटा या हीन मानकर उसको दया का ही पात्र समझते थे, समानाधिकार का नही। इसी दृष्टिकोण का यह परिणाम था कि इस समय के अधिकाश उपन्यासकार स्वच्छन्द प्रेम को सहानुभूति न दे सके। यद्यपि अनेक उपन्यासो मे स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण[2] हुआ है और उनमे से कुछ पात्रों के प्रेम का अन्त भी विवाह मे होता है किन्तु इस चित्रण मे मानवीय सवेदनाओ एव जीवन की गम्भीरता का सर्वथा अभाव है। यह चित्रण रीतिकालीन परिपाटी पर हुआ है जैसे 'मागधी कुसुम' मे सरला और जगदीश्वर का प्रेम। उस समय लेखक के मन में सामाजिक रूढियो के प्रति असतोष तो था किन्तु उनको तोडने का न तो उसमे साहस था और न सही दिशा का अनुमान। फलतः इन समस्याओ पर ध्यान देते हुए भी उपन्यासकार की वाणी कुछ दबी-दबी सी रहती है। वह कुप्रथाओ के विरोध में लम्बे-लम्बे भाषण तो देता है किन्तु उसमे परिवर्तन का चित्रण नही करता। उदाहरणार्थ, किशोरीलाल गोस्वामी ने 'स्वर्गीय कुसुम' में देवदासी-प्रथा और वेश्या-जीवन के विरोध मे लम्बे-लम्बे भाषण दिये है किन्तु फिर भी कुसुम दुबारा अपने पिता के घर मे स्थान नही पाती। लगता है, लेखक की भावना तो इन कुप्रथाओ का विरोध करती है किन्तु उसमे इतना साहस और मानसिक सकल्प नही कि वह खुलकर विद्रोह कर सके, समाज की थोथी मान्यताओ के विरोध मे सीना तानकर खडा हो सके। समाज के पुराण-

---

१. ठाकुर जगमोहन सिंह : 'श्यामास्वप्न' (पृष्ठ १७६-१७७)।
२. ब्रजनंदनसहाय : 'सौन्दर्योपासक'।

पथी कही रुष्ट न हो जाये, इस विचार से समस्या का अन्त अधिकाशत भाग्य अथवा कर्मगति पर छोड दिया गया है।

इस काल के सामाजिक उपन्यासो मे नारी के पारिवारिक जीवन को विशेष महत्व दिया गया है। सामती समाज मे सयुक्त परिवार के प्रति प्रगाढ मोह होता है। गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यास लिखने के पूर्व घरेलू उपन्यासो का बॅगला मे अनुवाद किया था जिसमे 'बडे भाई', 'देवरानी-जिठानी', 'दो बहिन', 'तीन पतोहू' और 'सास-पतोहू' मुख्य है। इस प्रकार के नामकरण वाले उपन्यास तो हिन्दी मे कम लिखे गये किन्तु ऐसे अनेक उपन्यास लिखे गये जिनमे पारिवारिक जीवन एव घरेलू समस्या को ही प्रधानता दी गई है। लज्जाराम मेहता का 'आदर्श हिन्दू' (१९१५), 'आदर्श दम्पति' (१९०४) और 'हिन्दू गृहस्थ' (१९०९), चण्डिकाप्रसाद मिश्र की 'सुहागिनी', पारसनाथ सिह की 'मॅझली बहू', शालिग्राम की 'आदर्श रमणी' (१९११), गिरिजाकुमार घोष की 'छोटी बहू', प्रियबदा देवी का 'कलियुगी परिवार का एक दृश्य' और ईश्वरीप्रसाद शर्मा के 'वामा-शिक्षक' मे पारिवारिक जीवन ही मुख्य रूप से चित्रित हुआ है। 'सुहागिनी' मे सास-बहू के झगडो मे सास की शासन-प्रवृत्ति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। लज्जाराम मेहता ने आदर्श परिवार की स्थापना के लिए ही इन उपन्यासो की रचना की थी। उन्होने बताया कि किन-किन आचरणो और रीति-नीति के मानने मे हिन्दू परिवार सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है। 'वामा-शिक्षक' मे ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने नारी पात्रो का चरित्र-चित्रण दो विपरीत दिशाओ मे किया है। अन्त मे लेखक ने यह कहकर उपदेश दिया है 'जो तुम भी गगा और किशोरी का-सा चाल-चलन सीखोगी तो वैसे ही तुम्हारा जीवन भी सुख से बीतेगा, दुख तुम्हारे पास फटकेगा भी नही और जो लडकी राधा और पार्वती का चाल-चलन और हठ सीखेगी वह सदा दुख और विपत् मे फँसी रहेगी जैसे राधा अपनी मूर्खता से सतान के दुख मे फँसी रही। सदा उसका पति उससे क्रुद्ध रहा और सतान के दुख मे अन्धा हो गया।'[1]

इस प्रकार इस समय के उपन्यासकारो ने पारिवारिक समस्याओ का चित्रण उपदेशात्मक ढग पर किया है। पारिवारिक जीवन को चित्रित करके उपन्यासकार ने उपदेश क्यो दिया इसकी पृष्ठभूमि मे भी दो कारण निहित है. (१) पाश्चात्य प्रभाव से समाज को सावधान करने के लिए, (२) सही मार्ग दिखाने के लिए। उन्होने अपने-अपने दृष्टिकोण से यह बताने का प्रयत्न किया कि वह कौन-सा पथ है जिस पर चलकर नारी अपने घर मे सुख-शान्ति स्थापित कर सकती है। उस समय तक नारी के अशिक्षित होने के कारण उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित था जिसके कारण घर-घर मे अशान्ति का वातावरण दिखाई देता था। सास-बहू, ननद-भौजाई, देवरानी-जिठानी के झगडे उग्र रूप धारण कर रहे थे तथा पति-पत्नी के सम्बन्धो मे भी कलह एव

---

१. ईश्वरीप्रसाद शर्मा : 'वामा-शिक्षक' (पृष्ठ २२३-२२४)।

मनमुटाव दिखाई देता था। इस कारण इस समय के उपन्यासकारो का ध्यान सर्वप्रथम घर की ओर गया और उन्होने पारिवारिक समस्याओ को सुलझाने की चेष्टा की। इन उपन्यासो का मुख्य प्रयोजन उपदेशात्मक होने के कारण इन लेखको ने भी तिलिस्मी उपन्यासो की भाँति अच्छे या बुरे, नारी को दो चरम रूपो मे ही देखा है। यद्यपि इनमे अति-प्राकृत या अस्वाभाविकता का लेश भी नही है किन्तु यथार्थ जीवन का अतिशयोक्तिपूर्ण अतिरजित चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि अच्छे और बुरे दोनो प्रकार के चरित्र साफ दिखाई दे जाये और पाठक जीवन के दोषो से घृणा करने लगे और जीवन की अच्छाइयो को ग्रहण करे।

इन उपन्यासो मे उपन्यासकारो ने नारी को गृहस्थी का मेरुदण्ड मानकर उसके चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान दिया है। नारी यदि समझ से काम ले तो वह घर पर रहकर ही बच्चो का लालन-पालन करती हुई, पति की देख-रेख करती हुई, गृहकार्य करती हुई, सबसे प्रेम का व्यवहार करती हुई घर को स्वर्ग-तुल्य बना सकती है। 'आदर्श हिन्दू', 'आदर्श दम्पति', 'आदर्श रमणी', 'वामा-शिक्षक', 'स्वर्णमयी'[1] आदि अनेक उपन्यासो मे नारी के इस गृहिणी-रूप के चित्र प्रस्तुत किये गये है।

प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासो मे अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल अवश्य दिखाया गया है। यहाँ तक कि यह दृष्टिकोण तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासो मे भी मिलता है। सामाजिक और पारिवारिक उपन्यास तो उपदेश देने की ही प्रवृत्ति से लिखे गये, अत इन उपन्यासो मे कर्मानुसार फल-प्राप्ति पर आद्योपान्त ध्यान रखा गया है। यह इस युग की मुख्य विशेषता है।

इस काल मे रीतिकालीन शृगार-भावना का अन्त नही हो सका था। इसलिए इस काल के उपन्यासो मे यह भावना किसी न किसी रूप मे मिल ही जाती है। लज्जाराम मेहता के 'धूर्त रसिकलाल' और 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' मे शृगार का वर्णन निम्न स्तर पर हुआ है। जगमोहनसिह के 'श्यामास्वप्न' मे नायक-नायिका, सखी-दूती, विरह-मिलन आदि का वर्णन रीतिकालीन परिपाटी पर हुआ है। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासो की लगभग सभी नायिकाये रीतिकालीन नायिका की भाँति सुन्दरी हैं और उनका प्रेम भी रीतिकालीन काव्य-परम्परा के अनुकूल है।

नारी के सौन्दर्य का चित्रण अधिकतर रीतिकालीन परिपाटी पर क्यो किया गया इसके मूल मे तीन कारण निहित है (१) परम्परागत सस्कार (२) अतिशयोक्तिपूर्ण अतिरजित वर्णन की प्रवृत्ति (३) यथार्थवादी दृष्टि का अभाव।

अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के पीछे यह भाव भी था कि उससे उनका उद्देश्य और समाज की अच्छाई-बुराई स्पष्ट रूप से पाठक के सामने आ जायेगी और उसको पढने से पाठक का मनोरजन एव चरित्र-सुधार सुगमता से हो सकेगा। इस समय के उपन्यासकारो मे

---

१. ईश्वरीप्रसाद शर्मा कृत।

अभी उस कल्पना-शक्ति का विकास न हो सका था जो मानव-मन मे पैठकर उसकी भावनाओ का सूक्ष्म और यथार्थ चित्रण कर सके। इस दृष्टि के अभाव मे वे नारी को कोई व्यक्तित्व भी प्रदान न कर सके। वह प्रकार-विशेष के रूप मे ही चित्रित की गई है। फिर भी इस काल के उपन्यासो मे, विशेषकर सामाजिक उपन्यासो मे, नारी-सम्बन्धी तत्कालीन विचारधारा के विभिन्न रूपो का यथेष्ट प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है। साहित्य की दृष्टि से इन उपन्यासो का वही महत्व है जो भवन-निर्माण मे नीव का होता है। इस युग के उपन्यासकारो ने एक ऐसी ठोस नीव प्रस्तुत कर दी जिस पर प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकार नई इमारते खडी कर सके और नारी की समस्याओ को नये दृष्टिकोण से देखकर उनमे गहरी सवेदना भरने मे समर्थ हो सके।

प्रेमचन्द-युग

हिन्दी उपन्यास-जगत मे प्रेमचन्द के आगमन के पूर्व ही योरप और बगाल मे उच्च कोटि के उपन्यास लिखे जा रहे थे। बँगला उपन्यास ने पाश्चात्य साहित्य से कला और अभिव्यजना का ढग सीखा तथा अपने उपन्यासो मे यथार्थ जीवन का चित्रण करने की चेष्टा की। प्रेमचन्द-युग के पूर्व अनेक बँगला उपन्यासो का हिन्दी मे अनुवाद हुआ। इन अनुवादो के प्रभाव से हिन्दी उपन्यासकार ने भी उपन्यासो मे अधिकाधिक यथार्थ का समावेश करना प्रारम्भ किया।

बँगला के उपन्यासो मे बकिमचद्र चटर्जी ने भारतीय नारी की समस्या को सहानुभूति के साथ चित्रित किया है। 'विष-वृक्ष' मे सूर्य्यमुखी अपने पति को प्रसन्न देखने के लिए उनका दूसरा विवाह कुदन से करवा देती है। यह चरित्र भारतीय त्याग-मयी पतिव्रता पत्नी के रूप मे चित्रित है। बकिम बाबू नारी के प्राचीन आदर्श-रूप के चित्रण के साथ-साथ उसकी भावनाओ पर प्रकाश डालना नही भूले। सूर्य्यमुखी मे इतना साहस नही है कि वह अपने पति से अपने मन की व्यथा कह सके। इसलिए वह व्यथित होकर अपनी ननद कमल से पूछती है 'कमल! किस देश में लडकियाँ पैदा होने पर उन्हे मार डालते है?' 'देवी चौधुरानी' मे बकिम बाबू ने नारी के महान व्यक्तित्व का चित्रण किया है। 'दुर्गेशनन्दिनी' मे आयशा का चित्रण एक भावुक नारी के रूप मे किया गया है जो प्रसाद के नाटक 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना की भाँति मन मे एक अमिट टीस छोड जाती है। बकिम बाबू के इन उपन्यासो का प्रेमचन्द-युग पर बहुत गहरा प्रभाव पडा है।

पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क और सामाजिक आन्दोलनों के फलस्वरूप राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक क्षेत्र मे जो परिवर्तन आया था उसका आभास तो हमे भारतेदु-युग मे ही मिल गया था, अब युग स्रष्टा प्रेमचन्द के आगमन से हिन्दी साहित्य ने एक नया मोड लिया था। प्रेमचन्द-पूर्व के हिन्दी उपन्यास अधिकतर कल्पना और रोमास पर आधारित थे। कुछ सामाजिक और पारिवारिक उपन्यासो में उन्हे सामयिक जीवन

का आधार देकर भी उपस्थित किया गया किन्तु प्रेमचन्द-युग मे धीरे-धीरे कल्पना और रोमास का स्थान यथार्थ ने ले लिया। अब तक उपन्यासो के पात्र प्रकार-विशेष होते थे, जैसे उपन्यासो मे चित्रित सभी प्रेमिकाये एक-सी जान पडती थी। अब इन प्रकार-विशेष का वैयक्तीकरण होने लगा। साथ ही नये उपन्यासकारो को धीरे-धीरे वह चेतना भी मिलने लगी जिसके बल पर वे मानव-जीवन को समझकर उसका वास्तविक और गम्भीर चित्रण करने की ओर प्रवृत्त हुए।

भारतेंदु-युग के पश्चात् द्विवेदी-युग सुधार का युग था। द्विवेदी-युग के लेखको ने यह अनुभव किया कि मात्र सामाजिक चित्रण एव हल्की-फुल्की समाज-सुधार की भावना से समाज का कल्याण नही हो सकता। सामाजिक कुरीतियो से मुक्ति पाने का ठोस रास्ता भी पाठक के सम्मुख रहना चाहिये। अत पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य मे बौद्धिक स्तर पर बडे सशक्त रूप से सुधारवादी आन्दोलन का सूत्रपात किया, जिसका प्रभाव तत्कालीन सभी लेखको पर पडा। इस सुधारवादी आन्दोलन को सफलतापूर्वक चलाए रख कर प्रेमचन्द युग-प्रवर्तक के रूप मे आये क्योकि प्रेमचन्द के उपन्यासों ने पहली बार सामाजिक हित और सोद्देश्यता पर प्रकाश डाला। उनकी सामाजिक-चेतना और जीवन-दृष्टि इतनी गहरी और व्यापक थी कि उनके युग को प्रेमचन्द-युग का नाम दिया गया।

प्रेमचन्द-युग सक्रान्ति का युग था जब पुरानी परम्पराओ, मान्यताओ और सौन्दर्य-भावनाओ का अन्त हो रहा था। हिन्दी काव्य मे जो द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के नाम से जाने जाते है वे दोनो युग हिन्दी गद्य मे प्रेमचन्द-युग मे सम्मिलित माने गये है। अत इन दोनो युगो की कविता मे नारी के प्रति जो करुणा और सम्मान की भावना थी वह प्रेमचन्द-युग के उपन्यासो मे भी लक्षित हुई है। द्विवेदी-युग की कविता मे नारी की दयनीय स्थिति का चित्रण पाठक के मन मे करुणा उत्पन्न करने की चेष्टा करता है और छायावादी कविता मे नारी को समानता प्रदान करते हुए उसके अन्तर्मन को समझने का प्रयास किया गया है जिसके कारण नारी सम्मान की पात्री बन जाती है। प्रेमचन्द-युग मे इन दोनो दृष्टियो का मेल हो जाता है। एक ओर समाज मे नारी की करुण स्थिति का चित्रण और दूसरी ओर उसकी नैतिक शक्तियो और दुर्बलताओ का चित्रण इस युग की विशेषता है। यह चित्रण प्रेमचन्द ने मर्यादावादी दृष्टिकोण से किया है।

इस समय के उपन्यासकारो ने देखा कि सामाजिक दुरवस्था के कारण नारी की स्थिति अत्यधिक शोचनीय है। वह रूढियो और बधनो के बोझ से निष्प्राण हो उठी है। यदि अब भी उसकी समस्याओ को यथार्थ रूप मे न समझा गया तो देश का आधा भाग प्रगति से वचित रह जायेगा। इन लेखको के मन मे सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक दुर्व्यवस्थाओ के प्रति घृणा और विद्रोह की अग्नि सुलग रही थी। वे प्रचलित रूढियो और अधविश्वासो को तोड़ डालना चाहते थे। इसलिए उन्होने नारी जीवन की सारी विषमताओ का चित्रण इस प्रकार किया कि समाज की सहानुभूति मिल सके। पर उनके मन

मे जो आदर्श थे वे प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था पर आधारित थे। इसीलिए वे परिवर्तन तो चाहते थे, पर क्रान्ति नही। वे अपने उपन्यासो मे प्राचीन आदर्शो की स्थापना सुधारवादी ढग से करते थे। प्रेमचन्द की कला का मूल उद्देश्य ही सुधार करना है।[1] यद्यपि यह प्रवृत्ति उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ही प्रारम्भ हो चुकी थी किन्तु इसका सबसे विशद चित्रण प्रेमचन्द-युग मे ही हुआ। प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासकारो ने सुधार पर ध्यान तो दिया था किन्तु वह कोरा उपदेशात्मक होने के कारण ऊपर से आरोपित प्रतीत होता था, उसमे कलात्मकता का अभाव था। इसके विपरीत प्रेमचन्द ने सुधारवादी दृष्टिकोण को सूक्ष्म और कलात्मक रूप देकर उसमे यथार्थ और आदर्श का ऐसा सामजस्य स्थापित किया कि उसमे जीवन अपने समग्र रूप मे प्रतिविम्बित हो गया। वे भविष्य की ओर सकेत करते हुए एक ऐसा मार्ग उपस्थित करते है जिससे पाठक समस्या पर केवल उलझा न रहकर उसके समाधान के लिए अग्रसर हो। प्रेमचन्द का मत था कि आदर्श की छत्र-छाया मे व्यक्ति कुछ देर के लिए अपनी दुर्दशा को भूल सकता है।[2] इस कलात्मक रुचि के कारण उपन्यासकारो के विचार मे आदर्शवादी चित्रण से पाठक के मन मे आशा का सचार होता है और उसे अपनी तत्कालीन विषमताओ से सघर्ष करने के लिए बल मिलता है। इस प्रकार प्रेमचन्द यथार्थ-जीवन का चित्रण करते-करते आदर्श की ओर मुड जाते है। उन्होने आदर्शवाद को बुद्धिवाद से पुष्ट किया है और अपने इस औपन्यासिक दृष्टिकोण को 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' कहा है। आदर्शवाद और यथार्थवाद का सामजस्य ही उनकी कला का आधार है।[3] यह समन्वय की प्रवृत्ति प्रेमचन्द-युग के लगभग सभी उपन्यासकारो मे मिलती है।

प्रेमचन्द ने अपने इस 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' को नारी की समस्याओ के चित्रण मे

---

१. 'प्रेमचन्द की कला का मूल उद्देश्य न तो चरित्र-चित्रण है और न वस्तु-सगठन, वरन् सुधार है।'
सम्पादक—डा० इन्द्रनाथ मदान : 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' (पृष्ठ १२३)।

२. 'यह मानव स्वभाव है कि जिन छल-छद्मो तथा कुरुचिपूर्ण परिस्थितियो से स्वयं घिरा रहता है, उसका बार-बार विवरण नहीं सुनना चाहता, वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है जहाँ उसके चित्त को कुत्सित भावों से नजात मिले, यह भूल जाय कि मै चिन्तन के बधन में पड़ा हुआ हूँ, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो।'
प्रेमचन्द : 'उपन्यास' शीर्षक लेख से।

३. 'उन्होने अपने उपन्यासों में यथार्थ और सुधारवादी आदर्श का समन्वय किया है। आदर्शवाद और यथार्थवाद का पारस्परिक सामंजस्य ही उनकी कला का आधार है।'
सम्पादक—डा० इन्द्रनाथ मदान : 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' (पृष्ठ १३४)।

विशेष रूप से प्रयुक्त किया, क्योकि हिन्दी का सामाजिक उपन्यास नारी-जीवन के महत्व-पूर्ण प्रश्नो को लेकर ही जन्मा था। बाल-विवाह, अशिक्षा, पर्दा, आभूषण-प्रेम, दहेज, अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, वेश्यावृत्ति आदि नारी की विभिन्न समस्याये हिन्दी उपन्यासो की विषय-वस्तु बनी और उन पर लेखको ने गम्भीरता से विचार किया।

इस युग के उपन्यासकारो ने शहर और गाँव के नारी-जीवन के उन विभिन्न पहलुओ को भी अपने साहित्य मे स्थान दिया जिनका प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासो मे सर्वथा अभाव था। प्रेमचन्द और प्रसाद दोनो ने ही गाँव की नारी का चित्रण अधिक स्वस्थ एव पुरुष की पूरक शक्ति के रूप मे किया है। शहर की नारी, गाँव की नारी की अपेक्षा आर्थिक बधन-ग्रस्त एव सामाजिक अत्याचार से अधिक पीडित दिखाई देती है। प्रेमचन्द का पक्का विश्वास था कि नारियो की इतनी अवनति का मूल कारण हिन्दू धर्म की दाद देने वाले हिन्दू पुरुष है।[1] अत प्रेमचन्द ने उन अत्याचारो को समस्या के रूप मे ग्रहण करके एक आदर्श-मूलक समाधान तक पहुँचने की चेष्टा की है। फिर भी प्रेमचन्द तथा इस युग के लगभग सभी लेखको का झुकाव मूलत परिस्थिति एव समस्या के चित्रण मे अधिक है, समाधान मे नही।

गाँव की नारी की खेती मे पुरुष के बराबर अधिकार है, वह पुरुष से शासित होकर भी अबला नही रहती। धनिया होरी की आत्मा है, 'प्रसाद' लिखित 'तितली' मे तितली मधुवन की आत्मा है। वे दोनो अपने पति की पूरक-रूप मे सामने आती है। उनका दाम्पत्य जीवन स्वस्थ है। धनिया या तितली के बिना होरी या मधुवन की कल्पना भी नही की जा सकती। वे विद्रोह करती है, उनके शब्दो मे क्रान्ति का स्वर है। धनिया एक ओर पटवारी और महाजन को गाली देती है तो दूसरी ओर प्रचलित अध-विश्वास भरी रूढि के विरोध मे झुनिया और सिलिया को अपने घर मे आश्रय देकर नैतिक साहस का परिचय देती है।

लेकिन शहर की नारी की समस्या कुछ दूसरे प्रकार की है। उसमे भी नैतिक साहस है, जैसे प्रेमचन्द लिखित 'गबन' की जालपा, 'सेवासदन' की सुमन, 'कर्मभूमि' की मुन्नी,

---

१. 'स्त्रियो पर सब से ज्यादा ज्यादती हिन्दू ही करते है, जरा सी भूल हो गई, उसको घर से निकाल बाहर किया।...और पुरुष तो शुरू से ही स्त्रियों के साथ ज्यादती करता आ रहा है। अपनी मरजी के माफ़िक कायदा-कानून भी तो पुरुष ने अपने लिए बना रखे हैं। बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह पुरुष ही करते है। तब आखिर इतनी स्त्रियाँ कहाँ जायेंगी ? और समाज ने सारी जिम्मेदारी स्त्रियों के ही सर पटक दी है, ऐसा मालूम होता है कि सारे बधन स्त्रियो के लिए ही है। उससे पुरुषों को कोई बहस नहीं है। सारे कायदा-कानून अपने से उलटे ही स्त्रियों के लिए बनाये है। अपने आपको उनके शिकंजों से बचा कर ही रखा।'
शिवरानी देवी प्रेमचन्द : 'प्रेमचन्द : घर मे' (पृष्ठ १३१)।

सुखदा आदि। वह अपनी पराधीनता और समस्याओ के प्रति सजग भी है, किन्तु अन्त मे वह प्राय अपने सस्कारो से दब जाती है, विद्रोह नही करती। प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन लेखक ऐसे विद्रोह या क्रान्ति मे विश्वास भी नही करते।[१] इस प्रकार के निराकरण मे उपन्यासकारो के पूर्व सस्कार आडे आ जाते है। वे नही चाहते कि नारी को लेकर कोई क्रान्तिकारी कदम उठा दिया जाय इसलिए वे उसकी समस्याओ के चित्रण से ही सतुष्ट हो जाते है। सघर्ष मे उनकी परिणति नही दिखाते। 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा यह कह कर भी कि 'बेचारी औरत कमा नही सकती, इसीलिए उसकी यह दुर्गत है',[२] कमाने का उद्योग नही करती।[३] पूर्णा अतुल लावण्य और पिपासा लेकर भी विधवाश्रम मे आश्रय लेती है, किसी से विवाह करके अपनी यत्रणा से मुक्ति नही लेती। 'सेवासदन' की सुमन अन्त तक थोथी सामाजिक मान्यताओ की शिकार रहती है, वेश्या-वृत्ति त्याग देने पर भी समाज फिर से उसे स्वीकार नही करता। यहाँ तक कि वेश्याओ को उस गदे समाज से अलग रखकर पढा-लिखा देने पर भी लेखक विश्वासपूर्वक यह नही कहता कि समाज इन्हे ग्रहण करेगा ही। सुमन कहती है, 'हमारा कर्तव्य यह है कि इन कन्याओ को चतुर गृहिणी बनने के योग्य बना दे। उनका आदर-समाज करेगा या नही, नही कह सकती।'[४] निर्मला सामाजिक अत्याचार से पीडित अपना असतुष्ट एव अतृप्त जीवन लेकर घर की चहार-दीवारी मे ही घुट-घुट कर मर जाती है।

सच पूछा जाय तो इन गुत्थियो का वास्तविक समाधान स्वय प्रेमचन्द भी निश्चित नही कर पाये थे। उन्होने हृदय-मथन हृदय-परिवर्तन पर बल दिया किन्तु इसके साथ-साथ वे यह भी मानते थे कि जब तक देश स्वतन्त्र नही हो जाता, तब तक इनकी गुत्थियाँ नही सुलझ सकती।[५] यही कारण है कि लेखक ने समस्या के चित्रण पर अधिक

---

१. 'हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास मे विश्वास रखता हूँ। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रान्ति होती है। मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुँचा जा सकता है, इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं, तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती। क्रान्ति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, यह सन्देहास्पद है।'
डा० इन्द्रनाथ मदान की पुस्तक 'प्रेमचन्द' मे दिये गये प्रेमचन्द के एक पत्र से उद्धृत (पृष्ठ १७४)।

२. प्रेमचन्द : 'प्रतिज्ञा' (पृष्ठ ९३)।

३. 'स्त्रियाँ नौकरियाँ करने लगी हैं, मगर वह अच्छा नहीं है, मैं इसको अच्छा नहीं समझता। शिवरानी देवी प्रेमचन्द : 'प्रेमचन्द : घर में' (पृष्ठ २५९)।

४. प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ २५३)।

५. 'जब तक हिन्दुस्तान आजाद नहीं होता, तब तक इनकी गुत्थियाँ नहीं सुलझ सकतीं। या

बल दिया है जिससे पाठकगण उसको भली प्रकार समझे और उस पर मनन करे।

प्रेमचन्द-युगीन लगभग सभी उपन्यासो मे गॉव की नारी के आगे शहर की नारी और शहर की नारी के आगे आधुनिक नारी सदैव पराजित हुई है। जीवन के क्षेत्र मे आदर्श-निष्ठ नारियॉ सदैव विजयिनी है। प्रेमचन्द, 'प्रसाद', सियारामशरण गुप्त आदि उपन्यासकारो ने प्रेम के क्षेत्र मे यह आदर्श भावना प्राचीन भारतीय सस्कृति के अनुरूप आत्म-समर्पण मे व्यक्त की है। यह आत्म-समर्पण शरीर का नही, मन का समर्पण है। 'गोदान' मे गोविन्दी का आदर्श, 'तितली' मे तितली का आदर्श और सियारामशरण गुप्त लिखित 'नारी' मे जमना का आदर्श नारी का आदर्श माना गया है जो पति द्वारा परित्यक्ता होने पर भी पति को प्रेम करती है और परिवार को बनाये रखने मे अपने मातृत्व का गौरव समझती है। उपन्यासकारो के इस दृष्टिकोण के मूल मे परम्परागत आदर्शों को ही पुन प्रतिष्ठित करने का प्रयास है। वास्तव मे यही प्रेमचन्द के यथार्थ की सीमा-रेखा मिलती है।

प्रेमचन्द, 'प्रसाद' आदि उपन्यासकारो का मत है कि यदि नारी का प्रेम एक-निष्ठ प्रेम हो तो कुमार्ग पर चलता हुआ पुरुष भी एक न एक दिन अवश्य सुमार्ग ग्रहण कर प्रेम का प्रतिदान देगा। नारी का प्रेम पुरुष को सन्मार्ग पर लाने के लिए बडा शक्तिशाली साधन है। जालपा और तितली का अपने पति के प्रति सच्चा प्रेम इस बात की पुष्टि करता है। यह ठीक है कि नारी मे बलिदान की भावना और कष्ट-सहन की सहज प्रवृत्ति है और पुरुष मे प्रेम का विकास स्वाभाविक और क्रमिक होता है, किन्तु नारी के मन मे जो परम्परागत एक-निष्ठ आत्म-समर्पण की भावना प्रारम्भ से दिखाई देती है, वह पुरुष मे नही। पुरुष प्रेम करता है, उसमे अधिकार और श्रेष्ठता की भावना ही मुख्य रूप से पाई जाती है। 'गोदान' की मालती जब मेहता के आदर्शो की एक प्रकार से पूजा करने लग जाती है तभी वह मेहता की दृष्टि मे ऊँची उठ पाती है। फिर भी प्रेमचन्द, 'प्रसाद', प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि उपन्यासकारो ने नारी के प्रेम को बहुत महत्व दिया है। इस युग मे यद्यपि प्रत्येक वर्ग की प्रेयसी का चित्रण हुआ है तथापि उपन्यासकारो ने सभी वर्गो की प्रेयसियो मे त्याग, एकनिष्ठ भावना और मर्यादा पर समान रूप से बल दिया है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने उच्च-वर्ग की उच्च-शिक्षित और पाश्चात्य रग मे रँगी प्रेयसियो का चित्रण किया है। उन्होने दिखाया है कि इस वर्ग मे दानवी और मानवी सभी तरह की नारियॉ पाई जाती है किन्तु मानवी रूप मे जिन प्रेयसियो का चित्रण किया गया है वे भारतीय रग मे रँगी है। एक मर्यादा के भीतर ही स्त्री-प्रेम-स्वातन्त्र्य का पक्ष लिया गया है। चपला, अमीलिया, मनोरमा, केट मर्यादित आदर्श प्रेयसियॉ है। इस युग

तो फिर कोई बड़ा महात्मा पैदा हो कि जो इन गुत्थियों को सुलझा दे। सदियों से बिगड़ा हुआ जमाना इतनी जल्दी कैसे सुधर जायेगा।'
शिवरानी देवी प्रेमचन्द : 'प्रेमचन्द : घर मे' (पृष्ठ १८५)।

के लगभग सभी उपन्यासकारो ने माना है कि प्रेम के स्वच्छ शीतल जल के सम्मुख व्यक्ति का सारा कलुष धुल जाता है। वह उदार बन जाता है। कही-कही तो निस्वार्थ प्रेम के आदान-प्रदान के आगे विवाह को भी तुच्छ माना है। प्रेमचन्द लिखित 'वरदान' मे कहा गया है 'हृदय का मिलाप सच्चा विवाह है। सिदूर का टीका, ग्रन्थि-बधन और भॉवर ये सब ससार के ढकोसले है।'[1] तथा 'गोदान' मे मेहता साहब कहते है, 'प्रेम जब आत्म-समर्पण का रूप लेता है तभी ब्याह है, उसके पहले ऐयाशी।'[2] जयशकर 'प्रसाद' ने भी अपने उपन्यास 'ककाल' मे विजय के माध्यम से इसी प्रकार की बात का प्रतिपादन किया है। विजय कहता है, 'हृदय का सम्मिलन ही तो ब्याह है। मै सर्वस्व तुम्हे अर्पण करता हूँ और तुम मुझे, इसमे किसी मध्यस्थता की आवश्यकता क्यो, मत्रो का महत्व कितना।'[3]

इस प्रकार स्वच्छन्द प्रेम की समस्या भी प्रेमचन्द आदि अनेक उपन्यासकारो ने उठायी जो जाति-वर्ण-व्यवस्था पर सीधा प्रहार करती है। प्रेमचन्द ने स्वच्छन्द प्रेम को प्रश्रय दिया है। 'गोदान' मे जब रायसाहब अपने पुत्र रुद्रपाल का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध करना चाहते है तो मेहता साहब उनका मजाक बनाते है। फिर गम्भीर स्वर मे कहते है 'आप अपनी शादी के जिम्मेदार हो सकते है, लडके की शादी का दायित्व आप क्यो अपने ऊपर लेते है, खासकर जब आपका लडका बालिग है ओर अपना नफा-नुक्सान समझता है।'[4] यद्यपि प्रेमचन्द इस उपन्यास मे रुद्रपाल और सरोज के प्रेम-विवाह को बुरा नही मानते किन्तु साधारणत इस प्रकार का साहसी कदम प्रेमचन्द ने नही लिया है। इस हिचक का मुख्य कारण है उनका सस्कारी मन। उनका बुद्धि पक्ष प्रेम-विवाह को वाछनीय मानता था किन्तु सस्कारवश उनकी आत्मा इसे स्वीकार नही कर पा रही थी।[5] 'गोदान' मे भी लेखक रुद्रपाल के चरित्र-चित्रण को ममता नही दे

---

१. प्रेमचन्द : 'वरदान' (पृष्ठ १५३)।
२. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १८५)।
३. जयशंकर 'प्रसाद' : 'ककाल' (पृष्ठ १८७)।
४. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ४०५)।
५. शिवरानी देवी लिखित 'प्रेमचन्द : घर मे' मे प्रेमचन्द के स्वच्छन्द प्रेम और प्रेम-विवाह सम्बन्धी विचारों पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। उन्होंने अपनी पत्नी शिवरानी देवी से कहा था : 'अगर हमारा समाज अब भी नहीं समझता और स्त्रियो के साथ इन्साफ का बर्ताव नही करता तो बहुत मुमकिन है, वह दिन जल्द ही आने वाला हो, जब कि हिन्दुओं के घर की लड़कियाँ, अत्याचारों से घबड़ा कर, अपनी इच्छानुसार शादी कर लिया करेंगी।

शिवरानी देवी बोलीं : 'यह ठीक नहीं होगा। वह हमारे दुर्भाग्य के दिन होगे जब हमारे घर की लड़कियाँ स्वय अपनी शादियाँ करेंगी क्योंकि उस उम्र मे जब कि शादियाँ होती हैं, लड़के-लड़कियों मे इतनी समझ नहीं होती कि वह अच्छे-बुरे का फैसला कर

पाया है। अन्य स्थलो पर भी प्रेमचन्द ने प्रेमी पात्रो को विवाह की स्थिति मे नही पहुँचाया है। 'रगभूमि' की सोफिया आत्म-उत्सर्ग कर देती है। 'कर्मभूमि' की सकीना के चरित्र मे अनायास परिवर्तन आ जाता है। मालती मेहता साहब के साथ रहने की कामना लेकर भी विवाह-बधन मे नही बधती, वह देश-सेवा मे ही जीवन बिताने की सोचती है।

प्रेमचन्द-कालीन उपन्यासकारो ने नारी के स्वभाव मे त्याग, सेवा और प्रेम को मुख्य माना है। मेहता के स्वर मे प्रेमचन्द कहते है, 'पुरुष का सारा अध्यात्म और योग एक तरफ और नारियो का त्याग एक तरफ'[१] प्रेमचन्द पुरुष और नारी मे जन्मजात विभिन्नता मानने के साथ ही उनके कार्यक्षेत्रो मे भी विभिन्नता आवश्यक मानते है। वे पाश्चात्य आदर्श को घृणा की दृष्टि से देखते है। नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता का भी अधिक मूल्य नही समझते। मेहता के शब्दो मे 'आपकी विद्या और आपका अधिकार हिंसा और विध्वस मे नही, सृष्टि और पालन मे है। क्या आप समझती है कि वोटो से मानव जाति का उद्धार होगा, या दफ्तरो मे और अदालतो मे जुबान और कलम चलाने से। इन नकली अप्राकृतिक विनाशकारी अधिकारो के लिए आप वह अधिकार छोड देना चाहती है, जो आपको प्रकृति ने दिये है।'[२]

अत प्रेमचन्द, 'प्रसाद', सियारामशरण गुप्त, विश्वभरनाथ 'कौशिक' आदि इस समय के लगभग सभी उपन्यासकारो ने नारी को गृह-लक्ष्मी के रूप मे ही श्रेष्ठ माना है। प्रेमचन्द आदि उपन्यासकारो ने तलाक को पश्चिम की देन कहकर उसकी भर्त्सना की है। 'गबन' और 'गोदान' दोनो मे ही तलाक का विरोध है। प्रेमचन्द ने 'गोदान' मे कहा 'विवाह को मै सामाजिक समझौता समझता हूँ और उसे तोडने का अधिकार न पुरुष को है न नारी को।'[३]

इस प्रकार प्रेमचन्द नारी जीवन की समस्याओ के प्रति सजग होते हुए भी परम्परागत आदर्शो की प्राचीरो मे बँधे है। वे नारी की उन्मुक्ति को सशकित नेत्रो से देखते है। नारी की उच्च शिक्षा, उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता एव तलाक के अधिकार के सम्बन्ध में

सके और धोखे भुलावे की बहुत शंका रहती है। ऐसी शादियाँ देखने मे आकर्षक होती हैं, पर होती है वास्तव मे भुलावा।'

प्रेमचन्द ने उत्तर दिया : 'चाहे मै या तुम या दुनिया भर इसको रोकने की कोशिश करें यह रुक नहीं सकता। एक दिन आयेगा कि कोई भी शक्ति इसको रोक नहीं सकेगी हवा की रफ्तार यही हमको बतला रही है। जितना ही हम सोचते हैं कि पश्चिमी सभ्यता से दूर रहें उतनी ही तेजी के साथ वह हमारे सर के ऊपर आ रही है।'

शिवरानी देवी : 'प्रेमचन्द : घर में' (पृष्ठ १३२-१३३)।

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २००)।

२. वही (पृष्ठ २०३)।

३. वही, (पृष्ठ ७५)।

उनके विचार प्रगतिशील नही कहे जा सकते। ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द नारी की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध मे अपने पूर्व सस्कारो से मुक्त नही हुए थे। उनके चिन्तन और सस्कारो मे बराबर द्वन्द्व रहा जो उनके नारी-पात्रो के स्वाभाविक विकास को रोक देता है। उनके स्वरो मे आज के युग की समान अधिकार चाहने वाली नारी की बुलन्द आवाज नही है। प्रेमचन्द के युग मे नारी ने पहली बार घर से बाहर पैर बढाया था। शताब्दियो से सकुचित घेरे मे रहने के कारण कुछ नारियाँ प्रारम्भ मे यथार्थ मे सामजस्य न कर पाईं, वे अपना मानसिक सतुलन एव सयम खो बैठी और पाश्चात्य नारी से भी आगे बढने की स्पर्द्धा मे उच्छृखल बन गई। नारी के इसी रूप को देखकर सभवत प्रेमचन्द ने मीनाक्षी जैसी उद्दड और मालती जैसी तितली नारी का चित्रण किया है।

उषादेवी मित्रा ने 'वचन के मोल' मे मनिका, प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने 'विजय' मे ट्रैवीलियन तथा 'विदा' मे कुमुदिनी, रामकिशोर मालवीय ने 'शैलकुमारी' मे शैलकुमारी, भगवतीचरण वर्मा ने 'तीन वर्ष' मे प्रभा, गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने 'बहता पानी' मे चपला, राधिकारमणप्रसाद सिह ने 'राम-रहीम' मे बिजली तथा कुटुमप्यारी देवी सक्सेना ने 'हृदय की ताप' मे कमला आदि नारियो के चित्रण मे उच्च शिक्षा-प्राप्त अभिजातवर्गीय नारी-समाज पर तीखा व्यग्य किया है। ये सब नारियाँ अपने स्वार्थ मे अधी, रुपये पैसे की भूखी, प्रेम के क्षेत्र मे खिलवाड करने वाली तथा पुरुष से निम्न स्तर की प्रतिद्वन्द्विता करती दिखाई देती है। शैलकुमारी तो अपने पति के साथ नौकर से भी बुरा व्यवहार करती है। पाश्चात्य सभ्यता के प्रति घृणा उत्पन्न करने के हेतु लेखकों ने इन नारियो की मनोवृत्ति एव उनके व्यवहार को अत्यधिक बढा-चढा कर देखा है जिसके कारण कही-कही चरित्र अस्वाभाविक बन गये है।

प्रेमचन्द विचारो की अपेक्षा चरित्र-चित्रण के क्षेत्र मे अधिक प्रगतिशील हे। उन्होने उच्च, मध्य और निम्न सभी वर्गों की नारी का चित्रण किया है। उन्होंने अनुभव किया कि एक ही प्रकार की सामाजिक व्यवस्था के प्रति विभिन्न प्रकार के पात्रो की प्रतिक्रियायें भिन्न होती है। पर इन समस्याओ को उनके उपन्यासो मे सुलझाने के लिए पुरुष समाज ही प्रयत्नशील दिखाई देता है, नारी की निजी चेष्टा दृष्टिगोचर नही होती। उन्होने जहाँ नारी की सामाजिक समस्याओ जैसे दहेज, अनमेल-विवाह, वैधव्य, वेश्यावृत्ति और आभूषण-प्रियता जैसी कुरीतियो को अपनी सवेदना का विषय बनाया है, वहाँ वे बडे खुले रूप मे उन प्रथाओ के विरोध मे हमारे सामने आये है। ब्राह्मण समाज और विशेषकर आर्यसमाज के ५० वर्ष के आन्दोलन ने युक्त-प्रान्त की जनता को इन कुरीतियों के प्रति काफी सजग कर दिया था। कुछ पढे लिखे विद्वान इन कुरीतियो को मिटाने की चेष्टा भी कर रहे थे। प्रेमचन्द ने प्रथम बार साहित्य मे इन्ही समस्याओ को देश के दैनिक जीवन के रूप मे हमारे सम्मुख रख दिया। हिन्दी साहित्य कल्पना के आकाश से यथार्थ की भूमि पर उतर आया।

विधवा-विवाह एक सामाजिक समस्या है, किन्तु भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तरो मे

इसके बारे मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण है। प्रेमचन्द ने इस समस्या को प्रारम्भ से ही उठाया। रघुवीर सिह को लिखे गये प्रेमचन्द के एक पत्र से विधवा-विवाह-सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण का पूरा परिचय मिलता है 'प्रतिज्ञा' और 'प्रेमा' दोनो मेरी ही लिखी हुई है। 'प्रेमा' मैंने १९०५ मे लिखी थी। उस वक्त मैं नवाबराय के नाम से लिखता था। उसमे एक विधवा का विवाह कराया गया था, अर्थात् पूर्णा का अमृतराय से विवाह हुआ था। लेकिन आप दोनो पुस्तको को सामने रख ले तो आपको सिवा बसन्तराय के गगावाले दृश्य के और कोई बात न मिलेगी। मैने विधवा का विवाह कराके हिन्दू नारी को आदर्श से गिरा दिया था। उस वक्त जवानी की उम्र थी और सुधार की प्रवृत्ति ज़ोरो पर थी। उस रूप मे मैं उस पुस्तक को नही देखना चाहता था। इसलिए मैने कथा मे उलट-फेर करके इसे लिख डाला। आप देखेगे कि आरम्भ दोनो का भिन्न है, अन्त भी भिन्न, समानता केवल पात्रो के नामो मे है।"[१]

प्रेमचन्द के इसी दृष्टिकोण के कारण 'वरदान' की विधवा ब्रजरानी बाल-सहचर प्रताप से प्रेम करने पर भी विवाह नही करती। 'प्रतिज्ञा' की पूर्णा अपने यौवन की अतृप्त वासना लेकर भी विधवाश्रम मे ही शरण लेती है और अपना ध्यान भगवद्भक्ति मे केन्द्रित कर लेती है। 'प्रेमाश्रम' मे जमीदार वर्ग की गायत्री देवी अतुल धनराशि और यौन-लालसा लेकर भी रासलीला का स्वाग भरती है, विवाह नही करती। इसके विपरीत 'गोदान' की ग्वालिन विधवा झुनिया को इधर-उधर नही भटकना पडता, वह गोबर से विवाह करके आराम से रहती है। होरी को दण्ड इसलिए नही भरना पडता कि गोबर ने विधवा से विवाह किया है, बल्कि इस कारण कि समाज से छिपकर विवाह किया। समस्या एक है, सामाजिक व्यवस्था भी एक है, किन्तु मध्यवर्ग और ज़मीदार वर्ग मे यह समस्या विकृत मानसिक रूप धारण करके नैतिकता का पतन करती है क्योकि उस समाज मे ऐसे कार्य को पाप समझा जाता है परन्तु निम्न कहलाने वाली जातियो मे विधवा-विवाह करना उतना बुरा नही माना जाता इसलिए गॉव मे विधवा-विवाह की समस्या शहर की भॉति विकट नही है। वे अधिकाश पुनर्विवाह करके इस मानसिक और नैतिक विकृति से मुक्ति पा जाती है। यह बात सत्य होने पर भी गॉव की विधवा नारी के पुन-र्विवाह की चर्चा 'गोदान' मे ही मिलती है। प्रेमचन्द ने ऐसा चित्रण अन्य उपन्यासो मे नही किया। अत 'गोदान' मे इस प्रकार के चित्रण के मूल मे प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का क्रमिक विकास प्रतीत होता है। इस युग के अन्य उपन्यासकार जैसे जयशकर 'प्रसाद' ने भी गॉव की विधवा नारी का पुनर्विवाह नही दिखाया है। 'तितली' उपन्यास मे मधुबन की बहिन राजकुमारी बाल-विधवा है, चौबे के प्रति उसका आकर्षण भी है, उसका मानसिक पतन भी होता है किन्तु तो भी लेखक ने उसका पुनर्विवाह नही कराया। विधवा-विवाह के सिद्धान्त को मानते हुए भी पात्रो के चरित्र

१. 'आजकल' : वर्ष ७, संख्या १०, फरवरी १९५२।

मे उसको चरितार्थ न करना इस युग के उपन्यासकारो की सहज प्रवृत्ति दिखाई देती है।

नारी के आभूषण-प्रेम की समस्या समाज मे विकट रूप मे दृष्टिगोचर होती है। प्रेमचन्द ने नारी-चरित्र की इस विशेषता का भी चित्रण गम्भीरता से किया। नारी के आभूषण प्रेम की समस्या को न तो प्रेमचन्द-पूर्व के किसी उपन्यासकार ने लिया था, न प्रेमचन्द-युग के अन्य उपन्यासकार ने और न प्रेमचन्दोत्तर काल के ही किसी उपन्यासकार ने। इससे प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द की दृष्टि कितनी पैनी और व्यापक थी। नारी की इस आभूषण-प्रियता की प्रेमचन्द ने खूब भर्त्सना की है। उन्होने कहा गहने पहनना बुरी बात नही है किन्तु उनका इतना मोह करना कि उसके कारण पारिवारिक शान्ति भग हो जाये लज्जा की बात है।

प्रेमचन्द ने जहाँ एक ओर नारी को आभूषणो के प्रति इतना अधिक आर्कषित बताया है, वहाँ दूसरी ओर अवसर पडने पर सर्वस्व त्याग करने के लिए प्रस्तुत भी। 'गबन' मे जालपा को पति की परेशानियो का जैसे ही पता चलता है, वह स्वय सराफे मे जाकर गहने बेच देती है। इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' की शीलमणि समाज-सेवा के लिए पैसे की आवश्यकता पडने पर तुरन्त अपने आभूषण देने का प्रस्ताव रखती है। उसके पति को इस अचानक परिवर्तन पर आश्चर्य होता है किन्तु शीलमणि के उत्तर मे तनिक भी हिचक नही . 'जिस आग से आदमी हाथ सेकता है, क्या काम पडने पर उससे अपने चने नही भून लेता। स्त्रियाँ गहनो पर प्राण देती है, लेकिन अवसर पडने पर उतार भी फेकती है।'[१] 'कर्मभूमि 'की स्वाभिमानी सुखदा भी इसी प्रकार की बात कहती है 'तुम समझते होगे, मैं गहनो के लिए कोने मे बैठकर रोऊँगी और अपने भाग्य को कोसूगी। स्त्रियाँ अवसर पड़ने पर कितना त्याग कर सकती है, यह तुम नही जानते। मैं इस फटकार के बाद इन गहनो की ओर ताकना भी पाप समझती हूँ।'[२]

प्रेमचन्द और 'प्रसाद' वेश्या से भी कभी घृणा न कर सके। हाँ, उसके पाप से अवश्य घृणा करते थे। वे जानते थे कि वेश्या पारिवारिक अपमान, सामाजिक दासता या आर्थिक विवशताओ के कारण ही वेश्या बनती है। वेश्या बनने मात्र से ही उसमे सद्वृत्ति का एकदम लोप नही हो जाता। सुमन वेश्या बनकर भी शरीर से पवित्र थी। वेश्या जोहरा का अटल बिश्वास और सेवा-भक्ति देखकर रमानाथ को भी कहना पडता है 'मै इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे उस तरफ से प्रकाश मिला जिधर से औरो को अधकार मिलता है। विष से मुझे सुधा प्राप्त हो गई।'[३] समाज मे नैतिकता का कितना महत्व है इसको प्रेमचन्द के उपन्यास की सभी वेश्या-पात्र जानती है।

---

१. प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम' (पृष्ठ ५५३)।
२. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ ११३)।
३. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ ३१८)।

इस युग के अन्य उपन्यासकार जैसे तेजकुमारी दीक्षित, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभ चरण जैन, 'हृदयेश', उषादेवी मित्रा आदि ने वेश्या की समस्या को सहानुभूति के साथ चित्रित किया है। इन उपन्यासकारो का वेश्या के प्रति जो दृष्टिकोण है वह प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासकारो का नही था। उन्होने वेश्यावृत्ति के मूल कारणो पर ध्यान नही दिया था, वे वेश्या को पापिनी मानकर घृणा की दृष्टि से देखते थे। किन्तु प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारो के सम्मुख यथार्थ स्पष्ट हो चुका था, इसलिए उन्होने वेश्यावृत्ति के कारण और समाधान दोनो पर ध्यान दिया। वेश्यावृत्ति के कारणो मे पुरुष के अत्याचार, नारी की सुख-भोग की लालसा और आर्थिक सकट को मुख्य माना गया है। 'सेवासदन' मे सुधारवादी लोग वेश्याओ को उबारने के लिए एव समाज से उनको अलग रखने के लिए विभिन्न प्रकार की योजनाये बनाते है और वेश्याओ को सभ्य नागरिक बनाने के हेतु 'सेवासदन' जैसे आश्रम से ही सतोष कर लेते है किन्तु 'गोदान' तक आते-आते प्रेमचन्द के विचारो मे प्रगति होती है। वे मेहता की वाणी मे कहते है 'जब तक समाज की व्यवस्था ऊपर से नीचे तक बदल न डाली जाय, इस तरह की मडली से कोई फायदा न होगा।'[1]

प्रेमचन्द जहाँ एक ओर समाज मे परिवर्तन की बात कहते है वही दूसरी ओर नारी की निजी चारित्रिक विशेषताओ पर भी ध्यान देते है। व्यवस्था एक होने पर भी एक स्तर की नारी का जीवन दूसरे स्तर की नारी के जीवन से भिन्न होता है, उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया भी भिन्न रूप मे होती है। इसीलिए मालती, सुमन और धनिया अपने-अपने ढग से सघर्ष करती है। सामाजिक परिपार्श्व ही सब कुछ नही होता, व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओ का भी महत्व होता है। प्रेमचन्द, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, विश्वभरनाथ 'कौशिक', सियारामशरण गुप्त, जयशकर 'प्रसाद', उषादेवी मित्रा आदि इस युग के उपन्यासकारो ने नारी की चारित्रिक विशेषताओ पर अत्यधिक बल दिया है। सुखदा पति के चले जाने पर नौकरी करती है तो सुमन पति की उपेक्षा पाकर वेश्या बन जाती है और जालपा आत्म-ग्लानि और पति-प्रेम से अभिभूत होकर उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए अपना जीवन लगा देती है। जहाँ सुधा अपने लपट पति से वैधव्य को अच्छा मानती है, वहाँ निर्मला मे इतना साहस नही कि वह अपने पति से अपने मन की बात भी कह सके, अपनी स्थिति को स्पष्ट कर सके। सामाजिक वातावरण एक है किन्तु प्रतिक्रिया कितनी भिन्न। इसी प्रकार 'तितली' मे तितली, शैला और अनवरी की चारित्रिक विशेषताओ मे कितना अन्तर है। लगभग इन सभी पात्रो के चरित्र-चित्रण सजीव हुए है। सभी नारी-पात्र व्यक्तिगत विषमताये लेकर भी एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। प्रेमचन्द के सम्मुख एक सुधारवादी आदर्श था, एक उद्देश्य था जिसको ध्यान मे रखकर ही उन्होने चरित्र-चित्रण किया है। इसीलिए कही-कही उनके पात्रो का सीधा विकास नही होता।

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ४१५)।

लेखक मानो स्वय बोल पडता है, या उनको अपनी इच्छानुसार विभिन्न परिस्थितियो मे डाल देता है। इससे कही कही थोडी-सी अस्वाभाविकता आ गई है।

इस काल मे देश-निवासियो पर गाँधी जी के आदर्श और सिद्धान्तो का बहुत प्रबल प्रभाव था। स्त्रियाँ रचनात्मक कार्य करने के अतिरिक्त राजनैतिक आन्दोलनो मे भी सक्रिय रूप से भाग लेने लगी थी। इसीलिए प्रेमचन्द, जयशकर 'प्रसाद', प्रतापनारायण श्रीवास्तव, उषादेवी मित्रा आदि उपन्यासकारो के नारी-पात्रो मे देश-भक्ति की भावना पायी जाती है। वह देश-भक्ति चाहे समाज-सेवा के रूप मे हो या सीधे राजनैतिक सघर्ष के रूप मे। 'कर्मभूमि' की मुन्नी, नैना, सुखदा, 'रगभूमि' की इन्दु, उषादेवी मित्रा लिखित 'पिया' की पिया, 'वचन के मोल' की कजरी गाँधी जी के आदर्शों से प्रभावित होकर देश मे फैले अधविश्वास, दमन, जुल्म और शोषण के विरोध मे अपना खून बहाने को तत्पर हो जाती है तो 'सेवासदन' की सुमन, 'गबन' की जालपा, 'प्रेमाश्रम' की शीलमणि, 'गोदान' की मालती, 'तितली' की तितली, प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' की चपला समाज-सेवा की भावना से अनुप्राणित होकर अपने सुखो को तिलाजलि देकर सेवाकार्य मे रत हो जाती है। एक ओर सुखदा समस्त पीडितो और शोषितो की शक्ति समेट कर अग्रेजी शासको के विरोध मे भविष्यवाणी करती है कि 'एक दिन आयेगा, जब आज के देवता कल ककर-पत्थर की तरह उठा-उठाकर गलियो मे फेक दिए जायेगे और पैरो से ठुकराये जायेगे'[१] तो दूसरी ओर मालती समाज-सेवा के लिए अपने सचित प्रेम तक का उत्सर्ग कर देती है। जालपा निर्दोष अभियुक्तो को बचाने के हेतु अपने पति के सुख का उत्सर्ग करने को भी तत्पर हो जाती है।

प्रेमचन्द ने सम्मिलित परिवार-व्यवस्था के प्रति पुरानी पीढी का ममत्व और नयी पीढी का विद्रोह व्यक्त किया है। इस युग के अन्य उपन्यासकारो का भी यही दृष्टिकोण दिखाई देता है किन्तु प्रेमचन्द और 'प्रसाद' के अतिरिक्त अन्य उपन्यासकारो ने सम्मिलित परिवार के दोष-गुण और उसमे नारी की स्थिति पर विचार नही किया है।

आधुनिक शिक्षा-दीक्षा, आर्थिक कठिनाइयो एव व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना के कारण सम्मिलित परिवार छिन्न-भिन्न हो रहा है। इस विच्छेद के प्रति नये युग की भावना से अनुप्राणित पुरुष और नारी दोनो ही आग्रह रखते है। 'प्रेमाश्रम' मे ज्ञानशकर और दयाशकर के विचारो मे मूलभूत अन्तर है किन्तु विद्या प्राचीन आदर्शों को अपनाने के कारण सम्मिलित परिवार-विच्छेद का विरोध करती है। होरी के अथक प्रयास करने पर भी सम्मिलित परिवार टूट जाता है, उसे भाइयो से अलग होना पडता है, यहाँ तक कि उसका अपना बेटा गोबर भी उसे छोडकर शहर चला जाता है। साहसी झुनिया गोबर के साथ शहर जाने मे अतिशय प्रसन्न दिखाई देती है, यहाँ तक कि सास-बहू मे लडाई ठन जाती है। सास-बहू, देवरानी-जिठानी, ननद-भौजाई आदि के झगडे प्रेमचन्द-युग

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि'।

के उपन्यासो मे भी मिलते है किन्तु इस समय लेखक का मूल उद्देश्य नारी की सामाजिक समस्याओ का चित्रण करना है, पारिवारिक सम्बन्धो की ओर उसका ध्यान कम है। ये झगडे परिवार-विच्छेद के मुख्य कारणो मे है।

कानूनी तौर पर सम्मिलित परिवार मे स्त्री का धन-सम्पत्ति पर कोई अधिकार नही होता। सम्मिलित परिवार के इस दोष पर भी प्रेमचन्द का ध्यान गया। 'गबन' मे वकील साहब के मरने के बाद उनकी लाखो की सम्पत्ति पर उनका भतीजा मणिभूषण अधिकार जमा लेता है, उनकी पत्नी रतन को सिर्फ जीवन-निर्वाह के लिए कुछ पैसो का ही अधिकार मिलता है। इस स्थिति से विह्वल होकर वह नारी-जाति को सदेश पहुँचाना चाहती हे "यदि मेरी जुबान मे इतनी ताकत होती कि सारे देश मे उसकी आवाज पहुँचती तो मै सब स्त्रियो से कहती, 'बहनो, किसी सम्मिलित परिवार मे विवाह मत करना और अगर करना तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नीद मत सोना। यह मत समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर मे तुम्हारा मान के साथ पालन होगा। अगर तुम्हारे पुरुष ने कोई तरका नही छोडा तो तुम अकेले रहो, चाहे परिवार मे, एक बात है।"[१] नारी अपने अधिकारो के प्रति कितनी सजग हो गयी थी, यह इन पक्तियो से जाना जा सकता है। अभी उसके पास इसका कोई समाधान नही है। किन्तु वह अधिकारो के प्रति सजग है तो समाधान भी एक-न-एक दिन अवश्य मिलेगा।

बीसवी शताब्दी के मानव-जीवन की दो प्रमुख ग्रन्थियाँ रही है। आर्थिक ग्रन्थि और काम-मूलक ग्रन्थि। एक का सम्बन्ध मनुष्य के परिवेश से है, दूसरे का उसके अन्तर्मन से। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासो मे प्रारम्भ से अन्त तक आर्थिक समस्याओ को प्रधानता दी है। नारी की जितनी सामाजिक समस्याओ का चित्रण किया है उनके मूल मे आर्थिक परिस्थिति ही है। काम-मूलक ग्रन्थि के सम्बन्ध मे प्रेमचन्द ने अत्यधिक सयम से काम लिया है। प्रेमचन्द ने यौन भावनाओ को स्थान तो दिया है किन्तु उनको अधिक महत्व कभी नही दिया, क्योकि उनका विश्वास था कि इस समस्या मे लिप्त होकर नही, विवेक द्वारा विजय पाने से जीवन-विकास सम्भव हो सकता है। यही कारण है कि उनमे शरद की भाँति भावुकतापूर्ण स्त्रीत्व नही है। उनमे काठिन्य की ओर आग्रह है और सकल्प एव नारी उद्धार की भावना है। उनका सम्बन्ध विशेष रूप से सामाजिक समस्या से रहता है।[२] वह गम्भीर दर्शन या सिर्फ चिन्तन की श्रेणी मे नही आता। उसका व्याव-

---

१. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ २६९)।

२. 'यदि प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र की तुलना की जाय तो स म जिक समस्याओं के विश्लेषण में शरच्चन्द्र अधिक संयत जान पड़ेंगे। विधवा का जीवन भी उनकी कला का मूल है; लेकिन उनमें समाज-सुधार के लिए उत्साह नहीं है। उनके उपन्यासों में विधवाओं के जो बड़े-बड़े चरित्र है वे अपने रंगों के लिए प्रसिद्ध हैं। वे सबसे अधिक रुचि चरित्र-

हारिक महत्व है। पारिवारिक एव सामाजिक उन्नति के लिए प्रेमचन्द की मानवतावादी सवेदना ने जो रूप ग्रहण किया वह अन्य उपन्यासकारो मे दुर्लभ है। प्रेमचन्द अपने इस मार्ग से स्वय परिचित थे, उनके आगे एक उद्देश्य था जिस पर वे चले।'

प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासो मे नारी का चित्रण मुख्यत पत्नी के रूप मे आया है। प्रेयसी और माता का रूप गौण ही है। अपने पति से प्रेम और विश्वास करके ही वह सफल है। इन दोनो को खोकर वह भटक जाती है। ज्यो-ज्यो प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का विकास हुआ, त्यो-त्यो नारी-पात्रो के चित्रण मे भी विकास होता गया। ब्रजरानी और सुमित्रा के आदर्शमय परम्परागत चित्र से आरम्भ कर वे नारी को धनिया के स्वाभाविक यथार्थ एव स्वस्थ रूप तक लाये है। सभी नारी-पात्रो के सस्कार यथार्थ रूप मे जीवन से लिये गये है। लगता है वे हमे दैनिक जीवन मे रात-दिन, अपने आस पास मिलती हैं। वे अपने वर्ग की नारियो की सभी अच्छाइयो और बुराइयो को लेकर प्रकट हुई है। वे अपने जीवन को अधिक सम्पन्न, प्रसन्न और देशोपयोगी बनाने के लिए प्रयत्नशील है। यह भावना भविष्य मे अटूट विश्वास से ही आती है।

प्रेमचन्द-युग मे ही कुछ ऐसे उपन्यासकार भी हुए जिन पर प्राकृतवाद (Naturalism) की छाप बहुत स्पष्ट है। प्राकृतवाद उन्नीसवी शताब्दी मे योरोपीय साहित्य मे बहुत प्रसिद्ध मतवाद था। इसके अनुसार मनुष्य भी अन्य प्राणियो की भाँति एक जन्तु मात्र है। अत मनुष्य मे भी पशु-सुलभ सभी आकर्षण-विकर्षण वर्तमान है। प्राकृतवादी लेखक साहित्यिक सौन्दर्य की ओर कभी-कभी शील को भी उपेक्षा करके जीवन

चित्रण मे रखते हैं। प्रेमचन्द का सम्बन्ध विशेष रूप से सामाजिक समस्या से रहता है।'
सम्पादक— डा० इन्द्रनाथ मदान : 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' (पृष्ठ १०)।

१. एक बार जैनेन्द्र के पूछने पर प्रेमचन्द ने अपने इस मत को स्वयं ही स्वीकार किया था। जैनेन्द्र ने पूछा : 'बंगाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है, इससे आप सहमत है ? तो इसका कारण क्या है ?' प्रेमचन्द ने कहा : 'सहमत तो हूँ, कारण उसमें स्त्रीत्व भावना अधिक है। मुझमें वह काफी नहीं है।' सुनकर मै उनकी ओर देख उठा। पूछा : स्त्रीत्व है ? इसी से वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है ? बोले : 'हाँ, तो वह जगह-जगह reminiscent (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति मे भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य होता है, विधायकता के लिए दोनों चाहिए . . .'। बोले, 'जैनेन्द्र, मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम, मै बगाली नहीं हूँ। वे लोग भावुक हैं। भावुकता में जहाँ पहुँच सकते है, वहाँ मेरी पहुँच नहीं। मुझमें उतनी देन कहाँ। ज्ञान से जहाँ नहीं पहुँचा जाता, वहाँ भी भावना से पहुँचा जाता है। वहाँ भावना से ही पहुँचा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र, मै सोचता हूँ काठिन्य भी चाहिये।'
जैनेन्द्र का लिखा लेख : 'प्रेमचन्द : मैंने देखा जाना और पाया', : 'हंस' : १९३७ : मई अंक (पृष्ठ ७७८)।

के सभी पहलुओ का नग्न चित्रण करता है। विशेष रूप से वह काम, क्रोधादि उन मनोवेगो की ओर ध्यान देता है, जिन पर अन्य लेखक साधारणत मौन रहते है।

इस प्रकार का उपन्यास पहलेपहल फेच लेखक एमिल जोला ने लिखा था। इसका प्रचार पहले इग्लैड मे हुआ फिर अग्रेजी के माध्यम से हिन्दी मे भी इसका अनुकरण हुआ। प्रेमचन्द-युग मे चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा 'उग्र' और चद्रशेखर पाठक ने इस प्रकार के उपन्यास लिखे। यद्यपि इन लेखको ने भी नारी की सामाजिक समस्याओ को ही अपने उपन्यासो की कथावस्तु बनाया है और समाज-सुधार की दृष्टि से ही विधवाश्रमो और वेश्यालयो के दोषो एव दिन-प्रतिदिन समाज मे होने वाले व्यभिचारो का भण्डाफोड़ किया है तथापि इन्होने स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धो एव समाज के दूषित और घृणित पक्षो को रसपूर्ण और उत्तेजक शैली मे इस प्रकार चित्रित किया है कि उसका प्रभाव बिल्कुल उल्टा ही पडता है। यही नही, इन्होने विधवाश्रमो, वेश्यालयो एव निकृष्ट समुदाय के ऐसे चरित्रो की सृष्टि की जिसको पढकर लगता है मानो पात्र पुकार-पुकार कर कह रहे हो कि मनुष्य और पशु की वृत्ति मे कोई अन्तर नही है, अपितु कामासक्ति मे मनुष्य पशु से भी निकृष्ट और पतित है। अत इनके उपन्यास पाठको की रुचि को उठाने की अपेक्षा नीचे गिराने मे और नारी की समस्या को सुलझाने की अपेक्षा उलझाने मे ही अधिक सहायक सिद्ध हुए।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रेमचन्द-युग के लगभग सभी उपन्यासकारो की प्रवृत्ति सामाजिक यथार्थ का आकलन करने की ओर थी जिसका चित्रण विभिन्न शैलियो मे व्यक्तिगत रुचि के अनुसार हुआ है। इस युग के सभी उपन्यासकारो की प्रवृत्ति आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर होते हुए भी उन्होने यथार्थ पर विशेष बल दिया है। उपन्यासकार समस्या का जो समाधान हमारे सामने रखता है वह बहुत विश्वसनीय नही लगता। वह समस्या का सच्चा हल है भी नही। तभी तो प्रेमचन्द ने 'गोदान' मे कोई समाधान नही रखा। इससे उनके दृष्टिकोण के क्रमिक विकास का परिचय मिलता है।

प्रेमचन्द-युग मे ही कुछ उपन्यासकारो ने नारी-जीवन की कुछ समस्याओ को नये दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया। प्रेम की भित्ति पर पाप-पुण्य की समस्या भगवतीचरण वर्मा लिखित 'चित्रलेखा' (१९३४) मे उठ चुकी थी। इस आदर्शवादी युग मे ही लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण के माध्यम से यह कहने का साहस किया कि प्रेम के क्षेत्र मे भी पाप-पुण्य कुछ नही है, वह पूरी तौर से परिस्थिति एव व्यक्ति की भावना पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त जैनेन्द्र लिखित 'परख' (१९३०) 'सुनीता' (१९३६) तथा प्रफुल्लचद्र ओझा लिखित 'तलाक' (१९३२) आदि उपन्यास भी इस युग मे लिखे गये जिनमे नारी-समस्या को दूसरे दृष्टिकोण से देखा गया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि का महत्व बढ गया। 'परख' और 'सुनीता' मे क्रमश कट्टो और सुनीता की जो भीगी मनोवेदना परिलक्षित होती है, वह प्रेमचन्द के उपन्यासो मे नही। 'सुनीता' के साथ घर-बाहर की समस्या भी उठ खडी हुई जो नयी सामाजिक चेतना से उत्पन्न हुई थी। 'सुनीता'

मे कर्तव्यनिष्ठ पतिव्रता पत्नी की ही विजय दिखाई गई है। इसलिए इसका आदर्श प्रेमचन्द का ही आदर्श है किन्तु चित्रण की भूमि बदल गई है। उपन्यासकारो का ध्यान मानव-मन की ओर जाने लगा जिसके कारण उपन्यास मे अधिक तलस्पर्शिता आई। प्रेमचन्द के जाते-जाते जिस नवीन चेतना का उदय हुआ उसके मूल मे नई राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक उपलब्धियाँ थी। यही पर प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासो की सन्धि-रेखा मिलती है।

प्रेमचन्दोत्तर काल

प्रेमचन्द-युग के हिन्दी उपन्यासो की विचारधारा की आधार-भूमि समाज थी जो सामान्यत १९०५ से १९३६ तक व्याप्त रही। प्रेमचन्द के जाते-जाते हिन्दी उपन्यास ने एक नया और स्पष्ट मोड लिया। सामान्य जीवन की दिन-प्रतिदिन की घटनाओ से उपन्यास अलग होता गया। उसका झुकाव मनुष्य के मानस की सारी प्रक्रियाओ के उद्घाटन की ओर एव आन्तरिक सम्भावनाओ की ओर होता गया।

सन् १९३६ के बाद के हिन्दी उपन्यास का मुख्य विषय धन-लालसा और यौन-बुभुक्षा रहा है। यही दो कथावस्तु के आधार है जिन पर उपन्यास खोलते ही दृष्टि पडती है। ये सामाजिक जीवन के अविच्छिन्न अग है जिनसे साहित्यकार अपने को अलग नही कर सकता। प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी उपन्यासो मे इन दो पहलुओ का जो चित्रण हुआ वह सामाजिक जीवन का सहज अग होने पर भी दो प्रमुख प्रभावो के कारण हुआ। ये दो प्रभाव थे (१) मार्क्स की विचारधारा (२) फ्रायड का मनोविश्लेपण।

कार्ल मार्क्स (१८४२-१८८४) का मुख्य सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद था जिसका प्रभाव भारतवर्ष की राजनीति पर तो पडा ही, हिन्दी साहित्य भी उससे अछूता न रहा।

मार्क्स की विचार-धारा

उनकी विचारधारा से प्रभावित होकर पश्चिम और पूर्व के अनेक देशो मे कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई और अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के प्रयत्न हुए। पहले महायुद्ध के अन्त मे रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी ने क्रान्ति मे सफलता पाई जिसके फलस्वरूप मार्क्स की विचारधारा का प्रभाव दूर-दूर तक फैल गया और कम्यूनिस्ट आन्दोलन को बहुत बल मिला। भारत मे भी सन् १९२७ मे कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई और कम्यूनिस्ट सिद्धान्तो का सहारा लेकर सन् १९३६ मे प्रगतिशील लेखक सघ का जन्म हुआ।

मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार पूँजीवादी समाज-व्यवस्था मे दो वर्ग होते है एक शोषक और दूसरा शोषित। इन दो वर्गों मे आपस मे सघर्ष चलता रहता है। नारी शोषित है और पुरुष शोषक।[१] समाज की उन्नति एव कल्याण के लिए नारी की आर्थिक

---

१. In the family, he is the bourgeois; the wife represents the proletariat.

Frederick Engels : The Origin of the family (page 106)

स्वतन्त्रता एव उसके जीवन का विकास अत्यन्त आवश्यक है। स्त्रियाँ भी पुरुषो के ही समान मनुष्य है। समाज की उन्नति स्त्री के सहयोग के विना नही हो सकती।

यद्यपि जॉन स्टुअर्ट मिल ने सन् १८६९ मे अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक Subjection of women मे ही नारी-स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया था जिसको पढकर उस समय के पुराण-पथियो मे खलबली मच गयी थी किन्तु मार्क्स-एगेल्स ने पहली बार नारी-सम्बन्धो का ऐतिहासिक विश्लेषण किया और उन परिस्थितियो और सामाजिक कारणों का उद्घाटन किया जिनके कारण समाज मे नारी अपने सम्मान एव स्वतन्त्रता से वचित हो गई। एगेल्स ने कहा, 'जिसका उत्पादन के साधनो पर अधिकार होगा, समाज में उसी का सम्मान होगा, उसी के हाथ मे सत्ता होगी।' उन्होने कहा, 'नारी की मुक्ति तभी सम्भव हो सकती है, जब वह सामाजिक स्तर पर उत्पादन के योग्य हो।' यही कारण है कि मार्क्स के अनुयायियो ने नारी के घर से बाहर आकर सामाजिक स्तर पर कार्य करने एव सामाजिक समानता प्राप्त करने पर बहुत बल दिया है।

मार्क्स वस्तु के बाह्यनिष्ठ अस्तित्व मे विश्वास करते थे। मनुष्य के मानसिक जगत पर बाह्य वातावरण एव परिस्थितियो का प्रभाव पडता है, इन्ही के द्वारा मनुष्य के विचारो, भावो एव अनुभावो का निर्माण होता है।[1] इसी के साथ-साथ मनुष्य समाज की परिस्थिति और वातावरण को प्रभावित और परिवर्तित भी कर सकता है। अर्थात् व्यक्ति समाज द्वारा प्रभावित भी होता है और उसका निर्माता भी है।

यह ठीक है कि मार्क्स और एगेल्स भी मानव-आचरण मे अचेतन मन की प्रेरणाओं के महत्व को स्वीकार करते है। किन्तु उन्होने इन अनुभूतियो और प्रेरणाओ का सम्बन्ध आर्थिक आधार से माना है। आर्थिक आधार से उनका सम्बन्ध वही होता है जो फूल का मिट्टी से होता है। जिस प्रकार फूल मिट्टी से पैदा होता है, उसी का अश है, उसी का परिष्कृत रूप है किन्तु यह सब होने पर भी उससे भिन्न प्रतीत होता है, उसी प्रकार मानव-मन की प्रेरणाओ का आधार आर्थिक होता है, उसी से वे नाना रूप धारण कर के प्रकट होती रहती है। एगेल्स का मत है कि जब व्यक्ति की प्रेरणाये उसके मस्तिष्क से होकर उसकी इच्छा-शक्ति का अग बन जाती है तभी विचार क्रिया का रूप लेते है। किन्तु फ्रायड ने काम को जीवन की मूल-शक्ति माना है जो मार्क्सीय सिद्धान्त के विपरीत है। मार्क्सवाद व्यक्ति के मस्तिष्क की अनेक-रूपात्मक क्रिया-प्रतिक्रियाओ से उतना सम्बन्ध नही रखता जितना मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय रखता है।

मार्क्सवादी विचारधारा ने साहित्य मे जिस प्रवृत्ति को जन्म दिया उसे 'प्रगतिवाद'

---

१. **'भौतिक परिस्थितियों और विचारों का सम्बन्ध नींव और उस पर खड़ी इमारत के समान है। यदि आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध नींव है तो ज्ञान, विज्ञान, कानून, दर्शन, साहित्य और कला उस नींव पर खड़ी इमारत के समान हैं।'**
प्रकाशचन्द्र गुप्त : 'साहित्य-धारा' (पृष्ठ १)।

का नाम दिया गया है। शिवदान सिह चौहान ने 'प्रगतिवाद' की व्याख्या करते हुए लिखा है "'प्रगतिवाद' साहित्य की वह धारा है जो पूँजीवाद के अन्तिम काल मे उत्पन्न होती है, जो पूँजीवादी साहित्य और कला की सारी कामयाबियो और सजीव परम्पराओ को ग्रहण कर एक नये जन-साहित्य का निर्माण करती है।" प्रगतिवादी साहित्य मनोविश्लेषणवादियो की भाँति व्यक्तिगत वर्जनाओ और विशिष्ट असाधारणत्व को महत्व नही देता। वह तो कला को पूरे समाज की सम्पत्ति मानता है। अत वह यह मानता है कि अच्छे प्रगतिशील साहित्य मे जन-साधारण को समस्याओ और भावनाओ का चित्रण ऐसी स्पष्ट शैली मे होना चाहिए कि जिससे उसका प्रभाव व्यापक मानव-समूह पर पड सके। यही कारण है कि इस साहित्य के मूल मे 'मै' को नही 'हम' की भावना प्रधान रहती है। प्रगतिवादी साहित्य मे सामाजिक व्यवस्था एव उसके फलस्वरूप समाज मे उत्पन्न विषमताओ और सघर्ष का सजीव चित्रण प्रधान होता है। इसके लेखक 'सामाजिक यथार्थवाद' (Social Realism) मे विश्वास करते है। 'सामाजिक यथार्थवाद' की धारा ही साहित्य मे प्रगतिवाद है।'[२]

फ्रायड का मनोविश्लेषण

यद्यपि डारविन के विकासवाद (Evolution) के फलस्वरूप लोगो का ध्यान व्यक्ति के जीवन और उसकी प्रतिक्रियाओ की ओर आकर्षित हो चुका था, तथापि सर्वप्रथम मनोविश्लेषण को विज्ञान का रूप प्रो० सिग्मड फ्रायड (१८५६-१९३६) ने प्रदान किया। इसके फलस्वरूप १९१० ई० मे इन्टरनेशनल साइकोएनालिटिकल एसोसियेशन की नीव पडी। फ्रायड ने बताया कि मानव-मन के तीन स्तर होते है (१) चेतन (२) अर्द्धचेतन और (३) अवचेतन। अवचेतन की खोज फ्रायड के मनोविश्लेषण का आधार-भूत सिद्धान्त है। इसके पहले मनुष्य केवल अपनी चेतनावस्था से ही परिचित था। किन्तु फ्रायड ने कहा कि मानव-मन का ³/₄ भाग अवचेतन है। इसी अवचेतन के द्वारा मनुष्य के स्वभाव, व्यवहार तथा विचारादि रूप पाते है। चेतन हमारे मन का वह भाग है जो सामाजिक जीवन मे सक्रिय रहता है तथा जिसकी क्रियाओ का हमे ज्ञान रहता है। अवचेतन मे होनेवाली क्रियाओ का हमे ज्ञान नही होता। चेतन और अवचेतन दोनो का मध्यवर्ती स्तर अर्द्धचेतन है। हमारे विचार और प्रवृत्तियाँ अवचेतन से उत्पन्न होकर अर्द्धचेतन से होती हुई चेतन तक पहुँच जाती है। समाज की दृष्टि से जो विचार तथा व्यवहार निन्दनीय और लज्जास्पद होते है उन्हे चेतन और अवचेतन के बीच मे बैठा हुआ एक प्रहरी (Censor) रोक देता है, किन्तु वे दमित प्रवृत्तिया एकदम समाप्त नही हो जाती। ये प्रवृत्तियाँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए अवचेतन मे गुप्त रूप से सघर्ष करती रहती है ओर स्वप्न मे, कला मे तथा साहित्य मे प्रकट होकर अपना अस्तित्व

---

१. शिवदान सिह चौहान : 'प्रगतिवाद', पृष्ठ १।
२. वही, (पृष्ठ ७)।

सिद्ध करती है। आधुनिक मनोवैज्ञानिको का ध्यान इन दमित भावो तथा प्रवृत्तियो के उद्घाटन की ओर अधिक है। हमारा अवचेतन मन जिन दमित इच्छाओ का पुज है वे मूलत हमारी कामेच्छा का परिणाम होती है। फ्रायड ने इसको 'लिबिडो' कहा है। हमारी सभी व्यक्तिगत तथा समष्टिगत क्रियाओ तथा चेष्टाओ मे काम के सूक्ष्म अन्तसूॅत्र विद्यमान रहते है।

काम अथवा राग की माध्यम मनुष्य की सहज वृत्तियाॅ होती है। फ्रायड के अनुसार इन सहज वृत्तियो का उचित परितोष ही जीवन की सिद्धि है। यही फ्रायड का आनन्द सिद्धान्त 'प्लैजर प्रिन्सिपल' है। वे इसी को जीवन का मूल सिद्धान्त मानते थे। यद्यपि बाद मे उन्हे विवेक की महत्ता भी स्वीकार करनी पडी।

फ्रायड के शिष्य तथा सहयोगी एडलर और युग थे जिन्होने फ्रायड से कुछ भिन्न अपने अलग-अलग सम्प्रदाय बनाये। एडलर ने मनुष्य की मूल वासना को काम-वासना न मानकर विजय की वासना माना है। उन्होने कहा कि व्यक्ति मे दूसरो पर विजय प्राप्त करने की, दूसरो से श्रेष्ठ बनने की भावना प्रधान होती है। इसी प्रकार युग ने फ्रायड के मनोविज्ञान के सिद्धान्त का अपने प्रयोगो और अनुभवो के आधार पर विकास किया।

हिन्दी उपन्यास पर प्रभाव

इन तीनो मनोवैज्ञानिको मे से हिन्दी उपन्यासो पर मुख्यत फ्रायड के ही सिद्धान्तो का प्रभाव मिलता है। मनोविश्लेषण से प्रभावित होकर उपन्यासकारो ने मन की कुठाओ ओर दमित वासनाओ का उद्घाटन एव आत्म-निरीक्षण करना शुरू किया। उन्होने व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियो को पहचाना और उस प्रवृत्ति का सीधा और यथार्थ वर्णन किया जिससे साहित्य मे अधिक मर्मस्पर्शिता, प्रखरता तथा गहराई आई। जिस समय मार्क्सवादी लेखक आर्थिक-सामाजिक जीवन को महत्व दे रहे थे, उस समय मनोविश्लेषणवादी लेखक व्यक्ति के अन्तर्मन के गहरे, अन्धकारमय, निभृत कक्षो का उद्घाटन कर रहे थे।

मार्क्स और फ्रायड दोनो के ही दर्शन एक तरह से एकागी सिद्ध हुए। मानव-जीवन के दो पहलू होते है—एक बाह्य, दूसरा आन्तरिक। मार्क्सवाद व्यावहारिकता एव सामाजिकता पर अधिक महत्व देता है, और मनोवैज्ञानिक विचारधारा अन्तर्जगत पर। किन्तु यथार्थ जीवन मे दोनो पहलुओ का सामजस्य अभिन्न रूप से मिलता है। इसलिए साहित्य मे भी दोनो पक्षो पर ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है।

फ्रायड ने नारी के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है वह उसके सम्मान की दृष्टि से गौरव-पूर्ण नही कहा जा सकता। वह नारी को काम-वासना की प्रतीक एव सभ्यता की विरोधिनी रूप मे उपस्थित करता है।[1] उसने नारी की उन कोमल विशेषताओ को कम महत्व

---

१. डा० शैलकुमारी ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिंदी काव्य मे नारी भावना' मे फ्रायड के दर्शन के अनुसार नारी मे चार विशेषताओ का उल्लेख किया है: (१) लिग ईर्षा

दिया जिसके लिए वह आज तक आदर्श मानी जाती थी। उसके त्याग, सेवा, निस्वार्थ प्रेम को बहाना मात्र माना। इस मनोविश्लेषणवादी विज्ञान ने भारतीय समाज की अनेक परम्परागत मान्यताओं और आदर्शों पर गहरा आघात किया। साहित्य में नारी को जीवशास्त्रीय अर्थ में भी देखा जाने लगा।

इन दो बाह्य प्रभावों के कारण हिन्दी साहित्य में एक नयी प्रबुद्ध चेतना का सूत्रपात हुआ। काव्य, निबंध, कहानी और उपन्यास-साहित्य के सभी अंगों में सामाजिक शोषण के प्रति आक्रोश और समाज में सब वर्गों की समानता की माँग परिलक्षित होती है। इसकी तर्क संगत परिणति के रूप में इस काल का नारी-चित्रण भी एक नये यथार्थ पर स्थापित हुआ। वैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण के फलस्वरूप नये नैतिक मूल्यों और नये धरातलों की स्थापना द्वारा नारी की वैयक्तिकता का महत्व बहुत बढ गया।[1] उपन्यास में सम्पूर्ण मानव-चित्रण के अधिक आग्रह के कारण मानव-मन को समझने का प्रयास किया गया जिसमें नारी का चित्रण विशेष रूप से हुआ और युग से उपेक्षित नारी-मन को समझने की चेष्टा की गई। और साथ ही साथ साहित्य की भावना भी एकदम बदल गई।[2]

यद्यपि मार्क्सवादी विचारधारा वर्ग-संघर्ष द्वारा समाज में क्रान्ति पर बल देती थी

---

(२) पुरुष से अधिक मात्रा में आत्म प्रेम (३) सांस्कृतिक कार्यों के लिए दुर्बल प्रेरणा शक्ति तथा उनके उदात्तीकरण (sublimation) की हीन सामर्थ्य। (४) सभ्यता के लिए सामान्य-विरोध-भाव।

१. "जिस नैतिक मूल्य का प्रश्न 'चित्रलेखा' में उठाया गया था, उसकी चरम परिणति 'शेखर : एक जीवनी' में हुई। जहाँ तक मनोवैज्ञानिक स्तरों का प्रश्न है, उसकी पुष्टि इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्र के उपन्यासों द्वारा हुई। इस बौद्धिक विकास के अन्वेषण और विश्लेषण के महत्वपूर्ण क्षणों में कई और नये धरातल भी अपने आप उभर रहे थे। मनुष्य के मानवीय पक्षों का, यथार्थ की भौतिक क्रूरता का, वेदना-पूर्ण परिचय उस मानवीय दुःख और असंगति (human tragedy) के संदर्भ में व्यक्त होने लगा जो बहुत कुछ वैज्ञानिक जड़ता, मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता और वैयक्तिक ग्रंथियों से सम्बन्ध रखते थे। इन नये स्तरों पर आकर मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण के माध्यम से, आरोपित सामाजिक आदर्शों की अपेक्षा वैयक्तिक मर्यादाएँ, अनिवार्यताएँ और नैतिक मूल्यों का विस्फोट-सा होने लगा।'
लक्ष्मीकान्त वर्मा : 'आलोचना' : 'उपन्यास विशेषांक', पृष्ठ (९२-९३)

२. 'मेरा तो विश्वास है कि जिस समय मानव की वैयक्तिकता ने, नारी के शुद्ध नारीत्व ने साहित्य मन्दिर में 'प्रवेश निषिद्ध' के विरोध में अपना समुचित अधिकार माँगने के लिए पैर बढ़ाया उसी दिन साहित्य भावना बदल गई।'
देवराज उपाध्याय : 'मार्क्स और साहित्य' : 'हंस' : मार्च १९४१ (पृष्ठ ५२६)।

और फ्रायड की मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध मे मौन रहकर केवल व्यक्ति-मन के अन्तर्पटो का उद्घाटन करती थी, फिर भी हिन्दी उपन्यासो मे नारी-चित्रण के सदर्भ मे, उन दोनो मे एक साम्य दिखाई देता है। चाहे मार्क्सवाद के अधकचरे अध्ययन के कारण ऐसा हुआ हो, अथवा निम्नवर्ग के यथार्थ जीवन के अभावो की प्रतिक्रिया के रूप मे लेखक ने यह दृष्टि अपनाई हो, पर मार्क्सवादी लेखक भी यौन-सम्बन्धो पर बल देते थे और मनोवैज्ञानिक लेखक भी। उनकी विभिन्नता उद्देश्यगत और शैलीगत विभिन्नता थी, पर विषयगत नही। राजनैतिक क्रान्तिकारी आन्दोलन मे कुछ शिक्षित महिलाओ के भाग लेने से मार्क्सवादी लेखक को नारी को निकट से देखने का अवसर मिला, और यह सिद्ध करने के लिए कि सस्कृति का आधार आर्थिक व्यवस्था होती है, उसने नारी के नैतिक मूल्यो को भी परिवर्तनशील माना।

इस प्रकार प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासो की मुख्य समस्या स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण अर्थात काम-भाव की समस्या है। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासो मे इस समस्या का चित्रण नही के बराबर हुआ। प्रेमचन्द ने नर-नारी के स्वाभाविक आकर्षण-विकर्षण का मार्मिक चित्रण अवश्य किया है किन्तु समाज के प्रतिबधो एव गाँधीवादी आदर्शो के कारण इस पक्ष के चित्रण मे वे अत्यधिक सयत दिखाई देते है। प्रेमचन्दोत्तर काल मे हिन्दी उपन्यासकार पर मनोवैज्ञानिको का प्रभाव इतने गहरे रूप मे पडा कि उन्होने समाज के प्रतिबन्धो से ऊपर इस समस्या को उठाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। उन्होने अपने उपन्यासो मे यह दिखाने की चेष्टा की कि व्यक्ति की ये काम-वासनाये स्त्री-पुरुष की दैहिक प्रवृत्तियो से तो सम्बन्ध रखती ही है, उसके सामाजिक जीवन के सभी पहलुओ को भी प्रभावित करती है और उनका रूप भी निर्धारित करती है। इसी कारण आधुनिक जीवन मे इनका इतना महत्व है।

विवाह के सम्बन्ध मे प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासकारो एव इसके पूर्ववर्ती उपन्यासकारो के दृष्टिकोणो मे जमीन-आसमान का अन्तर है। पहले विवाह को नारी-जीवन का चरम उद्देश्य मानकर प्रेम की समस्या का अन्त विवाह मे किया जाता था किन्तु अब विवाह को केवल एक सामाजिक गठबधन के रूप मे देखा गया। कही-कही तो उसके प्रति एक विद्रोह की भावना भी दिखाई देती है। साथ ही वैवाहिक जीवन मे प्रेम की समस्या भी इस युग मे पहली बार चर्चा का विषय बनी।

इस काल मे सतीत्व से भी अधिक उसके नारीत्व को महत्व दिया गया। इस प्रकार का दृष्टिकोण बँगला मे शरच्चन्द्र के उपन्यासो मे मिलता है।[१] किन्तु हिन्दी के उपन्यासो मे

---

१. एक बार इलाचन्द्र जोशी के पूछने पर शरच्चन्द्र ने कहा था: "मैं मानव धर्म को सती धर्म के बहुत ऊपर स्थान देता हूँ। सतीत्व और नारीत्व ये दोनों आदर्श समान नहीं है। नारी-हृदय की निखिल कल्याणकारी करुणा, उसकी मातृ-वेदना उसके सतीत्व से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। बहुत-सी स्त्रियाँ ऐसी देखी गई है जिनका किसी दूसरे पुरुष से कभी किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक सम्बन्ध नहीं रहा है, तथापि

प्रेमचन्द के बाद ही इस दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। नारी की पवित्रता को आँकने के मापदण्ड बदल गये।[1] या इस बात को यो कहे कि नारी की पवित्रता को जिस परिप्रेक्ष्य मे देखा-जाता था, उसका रूप बदल गया। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' (१९३७) की मृणाल कोयले वाले के पास रहकर एव सभ्य समाज की दृष्टि मे निकृष्ट समाज मे रहकर भी लेखक उसकी आत्मा को पवित्र मानता है, उसके सतीत्व की सराहना करता है। 'सुनीता' (१९३६) की सुनीता हरिप्रसन्न की प्रसन्नता के लिए सब कुछ अर्पण करने के लिए प्रस्तुत होने पर भी उसके सतीत्व पर तनिक भी आँच नही आती। इसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी लिखित 'प्रेत और छाया' (१९४३) की वेश्या मजरी और 'सन्यासी' (१९४१) की शान्ति के अविवाहित रूप मे एक अपरिचित पुरुष के साथ रहने पर भी उपन्यासकार ने उनके मानव-धर्म एव उनकी पवित्रता को ऊँचा स्थान दिया है।

प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासकारो का ध्यान विवाहित नारी के प्रेम की ओर विशेष रूप से गया। इसके पूर्व के लेखक यह मानते थे कि नारी एक बार जिसको पति-रूप मे ग्रहण कर लेती है, उसके प्रति सदा तन-मन से समर्पित हो जाती है। यदि किसी कारणवश ऐसा करने मे असफल या अयोग्य होती है, तो वह पतिता मानी जाती है। किन्तु आधुनिक उपन्यासकार क्योकि चेतन से भी अधिक अवचेतन और अर्द्धचेतन प्रवृत्तियो पर बल देते है इसलिए वे नारी को पतित या उच्छृखल मानने मे इन ऊपरी कारणो पर अधिक ध्यान नही देते। वे मन की सचाई और प्रेम की एकान्तता को ही विशेष महत्व देते है। यदि नारी का मन निश्छल है, वह सम्पूर्ण मन से प्रेम करती है तो उसकी आत्मा पवित्र है, आदर्श-स्वरूप है। भगवतीप्रसाद बाजपेयी लिखित 'पिपासा' की शकुन्तला अपने पति के मित्र कमलनयन से प्रेम करती है, और अपनी क्षणिक नैतिक दुर्बलता को पाप भी नही समझती। वह स्वय अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहती है, 'लेकिन क्या मै तुमसे कहूँ कि मै उसे पतन नही मानती। कभी मान ही नही सकती। वह तो नारी के तृषित मन का क्षणिक आमोद था। उसके बाद मै फिर ज्यो की त्यो हो गई थी और तब से आज तक पूर्ववत् हूँ।''[2] इसी प्रकार बृन्दाबनलाल वर्मा लिखित 'अचल मेरा कोई' (१९४८) मे कुन्ती का आकर्षण

उनके स्वभाव में अत्यन्त नीचता, घोर सकीर्णता, परद्रोह तथा चोर वृत्ति पाई गई है। इसके विपरीत ऐसी पतिताओं से ' रा परिचय रहा है जिनके भीतर मैने मातृ-वेदना और नारी-हृदय की यथार्थ करुणा का अथाह सागर उमडा हुआ पाया है।''
'हस' : जून १९३८' : (पृष्ठ ९०१)।

१. 'मै उस नारी की पूजा करूँगा जो कैसे भी पुरुष को पति रूप में पाकर उसे देवता मानकर कभी भी पतिव्रत भाव से विमुख नहीं होती है, लेकिन कोई ऐसा न कर सके तो मै सहज दोष और दण्ड के लिए भी आगे नहीं बढूँगा।'
जैनेन्द्र : 'काम, प्रेम और परिवार' (पृष्ठ १३७-१३८)।

२. भगवतीप्रसाद बाजपेयी : 'पिपासा' (पृष्ठ १९४)।

अपने पति के मित्र अचल की ओर है। इलाचन्द्र जोशी लिखित 'सन्यासी' मे जयन्ती और कैलास मे मौन आकर्षण निहित है। अज्ञेय लिखित 'शेखर एक जीवनी' (१९४४) मे भी विवाहिता शशि शेखर से प्रेम करती है।

इन सभी उपन्यासो मे उपन्यासकारो ने विवाहित नारी के जीवन मे अपर व्यक्ति के आकर्षण का चित्रण किया है। ये नारियाँ विवाह-बधन मे बँधने के बाद भी प्रेम के स्वाभाविक आकर्षण को अस्वीकार नही कर पाती। जैनेन्द्र का तो कहना है 'विवाह सम्बन्ध व्यक्ति को बन्द कर देता हे, यह नही समझना चाहिये। स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी बनकर गृहस्थी को अपने लिए जेलखाना बना ले इसका समर्थन नही है। स्त्री के जीवन मे पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषो का सद्भाव ही नही है माना जाय तो मै इससे सहमत नही हूँ। . विवाह को नारी पर प्राचीर बना कर घिराने का हक नही है।'[1] अत उन्होने विवाह को बधन न मानकर विवाहोपरान्त भी नारी के निजी व्यक्तित्व को स्वतन्त्रता प्रदान करने की चेष्टा की है।

घर और बाहर की समस्या सबसे पहले जैनेन्द्र ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास 'घरे-बाहिरे' से प्रभावित होकर 'सुनीता' मे उठाई थी। जैनेन्द्र पर मनोविज्ञान के प्रभाव के साथ-साथ जैन-धर्म के सिद्धान्तो और गाँधी जी के आदर्शो का भी प्रभाव है। इसीलिए जैनेन्द्र ने इस समस्या के चित्रण मे मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और भावनात्मक आदर्श का निराला सम्मिश्रण किया है। 'सुनीता' मे घर बाहर के लिये कृतज्ञ है, उसमे बाहर के लिए पुकार है। पति-पत्नी का दैनिक जीवन नीरस हो चला था—इसलिए वे, विशेषकर पति चाहते है कि कोई उनकी गृहस्थी मे प्रवेश करे जिससे जीवन मे कुछ हलचल हो, नया रस आये। और वे सचेत प्रयत्न द्वारा बाहर का आवाहन करते है। इस प्रकार जब हरिप्रसन्न उनके घर आ जाता है तो श्रीकान्त उसको रोकने के लिए अपनी पत्नी सुनीता को ही माध्यम बनाता है। सुनीता पति की आज्ञानसार आगे बढती है, पग-पग पर उसके सस्कार उसे रोकते है किन्तु पति के आदर्शो की छत्र-छाया मे वह सब-कुछ करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। यही इस उपन्यास की विशेषता है। जैनेन्द्र यथार्थ नही, एक काल्पनिक परिस्थिति का आदर्शवादी चित्रण कर रहे थे। इसीलिए उन्होने सुनीता के हर कार्य के पीछे पति की सम्मति की छाप छोड दी है। सुनीता का समर्पण घर की कमजोरी का नही, अपितु घर की शक्ति का परिचायक है जिसके आगे बाहर को हार मानकर पलायन करना पड जाता है। हरिप्रसन्न के चले जाने के बाद पति-पत्नी पूर्ववत् रहने लगते है। उनके दाम्पत्य-जीवन मे पहले से भी अधिक रस का सचार हो गया है। बाहर के समावेश से घर टूटता नही प्रत्युत नया स्थायित्व प्राप्त करता है। आदर्शवादी जैनेन्द्र 'सुनीता' के माध्यम से प्राचीन भारतीय आदर्शो को ही एक नये ढग से उद्घाटित करते है।

किन्तु इस समस्या का ऐसा चित्रण अन्य उपन्यासो मे नही है। वे यथार्थ के अधिक

---

१. जैनेन्द्र : 'काम, प्रेम और परिवार' (पृष्ठ ६४-६५)।

निकट है। शिक्षा और सामाजिक चेतना के प्रसार से आधुनिक परिवार मे बाहर के प्रवेश की समस्या प्रत्यक्ष रूप ले उठी है। नारी-स्वातन्त्र्य ने उसे और भी जटिल बना दिया है। इन उपन्यासो मे इस परिस्थिति का चित्रण सहज रूप मे हुआ है, पर उनमे समस्या का कोई समाधान न तो मिलता ही है, न देने का प्रयत्न ही किया गया है। यद्यपि आधुनिक समाज मे यह माना जाने लगा है कि स्त्री एक बार गलती करके भी सुधर सकती है और यदि आधुनिक विचारो का पति हो तो उससे समझौता करके सुखी भी रह सकता है। अज्ञेय ने कहा भी है कि 'आज पहले की अपेक्षा ऐसे व्यक्ति बहुत अधिक है जिनके सेक्स-जीवन मे विषमता हो, लेकिन ऐसे अपेक्षया बहुत कम है जिनका जीवन सेक्स के कारण नष्ट हो जाता है।''[1] फिर भी ऐसा चित्रण उपन्यासो मे नही हुआ है। इसका मुख्य कारण यही है कि प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासकार भी अपने सस्कारो से मुक्त नही थे। वे मानते थे कि यदि पत्नी अपने पति के अतिरिक्त किसी और को प्रेमदान करेगी तो उसका घर टूटने की सम्भावना बढ जायेगी। वास्तविक बात तो यह है कि अपने दृष्टिकोण मे आधुनिक होते हुए भी ये उपन्यासकार नारी के प्रेम के प्रति न्याय नही कर सके है। वे यह नही मान सके है कि स्थायी गृहस्थी के लिए नारी का उन्मुक्त प्रेम अत्यन्त आवश्यक है, और उस प्रेम के अभाव मे गृहस्थी का टूट जाना ही श्रेयस्कर है। इसीलिए उन्होने समस्या का साहसपूर्वक सामना करने की अपेक्षा गृहस्थी की सुख-शान्ति को सर्वोपरि मानने की परिपाटी का अनुकरण किया है। यही कारण है कि इन उपन्यासो मे बाह्य के प्रवेश से घर की शान्ति भग होती दिखाई गई है। 'पिपासा' की शकुन्तला, 'सन्यासी' की जयन्ती और 'अचल मेरा कोई' की कुन्ती के दाम्पत्य-जीवन मे कटुता का समावेश हो जाता है। इस युग के उपन्यासकारो ने मानसिक सघर्ष मे पडी नारी का चित्रण सम्वेदनापूर्ण किया है किन्तु नारी को अपनी मानसिक शान्ति बनाये रखने का कोई उपाय नही बताया है। समस्या के उलझाव के कारण ही इन तीनो उपन्यासो की नारियाँ आत्महत्या कर लेती है।

इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारो मे एक और प्रवृत्ति पाई जाती है। वह है, पति-पत्नी को निरतर सघर्ष-रत, विरोध मे सलग्न प्राणी के रूप मे चित्रित करने की प्रवृत्ति। फ्रायड की अनेक मान्यताओ मे एक परस्पर-विरोधी भाव-प्रवणता (ambivalence) भी है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति मे परस्पर दो विरोधी प्रवृत्तियाँ साथ-साथ प्रवाहित होती रहती है। यदि हम किसी से प्रेम करते है तो साथ ही उसके प्रति दमित रूप मे कही-न-कही घृणा के भी भाव निहित रहते है। पति-पत्नी के सामजस्यहीन जीवन के सम्बन्ध मे फ्रायड ने कारण जो भी दिया हो, इससे इन्कार नही किया जा सकता कि वर्तमान समाज मे दाम्पत्य-जीवन की सफलता के लिए निरतर साधना और पारस्परिक सद्भाव एव सहिष्णुता अनिवार्य है। दाम्पत्य जीवन की विषमता का चित्रण पाश्चात्य उपन्यासो मे बहुत पहले ही हो चुका था। टॉमस हार्डी की 'टैस', फ्लाबेयर लिखित 'मादाम बोवारी' की एम्मा, टॉल्स-

---

१. अज्ञेय : 'कल्पना' : जून १९५२ : (पृष्ठ ४२)।

टॉय लिखित 'प्रेम की प्रतिक्रिया' की पाज्दनीशेफ की पत्नी, और 'अन्ना कैरेनिना' की अन्ना, श्रीमती क्रेक लिखित 'जान वावर बैंक की पत्नी' की एमिली तथा जोला की 'नाना की माँ' के चित्रण मे नारी के असफल विवाहित जीवन का चित्रण मिलता है। शरच्चन्द्र लिखित 'चरित्रहीन' की किरणमयी, 'देवदास' की पार्वती और 'गृहदाह' की अचला का जीवन भी ऐसा ही है। किन्तु हिन्दी उपन्यास मे विवाहित नारी के विषम जीवन का चित्रण पहली बार इन उपन्यासकारो ने ही किया। प्रेमचन्द-पूर्व या प्रेमचन्द-युग मे इस ओर उपन्यासकार का ध्यान नही गया। सम्भवत उस समय तक यह समस्या इतने उग्र रूप मे प्रकट न हुई हो। फिर भी प्रेमचन्द ने पति-पत्नी के निरन्तर सघर्ष-रत जीवन एव उनकी विरोधी प्रवृत्तियो का चित्रण किया अवश्य है। 'रगभूमि' की इन्दु और उसके पति महेन्द्र-कुमार के विचारो मे मौलिक अन्तर दिखाया गया है। धनिया और होरी मे भी बात-बात पर लडाई ठन जाती है। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' मे भी दाम्पत्य-जीवन मे विरोधी भावनाओ की कमी नही है। किन्तु तो भी दोनो समय के उपन्यासकारो के दृष्टिकोणो मे मौलिक अन्तर दिखाई देता है। प्रेमचन्द-युग सश्लेषणात्मक था। वह जीवन विविधता, विचित्रता और विभिन्नता के घटाटोप मे भी मौलिक एकता को पकडे रहता था किन्तु उसके बाद के उपन्यासकारो का दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक हो गया है। वे एकता को जानते हुए भी विविधता और विभिन्नता पर बल देते है। हर एक वृत्ति को, जीवन के प्रत्येक कार्य को कुरेद-कुरेद कर देखते है। व्यवहार-जगत मे होनेवाले कार्यों के पीछे उनके मूल मे अवचेतन ओर अर्द्धचेतन वृत्तियो तक जाते है जिनके कारण जीवन मे सामजस्य मे भी अधिक असामजस्य दिखाई देता है।

प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासो मे नारी के असामजस्यपूर्ण वैवाहिक जीवन के विशेष चित्रण के सामाजिक कारण भी थे। पूर्ववर्ती-काल मे लडकी का विवाह छोटी उम्र मे हो जाने के कारण उसके व्यक्तित्व का विकास पति-गृह मे ही होता था। अत. पति-पत्नी के विचारो मे मौलिक अन्तर का प्रश्न ही नही उठता था। इसके अतिरिक्त पति को परमेश्वर मानने की प्रवृत्ति भी नारी के सस्कारो मे मूल रूप से निहित थी। चेतन मन से चाहे अव-चेतन मन से नारी अपनी इच्छा को पति की इच्छा के प्रति सदैव समर्पित करती रही। उसका यही रूप आदर्श माना गया। किन्तु कालान्तर मे परिस्थिति बिल्कुल बदल जाती है। पति को परमेश्वर मानने की बात दबी जुबान से ही की जाती है। आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर नारी के व्यक्तित्व का भी विकास हो जाता है। अब विवाह होने पर दो विकसित व्यक्तित्व आकर टकराते है। यदि पति-पत्नी मे एक दूसरे को समझने की क्षमता और सम-झौते की प्रवृत्ति है तो दाम्पत्य जीवन आनन्दपूर्वक कट जाता है, अन्यथा जीवन मे असतोष-ही-असतोष दिखाई देता है।

इस काल के उपन्यासकारो ने पत्नी पर पति के आधिपत्य की भावना पर भी प्रकाश डाला है। यह आधिपत्य की भावना उसकी सदेहात्मक प्रवृत्ति को जन्म देती है। नारी के प्रति पुरुष की इस प्रवृत्ति का चित्रण टॉमस हार्डी की 'टैस' मे अत्यत मार्मिक रूप मे

हुआ है। शरच्चन्द्र के 'महिम' मे भी स्वामित्व की यह भावना और सदेहात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। इस युग के हिन्दी उपन्यासकारो ने भी अनेक उपन्यासो मे नारी के प्रति पुरुष की इस प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक ढग पर चित्रण किया है। यह सच है कि अनेक स्थलो पर पुरुष की इस सदेहात्मक प्रवृत्ति के विकसित होने मे नारी-चरित्र को कमजोरी का भी हाथ है। फिर भी इन उपन्यासो मे चित्रित नारी पति की इस सदेहात्मक प्रवृत्ति को चुपचाप सहन नही करती। इस प्रवृत्ति के उदय होते ही घर टूटने लगता है। यहा तक कि शरच्चन्द्र की 'विराज बहू' जैसी पतिव्रता और सुगृहिणी का घर भी नही टिक पाता। जैनेन्द्र की 'कल्याणी' (१९४०), भगवतीप्रसाद वाजपेयी लिखित 'पिपासा' की शकुन्तला, वृन्दावनलाल वर्मा लिखित 'अचल मेरा कोई' की कुन्ती, इलाचन्द्र जोशी लिखित 'सन्यासी' की शान्ति और जयन्ती, शिवचन्द्र शर्मा लिखित 'नया आदमी' (१९४९) की रेखा, अज्ञेय लिखित 'शेखर एक जीवनी' की शशि, यशपाल लिखित 'देशद्रोही' (१९४३) की चन्दा आदि अनेक पत्नियाँ अपने पतियो की इस सदेहात्मक प्रवृत्ति की शिकार है जिसमे अन्त मे गृहस्थी भग हो जाती है।

वैवाहिक जीवन मे नारी के प्रेम की समस्या को उठानेवालो मे से केवल वृन्दावनलाल वर्मा ने 'अचल मेरा कोई' मे समस्या के समाधान का भी सकेत दिया है। उन्होने पति-पत्नी की मानसिक वृत्तियो मे सामजस्य, एक दूसरे पर अपार विश्वास और श्रद्धा की भावना को ही सफल दाम्पत्य जीवन की कुजी माना है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के प्रकाश मे हिन्दी के आधुनिक उपन्यासकारो ने नारी-मन की कुठाओ, वर्जनाओ और दमित वासनाओ का एव उनके उदात्तीकरण का चित्रण किया। फिर भी यह कहना सही न होगा कि यह चित्रण नितान्त पाश्चात्य ढग पर किया गया है। प्रत्येक उपन्यासकार ने समस्या को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से देखा है। और मनोविज्ञान को साधन-रूप मे मानकर भी यथार्थ का चित्रण करने का प्रयत्न किया है। इस चेष्टा ने लेखक मे समन्वित दृष्टि उत्पन्न की है, जो भारतीय जीवन की विशेषता है। जिस प्रकार जैनेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ-साथ गाधीवादी अहिसा के आदर्श का समावेश किया है, उसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी ने फ्रायड, एडलर, युग जैसे मनोविश्लेषको के सिद्धान्तो के प्रतिपादन के साथ-साथ आधुनिक नारी-मन को, उसकी समस्याओ को समझने की चेष्टा अपने विशिष्ट मत के अनुसार की है और उसके चरित्र मे दया, क्षमा, ममता, प्रेम, त्याग एव मातृत्व की भावना मानने के कारण उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त की है।

हिन्दी उपन्यासकारो मे सबसे अधिक इलाचन्द्र जोशी ने नारी के चेतन, अर्द्धचेतन और अवचेतन मन की छानबीन करके अनेक मानसिक ग्रथियो और विकृतियो से ग्रसित नारी एव उसके काम-दमन-जनित कार्य-कलापो और हीनता-ग्रस्त आत्मलीनता का चित्रण मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से किया है।

जोशी जी के पात्रो मे दो मूल प्रवृत्तियाँ पाई जाती है, अहं और हीनता की भावना।

हीनता की भावना के ही कारण अधिकतर अह की उत्पत्ति होती है। उनका मत है कि पुरुष का अह नारी पर स्वत्व चाहता है और वह नारी का शोषण करता है। नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की एक झलक भी उसे ग्राह्य नही होती। किन्तु अत मे यह अह टूट कर ही रहता है।

जोशी जी ने अपने उपन्यासो मे पुरुष के अह द्वारा पीडित नारी और उसकी मनोग्रथियो का चित्रण किया है। उनके मत मे आधुनिक युग की नारी पुरुष की इच्छा के बहाव मे अपने को पूर्णतया बहा नही देती वरन् अपने विवेक से स्थिति को समझकर व्यक्ति और वर्ग के अत्याचारो का सामना करने के लिए अपना विकास कर रही है। जोशी जी ने नारी-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए स्वय लिखा है "मेरे अपने उपन्यासो मे अज्ञेय जी से ठीक उल्टा दृष्टिकोण प्रतिपादित हुआ है। मेरे सभी उपन्यासो का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अह भाव की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है। 'घृणामयी' 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित'—इन पाँचो उपन्यासो मे मैने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। आधुनिक समाज मे पुरुष की बौद्धिकता ज्यो-ज्यो बढती चली जा रही है, त्यो-त्यो उसका अह-भाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी तृप्त न होने वाले अह-भाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा मे जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश के पहले आस-पास के ससार के विनाश की योजना मे जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पडता है नारी को। युगो से प्रपीडित और शोषित वर्ग है यह नारी। उसे और अधिक प्रपीडित और अधिक शोषित करने की चेष्टा मे आज का अहवादी पुरुष बुद्धिवादी भी है, इसलिए अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता से बहुत कुछ परिचित भी रहता है और इसी कारण उसके भीतर विस्फोटक सघर्ष मचते रहते है। साथ मे यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि उसी विस्फोट के उपादान वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी की शोषित अन्तरात्मा मे भी प्रलयकर रूप से जुटते चले जा रहे है—किन्तु विपरीत दिशा मे। अर्थात् भारतीय नारी के भीतर निकट भविष्य मे जो विस्फोट होगा वह उसकी युग-युग से पीडित आत्मा के प्रचण्ड विद्रोह की सामूहिक घोषणा करेगा। यही कारण है कि धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है, अर्थात् वह शरद् की नारी की तरह भावुकता के फेर मे पडकर अहवादी पुरुष की इच्छा के बहाव मे अपने को पूर्णतया बहाना और मिटा देना पसन्द नही करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारो का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा मे जुट रही है। सामाजिक पर्दे के भीतर छिपे हुए इसी सत्य का उद्‌घाटन मनोवैज्ञानिक उपायो से करने का प्रयास मैंने किया है।"[1]

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'विवेचना' (पृष्ठ १२२-१२४)।

इसके अतिरिक्त इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यासो मे सभ्य समाज की दृष्टि मे हीन समझी जानेवाली नारियो की मनोग्रथियो का भी चित्रण सवेदनापूर्वक मनोविश्लेषण-पद्धति पर किया है। 'पर्दे की रानी' (१९४१) की निरजना वेश्या की पुत्री थी। 'प्रेत और छाया' की मजरी वेश्या थी तथा 'सन्यासी' की शान्ति के कुल का भी कुछ पता न था।

अज्ञेय ने 'शेखर एक जीवनी' मे नर-नारी के प्रेम की समस्या को नये दृष्टिकोण से देखा है। स्त्री-पुरुष का आकर्षण-विकर्षण शाश्वत सत्य है। उनकी दृष्टि मे नारी अपने वास्तव रूप मे माता, बहन, पत्नी या पुत्री नही होती, वह केवल नारी है, जो पुरुष की भोग्या है, जो पुरुष पर न्योछावर होती रहती है। रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'कैदी की पत्नी' (१९४०) मे परम्परा से भिन्न विषय लेकर नारी की सूक्ष्म भावनाओ का मार्मिक चित्रण किया है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी ने अपने उपन्यासो के नारी-पात्रो द्वारा यह दिखाया है कि आज की नारी अपनी स्वतन्त्रता की प्रबल समर्थक बन गई है। वह प्रेम-स्वातन्त्र्य और आर्थिक-स्वातन्त्र्य दोनो के ही पक्ष मे है। वह यह तो भली प्रकार जान गई है कि उसे पराधीन होकर नही रहना है पर किन उपायो से वह स्वाधीन हो सकती है और स्वाधीन होकर उसे किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिये, यह वह अभी तक स्थिर नही कर पाई है। इसलिए उसके जीवन मे अनेक प्रकार की विसगतियाँ और मानसिक विषमताएँ उत्पन्न हो जाती है। वाजपेयी ने अपने उपन्यासो मे नारी-जीवन की विसगतियो, वर्जनाओ और अवरुद्ध आकाक्षाओ का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। उनके 'दो बहने' नामक उपन्यास मे बहन-बहन की आपसी ईर्षा-द्वेष-भावना का जो चित्रण मिलता है, वह प्रेम-चन्द-युग मे नही मिलता।

इस काल मे कुछ उपन्यासकार स्वप्नशील (Romantic) दृष्टिकोण लेकर भी उपन्यास-क्षेत्र मे आये। यह स्वप्नशीलता छायावाद के उत्तरार्द्ध की समकालीन है और दोनो के उद्भव के मूल मे एक-से कारण है। शिक्षा के प्रचार के फलस्वरूप युवक-मन की महत्वाकाक्षाये राजनीतिक परिस्थितियो के कारण साहित्य मे अपनी तुष्टि खोजने लगी थी। प्रगतिशील यथार्थोन्मुख धारा के दूसरे छोर पर यह मासल स्वप्नशीलता इस युग की विशेषता है जो छायावाद के पूर्वार्द्ध के काल्पनिक आदर्शवाद से भिन्न है। इस धारा के उपन्यासकारो मे उपेन्द्रनाथ 'अश्क' प्रमुख है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के प्रथम उपन्यास 'सितारो के खेल' (१९४०) मे लता और राजरानी, रागेय राघव लिखित 'घरौंदे' (१९४६) मे लीला और लवग, रामेश्वर शुक्ल 'अचल' की 'चढती धूप' (१९४५) मे ममता और धर्मवीर भारती लिखित 'गुनाहो के देवता' (१९४९) मे सुधा का चित्रण स्वप्नशील दृष्टिकोण से हुआ है। इनमे मुख्यत युवक-युवती के वय सन्धिकाल की अनुभवहीन कच्ची भावनाओ का चित्रण किया गया है।

आगे चलकर उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने यथार्थवादी दृष्टिकोण से निम्न-मध्यवर्ग की विभिन्न प्रवृत्तियो की नारियो का चित्रण किया। 'गिरती दीवारे' मे चन्दा के माध्यम से उन्होने

ऐसी नारी का चित्रण किया है जो अपने दाम्पत्य-जीवन को सफल बनाने के लिए अपने सस्कारो से मुक्ति पाना चाहती है किन्तु सफल नही हो पाती। अनूपलाल मण्डल और गगा-प्रसाद मिश्र ने भी यथार्थवादी दृष्टिकोण से नारी-चित्रण किया है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही एक रूप है साम्यवादी दृष्टिकोण। साम्यवादी दृष्टिकोण से अनेक उपन्यासकारो ने नारी-चरित्र-विकास को परखने का प्रयास किया है। उन्होने नारी को परम्परागत रूढियो से मुक्त कर राजनैतिक क्षेत्र मे पुरुष के समकक्ष लाकर खडा कर दिया। इन उपन्यासो मे साम्यवादी दल मे काम करने-वाली युवतियो का भी चित्रण मिलता है। साम्यवादी दृष्टिकोण का मूलाधार मार्क्सवादी दर्शन होता है। इसलिए उसके मूल मे वस्तुवादी दृष्टिकोण का होना आवश्यक है। ये साहित्यकार मार्क्स के सिद्धान्त के प्रकाश मे समाज और जीवन को परखते है तथा ऐसे मानव की प्रतिष्ठा करते है जो सामाजिक प्राणी हो।

साम्यवादी लेखक पूँजीवादी समाज मे दो वर्ग मानते है, एक शोषक और दूसरा शोषित। वे पुरुष को शोषक और नारी को शोषित वर्ग के अन्तर्गत रखते है। इस समाज मे अधिकाश नारियाँ भी आर्थिक गुलामी से ग्रस्त है। यह आर्थिक विपन्नता उनके व्यक्तित्व को अत्यत सकीर्ण और रुद्ध कर देती है। नैतिक मान्यताए और चारित्रिक मूल्य भी गिर जाते है। नारी मे जो मनोवैज्ञानिक कुठाए, मानसिक विक्षिप्तता और जो यौन-विकृतियाँ पाई जाती है, उनका मूलाधार आर्थिक है। इस दृष्टिकोण के प्रमुख उपन्यासकार है यशपाल, जिन्होने 'देशद्रोही' (१९४३) मे चन्दा और राज का, और 'मनुष्य के रूप' (१९-४९) मे सोमा और मनोरमा का चित्रण इसी दृष्टिकोण से किया है।

साम्यवादी लेखक विचारो की स्वतत्र सत्ता नही मानते। उनके मत से मनुष्य के विचार समाज मे उसकी स्थिति पर निर्भर करते है, ओर स्थिति मे परिवर्तन के साथ-साथ मनुष्य के विचारो मे भी परिवर्तन होता जाता है। हमारी विचार-धारा हमारे जीवन की परिस्थिति विशेष का परिणाम है। यशपाल ने विचारधारा के परिस्थिति-जन्य विकास को अनेक नारियो मे दिखाया है। 'मनुष्य के रूप' की सोमा और मनोरमा दो विभिन्न सामाजिक स्तरो पर रहती है, उनकी परिस्थितियाँ भिन्न है, इसीलिए उनकी विचार-धाराओ मे स्पष्ट अन्तर लक्षित होता है। इसके साथ-साथ साम्यवादी लेखक यह भी मानते है कि साहित्य राजनैतिक प्रचार का बहुत महत्वपूर्ण साधन है। इसीलिए वे अपने पात्रो द्वारा मार्क्सीय दर्शन का प्रचार करते है। यशपाल लिखित 'दादा कामरेड' (१९४१) की शैल और यशोदा, 'पार्टी कामरेड' (१९४६) की शीला और 'मनुष्य के रूप' की मनो-रमा राजनैतिक कार्यकर्त्री बन जाती है। कभी-कभी इन लेखको मे अपने सिद्धात के प्रतिपादन का आग्रह इतना बढ जाता है कि उनकी रचनाओ मे स्पन्दनशील व्यक्तित्व लुप्त होने लगता है।

साधारणत साम्यवादी उपन्यासकारो ने सामाजिक मतवाद और स्वप्नशीलता का सम्मिश्रण किया है। प्रेम के क्षेत्र मे यशपाल यह कहना चाहते है कि 'प्रेम केवल

जीवन का सहायक साधन है।"[१] पूँजीवादी समाज मे वह एक सौदा मात्र है। नारी के रूप-विक्रय से ही उसे आश्रय सुलभ होता है। नारी पुरुष के आश्रय और प्यार की आकाक्षिणी है। इन दोनो के अभाव मे उसका जीवन भार हो उठता है। इसी दृष्टिकोण के कारण उन्होने स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण का विस्तार से चित्रण किया है। उनकी रचनाओ मे कही-कही अश्लीलता का भी आरोप लगाया जाता है। यशपाल के इसी दृष्टिकोण के कारण एक समीक्षक ने 'देशद्रोही' के नारी-पात्रो के सम्बन्ध मे लिखा है. 'क्या नर्गिस, क्या गुलशन, क्या चन्दा ओर क्या राज और यमुना सभी जेसे आत्मदान को, नारीत्व को समर्पित करने के लिए व्यग्र और आतुर है। नारीत्व का वोझ जैसे उनके लिए असह्य है। अवसर-अनवसर यशपाल जी के जिस किसी पात्र से उनकी भेट हो जाय इस दुर्वह भार को उतार फेकती है।'[२]

किन्तु नारी का ऐसा चित्रण अन्य साम्यवादी लेखको मे नही मिलता। नागार्जुन ने लोक-जीवन के मर्म को छूकर नारी-पात्र मे सजीवता ओर स्वाभाविकता का समावेश किया है। 'रतिनाथ की चाची' मे नागार्जुन ने आर्थिक पृष्ठभूमि पर असहाय ग्रामीण, विधवा ब्राह्मणी का करुणा-विगलित चित्र उपस्थित किया है।

सर्वदानद वर्मा और मन्मथनाथ गुप्त ने अतियथार्थवादी दृष्टिकोण से नारी-चित्रण किया है। सर्वदानद ने उन्मुक्त प्रेम की समस्या का ही अधिक उल्लेख किया है। वे पत्नी की पति-परायणता को पूँजीवाद की उपज समझते है। उनका कहना है कि पति की पूजी के ही कारण पत्नी पति-परायण होती है। यदि पत्नी स्वतन्त्र है, स्वय धनोपार्जन कर सकती है तो उसके पति-परायण होने की आवश्यकता नही है, पूजीवाद के साथ इसको भी मिट जाना चाहिये। विवाहिता स्त्री को भी यह अधिकार मिलना चाहिये कि वह मनमाने पुरुष के साथ प्रणय-सम्बन्ध स्थापित कर सके।

सर्वदानद का यह दृष्टिकोण परम्परागत नारी-भावना पर आघात तो करता ही है, वैज्ञानिकता की आड मे वह निरा अवैज्ञानिक आरोप है, और मार्क्सवाद के अधकचरे अध्ययन का परिणाम है। वर्ग-सस्कृति के मिटने पर बहुत-सी बातो मे परिवर्तन हो जाता है, यह सही है, पर सस्कृति के कुछ ऐसे शाश्वत मूल्य भी है जो वर्गाधार पर टिके नही रहते। अपने इस दृष्टिकोण मे सर्वदानद अकेले है। केवल ठाकुर श्रीनाथ-सिंह अपने उपन्यास 'उलझन' मे इसी प्रकार के भाव व्यक्त करते पाये जाते है।

मन्मथनाथ गुप्त की मूल दृष्टि साम्यवादी है। इसलिए उन्होने नारी को शोपित मानकर पुरुष के अत्याचारो का, व्यभिचार और असज्जनता का भण्डाफोड किया है।

---

१. यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ १८३)।

२. मोतीसिंह : 'आलोचना' : 'उपन्यास विशेषांक', : अक्टूबर १९५४, (पृष्ठ २०६)।

उनका उद्देश्य शुभ होते हुए भी उनकी शैली अति-यथार्थवादी हो उठी है जिसके कारण वे अपने प्रयास मे सफल नही कहे जा सकते।

इस प्रकार हम देखते है कि देश की सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियो के साथ-साथ हिन्दी साहित्य मे, और साहित्य की प्रगति के साथ-साथ उपन्यासकारो मे नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण मे क्रमिक विकास और परिवर्तन होता गया है। नारी के सित और असित दो चरम रूपो से आरभ कर धीरे-धीरे उसके जीवन के प्रति दया, करुणा, ममता दिखाते-दिखाते लेखक उसके समानाधिकार की माँग करने लगे। बाद मे मनोविज्ञान की खोज के साथ एक ओर नारी के मानस-लोक का रहस्योद्घाटन हुआ, दूसरी ओर राज-नैतिक सघर्ष के परिणामस्वरूप नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा की गई। आधुनिक काल तक आते-आते भारतीय जीवन मे नाना दृष्टिकोणो के समावेश के फलस्वरूप हम उपन्यास-कारो मे भी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो का प्रतिपादन पाते है, यद्यपि अधिकाश उपन्यासकार नारी की स्वतत्रता, सम्मान-रक्षा और समानता का किसी-न-किसी रूप मे समर्थन करते है। हिन्दी के उपन्यास की प्रमुख धारा नारी के प्रति न्याय करने मे कृत-सकल्प है, यह सतोष का विषय है।

अध्याय ३

नारी-जीवन की समस्याएं और उनका समाधान : प्रेमचन्द-पूर्व

प्रेमचन्द-पूर्वकाल अर्थात् उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे भारतीय नारी के सामाजिक और पारिवारिक जीवन मे अनेक दोष आ गये थे। पश्चिमी सभ्यता के अनुकरण के कारण उच्चवर्गीय भारतीय स्त्री-पुरुषो मे विलासिता, बाह्याडम्बर आदि बाते बढती जाती थी। दूसरी ओर शिक्षा के अभाव के कारण परिवार मे सास-बहू, ननद-भौजाई, देवरानी-जिठानी आदि के झगडे अशान्ति का वातावरण बनाये हुए थे। बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, अशिक्षा, अनमेल-विवाह दहेज, अस्पृश्यता, जाति-भेद, स्त्रियों की दासता आदि अनेक सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित थी। कुछ धर्म-प्रचारक और समाज-सुधारक इन दोनो ही बातो को रोकना चाहते थे। मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए उनका कहना था कि पश्चिमी शिक्षा ग्रहण करने पर भी अपनी जीवन-पद्धति से विमुख नही होना चाहिये। उन्होने अपने मत के प्रचार के लिए उपन्यास को साधन बनाया। अत इस काल के उपन्यासो मे उपदेशात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है।

इस समय के लेखको को भारतीय नारी-जीवन का ह्रास देखकर सच्ची मानसिक पीडा का अनुभव होता था। कथानक चाहे पौराणिक हो या ऐतिहासिक, सामाजिक हो या पारिवारिक, वे नारी-समाज के सम्मुख एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते थे जिसको देखकर वे अपने जीवन के दोषो को दूर कर उसे सुधार सके। इस समय के उपन्यासकार आधुनिक उपन्यासकारो की भाँति समग्र जीवन की गम्भीर समस्याओ की विवेचना नही करते किन्तु एक विशेष समस्या के गुण-दोषो पर विचार करते हुए सरल रीति से अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास करते है।

पारिवारिक समस्याएं

संयुक्त परिवार की समस्या

मध्य युग मे सयुक्त परिवार के प्रति अगाध प्रेम था। किन्तु जैसे-जैसे नयी सभ्यता का प्रचार होने लगा, परिवार-विच्छेद की समस्या उठ खडी हुई। इस समय के उपन्यासकार के मन मे यद्यपि सयुक्त परिवार के प्रति परम्परागत ममत्व था किन्तु इस पारिवारिक जीवन मे जो दोष आ गये थे उनको भी वे अनदेखा नही कर सकते थे। गोपालराम गहमरी ने बँगला के कुछ गार्हस्थ्य उपन्यासो, जैसे 'देवरानी-जिठानी', 'सास-पतोहू', 'तीन-पतोहू' आदि का अनुवाद करके इस समस्या पर ध्यान आकर्षित किया था।

अनेक हिन्दी उपन्यासो मे भी गृहस्थ जीवन की समस्याओ का चित्रण हुआ है। कहीं तो नारी अपनी कार्य-कुशलता, चतुराई, त्याग एव क्षमा के बल पर अपने परिवार में सुख-शान्ति प्रदान करती हुई उसे स्वर्ग-तुल्य बना लेती है और कही अपनी अशिक्षा, असहिष्णुता और ईर्ष्या-वृत्ति के कारण परिवार को अशान्तिमय बनाकर नरक-तुल्य बना देती है। जैसे, ईश्वरीप्रसादशर्मा ने 'वामा-शिक्षक' मे चित्रित किया है कि मथुरादास की पत्नी अपनी कार्य-कुशलता और बुद्धिमत्ता द्वारा अपने घर और अपनी लडकियो को सुधार लेती है जब कि जमुनादास की पत्नी के अच्छे व्यक्तित्व एव फूहडपन के कारण घर और बच्चे दोनो ही बिगड जाते है।

'वामा-शिक्षक' मे ही ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने सयुक्त-परिवार की समस्या उठाई है। देवरानी और जिठानी मे मनमुटाव होता है। जिठानी घर-खर्च चलाती है किन्तु उससे चलता नही। उसकी अक्षमता के कारण घर-खर्च का भार छोटी बहू को दे दिया जाता है। किन्तु बडी बहू इसको अपना अपमान समझकर घर मे अशान्ति का वातावरण उत्पन्न कर देती है। वह अलग रहने की सोचती है।

परिवार-विच्छेद के मूल मे आर्थिक कारण अवश्य निहित रहता है। परम्परागत सयुक्त परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अधिकतर एक ही व्यवसाय करता था। अत घर की आमदनी एकत्र रूप मे आती थी जिसको घर के सब प्राणी एकत्र रूप मे खर्च करते थे, किन्तु नयी सभ्यता के विकास के साथ-साथ परिवार के व्यक्तियो के धधे भी बँट गये, जिनसे घर की आमदनी का पृथक्करण हो गया। अब यदि घर मे एक स्त्री का पति अधिक अर्थोपार्जन करता और दूसरी का कम, तो अधिक कमाने वाले पति की पत्नी घर मे बढचढकर आधिपत्य जमाकर रहना चाहती है। नारी की इस भावना का सम्मिलित परिवार मे विरोध होना स्वाभाविक बात है। अत. दोनो ओर से ही परिवार-विच्छेद की बात सोची जाने लगती है। 'वामा-शिक्षक' मे भी जमुनादास की बहू आर्थिक कारण का सहारा लेकर ही सोचती है "'प्रथम तो मेरा मालिक पच्चीस रुपये का नौकर है, दूसरे आधा गाँव मेरे बाँटे मे अधिक आया है जो मैं देवरानी से अलग रहूँगी तो उसमे मेरा बडा लाभ है।' इसलिए अलग होने के लिए खुला खुली तो न कहती पर सब बात मे तकरार करती और देवरानी के प्रबन्ध को बुरा बतलाया करती और उसे घडी भर भी चैन न लेने देती।"[१] अत नारी की इस प्रवृत्ति के कारण सम्मिलित परिवार का विच्छेद होना अनिवाय है। इस उपन्यास मे भी बाद में देवरानी-जिठानी अलग रहने लगती है। किन्तु फिर भी उपन्यासकार ने परिवार-विच्छेद को ममत्व नही दिया है। जिस नारी के कारण परिवार-विच्छेद होता है उस नारी का चित्रण फूहड और स्वार्थिनी के रूप मे किया है।

पारिवारिक समस्याओ के अन्तर्गत देवरानी-जिठानी के झगडो के अतिरिक्त

---

१. ईश्वरीप्रसाद शर्मा : 'वामा-शिक्षक' (पृष्ठ १३-१४)

सास-बहू के झगडो पर भी विशेष महत्व दिया गया है। सास-बहू के झगडो के मूल मे अशिक्षा और आर्थिक कारण निहित है। यदि सास-बहू दोनो अशिक्षित हे, जीवन को समझने की शक्ति नही रखती तो व्यर्थ मे ही घर मे अशान्ति दिखाई देने लगती है। इस अशिक्षा के कारण ही सास मे आधिपत्य की भावना का उदय होता हे। इसके अतिरिक्त यदि बहू के मायके से दहेज कम आता हे तो वह कोप की भाजन बन जाती हे। यदि बहू गरीब घर की लडकी हे, उसका पति कम अर्थोपार्जन करता है, या उसका आदर नही करता तब भी सास बहू को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगती है। 'आदर्श हिन्दू' मे प्रियवदा अपने पति से मृत सास की चर्चा करती हुई कहती है 'मेरा अपराध यही था कि मै गरीब घर की बेटी हूँ। मेरे विवाह से उनकी साध नही पुरी। बस इस बात का हरदम ताना दिया करती थी। कभी-कभी गालियाँ देती थी और कभी कही जुबान से कुछ जवाब निकल गया तो मार भी बैठती थी।'[1]

इस युग के अधिकाश पारिवारिक उपन्यासो मे सास की आधिपत्य और स्वामित्व की भावना एव इसके विपरीत बहू की दयनीय स्थिति का वर्णन हे। 'सुहागिनी' मे सास की कटु मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहा गया है 'उग्र मूर्ति जसोदा इसे तरह-तरह के दु ख देती है, उसे इस बात का घमड है कि मै घर की मालकिन हूं और यह मेरी दासी। इसके अतिरिक्त जसोदा यह नही चाहती थी कि अतुल तथा सावित्री मे परस्पर मेल हो।'[2]

सास-वर्ग की आधिपत्य भावना एव कठोर प्रवृत्ति के मूल मे दो कारण और भी है। जब वे बहू बनकर ससुराल आई थी तब वे भी अपनी सास द्वारा शासित की गई थी। अब वे अपने को सास-रूप मे पाकर वैसा ही व्यवहार अपनी बहू के साथ करती है। घर की मालकिन होने का घमड भी उन्हे आ घेरता है। बेटे-बहू का मेल उनकी इस स्वामित्व भावना पर सीधा आघात करता प्रतीत होता हे। उनके मन के किसी कोने मे यह भय सदैव समाया रहता है कि कही बहू-बेटे मिलकर उनके शासन की अवहेलना न करें। इसलिए उनकी यह चेष्टा रहती हे कि दोनो ही उन पर आश्रित रहे। प्रत्येक छोटी या बडी बात मे उनकी ही सम्मति की अपेक्षा रहे।

इस काल मे बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी अत अधिकाश बालिकाओ का व्यक्तित्व ससुराल मे आकर ही बनता था। उनको अच्छा या बुरा जैसा भी वातावरण मिलता था उसी के अनुरूप वे अपने मन एव स्वभाव को ढालने की चेष्टा करती थी। धीरे-धीरे वह उनकी प्रवृत्ति बन जाती थी। फिर भी कुछ परिवारो मे सास की शासन-प्रवृत्ति इतनी बलवती होती थी कि वे अबोध बालिका को दासी से भी तुच्छ समझकर उसका रहना कठिन कर देती थी। सास की यह अन्यायपूर्ण अधिकार-भावना घर मे अशान्ति उत्पन्न कर ही देती है और इस अशान्तिपूर्ण वातावरण मे ऊब कर

---

१. लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श हिन्दू' : पहला भाग : (पृष्ठ ४६)

२. चण्डिकाप्रसाद मिश्र : 'सुहागिनी' (पृष्ठ ३१-३२)

'सुहागिनी' उपन्यास मे अतुल घर छोडकर चला जाता है और परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है।

अन्य पारिवारिक समस्याएं

प्रेमचन्द-पूर्व काल के उपन्यासो मे पारिवारिक समस्याओ के अन्तर्गत पति-पत्नी के सम्बन्धो की भी चर्चा की गई है। पत्नी को मनु के आदर्शानुसार पति की अनुगामिनी और अर्धांगिनी माना गया है। प्रियवदा एक यूरोपियन लडकी को उत्तर देती हुई कहती है 'हमा देश मे भले घर की नारियाँ पति की गुलाम नही होती उसकी अर्धांगिनी होती है।'[1] किन्तु अर्धांगिनी का रूप अत्यन्त सकुचित अर्थ मे स्वीकार हुआ है। नारी को पुरुष के समान शिक्षा, स्वतन्त्रता, तलाक, पुनर्विवाह आदि के अधिकार न होने पर भी उसे जीवन मे पुरुष की अर्धांगिनी माना गया है। और अर्धांगिनी मानने पर भी यह कहा गया कि 'स्त्री के लिए पति के सिवाय दूसरी गति नही। ससार मे परमेश्वर के समान कोई नही, किन्तु स्त्री का पति ही परमेश्वर है।'[2]

अर्द्धांगिनी होकर पत्नी पति को सलाह दे सकती है किन्तु अपनी इच्छा उस पर आरोपित नही कर सकती। नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भावना यहाँ नही है। पति लँगडा-लूला, व्यभिचारी-दुराचारी जैसा भी है पत्नी के लिए परमेश्वर के समान है। पत्नी के अनन्य प्रेम को ही महत्व दिया गया है। 'परीक्षा गुरु' मे मदनमोहन की पत्नी, 'सुहागिनी' मे सावित्री, 'आदर्श हिन्दू' मे प्रियवदा ऐसी ही नारियाँ है। जो नारियाँ ऐसी नही होती उनका जीवन दुखी और घर नष्ट होता हुआ चित्रित किया गया है।

इस काल के उपन्यासकारो ने नारी को उसके उत्तरदायित्व का स्मरण कराते हुए उसके गृहिणी रूप को ही उच्च और आदर्श माना है। 'हिन्दू गृहिणी बहुत ऊँची चीज है, घर की वह मालकिन है, गृहस्थी की वह प्रबन्धक है, कुल की आन रखने मे वह सबसे दृढ दीवार है। समाज के रिवाज मे वह सर्वज्ञ है।'[3] अत यदि गृहिणी अपने उत्तर-दायित्व और आदर्शो का पालन कुशलतापूर्वक करे तो परिवार ही नही समाज का भी कल्याण हो सकता है। सभी पारिवारिक समस्याओ का समाधान गृहिणी की कुशलता, उदारता, त्याग और प्रेम पर ही निर्भर माना गया है।

पारिवारिक समस्याओ के अतिरिक्त इस समय के उपन्यासो मे नारी-जीवन की अनेक सामाजिक समस्याओ का भी चित्रण किया गया है। समाज-सुधारको ने विशेषकर नारी जीवन की सामाजिक समस्याओ के चित्रण के लिए ही सामाजिक उपन्यासो की रचना की।

---

१. लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श हिन्दू' : तीसरा भाग (पृष्ठ ३०)
२. वही, (पृष्ठ ३३)
३. चण्डिकाप्रसाद मिश्र : 'सुहागिनी' (पृष्ठ १९)

सामाजिक समस्याएं

नारी-शिक्षा की समस्या

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे पाश्चात्य प्रभाव एव सामाजिक आन्दोलनो के फलस्वरूप लोगो का ध्यान नारी-शिक्षा पर विशेष रूप से गया। आठ-नौ वर्ष की बालिकाओं के विवाह हो जाने के कारण पहले समाज मे लडकियाँ प्राय अशिक्षित रहती थी। यही नही उस समय के लोगो के मन मे शिक्षा के प्रति उपेक्षा का भाव रहता था। वे उसे पाश्चात्य सभ्यत। की देन समझकर त्याज्य समझते थे। किन्तु समाज सुधारको ने नारी-शिक्ष का नारा लगाया और भारतीय सस्कृति के अनुरूप नारी को शिक्षित बनाने का प्रयत्न किया। इस काल के उपन्यासो मे नारी-शिक्षा के सम्बन्ध मे जो दो विरोधी विचारध.राए प्रचलित थी, उनका उल्लेख मिलता है।

ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने 'वामा-शिक्षक' मे पुरानी और नई दोनो विचारधाराओं का यथ।वत् चित्र उपस्थित किया है। जमुनादास पुराने विचारो के लोगों का प्रतिनिधित्व करता है तो मथुरादास नई विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हुए समस्या का समाधान करने का प्रय।स करता है। जमुनादास अपनी पुत्रियो को पढाना नही चाहते थे, नारी-शिक्षा को वे निर्लज्जता की द्योतक मानते थे। वे कहते है 'जो लडको को पढाओ तो एक बा‌ है, वे कचहरी दर्बार मे जाकर नौकरी करेंगे, खत-पत्तर और अर्जियाँ लिखना सीखेंगे, और लडकियाँ तो बडी होकर घर मे बैठेंगी, वे लिख-पढकर कहाँ नौकरी करने जायेंगी?'[1] इसी प्रकार आगे कहते है 'जो लडकियाँ पढ-लिख जायेंगी और बड़ी होकर सासरे जायेंगी तो वहाँ जाकर किसी के वश मे नही रहेगी, निडर और निर्लज्ज होकर जिसको चाहेगी चोरी छिपे चिट्ठी-पत्री लिख भेजा करेंगी।'[2]

किन्तु मथुरादास समाज मे उठते इन प्रश्नो का उत्तर देते हुए कहते है 'पढकर बाप, भाई, जेठ, देवर और नातेदारो को अपनी कुशल-क्षेम और घर के समाचार लिख भेजे तो उसमे कुछ बुरी बात नही है।'[3] और आगे कहते है 'सरकार की यह इच्छा है कि लडकियाँ भी मनुष्य के चोले मे आकर पशु न रहें, विद्या और गुण सीखकर मनुष्य बन जाये और सऊर की बाते किया करे—जडता पुरुष और स्त्री दोनो से जाती रहे। जैसे अंग्रेजो की स्त्रियाँ पढी-लिखी है और घर-बाहर के कार्मों मे अपने पुरुषो को सहायता करती है यहाँ की भी स्त्रियाँ वैसी ही हो जावें और झगडा और लडाई न करे।'[4] नारी-शिक्षा के प्रति इसी प्रकार का मत भारतेन्दु का भी था जो उन्होने 'नीलदेवी' की भूमिका मे व्यक्त किया है।

---

१. ईश्वरीप्रसाद शर्मा : 'वामा शिक्षक' (पृष्ठ १९)
२. वही (पृष्ठ २०)
३. वही (पृष्ठ २१)
४. वही (पृष्ठ २२)

चण्डिकाप्रसाद मिश्र ने 'सुहागिनी' मे कुमुद और लज्जाराम शर्मा ने 'आदर्श हिन्दू' मे प्रियवदा की शिक्षा को आदर्श माना है। कुमुद के चरित्र मे नयी विकसित नारी का आभास मात्र मिलता है। किन्तु प्रियवदा के माध्यम से लेखक ने नारी-शिक्षा के सम्बन्ध मे जो विचार व्यक्त किये है, वे ईश्वरीप्रसाद शर्मा और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के विचारो से थोडे पिछडे प्रतीत होते है। भारतेन्दु ने अपने घर की कन्याओ को स्वय स्कूल पढने के लिए भेजा था किन्तु प्रियवदा की माँ सुशीला प्रियवदा की शिक्ष का प्रबन्ध घरपर ही करती है क्योकि उसका मत था कि स्कूली शिक्षा से वह सुकन्या, सुपत्नी और तदुपरात सुमाता नही बन सकती।[1] शर्मा जी का मत था कि नवीन स्कूली शिक्षा के प्रभाव से लडकियाँ अग्रेज स्त्रियो की भाति पुरुषो से बराबरी का दावा करने लगेगी।

अत प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासो मे नारी-शिक्षा का आदर्श यह है कि नारी घर-गृहस्थी के काम लायक पढ-लिख जाये, समय पडने पर पति की सहायता करे, किन्तु पाश्चात्य नारी की नकल न करे, उसके शिक्षा-सम्बन्धी दोषो से दूर रहे।

बाल-विवाह

शिक्षा के बाद नारी के विवाह का प्रश्न उठता है। इस समय समाज मे नौ-दस वर्ष की उम्र की लडकियो के विवाह प्रचलित थे। उस युग के उपन्यासकारो ने ग्यारह वर्ष से तेरह वर्ष की उम्र तक की लडकी के विवाह को आदर्श माना है। किशोरीलाल गोस्वामी की 'त्रिवेणी' (१८८८) मे मनोहरदास वैश्य का विवाह सोलह वर्ष की अवस्था मे प्रेमदास की तेरह वर्षीया कन्या के साथ होता है। 'आदर्श हिन्दू' मे तो लेखक ने विवाह के लिए ग्यारह वर्ष की आयु को ही ठीक माना है। लेखक ने स्वय कहा है - 'प्रियवदा का विवाह ठीक हमारे सिद्धान्त के अनुसार ग्यारहवे वर्ष मे और उसके बाद उसका गौना पाँचवे वर्ष मे हुआ।'[2] 'वामा-शिक्षक' मे भी लेखक ने लडकी के विवाह की उम्र का प्रश्न उठाया है। मथुरादास की बहू प्रचलित रीति के अनुसार अपनी लडकी के नौ वर्षीया होने पर उसके विवाह की चर्चा करती है। उस समय आठ-नौ वर्ष की आयु की लडकियो के विवाह की प्रथा इतनी प्रचलित थी कि जब नौ वर्ष की होने पर भी मथुरादास की लडकी का विवाह नही होता तो पास-पडोस की औरते उसे चैन नही लेने देती। वे बार-बार आकर मथुरादास की पत्नी से पूछती है कि वह जन्म-पत्रियाँ क्यो नही मँगवाती। क्योकि मथुरादास समाज सुधारक के रूप मे चित्रित हुआ है इसलिए वह बारह वर्ष की कन्या को विवाह के उपयुक्त समझता है। उसका मत है कि बडी उम्र मे विवाह होने से उत्तम सन्तान उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त वह लडकी के विवाह के लिए उपयुक्त वर की खोज पर अधिक बल देता है, वर के कुटुम्ब पर उतना ध्यान नही देता। कुटुम्ब के सम्बन्ध

---

१. लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श हिन्दू' : तीसरा भाग : (पृष्ठ ३०)
२. वही : दूसरा भाग : (पृष्ठ २९)

मे वह इतना ही सोचता है कि जिस घर मे लडकी का विवाह हो वह अपने मे न तो अधिक धनी हो, न दरिद्र। समान स्तर के घरो के सम्बन्ध को वह श्रेष्ठ समझता है।

पर्दा-प्रथा

पर्दा-प्रथा उन समस्याओ मे प्रमुख है जिनकी ओर इस काल के लेखको का ध्यान गया। परम्परागत शील-सकोच के पक्षपाती होने पर भी वे ऐसे पर्दे को त्याज्य समझते थे जिससे नारी जेलखाने का अनुभव करे।[1] यद्यपि अभी इन उपन्यासकारो के विचारो मे इतना परिवर्तन नही हुआ था कि वे नारी-स्वतन्त्रता की बात करते, या नारी को पुरुष के समान अधिकार दिलाने की सोचते, फिर भी वे उसके जीवन को व्यर्थ की रूढियो से मुक्त करना चाहते थे। इसीलिए धर्म-सकट के समय पर-पुरुष से नीची निगाह करके, सिर पर पल्ला रखकर सभाषण मे कोई आपत्ति न करते हुए भी उन्होंने नारी के पर-पुरुष से हँसी-मजाक करने को दुश्चरित्रता का लक्षण माना है। 'आदर्श हिन्दू' की प्रियवदा को उसकी माँ ने एक ओर कडा पर्दा करने के लिए मना किया था तो दूसरी ओर नौकरो से भी सलीके से बात करने का आदेश दिया था।[2] लेखक ने दिखाया है कि प्रियवदा के स्वभाव मे इतनी लज्जा का समावेश था कि उसे घर के बाहर अन्य व्यक्तियो के सामने अपने पति से बात करने मे भी सकोच होता था। नारी का यही आदर्श है जिसको इस युग के उपन्यासकार ने मान्यता दी है।

अनमेल विवाह

इस समय समाज मे बाल-विवाह एव दहेज-प्रथा होने के कारण अनमेल विवाह की समस्या उठ खडी हुई थी। भारतेदु ने 'पूर्ण प्रकाश चन्द्रप्रभा' (१८८९) नामक उपन्यास मे ही इस समस्या पर सुधारवादी लेखको का ध्यान आकर्षित किया था। इस उपन्यास मे उन्होने वृद्ध ढुण्ढिराज का नवयुवती चन्द्रप्रभा से विवाह कराया है। इस प्रकार के अनमेल विवाह का लेखक ने विरोध किया है तथा व्यग्य शैली द्वारा बूढे दूल्हे का मजाक उडाया है। साथ ही पुराने विचारो के व्यक्तियो एव प्रगतिशील विचारो के व्यक्तियो का सघर्ष दिखाने की भी चेष्टा की है। प० अयोध्यासिह उपाध्याय ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (१८९९) मे मिथ्या आभिजात्य भावना के कारण अनमेल विवाह के दुष्परिणामो पर प्रकाश डाला है। 'सुहागिनी' मे भी इस समस्या को उभारा गया है। अतुल के वृद्ध

---

१. 'इनके घर मे मुसलमानो, कायस्थों और क्षत्रियों का सा ऐसा पर्दा भी नहीं था जिसके मारे सुकुमार ललनाएं घर के जेलखाने मे दम घुट-घुट कर मर जायें और ऐसे बे पर्दे भी नहीं कि महिलाए मुह खोल कर पर-पुरुष से हँसी-मजाक करें, पुरुष समाज में खड़ी हो लेक्चर फटकारें।' 'आदर्श हिन्दू' (पृष्ठ ४४)

२. वही (पृष्ठ ३५)

पिता अपनी पत्नी की मृत्यु पर एक नवयुवती से दूसरा विवाह कर लेते है। जीवन मे अतृप्त रहने के कारण पहले तो वह नवयुवती जसोदा अपने पति पर शासन करती है और अपनी सौत के बच्चो और बहू को अत्यधिक दुःख देती है, और बाद मे भोलासिह के साथ भाग जाती है। नारी के इस पतन का मुख्य कारण अनमेल विवाह ही है। ब्रजनन्दन सहाय लिखित 'सौन्दर्योपासक' (१९१९) मे भी अनमेल-विवाह के दुष्परिणाम बडे साहसपूर्वक चित्रित किये गये है। नायक और मालती एक दूसरे से प्रेम करते है किन्तु नायक का विवाह दूसरी लडकी से होता है, उधर मालती का विवाह भी अन्य पुरुष से होता है। अन्त मे परिणाम यह होता है कि नायक की पत्नी और प्रेयसी दोनो ही मृत्यु की शरण लेती है। इस प्रकार प्रेम का अभाव और वय की असाधारण असमानता दाम्पत्य जीवन में वैषम्य स्थापित कर देते है।

वेश्यावृत्ति की समस्या

अनमेल विवाह की कुरीति वेश्यावृत्ति को भी जन्म देती है। प्रेमचन्द-पूर्वकाल के उपन्यासकारो ने वेश्यावृत्ति के मूल कारणो की अवहेलना कर वेश्या को अत्यधिक हीन और घृणा की दृष्टि से देखा है। वेश्या के घृणात्मक एव हीन जीवन का चित्रण प्रेमचन्द-युग मे भी हुआ अवश्य है किन्तु उन लेखको ने वेश्यावृत्ति के मूल कारणो पर एव समस्या के मानवीय पक्ष पर भी ध्यान दिया है। इसके विपरीत इस काल के लेखको ने मुख्यत वेश्याओ के छल और आडम्बरपूर्ण जीवन, उसकी रूप-प्रदर्शन की लालसा, धन-लोलुपता एव उनके अनैतिक कार्य-कलापो की व्याख्या करके उनसे सतर्क रहने के लिए ही आगाह किया है। वेश्या के चरित्र मे कही कोई पीडित नारी भी छिपी हुई है, इसको वे नही देख सके है।

श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' (१८८६ द्वि स०) मे ही वेश्या की समस्या उठायी थी। देवकीनदन खत्री ने 'काजर की कोठरी' (१९०२) मे वेश्या का चित्रण करते हुए कहा है कि वेश्या का मुख्य काम दूसरो से रुपया हडपना होता है। वह अपनी मीठी बातचीत और दिखावटी व्यवहार से एक समय मे अनेक पुरुषो को एसे उलझाये रहती है कि पुरुष कामान्ध होकर उसके चगुल मे फँसकर अपना समस्त धन बर्बाद कर बैठता है। लेखक के अनुसार वेश्या किसी एक पुरुष की होकर रह ही नही सकती। वह प्रत्येक पुरुष से झूठे अपनत्व का प्रदर्शन करती है। 'काजर की कोठरी' मे वेश्या बाँदी पारस बाबू से कहती है, 'मै तुम्हे अपने खर्च के लिए भी तकलीफ देना नही चाहती, मै इस लायक हूँ कि बहुत से सर्दारो को उल्लू बनाकर अपना खर्च निकाल लूँ। मै तुमसे एक पैसा लेने की नीयत नही रखती, मगर क्या करूँ अम्मा के मिजाज से लाचार हूँ। इसी से जो कुछ तुम देते हो ले लेना पडता है।'[1]

---

१. देवकीनंदन खत्री : 'काजर की कोठरी' (पृष्ठ २३)

अपनी इस स्वार्थपूर्ति के लिए वेश्या अपनी साज-सज्जा, नृत्य-गान और कुचे टाओ द्वारा पुरुषो को आकर्षित करती है। ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने 'स्वर्णमयी' मे पुरुपो पर वेश्या सरस्वती के रूप एव कुचेष्टाओ के प्रभाव का चित्रण करते हुए लिखा है 'वास्तव मे उसका रूप भी वैसा ही था। बस उस दर्शक-मण्डली मे कोई उसकी पोशाक ही पर मर गया, कोई उसकी बाँकी अदाओ और तिर्छी चितवन ही पर जी-जान से फरेफ्त हो गया, कोई उसके होठो पर चढी हुई पान की ललाई ही मे लीन हो गया और कोई उसके नयनो के पलक ही के पलने पर झूलने लगा।'[१]

इस काल के सुधारात्मक विचारो की सीमा इसी बात से पहचानी जा सकती है कि वेश्यावृत्ति के उन्मूलन की सोचने के बजाय कुछ सुधारको का तो मत यह था कि समाज को पतन से बचाने के लिए वेश्याओ का होना नितात आवश्यक है। वेश्याओ के अस्तित्व के फलस्वरूप ही शेष समाज पवित्र बना हुआ है। 'आदर्श हिन्दू' मे वेश्याओ का होना दो कारणो से आवश्यक माना गया है (१) वे अवश्य अपना आपा बिगाड रही है, अपना सर्वस्व नष्ट कर रही है किंतु हिन्दू नारियो के सतीत्व की रक्षा करती है। (२) जब गाने-बजाने और नाचने का पेशा करने वाली हमारी सोसाइटी मे न रहेगी तब कुल-वधुए इस काम को ग्रहण करेगी। . . .यदि आप रडी का नाच बन्द करेंगे तो एक दिन आपको बहू-बेटियाँ अवश्य नचानी पडेगी।[२]

इन पक्तियो से यह बात सिद्ध होती है कि बीसवी सदी के प्रारम्भ तक सगीत और नृत्य-कला केवल वेश्याओ की वस्तु समझी जाती थी। इसके अतिरिक्त इस समय समाज के लोगो का नैतिकता के प्रति दृष्टिकोण भी आज की दृष्टि से अत्यन्त सकुचित था। कुछ असयमी लोगो की अनैतिक वासना की पूर्ति के लिए कुछ नारियो को नारकीय जीवन बिताने पर विवश करना कहाँ का न्याय है? फिर वेश्याओ के होने पर भी यह कौन कह सकता है कि शेष समाज सचमुच पवित्र है। पुरुष की काम-दुर्बलता और नारी की विवशता के कारण सभ्य कहलाने वाले समाज मे भी प्रति-दिन ऐसी घटनाए घटती रहती थी जो उसकी नैतिकता पर कलक लगाती थी, पर जिन पर समाज के ठेकेदार अपने सम्मान की रक्षा के लिए पर्दा डाल देना ही श्रेयस्कर समझते थे। इस पहलू पर भी किशोरीलाल गोस्वामी का ध्यान आकर्षित हुआ है। 'स्वर्गीय कुसुम' (१८८९) मे कुसुम का मत है कि यदि वेश्याओ को भी समाज मे जगह मिल गई तो हिन्दू समाज एक दिन 'वेश्या-समाज' बन जायेगा, किन्तु वसत नई विचारधारा से प्रभावित होकर उसकी इस बात का खण्डन करते हुए कहता है 'पर सुनो तो, जिस हिन्दू समाज मे बडे-बडे कुल की कुलवन्तियाँ भी ऐसे-ऐसे भयानक काम करती है कि जिन पर ध्यान देने से फिर कभी इस

---

१. ईश्वरीप्रसाद शर्मा: 'स्वर्णमयी' (पृष्ठ १०)
२. लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श हिन्दू' : तीसरा भाग : (पृष्ठ-२२३-२२४)

समाज के नाम लेने का भी जी नही चाहेगा, ऐसी अवस्था मे तुम्हारी ऐसी "स्वर्गीय कुसुम" ने क्या पाप किया है, जो समाज तुम्हे अपनी गोद मे जगह न देगा।"

इस प्रकार प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासकारो ने वेश्यावृत्ति की समस्या के विभिन्न पहलुओ पर विचार किया है और इस समस्या के समाधान की ओर भी उनकी दृष्टि गई है। पर इसे तत्कालीन शिक्षा और समाज-दर्शन की सीमा ही कहना होगा कि वे समस्या को गहराई से न पकड़ सके और न कोई उचित समाधान ही दे सके। नारी की स्वतन्त्रता ही वेश्यावृत्ति का सफल उन्मूलन कर सकती है, यह दृष्टि यद्यपि प्रेमचन्द-युग मे भी नही आई है, पर प्रेमचन्द ने समस्या का आदर्शोन्मुख सुधारवादी समाधान देकर अपने पात्रो के साथ अवश्य न्याय किया है।

देवदासी-प्रथा

देवदासी-प्रथा पर भी इस समय के लेखक का ध्यान गया। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'स्वर्गीय कुसुम' मे देवदासी-प्रथा की निन्दा की है। कुसुम राजा कर्णसिह की पहली बेटी थी। बहुत दिनो तक कोई सन्तान न होने के कारण उन्होने मनौती की थी कि यदि उनके सन्तान उत्पन्न होगी तो वे अपनी पहली सन्तान को भगवान जगन्नाथ के मन्दिर में अर्पण कर देंगे। इसी वचन के अनुसार वे छ महीने की कुसुम को पण्डा त्र्यम्बक को सौप देते है। धार्मिक परम्परा के अनुकूल इस रीति से जो कन्याए मन्दिर मे आती है, उन्हे जीवन भर देवदासी बनना पडता है। इस प्रकार अपने परिवार और समाज से बिछुड कर अबोध बालिका धर्म के ठेकेदारो के अधीन होकर अनैतिक और कलकपूर्ण जीवन बिताने पर विवश हो जाती है।

इस प्रकार धर्मान्धता के वशीभूत होकर माँ-बाप अपनी लाडली बेटी को मन्दिर को सौप देते है और फिर उसके जीवन के प्रति तनिक भी रुचि नही दिखाते। वे इस बात की खोज-खबर भी नही लेते कि उनकी पुत्री का जीवन कैसा बीत रहा है। 'स्वर्गीय कुसुम' उपन्यास मे भी पण्डा त्र्यम्बक कुसुम को वेश्या चुन्नी के हाथ बेच देता है। इस प्रकार राजघराने मे जन्मी कुसुम का लालन-पालन वेश्या के यहाँ होता है। वेश्या के यहाँ रहने के कारण उसका जीवन अभिशाप बन जाता है। यद्यपि कुसुम शरीर से पवित्र है, उसकी आत्मा उच्च और महान है किन्तु किसी भी शर्त पर समाज उसे कुलीना मानने के लिए प्रस्तुत नही। कुसुम बसत से प्रेम करती है, वह उसके साथ गान्धर्व-विवाह भी कर लेती है किन्तु बसन्त की सामाजिक प्रतिष्ठा को ध्यान मे रखकर वह इस सबन्ध को प्रकट नही होने देना चाहती। वह बसत को अपनी सगी बहिन गुलाब से विवाह करने के लिए बाध्य करती है और स्वय सन्यासिनी की भाँति जीवन-यापन करती है।

कुसुम इस देवदासी-प्रथा से अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपनी मनोवेदना अपने पिता के

---

१. किशोरीलाल गोस्वामी : 'स्वर्गीय कुसुम' (पृष्ठ ११८)

सम्मुख जाकर कहती है 'यह देवदासी-प्रथा व्यभिचार और वेश्या-वृत्ति की जड है और इसे किसी व्यभिचारी महात्मा ने चलाया है।'[१] वह आगे और भी कटु सत्य कहती है 'गृहस्थाश्रम-त्यागियो को जब भोग-विलास के लिए स्त्रियो की आवश्यकता हुई और उनका काम केवल चेलियो से न चल सका, तथा पर-स्त्री-गमन और वेश्या-समागम से निन्दा होने लग गई, तब उन्होने इस घृणित 'देवदासी-प्रथा' की चाल चलाकर और भोलेभाले धर्मप्राण लोगो को ठगकर अपना काम चलाने का उपाय निकाला।'[२]

इस कठोर सत्य को सद्‌बुद्धि जगने पर पण्डा त्र्यम्बक स्वय स्वीकार करता हुआ कहता है, 'वास्तव मे उन बेचारी कन्याओ के साथ बडा अत्याचार किया जाता है और उन कन्याओ का चरित्र निर्मल नही रहने पाता। कोई कन्या पण्डे की भोग्या बनती है, कोई सयानी होने पर स्वाधीन होकर वेश्यावृत्ति करने लग जाती है, कोई किसी के घर बैठ जाती है, कोई किसी से विवाह कर लेती है, कोई पण्डाओं के द्वारा लोगो को प्रसाद स्वरूप दे डाली जाती है और कोई किसी न किसी के हाथ बेच दी जाती है।'[३]

कुसुम चाहती तो अपने पिता के यहाँ पुन रहने का प्रयास कर सकती थी तथा वसत के साथ सुख से जीवन व्यतीत कर सकती थी। किन्तु वह स्वय नही चाहती थी कि उसके पिता उसे प्रकट रूप मे ग्रहण करे, क्योकि न तो उस समय का समाज उन्हे ऐसा करने की आज्ञा देता और न वह किसी प्रकार की क्रान्ति करना चाहती थी। इस प्रकार लेखक ने देवदासी-प्रथा और वेश्यावृत्ति की भर्त्सना तो खूब की है, यहाँ तक कि कुसुम के पिता इस प्रथा को बन्द करने और करवाने का बीडा भी उठाते है किन्तु सामाजिक रूढियो का उल्लघन करने और उनके विरुद्ध खुल्लमखुल्ला विद्रोह करने का साहस उनमे नही है। वह लम्बे-लम्बे भाषण देकर ही सतुष्ट हो गया है।

विधवा और उसके पुनर्विवाह की समस्या

इस समय के उपन्यासकार प्राचीन भारतीय विश्वास के अनुसार पति-पत्नी के सम्बन्ध को जन्म-जन्मान्तर का सबध मानते थे। इसीलिए उन्होने विधवा के पुनर्विवाह को कही भी स्वीकृति नही दी है और पति की मृत्यु पर उसके पवित्र सादा जीवन व्यतीत करने को ही आदर्श माना है। उनका मत है कि विधवा-विवाह करने से सतीत्व की भावना और हिन्दू धर्म पर वज्राघात हो जायेगा। विधवाओ के आर्थिक सकट की ओर भी उनका ध्यान गया था। 'आदर्श हिन्दू' मे प्रियवदा वेश्याओ को आर्थिक कठिनाइयों से

---

१. किशोरीलाल गोस्वामी : 'स्वर्गीय कुसुम' (पृष्ठ १३७)
२. वही (पृष्ठ १३९)
३. वही (पृष्ठ १६७)

मुक्त करने के हेतु एक सुझाव उपस्थित करते हुए कहती है 'यदि उनका उपकार करना हो तो उनके पालन-पोषण और चरित्र-रक्षा के लिए विधवाश्रम खोलिये।'[1]

तलाक़

इस समय विधवा के पुनर्विवाह की भाति विवाहोपरान्त तलाक को भी बुरा माना गया है। इस काल के लेखक इसको पाश्चात्य दुर्गुण मानते थे। उन्होने दिखाया है कि नारियो को इसकी चर्चा भी अप्रिय थी। पाश्चात्य सभ्यता की आलोचना करती हुई 'आदर्श हिन्दू' की प्रियवदा कहती है 'जो लोग स्त्री को 'बैटर हाफ' बनाकर उनका दर्जा आकाश पर चढाने के पक्षपाती है, वे ही उन्हे तलाक देकर दूसरा खसम कर लेने की सम्मति जब दे रहे है तब मानो जरासध के शरीर की तरह एक शरीर के कभी दो टुकडे करते है और फिर कभी-कभी जोडने का मिथ्या उद्योग करते है। किन्तु इसका फल यही होता है कि 'टूटे पीछे फिर जुडे तो गॉठ गठीली होय' और सो भी एक बार एक के साथ और दूसरी बार दूसरे के साथ। बस इसलिए वह जोडा नही, वह विवाह नही। वह एक ठेका है, जो अमुक-अमुक बातो मे किया जाता है और यदि सयोगवश जैसा कि प्राय होता रहता है, दोनो मे से एक भी शर्त चूक गया तो बस एक को छोडकर दूसरा और दूसरे को छोडकर तीसरा, कुम्हार की हॉडी की तरह जन्म भर पति बदलौवल अथवा पत्नी-परिवर्तन हुआ करे।'[2]

नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता की समस्या

नारी को आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होना चाहिये या नही, इस समस्या पर इस समय के उपन्यासकार का ध्यान नही गया है। उस समय के समाज मे यह समस्या थी भी नही। नारी को सामाजिक कुप्रथाओ के प्रति सचेष्ट करना ही उसका मुख्य उद्देश्य था। किन्तु फिर भी आर्थिक सकट के समय इस क्षेत्र मे भी नारी के सहयोग की आकाक्षा उसने प्रकट की है।

किशोरीलाल गोस्वामी लिखित 'चपला' (१९०३) मे कामिनी और चपला अपनी निर्धनता के कारण दूसरे के घर मे जाकर नौकरी करती है तथा घर मे मोजे भी बुनती है जिनको उनकी पुरानी नौकरानी बाहर जाकर बेच आती है। 'वामा-शिक्षक' मे भी किशोरी घर मे टोपियॉ बनाने का प्रस्ताव रखती है। बाबू रत्नचद्र प्लीडर लिखित 'नूतन चरित्र' (१८८३) मे चित्रकला पहले तो नौकरी की बात उठाती है, बाद मे अपनी जीविका की समस्या को हल करने के लिए घर मे टोपियॉ बनाने का प्रस्ताव रखती है।

चपला और कामिनी के परिवार मे तो कोई पुरुष सहायक न था इसलिए वे नौकरी

---

१. लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श हिन्दू'. तीसरा भाग (पृष्ठ ८२)

२. वही (पृष्ठ ३२)

करती है। लेकिन ये शेष नारी-पात्र नौकरी करने की अपेक्षा घर मे ही रहकर अर्थो-पार्जन का पक्ष लेते है। साथ ही, जबतक पुरुष समर्थ हो, तब तक नारी के अर्थोपार्जन को वाछनीय नही माना गया है। 'नूतन चरित्र' मे भी चित्रकला का भाई चित्रकला के इस प्रस्ताव पर अपने पौरुपत्व का अपमान समझता है। वह कहता है 'अभी मै ऐसा मुर्दा नही हो गया जो अपनी प्यारी बहिन को उदर-पालन के अर्थ काम करने की आज्ञा दूँ।' इसी प्रकार 'वामा-शिक्षक' मे किशोरीलाल के प्रस्ताव पर पुराने विचारो का प्रतिनिधित्व करने वाली उसकी सास असहमति प्रकट करती है। फिर भी लेखक ने उस समय की विवेकशील नारी के द्वारा यह कहलवाया है कि 'इसमे कुछ डर नही है, क्या हम किसी के घर भीख मॉगने जायेगे। यह तो राजा काम है, अपने घर बैठे करते रहो।'

जो भी हो, इस समय के उपन्यासकार का ध्यान नारी के अर्थोपार्जन पर गया अवश्य था। वक्त बे-वक्त आर्थिक सकट से मुक्ति पाने के लिए घर बैठे ही नारी के अर्थोपार्जन करने को वे बुरा नही मानते थे।

नारी के स्वच्छन्द-प्रेम की समस्या

प्रेमचन्द पूर्व के अनेक उपन्यासो मे स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण हुआ है। ठाकुर जग-मोहनसिह ने 'श्यामा स्वप्न' (१८८८) मे स्वच्छन्द-प्रेम और गान्धर्व-विवाह की कहानी पुरानी काव्य रूढियो का आश्रय लेकर कही। ब्रजनन्दनसहाय ने 'सौन्दर्योपासक' (१९१२) मे प्राचीन रूढियो ओर प्रचलित आदर्श भावना से हटकर स्वच्छन्द-प्रेम-निषेध के दुष्परिणाम बडे साहस-पूर्वक दिखाये है। किशोरीलाल गोस्वामी ने भी लगभग अपने सभी उपन्यासो मे स्वच्छन्द-प्रेम को प्रश्रय दिया है, 'चपला', 'स्वर्गीय-कुसुम', 'हृदयहारिणी' (१८९०), 'अँगूठी का नगीना' (१९१८) आदि उपन्यासों मे स्वच्छन्द-प्रेम का प्रतिपादन किया गया है। ईश्वरीप्रसाद शर्मा के 'मागधी कुसुम' (१९११) और 'स्वर्णमयी' (१९१०) मे भी यही भावना निहित है।

इन सभी उपन्यासो मे स्वच्छन्द-प्रेम की भावना रीतिकालीन परिपाटी और सस्ती स्वप्नशील भावुकता को लेकर प्रकट हुई है। इसका वास्तविक कारण यह है कि उस काल मे भारतीय सामाजिक जीवन अगति और अन्धकार मे था। सामाजिक रूढियाँ एव जाति-पॉति के बन्धन अत्यन्त कडे थे। शिक्षा का प्रसार न था। नर-नारी के मुक्त-प्रणय की कल्पना भी नही की जा सकती थी। विवाह जैसे महत्वपूर्ण और स्थायी सम्बन्ध का निर्णय भी अभिभावक ही करते थे। व्यक्ति के निजी राग-विरागों पर ऐसे कठोर सामाजिक प्रतिबध को ही इस स्वप्नशील प्रेम-भावना का जनक मानना चाहिये। यथार्थ जीवन मे व्यक्ति की दमित वासनाओ का प्रकाश साहित्य मे आकर रोमानी वातावरण और सस्ती भावुकता की सृष्टि करने लगा। डा० इन्द्रनाथ मदान ने भी इस प्रकार

---

१. रत्नचद्र प्लीडर : 'नूतन चरित्र' (पृष्ठ ३४)

के रोमास की सृष्टि के मूल मे व्यक्ति की दमित वासनाओ को माना है।[1]

इस समय के उपन्यासकार के मन मे स्वच्छन्द-प्रेम निषेध के प्रति असतोष तो था, जो विभिन्न प्रकार के उपन्यासो मे प्रकट हुआ, किन्तु सामाजिक रूढियो को तोडने का अथवा उनका विरोध करने का साहस उसमे नही था। 'श्यामा स्वप्न' मे भी स्वच्छन्द-प्रेम और गान्धर्व-विवाह की कहानी इस प्रकार वर्णित की गई है कि प्रचलित सामाजिक रूढियो के प्रति तत्कालीन शिक्षितो का आन्तरिक असतोष साफ परिलक्षित होता है। फिर भी इन उपन्यासो मे स्वतन्त्र-प्रेम का खुला समर्थन नही है। 'सौन्दर्योपासक' मे स्वच्छन्द-प्रेम-निषेध के दुष्परिणामो पर लेखक ने साहस पूर्वक दृष्टिपात करते हुए भी सामाजिक प्रतिबध को माना है।

इनमे से अधिकतर उपन्यासो मे प्रचलित सामाजिक प्रतिबध की मान्यता एक और ढग से भी प्रकट होती है। जब जब स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण किया गया है, तब तब लेखक ने उसकी परिणति विवाह मे करायी है, और इस प्रकार स्वच्छन्द-प्रेम के विद्रोही तत्व को प्रभाव हीन बना दिया है। इस तरह के चित्रण करने से लेखक के दोनो उद्देश्य पूरे हो जाते है। वह नारी के स्वच्छन्द-प्रेम को भी महत्व प्रदान कर देता है और प्रचलित सामाजिक मान्यताओ की भी रक्षा कर लेता है। तिलिस्मी, ऐय्यारी और सामाजिक सभी उपन्यासो मे यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

कुछ सामाजिक उपन्यासो मे स्वच्छन्द-प्रेम का चित्रण एक और ढग से भी हुआ है। 'नूतन चरित्र' मे चित्रकला विवेकराम को प्रेम करने पर भी भावुकता मे बहकर तुरन्त विवाह करने को प्रस्तुत नही होती। विवेकराम सच्चरित्र व्यक्ति है या नही इसकी परीक्षा वह अनेक उपायो से एव विवेकराम को अनेक परिस्थितियो मे डाल कर करती है। जब चित्रकला को विवेकराम की सच्चरित्रता, निश्छल प्रेम एव सहृदयता पर विश्वास हो जाता है तभी वह उससे विवाह करती है।

'सुहागिनी' मे प्रेयसि कुसुम के चरित्र मे लेखक ने आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से उत्पन्न स्पष्टवादिता का भी समावेश किया है। वह अतुल से प्रेम करती है, यद्यपि उसका विवाह सुरेश से निश्चित होता है। वह पहले तो अतुल को भूलने का प्रयास करती है किन्तु जब सफल नही होती तो विवाह के ठीक पहले अपने भावी पति सुरेश को बुलाकर अपने मन की सच्ची स्थिति समझाती है। सुरेश भी आदर्शवादी युवक की भाँति उसी समय उसे बहिन कह कर पुकारता है और स्वय उसका विवाह अतुल से करा देता है। यद्यपि इन घटनाओ मे अस्वाभाविकता का पुट अवश्य है फिर भी कुसुम के चरित्र का इस प्रकार चित्रण करना नारी के नये रूप का आभास देता है।

लेकिन इस काल मे कुछ उपन्यासकार ऐसे भी थे जो प्राचीन परिपाटी पर चलते रहना ही श्रेयस्कर समझते थे, और जिन्होने नारी को प्रेम अथवा विवाह के सम्बन्धो में

१. डा० इन्द्रनाथ मदान : 'माडर्न हिन्दी लिटरेचर' (पृष्ठ १३१)

किसी प्रकार की छूट देना उचित नही माना है। लज्जाराम शर्मा का 'आदर्श हिन्दू' नामक उपन्यास प्रेमचन्द-पूर्व कालीन समाज की मान्यताओ का चित्र उपस्थित करता है। उसमे उन्होने नारी के प्रेम का विकास विवाहोपरान्त ही उचित माना है। विवाह के पूर्व किये गये प्रेम को वे पाश्चात्य देन समझते है।[१] उनके मत मे कन्या के लिए घर और वर ढूढने का भार माता-पिता पर ही होना चाहिये।[२]

नारी-जीवन के आदर्श की समस्या

भारतेन्दु-युग भारतीय राष्ट्रीय चेतना के उदय और विकास का काल था। अग्रेजी शिक्षा और सभ्यता का प्रभाव भारत मे बडी तीव्रता स फैल रहा था। भारतीय धर्म-प्रचारक एव समाज-सुधारक भारतीय जनता को, विशेषकर नारी को, विदेशी प्रभावो से बचाना चाहते थे। उनको भय था कि कही भारतीय नारी भी अपनी सस्कृति और परम्परा को भूलकर पाश्चात्य नारी की नकल न करने लगे। अत उन्होने एक ओर ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर वीर ललनाओ के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जिन्होने आत्म-सम्मान और स्वदेश-प्रेम के लिए अपने प्राणो की बलि दी थी, दूसरी ओर पौराणिक उपन्यासो मे भी ऐसी आदर्श नायिकाओ का जीवन चरित्र प्रस्तुत किया जिनका अनुकरण कर नारियाँ धर्म और कर्तव्य के पथ पर चले और उनके आदर्श से प्रेरित होकर अपना जीवन सुधार सके। इस प्रकार सती सावित्री, सीता, अनसूया, सुभद्रा, चद्रलेखा, सती सीमतिनो, मदालसा आदि के उदाहरण उपस्थित किये गये। ब्रजनदनसहाय की 'रजिया बेगम' (१९१५), 'रामनरेश त्रिपाठी' की 'वीरागना' (१९११) और 'वीरबाला' (१९११), गगाप्रसाद गुप्त की 'वीर पत्नी (१९०३), किशोरीलाल गोस्वामी की 'हृदय हारिणी' (१८९०), 'लवगलता' (१८९०), 'लखनऊ की कब्र' (१९०६) और तारा, बलदेव मिश्र को 'पानीपत' (१९०२), अम्बिकाप्रसाद चतुर्वेदी की 'कोहेनूर' (१९१९) आदि ऐसे अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये, जिनमे नारी के राष्ट्र-प्रेम, आत्मोत्सर्ग, आत्म-सम्मान, वीरता, प्रेम और त्याग के उदाहरण मिलते है। वे वीर नारियाँ कभी पति के साथ सग्राम मे जाती है, कभी पति को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करती है, कभी उन्हे रण के लिए स्वय सुसज्जित करती है, वक्त पडने पर स्वय हाथ मे तलवार लेकर देश-रक्षा और आत्म-सम्मान के लिए युद्ध करती है, अपना बलिदान देती है और कभी पति की मृत्यूपरान्त जौहर-व्रत के पालन के लिए स्वय सती हो जाती है।

इस प्रकार प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासो मे नारी-जीवन की पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और राजनैतिक सभी प्रकार की समस्याओ का चित्रण हुआ है, और लेखकों ने उनका समाधान करने की भी चेष्टा की है। पर न तो इन उपन्यासो मे वह गम्भीर विशद और मार्मिक रूप मिल सका जो परवर्ती युग मे प्राप्त हुआ और न कोई ऐसा समाधान ही दिया जा सका जो यथार्थ की कसौटी पर व्यावहारिक सिद्ध हो सके।

१. 'उनके यहाँ प्रणय पहले और हमारे यहाँ प्रणय पीछे होता है।' लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श हिन्दू' तीसरा भाग : (पृष्ठ ८९)   २. वही (पृष्ठ ८९)

अध्याय ४

नारी-जीवन की समस्याएं और उनका समाधान : प्रेमचन्द-युग

प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारो के सम्मुख राष्ट्रीय भावना, नारी की पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याए एव उनके आदर्शो की रूपरेखा स्पष्ट हो चुकी थी। इस कारण इस युग के लगभग सभी उपन्यासकारो को नारी की विभिन्न समस्याओ के चित्रण मात्र से सतोष नही हुआ। उन्होने इन समस्याओ के निराकरण पर भी सुधारवादी ढग से सहानुभूति पूर्वक विचार किया है। प्रेमचन्द ने इन समस्याओ को अधिक सूक्ष्मता, कलात्मकता और गभीरता प्रदान की। उनकी रचनाओ मे ये समस्याए नारी-जीवन की वास्तविक समस्याओ के रूप मे चित्रित हुई जिसका प्रभाव तत्कालीन समाज पर भी पडा। प्रेमचन्द ही ने सर्वप्रथम नारी को सर्वागीण जीवन और व्यक्तित्व को समवेदना-पूर्वक ग्रहण किया।

इस युग के उपन्यासकार विशेषकर मध्यवर्गीय नारी के महत्वपूर्ण प्रश्नो को लेकर ही हिन्दी साहित्य मे अवतीर्ण हुए। यद्यपि उच्च और निम्नवर्गीय नारी की समस्याओ का भी चित्रण हुआ है, फिर भी वह चित्रण इस युग की मुख्य विशेषता नही है। मध्यवर्गीय नारी की समस्याओ का अधिक चित्रण होने के मुख्यत दो कारण थे (१) इस समय के अधिकतर उपन्यासकार मध्यवर्ग से ही आये थे। उनकी सवेदनशील चेतना नारी-समाज की विडम्बना एव विषमता पर कैसे मौन रह सकती थी ? उनके लिए यह असम्भव था कि वे उस वर्ग की नारी की समस्याओ के प्रति उदासीन होकर अन्य वर्ग की नारी की समस्याओ के सम्बन्ध मे विचार करते। (२) उस समय मध्यवर्गीय नारी की समस्याए सबसे अधिक महत्वपूर्ण और जटिल थी। उनका समूचा जीवन अध-विश्वास ,रूढवादिता, मिथ्या आत्म-सम्मान, अभाव एव प्रतिबधो मे इतना जकडा हुआ था कि उनकी आत्म-चेतना लुप्त-प्राय हो गई थी। बाल-विवाह, अशिक्षा, पर्दा, गहनो का मोह, दहेज, अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, वेश्यावृत्ति आदि विभिन्न सामाजिक विषमताओ का दुष्परिणाम सबसे अधिक मध्यवर्गीय नारी को ही सहना पडता था। यही कारण है कि इस युग के उपन्यासकारो ने नारी की पारिवारिक समस्याओ से भी अधिक सामाजिक समस्याओ को आधार बनाकर अपने उपन्यासो की रचना की। उन्होने इन समस्याओ के प्रत्येक पहलू का विशद रूप से अध्ययन किया, और उनके समाधान की खोज का भरसक प्रयत्न किया।

सामाजिक-समस्याएं

बाल-विवाह

वास्तव मे बाल-विवाह की प्रथा ही वह विष का मूल है जिसमे नारी-पतन की शाखाए पल्लवित होती है। इस युग के लगभग सभी उपन्यासकारो ने बाल-विवाह की प्रथा की निर्मम आलोचना की है। कही भी बाल-विवाह की परिणति सुख या सफलता मे नही दिखाई गई है। प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासो मे ग्यारह-बारह वर्ष की कन्या के विवाह को आदर्श माना गया था। किन्तु प्रेमचन्द-युग मे लडकी के विवाह की उम्र एक दो वर्ष और बढ गई थी। प्रेमचन्द, 'प्रसाद' आदि उपन्यासकारो ने बारह वर्ष मे ऊपर की कन्या के विवाह को श्रेयस्कर माना है। 'प्रसाद' लिखित 'तितली' की तितली, प्रेमचन्द लिखित 'सेवासदन' की सुमन और शान्ता, 'कर्मभूमि' की सुखदा, 'गबन' की जालपा आदि अनेक कन्याए विवाह के समय अबोध बालिकाए नही थी, उनके व्यक्तित्व का थोडा बहुत विकास हो चुका था। प्रेमचन्द-युग मे जहा भी बाल-विवाह की चर्चा है वहा सामाजिक या आर्थिक परवशता के कारण ही ऐसा किया गया है। अधिकाश उपन्यासो मे बाल-विवाह की चर्चा भविष्य मे होने वाले दुष्परिणामो को ध्यान मे रखकर की गई है। बाल-विवाह पर ही अशिक्षा, अनमल विवाह और विधवा-जीवन की समस्याए आश्रित है।

नारी-शिक्षा

बाल-विवाह के दुष्परिणामो मे नारी की अशिक्षा प्रमुख है। विवाहित और अविवाहित दोनो स्थितियो मे उसे पढने का अवसर नही मिलता था। जैसे ही उसकी बुद्धि कुछ सजग होती थी, उसका विवाह हो जाता था। तदुपरान्त उसके जीवन का समस्त विकास गृहिणी अर्थात् दूसरे शब्दो मे परिवार की दासी के रूप में होता था। वह सबके लिए जीती और मरती थी। उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता न थी और न इस सम्बन्ध मे वह स्वतन्त्र रूप से कुछ सोच ही सकती थी। कही-कही इस अशिक्षा का उल्टा परिणाम भी हुआ। नारी का विवेक विकसित न होने के कारण वह अपनी स्वार्थ-भावना मे ही डूबी रही और कर्कशा या कलहमयी बन गई। प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासो मे जहा भी कर्कशा नारी का चित्रण हुआ है, चाहे वह सास के रूप मे हो या देवरानी, जिठानी, ननद, भौजाई या पत्नी के रूप मे हो, वही अशिक्षा को मूल कारण माना है।

प्रेमचन्द के उपन्यासो की लगभग सभी मध्यवर्गीय नारिया साधारण शिक्षित दिखाई देती है। 'सेवासदन' (१९१६) मे सुमन की छोटी बहिन शान्ता अपने श्वसुर को पत्र लिखती है। इस पत्र के द्वारा उसके दृढ विचारो एव व्यक्तित्व की झलक मिलती है। 'निर्मला' (१९२३) मे निर्मला विवाहोपरान्त भी मशाराम से पढने की चेष्टा करती है। 'कर्मभूमि' मे सुखदा अर्थाभाव के कारण स्वय पढाने जाती है। जयशकर 'प्रसाद' की 'तितली' (१९३४) मधुबन के चले जाने पर स्कूल खोलकर बालिकाओ को पढाने का काम करती है।

इन उदाहरणो से यह सिद्ध है कि इस समय नारी शिक्षा का प्रचार हो चुका था किन्तु यह शिक्षा नितान्त भारतीय आदर्शो पर अवलम्बित हो, ऐसा आग्रह अभी विशेष रूप से किया जाता था। लोगो का विश्वास था कि पाश्चात्य ढग की शिक्षा भारतीय नारी के लिए घातक सिद्ध होगी। प० रामकिशोर मालवीय ने 'शैलकुमारी' (१९२४), मे कात्यायिनी का चरित्र गाँधीवादी आदर्श पर विचित्र किया गया है। पढ-लिख कर ऐसी आदर्श-नारी बनना चाहती है, जिससे लोग उच्च शिक्षा को दोष न दे सके। उस समय मध्य-वर्ग की पुरानी पीढी के मन मे उच्च शिक्षा के प्रति घृणा की भावना थी। कात्यायिनी कालेज मे पढने जाती है इसलिए उसकी सास उससे कटु व्यवहार करती है। लेकिन नई पीढी इन प्रचलित भावनाओ के आगे आत्म-समर्पण नही करती, यद्यपि प्रकट विद्रोह भी नही कर पाती। प्राचीन और नवीन का शान्तिपूर्ण समन्वय इस युग की विशेषता है। कात्यायिनी पढना बन्द नही करती, पर साथ ही सास को प्रसन्न रखने की चेष्टा करती है। उसकी प्रत्येक चेष्टा इस बात के प्रतिपादन के लिए है कि उच्च शिक्षा पाकर भी नारी को अपनी सेवा-भावना का त्याग नही करना चाहिये। कात्यायिनी के चरित्र के विपरीत शैलकुमारी के चरित्र का चित्रण किया गया है। वह उच्च शिक्षा पाकर अपने भारतीय आदर्शो को भूलकर पुरुष के साथ प्रतिद्वन्द्विता मे लग जाती है। शैलकुमारी के चरित्र मे लेखक ने अतिवाद से काम लिया है। पाश्चात्य नारी प्रगति के आन्दोलन की मूल-प्रेरणा को यहाँ के लेखक सही अर्थ मे ग्रहण नही कर सके। इस समय के प्राय सभी लेखकों के मन मे पाश्चात्य सस्कृति के प्रति एक वितृष्णा पाई जाती है जो सम्भवत अपने अतीत-गौरव की स्मृति-रक्षा की चेष्टा की प्रतिक्रिया है। यही कारण है कि जब भी नारी पर पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का प्रभाव चित्रित किया गया है तभी वह अस्वाभाविक और अतिरजित रूप ले उठा है।

इस युग के उपन्यासकारो ने जब कोई आदर्श उपस्थित किया है, सुधार की प्रेरणा से ही किया है। कात्यायिनी पढ लिखकर अपने जीवन से अन्य महिलाओ के सम्मुख एक आदर्श-नारी का उदाहरण उपस्थित करती है। इसके अतिरिक्त गाँधी जी से प्रभावित होकर वह नारी की उन्नति के लिए रचनात्मक कार्य भी करती है। वह बहिनो को 'नारी सभा' बनाने की सलाह देती हुई कहती है कि उस सभा के द्वारा 'आप यह प्रयत्न कर सकेंगी कि शहर की म्यूनिसिपैलिटी मे आपको पुरुषो के बराबर बोट देने और मैम्बर बनने का अधिकार मिल जाय तथा लडकियो को अनिवार्य शिक्षा देने का नियम बन जाय'।[1]

इस प्रकार इस समय का लेखक नारी शिक्षा के प्रति सजग था, यद्यपि उसका अब भी यह विचार था कि भारतीय नारी को गार्गी, लोपामुद्रा आदि विदुषियो के रास्ते पर चलना चाहिए। शैल को अपनी भूल सुधारनी पडती है। 'महिला सेवक समाज' नाम से वह एक सस्था बनाती है जिसमे वर्तमान शिक्षा प्रणाली को हटाकर प्राचीन भारतीय

१. प० रामकिशोर मालवीय : 'शैलकुमारी' (पृष्ठ १९७)।

आदर्शों के अनुरूप नारी-शिक्षा के प्रचार की बात मुख्य रूप से कही गई है। फलस्वरूप 'राष्ट्रीय महिला विश्वविद्यालय' की स्थापना होती है जिसका मुख्य उद्देश्य नारी की नैतिक और मानसिक शिक्षा देना, नारी को पूर्ण विदुषी, देश और समाज की सेविका, सदाचारिणी और पतिव्रता बनाना है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने भी 'लालिमा' (१९३४) मे सध्या द्वारा 'नारी मन्दिर' की स्थापना कराई है जिसमे मुख्य रूप से नारी-शिक्षा का ही कार्य होता है। इस प्रकार की शिक्षा सस्थाओ की स्थापना करके लेखक ने नारी शिक्षा के लिए एक आदर्श-मूलक समाधान देने की चेष्टा की है।

प्रेमचन्द-युग के अन्य उपन्यासकारो ने नारी-शिक्षा के सम्बन्ध मे बहुत कम कहा है। प० रामकिशोर मालवीय की 'शैलकुमारी' ही एक ऐसा उपन्यास है जिसमे नारी शिक्षा की समस्या को ही मूल कथावस्तु बनाया गया है। यद्यपि इस उपन्यास मे ऐसा चरित्र-चित्रण नही मिलता जो पाठक की अनुभूति को सहज ही ग्राह्य हो सके तथापि उपन्यासकार ने अपना जो दृष्टिकोण उपस्थित किया है, वह उस समय के समाज की मनोवृत्ति का ही प्रतिबिम्ब है। नारी-शिक्षा आवश्यक है, यह तो उस समय का समाज मानता था किन्तु शिक्षा की भारतीय प्रणाली ही उन्हे मान्य थी। पाश्चात्य और भारतीय आदर्शों की टकराहट और अन्त मे भारतीय आदर्शो की विजय इस युग के उपन्यासो की मुख्य विशेशता है। अन्य नारी-समस्याओ के समाधान की भाँति नारी-शिक्षा के प्रति भी लेखको का यही दृष्टिकोण परिलक्षित होता है।

पर्दा

नारी-शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ पर्दे की प्रथा का भी लोप होने लगा था। यद्यपि साधारणत मध्यवर्गीय नारी अभी घर मे घूँघट काढती थी। किन्तु लेखको पर सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलनो का प्रभाव इतना पड चुका था कि उनका ध्यान इस ओर जाना स्वाभाविक था। फिर भी आश्चर्य की बात है कि इस युग के किसी भी उपन्यास मे पर्दे की प्रथा को समस्या के रूप मे ग्रहण नही किया गया है। जहाँ कही भी उसका वर्णन आया है वह या तो एक आवश्यक किन्तु मिटती हुई रूढि के रूप मे अथवा उसके द्वारा उत्पन्न परिस्थिति के चित्रण के रूप मे। भगवतीप्रसाद वाजपेयी लिखित 'प्रेम निर्वाह मे लोचन-प्रसाद की पत्नी राधिकाकान्त को देखकर और तारिणी वकील साहब को देखकर घूघट कर लेती है। रमाशकर सक्सेना के 'अबला' नामक उपन्यास मे दिखाया गया है कि किस प्रकार बहू के अपने श्वसुर से न बोल सकने के कारण सास को उनको शिकायते करने का अवसर मिल जाता है। पर फिर भी यही कहना उचित होगा कि पर्दा-प्रथा का चित्रण बहुत कम हुआ है। इसका कारण सम्भवत यही है कि पुरानी पीढी इस प्रथा को नारी-सदाचार और शील का प्रतीक समझती थी, इसलिए लेखको ने उस पर सीधा प्रहार न कर उपेक्षा द्वारा उसको तुच्छ सिद्ध करना चाहा। इसका परिणाम भी शुभ हुआ; क्योकि शिक्षा

के विकास के साथ-साथ उसका लोप होने मे कोई देर न लगी। प्राचीन रूढिवादी पीढी के प्रतीक लाला प्रभुदयाल आर्य समाज के सिद्धान्तो को मानने वाले लाला दीनदयाल के सम्बन्ध मे जो कुछ कहते है उससे उस पीढी की मनोवृत्ति का अच्छा परिचय मिल जाता है 'लाला दीनदयाल ने इन लडकियो को आर्य पाठशाला मे पढाया है, वहाँ पर लडकियाँ निर्लज्ज बनाई जाती है। घर के काम-काज, रोटी करने को बुरा समझती है। किताब अखबार पढना, चाहे जिसके साथ बात करना, पर्दा न करना, ज़ेवर न पहनना अच्छा समझती है। उनकी शिक्षा बडी बुरी है। मर्दो की बराबरी करना, आप ही देखिये कोतवाल साहब! कौन से धर्म मे है। मुसलमानो के यहाँ पर्दा करना कितना जरूरी है। जिस औरत ने कपडे के पर्दे को ही नही रक्खा, वह औरो का पर्दा क्या रख सकती है।"[1]

किन्तु यह मनोवृत्ति उस युग की प्राचीन पीढी के साथ ही समाप्त हो जाती है। प्रेमचन्द-युग का लेखक ऊपरी आडम्बर और वास्तविक शील मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध नही मानता। वह कहता है कि कपडे का पर्दा झूठा है, बाह्य आडम्बर मात्र है, आँखो का पर्दा ही मुख्य है। आँखो मे लज्जा और शीलपूर्ण आचरण, ये ही गुण है, जो भारतीय नारी के लिए आदर्श-स्वरूप माने जा सकते है।

दहेज

जब से नारी की कल्पना सपत्ति के रूप मे की गई और उसका विवाह एक आवश्यक धार्मिक कृत्य माना गया, तभी से दहेज-प्रथा प्रारम्भ हुई। पिता की धन-सम्पत्ति पर पुत्री का कोई अधिकार न होने के कारण उसके धन का कुछ भाग उसको दहेज के रूप में दिया जाने लगा। धीरे-धीरे इस प्रथा ने इतना विकट रूप धारण कर लिया कि वर और कन्या से भी अधिक महत्व दहेज को दिया जाने लगा। इस कुप्रथा के जो दुष्परिणाम होते है उनमे चार मुख्य है (१) लडकी के माँ-बाप अपना घर-द्वार बेचकर भी दहेज देते है और वे जीवन-भर ऋण के बोझ से दबे रहते है, (२) दहेज न दे सकने पर उनको अपनी कन्या का विवाह बहुधा अवाछनीय पुरुष से अथवा किसी वृद्ध से करना पडता है, (३) कम दहेज लाने पर ससुराल वाले बहू के साथ दुर्व्यवहार करते है। चारो ओर से उसे जो व्यग्य सुनने पडते हैं और यत्रणा सहनी पडती है वे उसके जीवन को नारकीय बना देते है, (४) दहेज की व्यवस्था करने मे असमर्थ अपने अभिभावको की दुश्चिन्ता देखकर अथवा दहेज से असतुष्ट अपने ससुराल वालो के निष्ठुर व्यवहार से दुखी होकर कभी-कभी नारी को अपना जीवन समाप्त कर देने मे ही कल्याण दिखाई देता है। दहेज की कुप्रथा से उत्पन्न इन चारो दुष्परिणामो को इस युग के लेखको ने अपने उपन्यासो मे चित्रित किया है।

ऋषभचरण जैन ने 'मास्टर साहब' (१९२७) मे यह चित्रित किया है कि दहेज की कुप्रथा ने ही बासती को बाल-विधवा बनाया। इसी प्रकार अनूपलाल मण्डल लिखित

---

१. श्री रमाशंकर सक्सेना : 'अबला' (पृष्ठ ४६)

'निर्वासित' मे दरिद्र होने के कारण अन्नपूर्णा का विवाह साठ वर्ष के बुड्ढे श्रीपति के साथ होता है। बासती की भाँति अन्नपूर्णा भी विवाह के कुछ ही दिनो बाद विधवा हो जाती है। तेजरानी दीक्षित ने 'हृदय का काँटा' (१९२८) मे प्रदर्शित किया है कि वह प्रतिभाके मायके से कम दहेज आया है इसलिए उसके ससुराल वाले प्रतिभाके साथ अत्यधिक दुर्व्यवहार करते है। चारो ओर से, मुख्यत घर की स्त्रियो की ओर से ही, उसे जो व्यग्य और ताने सुनने पडते है वे उसके जीवन को नारकीय बना देते है। देवनारायण द्विवेदी ने भी 'दहेज' (१९३८), मे दहेज की कुप्रथा पर बलिदान होने वाले एक हिन्दू परिवार की कन्याओ की जीवन-गाथा बडे मर्मस्पर्शी ढग पर चित्रित की है।

प्रेमचन्द ने दहेज की समस्या 'सेवासदन' (१९१६) मे ही उठायी थी। सुमन के पिता उसके विवाह के लिए भगीरथ प्रयत्न करते है किन्तु आवश्यक रुपया इकट्ठा नही कर पाते। तब उन्हे झूठ की शरण जाना पडता है, फलस्वरूप वे जेल जाते है। तदुपरान्त दहेज न देने के कारण ही सुमन का विवाह गजाधर जैसे क्रोधी, अकर्मण्य एव अविवेकी पुरुष से होता है। अन्त मे अपनी प्रकृति के एकदम प्रतिकूल वातवारण मे कष्ट भोगते-भोगते एक दिन सुमन अपनी परिस्थितियो की विवशता के कारण वेश्या बन जाती है।

'निर्मला' (१९२८) मे प्रेमचन्द ने दहेज-प्रथा की समस्या को बडे गम्भीर रूप मे चित्रित किया है। उन्होने एक ओर प्रचलित दहेज-प्रथा पर कटु व्यग्य किया है तो दूसरी ओर उससे विकसित होने वाले भयकर दुष्परिणामो को भी शिक्षित समाज के सामने रखा है।

निर्मला के पिता उदयभानु की समाज मे प्रतिष्ठा थी। इसलिए निर्मला का विवाह-सम्बन्ध रईस घराने के बाबू भालचन्द के यहाँ पक्का हो गया था। किन्तु उदयभानु की मृत्यूपरान्त दहेज पाने की लालसा अपूर्ण रह जाने के भय से भालचद्र यह विवाह-सम्बन्ध तोड देते है। वे इस बात को समझने की चेष्टा नही करते कि इस प्रकार के दृष्टिकोण से कन्या और उसके अभिभावको की मानसिक प्रतिक्रिया क्या होगी। इस स्थिति मे अविवाहित कन्या अपने आपको चारो ओर के दुखद वातावरण का केन्द्र समझती है। वह यह सोचने के लिए बाध्य हो जाती है कि यदि वह न रहे तो सारी समस्या सुलझ जायेगी। इसीलिए बहुधा देखा जाता है कि ऐसी विकट परिस्थिति मे कन्या आत्म-हत्या तक कर डालती है। रमाशकर सक्सेना की 'अबला' मे शीला ऐसा ही मानसिक कष्ट सहती है। जब वह एक दिन कही बाहर चली जाती है तब घर के लोग सदेह करते है कि उसने आत्म-हत्या कर ली होगी, 'क्योकि उन दिनो लडकियो का आत्महत्या कर लेना एक साधारण-सी बात थी।[१]'

प्राचीन भारतीय सामाजिक परम्परा के अनुसार नारी का विवाह अनिवार्य माना गया है। उपयुक्त घर और वर मिले या न मिले, लड़की को किसी भी भाँति पार लगाने

---

१. श्री रमाशंकर सक्सेना : 'अबला' (पृष्ठ २३)

की भावना प्राचीन समाज मे पाई जाती है। अच्छा घर-वर साधारणत धन के ही सहारे मिलता है। लडकी के गुणो का कोई मूल्य नही, कोई महत्व नही। इस कुप्रथा से व्यथित होकर निर्मला की माँ कल्याणी का हृदय जैसे रुदन कर उठता है। कल्याणी कहती है. 'वह रूपवती है, गुणशीला है, चतुर है, कुलीन है तो हुआ करे, दहेज हो तो सारे दोष गुण है। प्राणी का कोई मूल्य नही, केवल दहेज का मूल्य है। कितनी विषम भाग्य-लीला है।'[1]

अन्त मे कल्याणी को विवश होकर पैंतीस वर्ष की उम्र के एक वकील के साथ निर्मला का सम्बन्ध पक्का करना पडता है, जो बवासीर के रोग और अपने स्थूल शरीर के कारण और भी वृद्ध लगता है। उसके मुँह पर झुर्रियाँ पडी हुई है, वह तीन बच्चो का पिता है और उसका बडा पुत्र मशाराम तो निर्मला की ही उम्र का है। कल्याणी का मन गवाही नही देता। यदि उसके पास पैसा होता तो वह यहाँ सम्बन्ध करने की सोचती तक नही, किन्तु सामाजिक और आर्थिक परवशता के कारण वह ऐसा करने को बाध्य होती है।

इस सामाजिक परवशता का दण्ड भोगना पडता है निर्मला को। दहेज न दे सकने के ही कारण उसका विवाह एक वृद्ध से होता है। फलस्वरूप उसे अनेक मानसिक यातनाए सहनी पडती है। उसके एक पुत्री होती है। वह अभी दुधमुँही बच्ची ही है कि निर्मला को उसके विवाह के लिए रुपयो की चिन्ता हो जाती है। घर बिक जाने, वकील साहब के चले जाने और गहने चोरी हो जाने पर भी उससे जैसे बनता है, दहेज के लिए रुपया इकट्ठा करती है। इस सचय-वृत्ति के कारण परिवार की शान्ति भग हो जाती है किन्तु वह उसकी भी परवाह नही करती। उसके हृदय के किसी कोने मे यह भय समाया हुआ है कि कही धनाभाव मे उसकी पुत्री की भी वैसी ही दुर्गति न हो जो उसे सहनी पडी है। तभी तो वह चिन्ताग्रस्त होकर कहती है 'जवानो की जिन्दगी का तो भरोसा ही नही, बूढो की जिन्दगी का क्या ठिकाना? बच्चो के विवाह के लिए वह किसके सामने हाथ फैलाती?[2]

'निर्मला' मे प्रेमचन्द ने दहेज को ही मुख्य समस्या मानकर उपन्यास की रचना की है। इस समस्या से ही नाना प्रकार की सामाजिक एव मानसिक विषमताए उत्पन्न होती है। निर्मला की छोटी बहिन कृष्णा के विवाह के अवसर पर डा० सिन्हा दहेज लिये बिना ही अपने छोटे भाई से उसका विवाह करने को प्रस्तुत हो जाते है तो सारी समस्या वही हल हो जाती है। प्रेमचन्द ने इस समस्या के समाधान के रूप मे सुधा के मुख से कहलवाया भी है कि 'यह वर का धर्म है कि यदि वह स्वार्थो के हाथो बिल्कुल बिक नही गया है, तो अपने आत्मबल का परिचय दे।'[3] किन्तु इस स्थान पर डा० सिन्हा की दयालुता का कारण

---

१. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ ३१)
२. वही (पृष्ठ १६३)
३. वही (पृष्ठ १२१)

व्यक्तिगत है। डा० सिन्हा मे यह परिवर्तन आत्मग्लानि के कारण हुआ है। एक व्यक्ति के सुधार से समस्या का वास्तविक हल नही होता। किसी भी कुप्रथा से मुक्ति पाने के लिए समस्त समाज की मनोवृत्ति को बदलना आवश्यक है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'प्रेम निर्वाह' (१९३४) मे दहेज-प्रथा को ही जाति के सर्वनाश का कारण बताया है। उस समय अनेक सभा-सोसाइटी दहेज के विरोध मे प्रस्ताव तो पास करती थी किन्तु सक्रिय रूप मे एक भी ऐसा कार्य नही करती थी जिससे एक भी बालिका का उद्धार हो सके, अथवा बिना दहेज दिये उसे उपयुक्त घर और वर मिल सके। यहाँ तक स्वय समाज-सुधारक भी दहेज लेने से न चूकते थे। मल्लिका जैसी सुन्दर और निपुण लडकी के विवाह के अवसर पर जब कोई भी व्यक्ति दहेज मे तीन हजार से कम रुपये लेने को तैयार नही होता तो सरोजिनी अपनी मनोव्यथा व्यक्त करती है 'इस जाति का सर्वनाश होने को और कितने दिन बाकी है, यह भी तो ठीक तरह से मालूम नही होता। जिसका नाश होने को ही है, उसे बचा कौन सकता है। सो, जब उसे नष्ट होना ही है, तो जितनी जल्दी वह नष्ट हो जाये, अच्छा। आज मै उनसे कहूँगी। कहूँगी नही, झगडा करूँगी। क्या उनके दोस्तो मे कोई भी ऐसा नही जो इस फूलो के गुलदस्ते को प्रेम के साथ अपनाने को तैयार हो सके? क्या भारत मे कोई भी ऐसा सहृदय ब्राह्मण-कुमार रह ही नही गया, जो निस्वार्थ भाव से एक बालिका को ग्रहण करने के लिए तत्पर हो सके? दहेज की कुप्रथा पर आँसू बहाने वाले वे पगडधारी महज्जन क्या मर गये, जो महासभा की वार्षिक बैठको मे प्रति वर्ष अपनी प्रतिज्ञाओ को प्रस्तावो द्वारा दोहराया करते है?[१]

यदि वर-कन्या मे प्रेम का सम्बन्ध स्थापित हो जाये तो दहेज की समस्या का समाधान हो सकता है, क्योकि ये विवाह-सम्बन्ध प्रेम पर आधारित होगे, धन के लालच पर नही। वृन्दावनलाल वर्मा ने 'लगन' (१९२८) नामक उपन्यास मे दहेज की समस्या को उठाकर इस समाधान की ओर सकेत किया है। इस उपन्यास मे दहेज-प्रथा के प्रति विद्रोह का सदेश है। प्रारम्भ में रामा के पिता बादल चौधरी ने अपनी पुत्री रामा के दहेज मे सौ भैंसे देने का वचन देवसिह के पिता शिबू माते को दिया था, किन्तु विवाह के अवसर पर वह अपने वचन का पालन नही करता। यह देखकर शिबू अत्यन्त क्रोधित होकर बारात लौटा ले जाता है और देवसिह का विवाह दूसरी जगह कर देने को सोचता है। किन्तु रामा और देवसिह के प्रेम के सम्मुख सबको झुक जाना पडता है। दहेज की समस्या का यह समाधान सामाजिक सम्बन्धो को नये स्तर पर लाने की चेष्टा करना है, और इसीलिए अपने युग के लिए क्रान्तिकारी सदेश बन जाता है।

---

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'प्रेम निर्वाह' (पृष्ठ ७८)

अनमेल विवाह

बाल-विवाह और दहेज-प्रथा का ही प्रतिफल है अनमेल विवाह। हिन्दू समाज मे कन्या का विवाह धार्मिक दृष्टि से अनिवार्य माना गया है। इसीलिए माँ-बाप किसी-न-किसी प्रकार अपनी लडकी को विवाहित देखना चाहते है। 'हिन्दू समाज मे जन्म होने के अभिशाप की मुक्ति है विवाह।" यही भावना उस समय के समाज मे काम कर रही थी और आज भी यह भावना थोडी बहुत मात्रा मे वर्तमान है। इसीलिए समाज मे अनमेल विवाह की घटना साधारण बात है। हिन्दी उपन्यासो मे अनमोल विवाह के कई रूपो का चित्रण मिलता है (१) कही सात से दस वर्ष की बालिका का विवाह किसी बूढे से होता है तो (२) कही वयस्क कन्या का विवाह निरे बालक से हो जाता है, (३) कही-कही दाम्पत्य जीवन मे स्वभावगत विभिन्नता को भी अनमेल विवाह की कोटि मे माना गया है। सभी प्रकार के अनमेल विवाहो का परिणाम दुखद होता है। किन्तु इस युग के उपन्यासकारो की दृष्टि मूलत अनमेल-विवाह के प्रथम रूप पर ही केन्द्रित है। उसी के उदाहरण प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासो मे प्रचुर मात्रा मे मिलते है।' किन्तु चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने 'मगल प्रभात' (१९२६) मे अनमेल विवाह का दूसरा रूप भी लिया है जब सोलह वर्ष की राधा का विवाह बारह वर्षीय रोगी क्षीणकाय बालक के साथ होता है। पति की उम्र इतनी कम है कि उसका व्यक्तित्व अविकसित है। वह पति के कर्तव्य से एकदम अनभिज्ञ है, इसलिए वह माँ-बाप का कहना मानकर अपनी पत्नी की ओर तनिक भी ध्यान नही देता। पति की उपेक्षा और सास-ससुर के अत्याचार राधा को कुमार्ग पर चलने के लिए बाध्य कर देते है और वह प्रेमतीर्थ के साथ चली जाती है। अन्त मे उसे वेश्यावृत्ति मे शरण मिलती है। वेश्यावृत्ति स्वीकार करने मे राधा का इतना दोष नही जितना समाज की दुर्व्यवस्था एव अनमेल विवाह का है।

इस उपन्यास मे राधा की सास का भी चित्रण है। वह नवयौवना है तथा उसका विवाह राधा के बूढे श्वसुर से हुआ है। सास-बहू दोनो समवयस्क है। दोनो अपने अनमेल विवाह से दुखी है, अपनी स्थिति से असतुष्ट है। परिवार के जीवन को दुख और यातनाओ का बवण्डर बना देने मे दोनो के अनमेल विवाह उत्तरदायी है।

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने अपने दूसरे उपन्यास 'मनोरमा' (१९२४) मे भी अनमेल विवाह की समस्या को लिया है। अठारह वर्ष की मनोरमा का विवाह चौसठ वर्ष के निर्बल वृद्ध से कर दिया जाता है। वह बूढा और जर्जर है, फिर भी अपने-आपको पत्नी का परमेश्वर मानने के अधिकार से वचित नही रहना चाहता। वह मनोरमा पर अत्याचार करने मे तनिक भी नही हिचकिचाता, यहाँ तक कि उसे पीट भी देता है। ऐसी स्थिति मे नारी विधवा न होकर भी विधवा से अधिक दुखी हो जाती है। लेखक ने मनोरमा की तुलना उस बाल-विधवा शान्ता से की है जो सात वर्ष की उम्र मे ही विधवा बन चुकी थी। दोनो

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ २२०)

दुखिया थी, 'एक के सिन्दूर की शोभा वैधव्य के अधकार मे विलीन हो गई थी, दूसरी का सिन्दूर अग्नि की ज्वाला बनकर उसे तिल-तिल करके जला रहा था।"[1]

भगवतीप्रसाद वाजपेयी के उपन्यास 'अनाथ पत्नी' (१९२८), प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' के 'तलाक' (१९३२) और श्रीनाथसिह के 'उलझन' (१९३४) मे भी अनमेल विवाह की समस्या को उठाकर उससे होने वाले दुष्परिणामो का विशद चित्रण किया गया है।

'निर्मला' (१९२८) मे अनमेल विवाह के दुष्परिणामो को प्रेमचन्द ने अन्य उपन्यासकारो से अधिक यथार्थ, मार्मिक और मनोवैज्ञानिक ढग से चित्रित किया है। प्रेमचन्द ने यह नही किया है कि विवाह के छ महीने बाद ही निर्मला को विधवा बना दिया हो जैसा कि उस समय के अन्य उपन्यासकारो ने किया है। इसके विपरीत प्रेमचन्द ने उस मुख्य यथार्थ समस्या को उठाया है जिसका सामना नारी को सधवा रहते हुए करना पडता है। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने 'मनोरमा' मे भी इस प्रकार का चित्रण किया हे किन्तु मनोरमा के पति को अधिक अत्याचारी के रूप मे चित्रित करके वे यथार्थ से अयथार्थ की ओर चले गये है। हो सकता है इस प्रकार के भी दो-चार व्यक्ति समाज मे मिल जाये किन्तु यह सामाजिक सत्य बनकर सामने नही आ सका है। इसके विपरीत समाज मे देखा तो यह जाता है कि दूसरी शादी करने के बाद पति अपनी दूसरी पत्नी का पहली पत्नी से भी अधिक ध्यान रखता है। प्रेमचन्द का ध्यान इसी ओर हे। उन्ही ने सब से पहले अनमेल-विवाह से उत्पन्न होने वाली पति-पत्नी की मानसिक विकृतियो का सच्चा चित्रण 'निर्मला' मे किया है। इसका मुख्य कारण यही है कि उनकी दृष्टि स्वप्नशील या अति यथार्थवादी न होकर वस्तुनिष्ठ और व्यापक थी।

सामाजिक दायित्व के अनुसार पत्नी-रूप मे निर्मला का कर्तव्य था कि वह पति को हर प्रकार प्रसन्न रखे। इस कर्तव्य का उसे स्वय ज्ञान है और तदनुसार ऐसा करने का वह भरसक प्रयत्न भी करती है, किन्तु उम्र की असमानता के कारण जीवन मे दाम्पत्य-प्रेम का अभाव रहता है। कम उम्र वाला व्यक्ति अधिक उम्र वाले व्यक्ति का सम्मान कर सकता है, प्रेम नही। यही बात निर्मला के जीवन मे भी घटित होती है। लेखक स्वय ही निर्मला के मनोभावो का चित्रण करता है 'लेकिन निर्मला को न जाने क्यो तोताराम के पास बैठने और हँसने-बोलने मे सकोच होता था। इसका कदाचित् यह कारण था कि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर, देह चुराकर निकलती थी, अब उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था। वह उसे प्रेम की वस्तु नही, सम्मान की वस्तु समझती थी। उनसे भागती फिरती, उनको देखते ही उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी।'[2]

---

१. चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' : 'मनोरमा' (पृष्ठ ११)
२. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ ३५)।

'निर्मला' की सुमन और निर्मला एक ही मध्यवर्गीय समाज से आती है। दोनो ही अपने वैवाहिक जीवन से दुखी है किन्तु उनकी व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताए भिन्न है, इसीलिए दोनो के परिणाम दो दिशाओ मे दृष्टिगोचर होते है। बचपन से ही निर्मला का चरित्र गाम्भीर्य लिये हुए है। उसमे धैर्य है और है कठिनाइयो को सहन करने की असीम शक्ति। निर्मला समाज द्वारा शासित वह दुर्बल नारी है जो अपनी इच्छाओ को समाज की प्रचलित रूढिवादिता मे ढालने की भरसक चेष्टा करती है किन्तु परिस्थितियो के वैषम्य के कारण ऐसा नही कर पाती। उसमे साहस का अभाव है इसलिए वह किसी भी परिस्थिति से विद्रोह नही करती। ऐसी परिस्थिति मे विकसित होने वाले मध्यवर्गीय नारी के मानसिक वैषम्य और उसकी दुर्बलता का बडा सशक्त चित्रण प्रेमचन्द ने किया है।

निर्मला के तन मे यौवन था। यौवनोचित सभी उपकरणो को वह ग्रहण कर सकती थी। उसे बनाव-शृगार भी बुरा नही लगता था। किन्तु उसका मन तोताराम जैसे पति को उसका भोक्ता नही मानता था। यद्यपि वकील साहब दम्पति-विज्ञान मे कुशल थे। उम्र की असमानता के कारण उन्हे इस बात का भय भी सदैव सताया करता था कि निर्मला जैसी सुन्दर युवती मुह पर झुर्रियाँ पडे बुड्ढे को प्रेम नही कर सकती। इसलिए वे अपने प्रेम-प्रदर्शन मे थोडे अतिवाद से काम लेते थे 'लेकिन निर्मला को इन बातो से घृणा होती थी। वही बाते जिन्हे किसी युवक के मुँह से सुनकर उसका हृदय प्रेम से उन्मत्त हो जाता, वकील साहब के मुह से निकलकर उसके हृदय पर शर के समान आघात करती थी। उनमे रस न था, हृदय न था, केवल बनावट थी, धोखा था और था शुष्क नीरस शब्दाडम्बर।'[1]

उम्र की असमानता पति-पत्नी के सम्बन्धो मे कितना मानसिक-वैषम्य स्थापित कर देती है यह उपर्युक्त उद्धरण से जाना जा सकता है। अवस्था का भेद मिटाना उसके वश की बात न थी। खूसट पति निर्मला को रिझाने के लिए शृगार की सामग्रियो का सहारा लेते थे, काम-विज्ञान की पुस्तके पढते, इत्र-फुलेल लगाते थे एव अपने बालो को खिजाब से रँगते थे। निर्मला भी पति को प्रसन्न करने के लिए शृगार करती थी तो खण्डर रूपी पति के सामने रत्न-जटित चित्रशाला जैसी लगती थी। और यदि वह शृगार न करती तो पति यह समझते थे कि उनके बुढापे से दुखी होकर उसने वैराग्य ले लिया है। दोनो ही परिस्थितियो मे अपने-आपको बेमेल पाकर निर्मला असहनीय मानसिक यातनाए सहती है। जीवन के इस कठोर सत्य को वह इन शब्दो मे व्यक्त करती है 'न वह जवान हो सकते है, न मै बुढिया हो सकती हूँ। जवान बनने के लिए वह न जाने कितने भस्म और रस खाते रहते है, मै बुढिया बनने के लिए घी, दूध सभी छोड बैठी हूँ। लेकिन न उन्हे पौष्टिक पदार्थो से कुछ लाभ होता है, न मुझे उपवासो से।'[1]

निर्मला अपना बनाव-शृगार पति के प्रेमाधिक्य के वशीभूत होकर नही करती थी, उसके मूल मे दया-भाव ही था। यह अनचाहा शृगार उसकी अतृप्त कामनाओ को और

१. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ ३५)

भी तीव्र कर देता था। 'बाँका सवार बूढे लद्दू टट्टू पर सवार होना कब पसन्द करेगा चाहे उसे पैदल ही क्यो न चलना पडे। निर्मला की दशा उसी बाँके सवार की-सी थी। वह सवार होकर उडना चाहती थी, उस उल्लासमयी विद्युत गति का आनन्द उठाना चाहती थी, टट्टू के हिनहिनाने और कनौतिया खडी करने से क्या आशा होती?'[1]

निर्मला का पति यदि समवयस्क होता तो दोनो का मानसिक स्तर, दोनो का भावनाए, उनका उल्लास समान रूप से होता। किन्तु यहाँ पति-पत्नी के मानसिक और शारीरिक विकास मे बहुत अन्तर है, प्रेम के दान-प्रतिदान के लिए यहाँ स्थान नही है। वह प्रेम से शून्य, कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर सुगृहिणी बन सकती थी। उसमें उसको सतोष भी होता था। वह अपने पति को घर के मालिक के रूप मे देखती थी। 'गृहस्थी के सम्बन्ध मे उनसे खूब बाते करती। इन्ही बातो के लायक वह उनको समझती थी। ज्यो ही विनोद की बात उनके मुँह से निकल जाती उसका मुख मलीन हो जाता था।'[2]

नारी को यदि पति का प्रेम न मिले तो प्रणय की ओर से निराश तृषित जीवन घर की व्यवस्था और बच्चो के लालन-पालन मे लग जाता है। बच्चो के साथ हँसने-बोलने मे उसकी मातृत्व भावना तृप्त होती थी। किन्तु सौतेली माँ होने के कारण उसे बच्चो से भी सीधा सरल स्वाभाविक स्नेह प्राप्त नही होता।

सब तरफ से निराश होकर उसका झुकाव स्वाभाविक रूप मे अपने हमसिन मशाराम की ओर होता है। मशाराम उसका सौतेला पुत्र है किन्तु उम्र को समानता निर्मला के असतोषी जीवन को बरबस खीचती है। 'मशाराम से हँसने-बोलने मे उसकी विलासिनी कल्पना उत्तेजित होती थी और तृप्त भी। उससे बाते करते उसे एक अपार सुख का अनुभव होता था जिसे वह शब्दो मे प्रकट नही कर सकती थी। वासना की उसके मन मे छाया भी न थी। वह स्वप्न मे भी मशाराम से कलुषित प्रेम करने को बात न सोच सकती थी। प्रत्येक प्राणी को अपने हमजोलियो के साथ हँसने-बोलने की जो एक नैसर्गिक तृष्णा होती है, उसी की तृप्ति का वह अज्ञात साधन था। अब वह अतृप्त तृष्णा निर्मला के हृदय मे दीपक की भाँति जलने लगी, रह-रह कर उसका मन किसी अज्ञात वेदना से विकल हो जाता।[3]

यह सत्य है कि निर्मला के चेतन मन मे मशाराम के प्रति कुवासना की छाया भी न थी। निर्मला इतनी कर्तव्य-परायण नारी थी कि तृषित जीवन लेकर भी वह किसी अन्य पुरुष से, और विशेषकर मशाराम से, जो कि उसका पुत्र लगता था, प्रेम करने की बात सोच भी न सकती थी। इसलिए चेतनावस्था मे इस प्रकार के प्रेम को स्थान नही दिया जा सकता। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनमेल-विवाह का सबसे बडा दुष्परिणाम

---

१. प्रेमचन्द : निर्मला' (पृष्ठ ३६)
२. वही : (पृष्ठ ३६)
३. वही : (पृष्ठ ६०)

यही होता है कि व्यक्ति की वासनाओ की तृप्ति स्वाभाविक रूप मे न होने के कारण उसका मन चाहे जिस ओर झुक जाता है। कर्तव्य का ध्यान छूट जाने और सयम का बाँध टूट जाने पर कभी-कभी बडा अनर्थ भी होता है। प्रेमचन्द ने 'निर्मला' मे अपनी कहानी 'नया विवाह' की भाँति किसी युवक को बीच मे डालकर नारी के सौन्दर्य और यौवन को सार्थक करने की चेष्टा नही की है। केवल मशाराम के माध्यम से इस ओर सकेत भर किया है। उन्होने मशाराम और निर्मला को लेकर जो चर्चा की है वह दूसरो के अभियोग के ही रूप मे की है। स्वय मशाराम और निर्मला की ओर से ऐसी कोई चेष्टा नही है। प्रेमचन्द आदर्शवादी थे, इसलिए उन्होने इन दोनो का चित्रण आदर्श के रूप मे किया है। ऐसा करने मे उनकी दृष्टि व्यापक थी और लक्ष्य गहरा था। वृद्ध तोताराम समाज मे प्रचलित इस प्रकार के अनुचित सम्बन्धो से परिचित था। इसलिए निर्मला और मशाराम को लेकर उसके मन मे एक शका घर कर लेती है। उन दोनो का साथ उठना-बैठना उसे अच्छा नही लगता। अन्त मे वह मशाराम के निवास का प्रबन्ध विद्यालय के छात्रावास मे कर देता है।

जिस दिन निर्मला को तोताराम की इस शकालु प्रवृत्ति का परिचय मिलता है, वह अपमान और ग्लानि से क्षुब्ध हो उठती है। घर के सब सदस्य यहाँ तक कि स्वय मशाराम भी यही सोचता है कि उसको छात्रावास मे भेजने के पीछे निर्मला का ही हाथ है। बेचारी निर्मला ऐसे धर्म-सकट मे है कि कुछ कह भी नही सकती, उसके कहने से परिस्थिति की गम्भीरता बढ़ने की ही अधिक सभावना है।

निर्मला जिस व्यक्ति को आराम पहुँचाना चाहती थी, जिससे मिलकर वह हृदय के दु ख को थोडी देर के लिए भूल सकती थी, समाज उसको उसी से दूर रहने के लिए बाध्य करता है। और जिस शकाशील वृद्ध पति को वह घृणा करती थी उसे प्रेम करने का आदेश देता है। पहले निर्मला को तोताराम पर दया आती थी किन्तु तोताराम की शकालु प्रवृत्ति उसको घृणा का पात्र बना देती है। निर्मला उन्हे मन ही मन घृणा करने लगती है फिर भी सतीत्व-रक्षा और कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर वह पति का सदेह दूर करने के लिए प्राणो की बाजी लगा देती है। किन्तु समाज उसको कोई मूल्य नही देता। ऐसी स्थिति मे निर्मला के जीवन मे जो वैषम्य आ जाता है उसको नारी-मन के पारखी प्रेमचन्द ने बडे सशक्त रूप से व्यक्त किया है. 'कर्तव्य की वेदी पर उसने अपना जीवन और अपनी सारी कामनाए होम कर दी थी। हृदय रोता रहता था, पर मुख पर हँसी का रग भरना पडता था, जिसका मुँह देखने को जी न चाहता था, उसके सामने हँस-हँस कर बाते करनी पडती थी। जिस देह का स्पर्श उसे सर्प के शीतल स्पर्श के समान लगता था, उससे आलिंगित होकर उसे जितनी घृणा, जितनी मर्मवेदना होती थी, उसे कौन जान सकता है। उस समय उसकी यही इच्छा होती थी कि धरती फट जाये और मै उसमे समा जाऊँ।"[१]

१. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ ७०)

मशाराम का मानसिक कष्ट, पति का सदेह, ननद की उपेक्षा और अपने मौन रुदन के कारण निर्मला विक्षिप्त-सी हो जाती है। पुरुष की अर्धांगिनी और घर की लक्ष्मी समझने वाली सामाजिक व्यवस्था ने निर्मला को घर के अन्दर घोट कर मार डाला और अन्त मे वह सिसकती-सिसकती प्राण त्याग देती है। किन्तु मरने के पहले वह अपना सारा अनुभव बटोर कर अपनी ननद को सावधान कर जाती है 'बच्ची को आपकी गोद मे छोडे जाती हूँ। अगर जीती-जागती बचे तो किसी अच्छे कुल मे विवाह कर दीजियेगा। मै तो इसके लिए जीवन मे कुछ न कर सकी, केवल जन्म भर देने की अपराधिनी हूँ। चाहे क्वाँरी रखियेगा, चाहे विष देकर मार डालियेगा, पर कुपात्र के गले न मढियेगा, इतनी ही आपसे मेरी विनय है।"[1]

इस प्रकार वृद्ध दोहाजू के साथ योवना नारी का विवाह होने पर चारो ओर से उसके ऊपर अत्याचार होने लगते है। उसकी परिस्थितियाँ अत्यन्त विषम हो उठती है। एक तो वह उम्र की असमानता के कारण पति को प्रेम नही कर सकती, उसका जीवन असतुष्ट रहता है, कामवासना अतृप्त रहती है। दूसरे, पति अपनी हीन भावना के कारण विभिन्न उपकरणो द्वारा पत्नी को प्रसन्न करना चाहता है जिसके कारण आसपास के लोग उसे पत्नी के हाथ का खिलोना समझकर और अधिक आलोचना करने लगते है। तीसरे, पहले विवाह की सतानो को समाज नयी सौतेली माँ के प्रति इस प्रकार की कुशिक्षा देता है कि वे उसे माँ नही, शत्रु मान बैठते है। नयी माँ का स्वाभाविक स्नेह भी शका की दृष्टि से देखा जाता है। अत समाज का पूर्वाग्रह सौतेला माँ और बच्चो के सम्बन्धो मे अस्वाभाविकता का समावेश कर देता है। और चौथे, वृद्ध पति की शकालु प्रवृत्ति के कारण पत्नी को अनेक प्रकार की मानसिक यातनाए सहनी पडती है। पीडित निर्मला का चरित्र इन सभी सामाजिक विडम्बनाओ से निर्मित है। यह करुण कहानी निर्मला की ही नही, समूची मध्यवर्गीय नारी की रुदन भरी गाथा है।

जो व्यक्ति वृद्धावस्था मे विवाह करते है उनके मन मे दो मे से कोई एक भावना होती है। कुछ लोग तो अपनी शारीरिक पिपासा शान्त करना चाहते है और कुछ लोग आत्मिक पिपासा। यदि 'निर्मला' मे पहले प्रकार के व्यक्ति का चित्रण है, तो 'गबन' (१९३१) मे रतन के पति वकील साहब का जो चित्रण हुआ है वह दूसरी श्रेणी मे आता है। प्रथम प्रकार के पुरुष अपनी पत्नी पर विशेष निगरानी रखते है, जरा-जरा सी बात उनके सदेह का कारण बन जाती है। जैसे 'निर्मला' उपन्यास मे तोताराम का चरित्र है। दूसरे प्रकार के पति अपनी पत्नी पर वैसी निगरानी नही रखते। वह क्या करती है, कहाँ जाती है, इससे उन्हे अधिक मतलब नही। वह तो हर प्रकार से उसे प्रसन्न रखना चाहते है। उसके साहचर्य की कामना करते है किन्तु साहचर्य के लिए बाध्य नही करते। वकील साहब

---

१. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ १७४)

ऐसे ही थे। उम्र की असमानता के कारण रतन भी वकील साहब को प्रेम नही कर सकी। उनका स्नेह पिता-पुत्री का-सा था।[१] एक साथ रहकर भी उन दोनो की दुनिया अलग थी।

इन सब कारणो के अतिरिक्त कभी-कभी व्यक्तिगत कारण भी ऐसे होते है जहाँ वैवाहिक जीवन मे विपन्नता आ घेरती है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने अभिजात-वर्गीय नारी का चित्रण किया है। 'विकास' (१९३९) मे उन्होने अनमेल विवाह के दूसरे रूप को लिया है। मालती का विवाह राजकुमार कामेश्वर से होता है, जो नपुसक है। अपनी अयोग्यता जानकर भी वह विवाह करता है। यह पुरुष की अहम्मन्यता ही है जिसको मालती कभी भी क्षमा नही कर पाती।

इस युग के उपन्यासो मे अनमेल विवाह के और भी कई रूप मिलते है। प० राम-किशोर मालवीय ने 'शैलकुमारी' मे एक प्रसिद्ध विद्वान नारायण का विवाह रमदेई जैसी मूर्खा स्त्री से कराया है जिसके कारण दोनो का जीवन बर्बाद होता है। यहाँ लेखक का मन्तव्य यही है कि विवाह का निश्चय करने के पूर्व कन्या और वर दोनो के स्वभाव और रुचि मे मेल के तत्व होना आवश्यक है। और इसके लिए यह उचित है कि विवाह के पूर्व परिचय की छूट दी जाय। प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' मे भी लेखक ने विवाह के पूर्व परिचय को महत्व दिया है। स्वभाव न मिलने के ही कारण इस उपन्यास मे निर्मला और कुमुदिनी का दाम्पत्य जीवन कटु बन जाता है। लेखक ने चपला द्वारा वैवाहिक जीवन मे अशान्ति के कारण बताकर सुखमय दाम्पत्य जीवन के लिए एक समाधान भी प्रस्तुत किया है। समाज-सेविका के रूप मे चपला कहती है 'यह जरूरी है कि हम उसकी जड नाश करे। यह नही कि बीच मे दवा देकर उस रोग को शान्त करने का उपाय करे। इस अशान्ति की जड है अनमेल विवाह। इसको रोकना चाहिये। स्त्रियो को शिक्षा दी जाय और उनको भी यह अधिकार हो कि वे अपनी सम्मति या असम्मति निस्सकोच प्रकट कर सके। हर एक लड़के-लड़की का जैसा भी चरित्र हो वहाँ लिखा रहना चाहिये, जहाँ उसने शिक्षा पाई है। लडका और लडकी दोनो एक दूसरे का चरित्र-इतिहास देख जाये। अगर दोनो की सम्मति हो, तो विवाह किया जाय, नही तो नही।'[२]

इस प्रकार प्रेमचन्द-युग के उपन्यास हमारी सामाजिक समस्याओ को ही हमारे सामने उपस्थित नही करते बल्कि उनके बदलते हुए स्वरूप को और प्रगति के लिए व्यक्ति की अकुलाहट को भी व्यक्त करते है। साथ ही समस्या के समाधान को ओर भी सकेत करने का प्रयास करते है।

विधवा-जीवन की समस्या

प्रेमचन्द-युग मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण समस्या थी विधवा-जीवन की समस्या, जो

---

१. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ १२३)

२. प्रतापनारायण श्रीवास्तव 'विदा' (पृष्ठ १९४)

मध्यवर्गीय समाज मे आज भी कुछ अशो मे वैसी ही बनी हुई है। बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की पत्र-पत्रिकाओ को देखने से ज्ञात होता है कि इन दिनो की रचनाओ मे विधवा-जीवन के अभाव और अत्याचारो को प्रमुख स्थान मिलता था। विधवा-जीवन के प्रश्न को लेकर उस समय अनेक सुधार-सस्थाओ का भी जन्म हुआ था। एक ओर आर्यसमाज विधवा-विवाह की स्वीकृति के लिए जबर्दस्त आन्दोलन कर रहा था, दूसरी ओर सनातन-धर्म की दुहाई देकर पुराण-पथी-समुदाय उसके विरोध मे अपनी सारी शक्ति खर्च कर रहे थे। इन दो मतो के खण्डन-मण्डन ने, इन दो विरोधी विचार-धाराओ की टकराहट ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया था कि उस समय के लगभग सभी प्रबुद्ध उपन्यासकारो ने विधवा-जीवन की समस्या को अपने उपन्यासो मे चित्रित किया है। प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यास 'प्रतिज्ञा' (१९०६) मे ही अमृतराय विधवा-विवाह के समर्थक के रूप मे चित्रित हुआ है। इसमे कहा गया कि जो लोग विधुर है, कम-से-कम उनका तो यह निश्चित कर्तव्य है कि यदि वे पुनर्विवाह के इच्छुक हो तो विधवा से ही विवाह करे। दूसरी ओर प्रेमचन्द ने बद्रीप्रसाद जैसे पुराण पथी व्यक्ति का भी चित्रण किया हे जो विधवा-विवाह को घृणित और हिन्दुत्व के विनाश का चिह्न समझता हे तथा समाज-सुधारको के पथ का रोड़ा बन कर सामने आता है।

इस युग के उपन्यासकारो मे विधवा की समस्या के प्रति तीन मुख्य दृष्टिकोण मिलते हैं

(१) यदि वह अपने जीवन को सेवा-भाव और सात्विक वृत्ति से निभा सके तो हिन्दू विधवा का जीवन स्वय एक बहुत बड़ी तपस्या है। उसका सात्विक जीवन स्वय ही निर्गुण उपासना के समान फलदायक है।

(२) यदि विधवा सयमित जीवन नही बिता सकती तो समाज से उसे पुनर्विवाह करने की अनुमति मिलनी चाहिये।

(३) यदि इन दोनो मे से एक भी विकल्प उसे न मिलेगा तो विधवा का जीवन पतन की ओर जाने को बाध्य होगा।

इनमे से पहले दो दृष्टिकोणों का प्रतिपादन समस्या के समाधान एव समाज-सुधार की दृष्टि से किया गया है। और तीसरे दृष्टिकोण का विस्तृत विवेचन इस युग के उपन्यासो मे यथार्थ की भूमि पर हुआ है। इन उपन्यासो मे चित्रित विधवा-जीवन के आधार पर विधवा नारी के नारकीय जीवन और अत मे उसके पतन के मुख्यत चार कारण दिखाई देते है:

(१) विधवा-जीवन का आर्थिक अभाव।

(२) प्रचलित सामाजिक परिपाटी द्वारा विधवा-जीवन पर आरोपित नाना प्रकार के निषेध, विधि-विधान, प्रतिबध और उनसे उत्पन्न अत्याचार। ये बाते विधवा नारी को मानसिक विकृति का शिकार बना देती है।

(३) पुरुष समाज की काम-लोलुपता।

(४) नारी-मन की दुर्बलता।

पति की मृत्यु होते ही नारी को आर्थिक सकट का सामना करना पडता है। यह आर्थिक सकट मध्यवर्गीय विधवा नारी के सम्मुख और भी विकट रूप मे आता है। उच्च वर्ग के पास तो धन का सहारा होता है और निम्नवर्गीय नारी मेहनत-मजदूरी करके अपना काम चला लेती है। पर मध्यवर्गीय विधवा के पास न तो धन होता है, और न घर के बाहर उसका काम करना उचित माना जाता है जिससे उसका जीवन दु ख और अभाव की कहानी बन जाता है।

(१) अर्थाभाव

मध्यवर्गीय नारी के आर्थिक सकट को उषादेवी मित्रा ने 'पिया' (१९३७) नामक उपन्यास की नीलिमा के चरित्र मे भली प्रकार चित्रित किया है। बाल-विधवा नीलिमा का मन अपनी परिस्थितियो से बराबर विद्रोह करता है। वह भद्र ब्राह्मण-परिवार मे पैदा हुई है, इसलिए गरीबी की दशा मे भी उसे न तो कही काम करने दिया जाता है और न उसके पहनने-ओढने का कोई प्रबन्ध होता है। मध्यवर्गीय समाज अन्दर से खोखला होने पर भी ऊपरी टीमटाम बनाये रखना चाहता है। नीलिमा अपनी माँ के सम्मुख इन थोथी मान्यताओ का भण्डाफोड करती हुई कहती है . 'भद्र घर के सम्मान ने ही तो हमे बेकाम बना दिया है। यदि मै नाई, धीवर, चमार, मेहतर के घर पैदा हुई होती तो कही मजूरी कर पेट भर भोजन तो कर लेती। कोई बुरा कहने को नही होता। मजूरी करने मे उन्हे लज्जा-शर्म नही है और न वश-मर्यादा के लिए अनाहार रहना पडता है। यहाँ तो हाथ पैर रहते हुए भी उसे काट कर बैठो।'[१]

विधवा नारी का यह अर्थाभाव उसे पतन की ओर ले जाने का प्रमुख कारण होता है। प्रेमचन्द ने 'प्रतिज्ञा' मे और राधिकारमणसिंह ने 'राम रहीम' (१९३६) मे विधवा के पतन का मूल कारण आर्थिक सकट ही माना है। अर्थाभाव के कारण ही विधवा अन्य जनो का आश्रय लेने के लिए बाध्य होती है, और वहाँ उसे पुरुष की काम-लोलुपता का शिकार बनना पडता है।[२] 'प्रतिज्ञा' की प्रेमा विधवाओ की यह विवशता व्यक्त करते हुए कहती है 'वे जिधर आँख उठाती है, उधर ही उन्हे पिशाच खडे दिखाई देते है जो उनको दीनावस्था को अपनी कुवासनाओ के पूरा करने का साधन बना लेते है। हमारी लाखों बहिनें इस भाँति केवल जीवन-निर्वाह के लिए पतित हो जाती है। क्या आपको उन पर दया नही आती ? मैं विश्वास से कह सकती हूँ कि अगर उन बहिनो को रूखी रोटियो और मोटे कपडो का भी सहारा हो तो वे अन्त समय तक सतीत्व की रक्षा करती रहे। स्त्री हारे दर्जे ही दुराचारिणी होती है।[३]

इस उपन्यास मे आर्थिक सकट से मुक्ति पाने के लिए एक 'वनिता आश्रम' की स्थापना

---

१. उषादेवी मित्रा : 'पिया' (पृष्ठ २०)

२. राधिकारमणसिंह : 'राम रहीम' (पृष्ठ ८४१)

३. प्रेमचन्द : 'प्रतिज्ञा' (पृष्ठ ८७)

होती है। इस प्रकार के आश्रम स्थापित कर समाज की कर्तव्य-भावना के सहारे समस्या का समाधान करना प्रेमचन्द-युग की विशेषता है।

प्रेमचन्द लिखित 'प्रेमाश्रम' (१९२२) उषादेवी मित्रा लिखित 'पिया' (१९३७), कुमारी तेजरानी दीक्षित के 'हृदय का काँटा' (१९२८) रामकिशोर मालवाय के 'शैल कुमारी' (१९२४), 'हृदयेश' लिखित 'मनोरमा' (१९२४), ऋषभचरण जैन के 'मास्टर साहब' (१९२७), त्रिमूर्ति लिखित 'मीठी चुटकी' (१९२७), चतुरसेन शास्त्री लिखित 'अमर अभिलाषा' (१९३३), भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'पतिता की साधना' (१९३६), प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विजय' (१९३७), राधिकारमण सिंह के 'राम रहीम' (१९३६), ईश्वरीप्रसाद गुप्त और मदनबिहारी वर्मा लिखित 'कमला' (१९४०) तथा चद्रशेखर पाठक लिखित 'विधवा की आत्मकथा' आदि अनेक उपन्यासो में विधवाओ पर लगाये गए पारिवारिक और सामाजिक प्रतिबन्धो का और तज्जनित अत्याचारो का अच्छा चित्रण मिलता है। समाज के नाना प्रकार के प्रतिबधो और अत्याचारो के कारण वह मानसिक विकृति की शिकार हो जाती है। उपर्युक्त उपन्यासो मे ऐसी विधवा नारी के करुण जीवन का चित्रण बडी मर्मस्पर्शी सहानुभूति के साथ किया गया है।

(२) सामाजिक निषेध और प्रतिबध

विधवा एक तो स्वय ही त्रस्त और उपेक्षित होती है, फिर समाज के लोग उसके दुख मे सहानुभूति प्रकट करने के स्थान पर उल्टे उसके साथ अमानुषिक व्यवहार करते है। ऐसी स्थिति मे विधवा की मानसिक अवस्था कैसी विपन्न हो जाती है, वह क्या सोचती है, इस पर लेखको ने विशेष ध्यान दिया है।

शारीरिक और मानसिक दोनो दृष्टियो से समाज मे विधवा की स्थिति एक दासी से भी हीन होती है। सब प्रकार की लाछना और यातना सहकर भी उसे जीवित रहना पड़ता है। दासी भी उसकी अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र होती है। विधवा होते ही नारी को स्वय उसके दुर्भाग्य का कारण मानकर कोसा जाता है। सास समझती है कि बहू के दुर्भाग्य के ही कारण उसके पुत्र की मृत्यु हुई है और वह कोसती हुई कहती है, 'राड़ ने मेरे घर को उजाड़ डाला'[१]। अच्छी या बुरी किसी भी स्थिति मे उसे चैन नही मिलता। 'राम रहीम' मे बेला के चित्रण द्वारा लेखक ने विधवा नारी के दैनिक जीवन का बड़ा यथार्थ चित्रण किया है। 'मैली साड़ी रहती, तो गदी रहने की लाछना, अगर धुली धोती होती, तो विधवा के फैशन की कुत्सा, मकान के पिछवारे की बावली से पानी लाने गई, तो यह ताना कि आँखे मिलाने जाती है; पानी न लाई, तो यह फबती कि रानी बनी बैठी है।'[२]

रूढिवादी समाज बाल-विधवा से भी यह आशा करता है कि वह अपना सारा कोमल

---

१. राधिकारमण सिंह : 'राम रहीम' (पृष्ठ ६)

२. वही : (पृष्ठ ८)

भावनाओ और सुख-स्वप्नो को तिलाजलि देकर दासी की भाँति सारे काम-काज मे सलग्न रहे। जैसे पति के चले जाने से उसका अपना अस्तित्व भी मिट गया हो। 'पिया' मे नीलिमा अपढ बाल-विधवा है। समय के प्रभाव के फलस्वरूप उसकी छोटी बहिन कविता शिक्षा पाने लगती है। पढने के उपरान्त उसका विवाह होगा और वह सुख से रहेगी। अपनी बहिन और अपने जीवन की विपरीत गतियो को देखकर वह अपनी सगी बहिन से ही स्पर्द्धा करने लगती है। वे दोनो एक ही माँ की बेटियाँ है। माँ स्नेहशीला, ममतामयी कही जाती है किन्तु नीलिमा का वैधव्य माँ के व्यवहार मे भी भिन्नता ला देता है। अपनी इस असह्य परिस्थिति से नीलिमा का मन विद्रोह करता है[1] किन्तु उसकी स्थिति मे कोई अन्तर नही आता।

'विजय' मे भी कुसुमलता अपनी सखी मनोरमा की मानसिक प्रसन्नता देखकर स्पर्द्धा करने लगती है। दोनो समवयस्क है, फिर भी कुसुम मनोरमा से कुछ अधिक सुन्दर है। किन्तु बाल-विधवा होने के कारण वह उस सुख से वचित है जो मनोरमा को प्राप्य है। उसका मन ऐसी विसगति मे विद्रोह करता है। 'मेरे भाग्य मे पति-सहवास का सुख नही है, यह निश्चेष्ट कार्य है, इसीलिए भाग्य है, किन्तु अगर मैं अपना दूसरा विवाह कर लूँ तो वही सुख मेरे भाग्य मे हो जायेगा।'[2]

विधवा के अन्तर्मन की यह पीडा स्वाभाविक है। किन्तु समाज के कठोर बधनो के सामने यह सम्भव नही होता कि वह इसे व्यक्त कर सके, विद्रोह करना तो दूर की बात है। जिस नारी ने सुख का एक क्षण भी नही जाना उसे अपनी भावनाओ को दबाकर रखना पडता है। प्यार से वचित रहने के कारण साधारण-सी बात भी उसे असाधारण लगती है। 'पिया' मे नीलिमा का बडा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। नीलिमा की बहिन कविता दूर खडी हुई अपने प्रेमी विभाष से बातें कर रही थी। 'नीलिमा आँखे फाड-फाड़ कर देखने लगी, कैसा वह आनन्द, आशापूर्ण, उद्वेगहीन मुख है। दोनो के मुख आशा, आनन्द मे चद्रमा से मधुर हो रहे है और मै ? अपने अन्तर की ओर नीलिमा ने दृष्टि फेरी। वह स्तम्भित हो रही। सुख, आशा, आनन्द, उत्साह, अवलम्बन के लिए एक तिनका ? नही, कुछ भी नही है। है मात्र विडम्बित जीवन की लाञ्छना भरी टोकरी और हाहाकार। नही, नही, खोई हुई अतीत की कोई ऐसी मनोरमा स्मृति भी तो नहीं है। अतीत, वर्तमान और भविष्य निष्पेक्षित हो रहा है। केवल रिक्तता के भीतर से, व्यर्थता से, मात्र अभाव से बहाने के लिए आँसू भी नही है, फिर वह करे क्या, जाये कहाँ ? कहाँ, कहाँ ?'[3]

बाल-विधवा के पास सुख-पूर्ण स्मृति की एक रेखा भी तो नही होती जिसके आधार पर

---

१. उषादेवी मित्रा 'पिया' (पृष्ठ १०)
२. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विजय' (पृष्ठ ५६)
३. उषादेवी मित्रा : 'पिया' (पृष्ठ २०)

वह अपनी जीवन नोका खे सके। 'पतिता की साधना' (१९३६) मे भगवती प्रसाद वाजपेयी ने बाल-विधवा नदा का चित्रण किया है। जिसने अपने पति की शक्ल तक नही देखी है, उसको भी समाज त्याग का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करता है। नदा के मन मे समाज द्वारा बनाये गए अन्यायपूर्ण नियमो के प्रति विद्रोह की भावना तीव्र रूप मे निहित है। वह अपने मन से पूछती है। 'कोन कहता हे तुम विधवा हो? कोन कहता है तुम्हारा विवाह हुआ था या तुमने पति नाम की किसी वस्तु को प्राप्य किया था? वह तो एक खेल था, पुरुषो का नही, बच्चो का भी नही, उस अधे समाज का, हिन्दू जाति की अधोगति के ककाल का, जिसे नष्ट ही होना है, जिसका नाश ही अभीप्ट है।'[१]

नारी-मन के इस दारुण हाहाकार का मुख्य कारण यह है कि जब वह किशोरावस्था मे पैर रखती है, वह स्वभावत अपने भावी जीवन के रगीन स्वप्नो मे रम जाती है, और उस दिन की उत्सुकता से बाट देखने लगती है, जब उसकी कामनाएँ साकार होगी। तभी अदृश्य के कठोर आघात से उसका सिदूर पुछ जाता है और उसके लिए अपनी आशाओ का गला घोट कर शेष जीवन-भर कलपते रहने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नही बचता। असमय वैराग्य ग्रहण करने की यह विवशता अनेक उपन्यासो मे वर्णित है।

प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' (१९२२) मे गायत्री के चरित्र मे विधवा-नारी की मानसिक विकृतियो का बडा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। क्योकि समाज विधवा को तपस्विनी और सन्यासिनी के रूप मे देखना चहाता है इसलिए वह समाज की आलोचना से बचने के लिए क्या-क्या स्वाँग भरती है, स्वय अपने मन को किस प्रकार समझाती है, उसके बाह्य आचरण से अवचेतन मन की प्रतिक्रिया कितनी भिन्न होती है, यह गायत्री के माध्यम से बडे यथार्थ रूप मे चित्रित हुआ है। सयम के आवरण मे ढँकी उसकी अतृप्त वासनाएँ ज्ञानशकर के थोडे से प्रेम-प्रदर्शन से विचलित हो उठती है। उसकी विलासमयी प्रवृत्ति ज्ञानशकर की ओर बार-बार झुकती है, किन्तु समाज के डर से वह बरबस अपने-आपको रोकती है। तो भी अवचेतन मन ज्ञानशकर की ओर झुक ही जाता है और वह मानसिक विकृतियो की शिकार बन जाती है।

वह अपनी वासना की पूर्ति के लिए भगवद्भक्ति, कृष्णलीला और रासलीला का सहारा लेती है। ज्ञानशकर के साथ कृष्ण-गोपी का अभिनय करने में उसकी वासना तृप्त होती है। इन क्षणो मे उसके चेतन और अवचेतन मन का सघर्ष शान्त हो जाता है। इस प्रकार गायत्री मे प्रेमचन्द ने विधवा-नारी की कामना और विवेक के सघर्ष का यथार्थ चित्रण किया है।

गायत्री का चित्रण नगर-जीवन की वास्तविक परिस्थितियो के अनुसार हुआ है। ग्रामो का चित्रण करते समय प्रेमचन्द ने विधवा-विवाह की समस्या पर विशेष बल नही दिया है, क्योकि जिस वर्ग का उन्होने वर्णन किया है उसमे साधारणत विधवा-विवाह की

---

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'पतिता की साधना' (पृष्ठ १९९)

समस्या है ही नही। फिर भी महाजन-जमीदारो के चित्रण मे विधवा-जीवन की झलक भी मिलती है। 'गोदान' मे दुलारी (सहुआइन) का विनोद वार्तालप यद्यपि निश्छल लगता है, पर उसमे विधवा के अभाव ग्रस्त मन की ललक भी छिपी हुई है। ग्रामीण विधवा की मानसिक विकृतियो का सुन्दर चित्रण हमे 'प्रसाद' के उपन्यास 'तितली' मे मिलता है। राजकुमारी का चौबे के प्रति आकर्षण सहज है। पर विधवा होने के कारण वह अस्वाभाविक रूप ले उठता है। अन्त मे राजकुमारी के इस सहज आकर्षण की परिणति आत्म-ग्लानि मे होती है।

अपनी स्वाभाविक इच्छाओ की पूर्ति न होने के कारण एव उसके वैराग्य-पूर्ण जीवन के प्रति समाज के अत्यधिक आग्रह के कारण विधवा का मन सहज रूप से सन्यास की ओर उन्मुख नही होता। अपढ, अज्ञान बाल-विधवा को समाज की रूढिवादिता और कठिन नियमो के सामने सिर झुकाना पडता है। वह समाज की लाछना से बचने के लिए फूँक-फूँक कर पैर रखती है पर यही पर उसकी यत्रणा का अन्त नही होता। उसे कभी-न-कभी पुरुषो की काम-लोलुपता का शिकार बनना ही पडता है। उनकी पाशविक वृत्ति असहाय, दीन, अनाश्रित नारी की खोज मे रहती है और कभी लोभ से, कभी छल से और कभी बलपूर्वक वे उसे सन्मार्ग से डिगाना चाहते है। यहाँ तक कि विधवाश्रम मे भी उसे चैन नही मिलता। वहाँ भी नारी के अज्ञान, अशिक्षा और अध-विश्वास का लाभ उठाने लोलुप पुरुष पहुँच जाते है। पुरुष की पाशविक बृत्ति और नारी की धर्मान्धता की कटु आलोचना करते हुए 'मीठी चुटकी' उपन्यास मे कहा है

(३) पुरुष की काम-लोलुपता

'कुत्सित वासना की पूर्ति के लिए विधवाओ के हितैषी बन विधवा-आश्रम खोलना और इस तरह विधवाओ की मर्यादा के साथ खेलना, उनकी दलाली तक करना, उन्हे प्रलोभनो मे फँसाकर व्यभिचार मे रत करना या बेच देना, महन्तो को गुरु बनाने की आवश्यकता पर जोर देकर स्त्रियो का सर्वस्व लुटा देना भारत की अस्सी फीसदी अशिक्षित जनता की अज्ञानता और धर्मान्धिता के कारण ही सम्भव हो रहा है।'[१]

यदि विधवा नारी का मन तनिक भी दुर्बल हुआ तो इतने प्रलोभनो और हथकण्डो के सामने वह अडिग नही रह पाती और पथभ्रष्ट हो जाती है। तिस पर उसके पतन के लिए समाज पुरुष को नही, नारी को ही दोषी ठहराता है। उसी को जीवन भर त्रास और अपमान सहना पडता है। पुरुष अपने स्वार्थ मे लिप्त होकर अबला नारी की परिस्थितियो का अनुचित लाभ उठाकर, उसे बलपूर्वक भ्रष्ट करके भी समाज की आँखो मे भला बना रहना चाहता है और बना भी रहता है, जैसे 'रामरहीम' मे दिनेश। पुरुष मे इतना नैतिक साहस नही कि वह अपनी इच्छाओ को खुले रूप मे समाज के सामने रखे, विधवा से लुके-छिपे सम्पर्क रखने की अपेक्षा उससे नियमानुसार विवाह करके उसको सामाजिक रूप

---

१. त्रिमूर्ति : 'मीठी चुटकी' (पृष्ठ ८५)

मे ग्रहण करे। कुछ पुरुषो की पाशविक-वृत्ति इतनी प्रबल होती है कि वे अधे होकर भविष्य की तनिक भी चिन्ता न कर विधवा के जीवन से खेलते है और फिर अपनी स्वार्थ भावना की पूर्ति हो जाने पर भाग खडे होते है। इस प्रकार उनके क्षणिक सुख के लिए दुखी विधवा के पवित्र जीवन पर सदा के लिए कलक लग जाता हे जो फिर किसी प्रकार नही धोया जा सकता। 'अमर अभिलाषा' मे भगवती का, 'रामरहीम' मे बेला का ऐसा ही अभिशापित जीवन है।

'शैलकुमारी' मे भी रामकिशोर मालवीय ने पुरुष की अनुचित प्रवृत्ति पर प्रहार किया है। समाज का नग्न चित्रण करते हुए लेखक स्वय कहता है. 'आत्मकथा सुनाने वाली युवती ज्ञानवती हिन्दू समाज की वर्तमान विधवाओ पर बीतने वाली मुसीबतो का सच्चा फोटो है। हिन्दू विधवाओ पर कैसी-कैसी मुसीबते पड़ती है, अपने सतीत्व की रक्षा के लिए उन्हे कैसे-कैसे आक्रमण सहने पडते है, पाप-मार्ग पर चलनेवाले कुलीन घरानेके युवक अपनी पाप-वासना तृप्त करने के लिए अबलाओ पर कैसे-कैसे कुचक्र चलाते हे, . . तीर्थ-पण्डे कैसे-कैसे दुराचरण धर्म के पैसे पट करते हे, योगियो को किस प्रकार सताते हे, यदि कोई स्त्री आ गई, तो उसे धर्म-भ्रष्ट कैसे कर देते है, आदि बातो की नगी तस्वीर ज्ञानवती के जीवन मे दिखलाई देती है।'[1]

इस प्रकार विचाराधीन काल के उपन्यासकारो ने पुरुष की इस काम-लोलुपता एव अनुचित आचरण की कटु आलोचना की हे। उनका मत है कि यदि पुरुष अपनी इस वृत्ति से प्रेरित होकर विधवा नारी के सात्विक जीवन मे रोडे न अटकाये तो अनेक विधवाएँ सयमी, पवित्र एव आदर्श जीवन व्यतीत कर सकती है। परोक्ष रूप मे इस चित्रण से यह भी सिद्ध होता है कि विधवा का अरक्षित जीवन एक ओर जहा उसके लिए घोर दुख का जनक है, वही दूसरी ओर वह पुरुष की निम्न वृत्तियो को भडकाने का काम भी करता है। जहाँ तक सम्भव हो, विधवा का पुनर्विवाह ही इन सब समस्याओ का एकमात्र हल है।

(४) नारी-मन की दुर्बलता

कहा जाता है कि यदि नारी का चरित्र दृढ है, उसमे आत्मबल हे तो बाह्य प्रलोभन उसको नही डिगा सकते। किन्तु व्यक्ति मे चारित्रिक दृढता और नैतिक बल परिपक्व अवस्था, शिक्षा और अनुभव के पश्चात् आते हैं। बेचारी बाल-विधवा उम्र, शिक्षा और अनुभव तीनो मे ही अपरिपक्व होती थी। ऐसी स्थिति मे उससे ऐसे दृढ चरित्र की आशा करना, जिसके सामने पुरुष नत मस्तक हो जाए, सही नही कहा जा सकता। 'रामरहीम' की बेला ने अपने चरित्र को बचाने के लिए क्या-क्या नही किया, किन्तु वह अपनी पवित्रता की रक्षा न कर सकी। फिर भी प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारो ने अपनी आदर्शवादिता के कारण कुछ ऐसे विधवा-चरित्र भी चित्रित किये है जिनकी चारित्रिक, दृढता और

---

१. रामकिशोर मालवीय : 'शैलकुमारी' (पृष्ठ १२३)

पवित्रता देखकर कामी पुरुष ऐसे ही भाग जाते है जैसे सूर्य को देखकर अधकार। किन्तु ऐसे चरित्र आदर्श उपस्थित करने के उद्देश्य से अकित किये गये प्रतीत होते है, यथार्थ का उनमे अभाव ही लगता है।

जहाँ विधवा का व्यक्तित्व विकसित हो चुका है, वहाँ विधवा के चारित्रिक बल का महत्व अवश्य बढ जाता है। प्रेमचन्द ने इस ओर भी ध्यान दिया है। विधवा के चारित्रिक बल का महत्व बताने के लिए उन्होने 'प्रेमाश्रम' की गायत्री जैसी वयस्का, बुद्धिमती और स्वतन्त्र नारी को चुना है। गायत्री चाहती तो अपने चरित्र को पूर्णत पवित्र रख सकती थी। किन्तु अपनी विलासमयी प्रवृत्ति, आत्म-दुर्बलता और बाह्य आकर्षण के कारण उसके जीवन मे वैषम्य आ जाता है। गायत्री का यह चित्रण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यथार्थ के अनुरूप हुआ है। इसमे लेखक ने एक आदर्श उपस्थित न करके विधवा-मन के सच्चे संघर्ष का चित्रण किया है जो प्रेमचन्द के दृष्टिकोण मे विकास का प्रमाण है और विधवा-जीवन को स्वाभाविक मूल्यो की कसौटी पर परखने का प्रयत्न है।

वैधव्य की मर्यादा के प्रति पूर्णत समर्पित होने के कारण प्रारम्भ मे गायत्री के मन मे ज्ञानशकर के साथ सिनेमा-थियेटर जाने मे सकोच होता है। वह मन को समझाती रहती है 'मेरे लिए अब तीर्थ-यात्रा, गगा-स्नान, पूजा-पाठ, दान और व्रत है। यह विलास सोहागिन के लिए है।'[1] किन्तु थोडे ही हेल-मेल के बाद वह ज्ञानशकर का सामीप्य इतनी व्यग्रता से चाहने लगती है कि उसके चरित्र की शिथिलता, सयम के आवरण मे ढँकी अतृप्त वासना साफ दिखाई देती है। गायत्री के मन की यह दुर्बलता इतने स्वाभाविक ढंग से चित्रित हुई है कि पाठक उससे सहानुभूति करने लगता है।

यद्यपि विधवा-मन की निजी दुर्बलता के ऐसे कुछ उदाहरण हमे इस काल के उपन्यासो मे मिलते है, पर वे अधिक नही है, और न इस दुर्बलता को लेखको ने कोई अन्तिम महत्व दिया है। इसका कारण स्पष्ट है। वे विधवा-जीवन की समस्या के सामाजिक पक्ष का चित्रण कर रहे थे ताकि जनता का ध्यान उसकी दुरवस्था की ओर आकर्षित हो, और विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार मिल सके। विधवा को मूलत चरित्रहीना सिद्ध करना न तो उनका उद्देश्य ही था, न वह यथार्थ से मेल खा सकता था। विधवा की स्थिति इतनी अस्वाभाविक हो जाती है कि उसे साधारण नियमो की तुलना पर तौलना अन्याय ही माना जाएगा। प्रेमचन्द-युग के लेखक जानते थे कि ऐसी अस्वाभाविक अवस्था मे विधवा से स्वाभाविक व्यवहार की आशा रखना गलत होगा। इसीलिए उन्होने समस्या के सामाजिक पक्ष पर बल दिया जिससे विधवा को भी स्वाभाविक जीवन बिताने का अवसर मिले।

यही कारण है कि विधवा के आर्थिक सकट, उस पर होनेवाले कठोर अत्याचार, उसकी करुण स्थिति और पुरुष की काम-लोलुपता का जो चित्रण इन उपन्यासो

---

१. प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम' (पृष्ठ ११२)

मे मिलता है, वह समाज-सुधार की दृष्टि से किया गया है। स्थान-स्थान पर उपदेशात्मक प्रवृत्ति आगे आ गई हे। कभी पात्र तो कभी स्वय लेखक समाज पर व्यग्य या आलोचना करता चलता है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी लिखित 'पतिता की साधना' मे विधवा-जीवन का यह हाहाकार समाज के प्रति तीखे व्यग्य के रूप मे व्यक्त हुआ है।[१]

विधवा की समस्या और समाज-सुधार

उषादेवी मित्रा लिखित 'पिया' की नीलिमा चेष्टा करने पर भी निष्कलक नही रह पाती। अपनी छोटी बहिन कविता के पति सुकान्त के जाल मे फँसकर वह गर्भवती हो जाती है। समाज की लाछना और तिरस्कार से बचने के लिए सुकान्त उसे गर्भपात कराने की सलाह देता है। किन्तु कविता मे समाज-सुधार की तीव्र भावना निहित है। वह सोचती है कि पाप और पुण्य की मर्यादा व्यक्ति की बनाई हुई है, जिसका वास्तविक सम्बन्ध व्यक्ति के मन से है। स्वार्थरत भावना से ऊँचे उठकर वह बहिन को अपने पति से विवाह कर लेने की सलाह देती है। 'तुम हत्या न करो, जिसको मन से पति रूप मे ग्रहण किया है, एक निष्ठ प्रेम किया है, उससे विवाह करो।'[२] इसी प्रकार अपने पति सुकान्त के मन मे भी वह नैतिक साहस का सचार करती है। पुरुप यदि विधवा की असहाय स्थिति से लाभ उठाकर उसे अपनी वासना का साधन बनाता है, उससे प्रेम करने का दम भरता हे तो फिर उससे विवाह करके अपना उत्तरदायित्व क्यो नही पालता ? पुरानी पीढ़ी की रूढिवादिता ऐसी घटना को किसी प्रकार सहन नही कर सकती थी। वह समाज मे लाछनीय समझे जाने वाले प्रसग को किसी प्रकार छिपा लेने मे ही अपना निस्तार समझती है। किन्तु कविता व्यक्ति की नैतिकता पर बल देती हुई कहती है, 'वास्तविक अपराध को छिपाकर दुनिया के सामने साधु बनना एक पाप है माँ।'[३]

समाज की विडम्बना पर इस युग के उपन्यासकारो ने कटु आलोचना की है। वह

---

१. 'किन्तु हिन्दू समाज की विधवा नारी जीवित होकर भी मृत्तिका है, पाषण है, शिलाखण्ड की भाँति उसे शब्दहीन, गतिहीन, निष्पन्द, निश्चल और निश्चेष्ट होकर रहना पड़ता है। जगत भर के लिए वर्षा और वसंत, कोयल और मोर, पुष्प और सौरभ, भ्रमर और तितली, ध्वनि और राग, सरोवर और हस, कपोत और कपोती, हास और क्रीडा सभी जागृत और उत्फुल्ल हैं, किन्तु एक विधवा प्राण, देह, वय, श्वास, रक्त, कांक्षा और विकार रहते हुए भी इन सबसे हीन है, सर्वदा रहित। क्योंकि संयम-नियम, आदेश, उपासना, तपस्या, साधना, त्याग और बलिदान यदि हिन्दू संस्कृति के गर्व तथा गौरव की जितनी भी दिगन्त व्यापी ध्वजाएँ हैं, सबकी सब उसी के भाग्य में पड़ी हैं।'

भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'पतिता की साधना' (पृष्ठ २५२)

२. उषादेवी मित्रा 'पिया' पृष्ठ १६०

३. वही : (पृष्ठ १६२)

विधवा को देता तो कुछ भी नही है और माँगता है उसके जीवन की आहुति। विधवा की शिक्षा, उसके व्यक्तित्व-निर्माण एव जीवन-विकास पर तनिक भी ध्यान दिये बिना वह चाहता है कि विधवा आचार-व्यवहार मे आदर्श सिद्ध हो, यह कैसी प्रवचना है। उषादेवी मित्रा आदि अनेक उपन्यासकारो ने इस ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा की है कि यदि समाज विधवा के मन को समझकर उसके साथ मानवीय व्यवहार करे, उसकी समस्याओ को समझकर उसके समाधान की ओर ध्यान दे तो विधवा पतन की ओर जाने से बच जाएगी। कविता अपनी माँ से कहती है

'चिल्लाओ मत। सुनो तो सही। उस बेचारी को क्यो कोसती हो! वह तो जनम-दुखिया है। न वह लिखना जानती है न पढना, पाप-पुण्य भी नही पहिचानती। कह दिया कि यह पाप है, और बस। पाप के रूप को कभी पहिचानने का अवसर भी दिया था? पुण्य से उसका परिचय कराया था? ब्रह्मचर्य का नियम बचपन से उसे पालन कराया था? ब्रह्मचर्य के शुभ को किसी ने उसे समझाया था? उस ओर उसकी रुचि कभी तुमने कराने की चेष्टा की थी? दुनिया ने उसे दिया था क्या? कहो न चुप क्यो हो? क्या दिया था? नही कहोगी? मै तो जानती हूँ, उसे क्या दिया था। केवल अविराम लाछना, परिहास और दरिद्रता, केवल परिश्रम एव नियमो का एक काला पहाड बस। दिया था इससे ज्यादा कुछ? जरा सी सहानुभूति भी नही थी उसके लिए? मै पूछती हूँ, उस अपढ, ग्रामीण विधवा के सहारे के लिए एक हल्का-सा तिनका भी कभी उठाकर धर दिया था उसके हाथ पर? नही, कुछ नही, मै जानती हूँ कुछ नही। और उसी विधवा से दुनिया यदि बडा सा त्याग माँग बैठे तो वह उसे कहाँ से दे सकती है?'[1]

इसी प्रकार 'मनोरमा' मे हृदयेश ने स्त्री-पुरुष की दो भिन्न जीवन-गतियो का चित्रण करते हुए तत्कालीन समाज की थोथी आदर्शवादिता की आलोचना की है।[2] यदि समाज निष्पक्ष रीति से स्त्री और पुरुष दोनो के लिए समान व्यवस्था देता तो विधवा नारी के जीवन मे इतनी अशान्ति के दर्शन न होते, 'जब पुरुषो के लिए व्यभिचार भूषण है तब स्त्रियाँ उसे कैसे दूषण मानेगी? पुरुष चाहे वेश्यागामी हो या कुलाङ्गना-भोगी, परवे चिर पवित्र है। यदि हम उनके प्रखर अत्याचार से उद्भ्रान्त होकर स्वप्न मे भी पर-पुरुष की कामना करे तो महा अपवित्र एव परम वीभत्स है। वाह रे पुरुष समाज! स्वार्थ का तू कैसा विलास मन्दिर है।'[3]

'आत्मदाह' (१९३६) मे चतुरसेन शास्त्री ने सुधीन्द्र का चरित्र नव चेतना के प्रतीक रूप मे रखा है। वह वैधव्य को पृथ्वी पर मनुष्य जाति की मूर्खता का भयानक चिह्न समझता है। वह अपनी विधवा दीदी को पुनर्विवाह की सलाह देता है। किन्तु दीदी

---

१. उषादेवी मित्रा 'पिया' : (पृष्ठ १६२)
२. चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' : 'मनोरमा' (पृष्ठ १४९)
३. वही : (पृष्ठ १८८)

उसकी सलाह न मानकर अपने भाग्य को दोष देती है। इस पर सुधीन्द्र सामाजिक अध-विश्वास का भण्डाफोड करता हुआ कहता है, 'क्या कहा भाग्य विधान दीदी, तुम पढी-लिखी लडकी होकर भी भाग्य विधान की बात कर रही हो ? जहाँ पाँच वर्ष की कन्याओ का विवाह कर दिया जाता है और वे विधवा बना दी जाती है ? यह पाप करते है माता-पिता और भाग्य-दोष मिलता है लडकियो को, यह कहाँ का न्याय रहा ? यदि छोटी कन्याओ का विवाह न करके उन्हे पढाया जाए, तो कैसे उनका भाग्य-दोष उन्हे विधवा बना सकता है ? क्या यह बात दिल को थर्रा देने वाली नही कि दुधमुँही विधवाओ की सख्या भारतवर्ष मे साढे पाँच लाख से भी अधिक है ?''

किसी भी घटना के दुष्परिणाम का कारण न खोजकर भाग्य को दोष देना भारतीय जनता की पुरातन मनोवृत्ति है। ऐसा करने से व्यक्ति अधविश्वासी और रूढिवादी बनता जाता है। व्यक्ति की क्रियात्मक शक्ति नियति के जाल मे निष्क्रिय हो जाती है। जो व्यक्ति सोच-विचार नही सकते, अविवेकी ओर अशिक्षित है, वे ही अज्ञान के कारण भाग्य की दुहाई देते है। किन्तु शिक्षित व्यक्ति के पास प्रत्येक घटना ओर समस्या का सही कारण जानने की क्षमता होती है। इसीलिए सुधीन्द्र न तो स्वय भाग्य पर विश्वास करता है, न पढी-लिखी बहिन से वैसी आशा करता है।

इस प्रकार प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारो ने विधवा की सभी समस्याओ को बडे मार्मिक ढग से चित्रित किया है और उनके समाधान की भी ओर ध्यान दिया हे। इस युग के उपन्यासो को देखने से दो बाते ज्ञात होती है। (१) पहली यह कि उपन्यासकारो ने केवल बाल-विधवा के ही पुनर्विवाह की ओर आग्रह किया हे। जो नारी अनाघ्रात कुसुम की भाँति शरीर और मन से बिल्कुल पवित्र है, वास्तव मे जिसका विवाह हुआ ही नही, उसी को वे पुनर्विवाह का अधिकार दिलाने के लिए सचेष्ट थे। बाल-विधवा के प्रति दया भावना ही उन्हे पुनर्विवाह की ओर अग्रसर करती है। नारी के व्यक्तित्व, स्वाधीनता और प्रेम को महत्वपूर्ण मानकर उसको पुनर्विवाह की अनुमति देने का विचार उनके मन मे नही आया, (२) दूसरी बात यह है कि प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारो ने विधवा के पुनर्विवाह का चित्रण बहुत कम किया है। उन्होने विधवा के कष्टो की और उसके पुनर्विवाह की आवश्यकता की चर्चा तो खूब की है, पर क्रियात्मक रूप में उसका प्रतिपादन करने मे वे झिझकते रहे है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वे समाज के प्रबल सस्कारो को ऐसा धक्का नही पहुँचाना चाहते थे जिसकी प्रतिक्रिया भी बलवती हो अपितु वे धीरे-धीरे सामाजिक चेतना के विकास द्वारा अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहते थे। इसलिए विधवा कभी किसी आश्रम की शरण लेती है, तो कभी भगवद्भक्ति में लीन हो जाती है, कभी आत्महत्या कर लेती है। केवल दो-एक उपन्यासो मे विधवा के पुनर्विवाह का अकन मिलता है। ऋषभचरण जैन ने 'मास्टर साहब' मे दो विधवाओ का

---

१. चतुरसेन शास्त्री : 'आत्मदाह' (पृष्ठ १४६)

विवाह कराया है। समाज-सुधारक सम्पतराय विधवा सुमित्रा से विवाह करता है और मुरारीलाल का विवाह विधवा वसती से होता है। 'पतिता की साधना' मे विधवा नदा और उसका प्रेमी हरि विवाह न कर सकने के कारण प्रारम्भिक जीवन मे दुखी रहते है किन्तु अपने मन की साधना मे अटल रहने के कारण एक दूसरे को प्राप्त करते है। यद्यपि इन दोनो के जीवन-क्रम का चित्रण यथार्थ न होकर कल्पना पर ही आश्रित है किन्तु अन्त दोनो के सम्मिलन पर ही होता है। यहाँ तक कि बारह वर्ष पूर्व हरि से ही उत्पन्न अपने पुत्र को नदा गोकुल से बुलाकर अपने पास रख लेती है। 'अमर-अभिलाषा' मे नारायणी, सुशीला और मालती का पुर्नविवाह आर्य-समाज की पद्धति के अनुसार विधि पूर्वक करा दिया जाता है।

विधवा के पुर्नविवाह को मध्यवर्ग उस उदारता से न देख सका जिस उदारता से उच्च शिक्षित वर्ग देखता है। उच्च शिक्षित परिवारो मे विधवा-विवाह को अग्राह्य नहीं किया गया है। अपनी शिक्षा और विवेक के कारण वे जानते थे कि बाल-विधवा के माथे पर जीवन पर्यन्त वैधव्य की कालिमा रहने देना अनुचित है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यास 'विजय' मे अभिजात वर्गीय विधवा कुसुम के जीवन मे आत्महत्या करने या वेश्यावृत्ति करने की स्थिति उत्पन्न नही होती। उसके पिता सर रामप्रसाद कहते है, 'मै तुम्हारा विवाह करना चाहता हूँ। हिन्दू समाज मे ऐसा विवाह प्रचलित हो गया है और शास्त्र इसकी अनुमति देता है।'[1] बाद मे कुसुम का विवाह साधारण कुमारी की ही भाँति होता है। उसका विधवा-विवाह मध्यवर्ग की भाँति सामाजिक चर्चा और वाद-विवाद का विषय नही बनता।

उच्च, मध्य और निम्न तीनो वर्गों मे विधवा के तपस्विनी रूप को आदर्श माना गया है। विधवा का जो चित्रण इन उपन्यासो मे हुआ है उसका उद्देश्य यही है कि जो विधवा अपनी पवित्रता नही बनाये रख सकती उसको पुर्नविवाह की अनुमति मिलनी ही चाहिए

विधवा-जीवन का आदर्श

क्योकि मानसिक विकृति और पतन से उसको बचाने का यही एक उपाय है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विजय' मे भी यही बात स्पष्ट रूप मे दिखाई देती है। मनोरमा की सखी कुसुमलता बाल-विधवा है। मनोरमा अपनी सखी की रागात्मक भावना से भी परिचित है इसलिए वह पुर्नविवाह करने की अनुमति देती है। फिर भी अपने मन मे वह उस विधवा को अधिक सम्मान देती है जो कर्म, मन, वचन से पवित्र वैधव्य का पालन कर सकती है।[2]

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विजय' (पृष्ठ १६९)

२. मनोरमा कहती है, 'मै विधवा-विवाह के खिलाफ नहीं हूँ, परन्तु यह कहती हूँ कि अगर विवधा अपनी तपस्या साधन करे, और साँसारिक प्रलोभनो से दूर रह कर तप करे, तो यह उसके लिए कल्याण कारक है।'
प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विजय'

'हृदयेश' के उपन्यास 'मनोरमा' मे विधवा कल्याणी स्वय एक आदर्शचरित्र है। वह विधवाओ के कर्तव्य के सम्बन्ध मे कहती है 'हम विधवाओ का सन्यासी जीवन है, सन्यासी जीवन विरक्त होकर भी ससार के कल्याण के लिए अग्रसर होता है।'[1] इसी उपन्यास मे सात वर्ष की उम्र मे विधवा होने वाली शान्ता का चरित्र उसके सयमित जीवन के कारण महत्वपूर्ण बन गया है। जब बलवन्तसिह धोखा देकर हथियार द्वारा उसका अपहरण करना चाहता है तो शान्ता अपनी छुरी अपने सतीत्व की रक्षा करती है। उसके सतीत्व का चित्रण लेखक ने बडे श्रद्धापूर्वक किया है

'वास्तव मे सती का सतीत्व ब्रह्म से भी अधिक विशाल, हिमाचल से भी अधिक अटल एव भगवान शकर की जटाजूट से कन्दिरा मे पतित होने वाली त्रिपथगामिनी मन्दाकिनी की शीतल-धारा से भी अधिक पवित्र है।[2]

अन्त मे विधवाओ को सात्विक जीवन व्यतीत करने का अवसर देने के लिए एक आदर्श 'वनिता-आश्रम' की स्थापना होती है। 'हृदयेश' के दूसरे उपन्यास 'मगल-प्रभात' मे सुभद्रा का चरित्र तथा ईश्वरीप्रसाद गुप्त और बिहारी वर्मा के 'कमला' (१९४०) मे विधवा-जीवन का उच्च आदर्श उपस्थित किया गया है। इसमे वर्णित विधवाओ का चरित्र तप, सयम और पवित्रता से मडित है। सुभद्रा का चरित्र इतना दिव्य है कि उसके मन मे कलुषित विचार कभी स्थान नही पाते तथा उसके ससर्ग मे आने वाले व्यक्ति भी शान्ति प्राप्त करते है। इसी प्रकार लोक-सेवा करना विधवा कमला के जीवन का ध्येय बन जाता है। उसका आश्रम-सचालन, त्याग और प्रेम की वेदी पर अपूर्व बलिदान श्लाघनीय और युग के लिए अनुकरणीय वस्तु बन गया है।

चतुरसेन शास्त्री ने 'अमर अभिलाषा' मे इसी आदर्श को थोड़े विकसित रूप मे रखा है। वे विधवा को वैधव्य से बलात् बाँधे रखने को पशु-कर्म समझते है। अतः उन्होने बाल-विधवाओ के विवाह को उचित माना है किन्तु जिस नारी को पति का साहचर्य प्राप्त हो चुका है उसके वैधव्य को वे पवित्र और वाछनीय समझते है।[3] यही कारण है कि उन्होने उपर्युक्त उपन्यास मे बाल-विधवा नारायणी, सुशीला और मालती का तो विवाह करा दिया है किन्तु कुमुद से वैधव्य के नियमो का पालन कराया है।

इस दृष्टिकोण मे और नारी को पुरुष के समान मानकर पुरुष के समान अधिकार दिलाने का दावा करने वाले परवर्ती दृष्टिकोण मे मौलिक अन्तर है, जिस पर ध्यान

---

१. चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' : 'मनोरमा' (पृष्ठ १४७)
२. वही : (पृष्ठ २९६)
३. 'वैधव्य को मै एक बहुमूल्य और पवित्र वस्तु जरूर समझता हूँ, परन्तु विधवा को वैधव्य से बलात् बाँध रखना पशुओं का कर्म समझता हूँ।'
चतुरसेन शास्त्री : 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २८ अगस्त १९५५ : (पृष्ठ ७)

देना आवश्यक है। प्रेमचन्द कालीन लेखक नारी के प्रति न्याय के लिए पुनर्विवाह का समर्थन नही कर रहे थे, वरन् विधवा-जीवन की अस्वाभाविकता से उत्पन्न समाज के दोषो को मिटाने के लिए ऐसा कर रहे थे।

विधवा के अधिकार का प्रश्न

यही कारण है विधवा के कानूनी अधिकारो के प्रति प्रेमचन्द को छोडकर अन्य किसी उपन्यासकार का ध्यान नही गया। जो नारी पति के जीवित रहने पर घर की मालकिन होती है, उसे अपना ही घर समझकर एक-एक पैसे की बचत करती है, विधवा होते ही उस घर से उसका सारा अधिकार छिन जाता है। वह अपने ही घर में दासी की भाँति रोटी-कपडा पाने भर की अधिकारिणी समझी जाती है। प्रेमचन्द ने इस समस्या को अपनी एक प्रसिद्ध कहानी 'बेटोवाली विधवा' मे उठाया था, जहाँ फूलमती के विधवा होते ही उसका पुत्र उमानाथ कहता है, 'कानून की बात यही है कि बाप के मरने के बाद जायदाद बेटो को हो जाती है। माँ का हक केवल रोटी-कपडे का है।'[1] 'गबन' मे यह समस्या और अधिक विकृत रूप धारण करके सामने आती है। वकील साहब के जीवित रहने पर उनकी पत्नी रतन लाखो को सम्पत्ति की मालकिन थी। किन्तु वकील साहब के मरते ही उनका भतीजा मणिभूषण उनकी सारी सम्पत्ति का मालिक बन बैठता है। 'बेटो वाली विधवा' कहानी मे घर की सम्पत्ति पर बेटो का ही अधिकार हुआ था। यहाँ पुत्र न होने पर उनके दूर के रिश्तेदार (जो सम्भवत उस घर मे कभी आता भी न था) मणिभूषण को धन-सम्पत्ति मिलती है, उनकी विधवा पत्नी को नही। मणिभूषण बडे गर्व के साथ कहता है· 'सम्मिलित परिवार मे विधवा का अपने पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नही होता।'[2] लेकिन आत्माभिमानिनी शिक्षिता नारी इस अपमान को सहन न कर सकी। आँसुओ के उमडते हुए वेग को रोककर रतन जो कुछ कहती है उसमे समस्त विधवा जाति की वेदना छिपी हुई है।

'मैने कह दिया, इस घर की चीज़ से मेरा नाता नही है। मैं किराये की लौडी थी। लोडी का घर से क्या सम्बन्ध ? न जाने किस पापी ने यह कानून बनाया था। अगर ईश्वर कही है और उसके यहाँ कोई न्याय होता है, तो एक दिन उसी के सामने उस पापी से पूछूँगी, क्या तेरे घर मे माँ-बहिने न थी ? तुझे उनका अपमान करते लज्जा न आई ? अगर मेरी जुबान मे इतनी ताकत होती कि सारे देश मे उसकी आवाज़ पहुँचती, तो मैं सब स्त्रियो से कहती 'बहिनो, किसी सम्मिलित परिवार मे विवाह न करना और अगर करना, तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नीद मत सोना। यह मत समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर मे तुम्हारा मान के साथ पालन होगा। अगर तुम्हारे पुरुष ने कोई तरका नही छोडा, तो तुम अकेली रहो चाहे परिवार मे, एक ही बात है। तुम

---

१. प्रेमचन्द : 'मानसरोवर' : भाग १ (पृष्ठ ७२)
२. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ २६६)

अपमान और मजूरी से नही बच सकती। अगर तुम्हारे पुरुष ने कुछ छडा है, तो अकेली रहकर भोग सकती हो, परिवार मे रहकर तुम्हे उससे हाथ धोना पडेगा। परिवार तुम्हारे लिए फूलो की सेज नही, कॉटो की शय्या है, तुम्हे पार लगाने वाली नौका नही, तुम्हे निगल जाने वाला जन्तु है।"[1]

सम्मिलित परिवार मे नारी को कोई अधिकार प्राप्त नही है। यदि पति अपनी पत्नी के नाम अलग से अपनी धन-सम्पत्ति के विषय मे कुछ लिख जाता है तब तो उसको वह भाग मिल जाता है, अन्यथा उसे केवल उतना ही खाना, कपडा और रहने का स्थान मिलता है जिसमे किसी प्रकार उसकी जीविका चल सके। उपर्युक्त उदाहरण मे नारी-हृदय की करुण पुकार एव उसकी स्थिति से असतोष को मार्मिक शब्दो मे अकित किया गया है। इस युग मे नारी मनु और पाराशर आदि पुरुषो के बनाये नियमो पर क्रोधित हो सकती थी, अपना विद्रोह और खीझ प्रकट कर सकती थी, पर उसके पास कोई ऐसा समाधान नही था जिससे इस नियम मे परिवर्तन हो सकता। रतन के चरित्र मे नारी जागरण के चिह्न साफ दृष्टिगोचर होते है। नारी अपने अधिकारो के प्रति सजग है। वह परम्परागत स्थिति से सतुष्ट नही है किन्तु फिर भी कोई क्रान्तिकारी कदम नही उठा पाती। उस समय के देश की सामाजिक स्थिति को ध्यान मे रखकर वैसा चित्रण करना यथार्थ भी न होता।

वेश्यावृत्ति की समस्या

नारी-जीवन की अन्य समस्याओ की भाँति इस युग के उपन्यासकार ने वेश्या-वृत्ति की समस्या का भी समाज-सुधार की दृष्टि से चित्रण किया है। इन उपन्यासो को देखने से प्रतीत होता है कि लेखको ने वेश्यावृत्ति के मूल मे आठ कारणो पर प्रकाश डाला है।

(१) अनमेल विवाह, बाल-वैधव्य, पति-परिवार अथवा समाज द्वारा उपेक्षा और उत्पीडन।

(२) अशिक्षा, आर्थिक परतत्रता अथवा जीविका का प्रश्न।

(३) नारी की सच्चरिता पर पुरुष का सहज अविश्वास।

(४) पुरुष की काम-लोलुपता।

(५) दलालो और कुटनियो के कुचक्र।

(६) नारी मन की दुर्बलता।

(७) परम्परागत विवशता के कारण वेश्यावृत्ति का स्वीकार।

(८) आसपास के वातावरण और अन्य विशिष्ट परिस्थितियो का प्रभाव।

बहुधा देखा जाता है कि इन कारणो मे से जब तीन-चार कारण एकत्र हो जाते है तभी नारी विवश होकर वेश्या बनती है। यदि उपर्युक्त आठो कारणो के मूल मे छानबीन

---

१. प्रेमचंद : 'ग़बन' (पृष्ठ २६९)

करे तो पता चलता है कि अन्य तथ्यो का महत्व होने पर भी आर्थिक समस्या ही वेश्यावृत्ति का मुख्य कारण है।[1] अधिकाशत अनमेल विवाह और बाल-वैधव्य दहेज के ही कारण होता है। नारी को निरीह, असहाय और निराश्रित जानकर ही पति, परिवार और समाज उस पर अत्याचार करता है। जीविका-निर्वाह का कोई मार्ग न होने के कारण ही वह दर-दर भटकती फिरती है और कुटिल जनो के हाथ का खिलौना बनती है। यह आर्थिक समस्या ही नारी-मन की दुर्बलता को प्रोत्साहित करती है। यदि नारी का जीवन साधारण परिस्थितियो मे साधारण ढग पर व्यतीत हो तो ऐसी अनेक नैतिक दुर्बलताओ का पता ही न चले जिनका विकास असामान्य परिस्थितियो मे ही हो पाता है।

समाज व्यवस्था की असामान्य प्रणाली वेश्यावृत्ति को आश्रय देती है। यह सामत-शाही और पूजीवादी समाज मे ही पनपती है जहाँ पुरुष शोषक है और स्त्री शासित। पुरुष और स्त्री दोनो के सम्बन्ध मे समाज के नियम भिन्न-भिन्न है। जो कार्य पुरुष के लिए क्षम्य माना गया है, वही नारी के लिए वर्जित है। विधुर के विवाह को, चाहे वह कितना ही वृद्ध क्यो न हो, समाज स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार पुरुष के अनैतिक आचरण को देखकर भी अनदेखा कर देता है। किन्तु विधवा, चाहे उसकी उम्र कितनी ही कम हो, दुबारा विवाह नही कर पाती। सच्चरित्र से सच्चरित्र नारी का अनिवार्य परिस्थितियो मे एक रात्रि को भी बाहर रह जाना अक्षम्य अपराध माना जाता है। यही नही, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे नारी को पुरुष के आश्रित रहना पडता है। फलत जब किसी भी कारण-वश नारी पुरुष की छत्रछाया से वचित हो जाती है तो वह भटक जाती है, और अन्त मे वेश्या बन जाती है।

सन् १९१६ मे प्रेमचन्द्र ने 'सेवासदन' प्रकाशित कर हिन्दी उपन्यास-जगत मे हलचल पैदा कर दी थी। यह उपन्यास वेश्यावृत्ति का विश्लेषण करने वाला एक सामाजिक समस्या-मूलक उपन्यास है। 'सेवासदन' अपने मनोवैज्ञानिक चित्रण, विषय की गम्भीरता, तत्कालीन वेश्यावृत्ति की समस्या की जटिलता और उसके प्रस्तावित समाधान के लिए निर्विवाद रूप से एक युगान्तरकारी रचना है। नारी वेश्या क्यो बनती है, उसकी व्यक्ति-गत दुर्बलताएँ, समाज की कुप्रथाएँ, सामाजिक वातावरण और पारिवारिक परिस्थिति किस प्रकार नारी को अनैतिकता की ओर ले जाने मे सहायक होते है, यह 'सेवासदन' की नायिका सुमन के चरित्र से जाना जा सकता है।

अनमेल विवाह और बाल-वैधव्य दोनो की समस्याएँ साधारणत समान है। दोनो

---

१. 'मानव प्रगति के आदिम शत्रु लोभ और वासना एवं मानव प्रगति के आदिम व्यवधान, अज्ञान और आलस्य, आत्मरति, दम्भ और नैतिक उत्तरदायित्व का अभाव—सदा की भाँति आज भी सामाजिक बुराई के यही कारण है किन्तु फिर भी वेश्यावृत्ति आदि युग से लेकर आज तक अधिकांशतः एक आर्थिक समस्या ही रही है।' गार्लिन स्पेन्सर : 'विमन्स शेयर इन सोशल कल्चर' (पृष्ठ १२२)

ही स्थितियो मे एक ओर नारी परिवार और समाज की उपेक्षा तथा अत्याचार सहन करती है तो दूसरी ओर अनुकूल जीवन-प्रणाली न पाने के कारण उसका मन और तन दोनो ही असतुष्ट रहते है।

अनमेल विवाह के ही कारण सुमन की प्रवृत्तियाँ दूसरी ओर आकर्षित होती है। सुमन प्रारम्भ से ही अच्छे खाने-पहनने और रहने की अभ्यस्त, चचल प्रकृति की नारी थी। दहेज न दे सकने के कारण उसका विवाह एक अपढ, गँवार, दरिद्र, कृपण, शकाशील, उजड्ड और लापरवाह व्यक्ति गजाधर से होता है। पति-पत्नी की प्रकृति मे आकाश-पाताल का अन्तर है। सुमन बचपन से जिस वातावरण मे पली थी उसने उसको अपव्ययी और आत्माभिमानिनी बना दिया था। सुख-सतोष के साथ गरीबी के दिन काटना उसके स्वभाव मे ही न था। वह अपने स्वभाव के कारण अपने को रानी समझती थी किन्तु उसको अपनी भावनाओ के प्रतिकूल निर्धनता मे रहना पडता था। जब आस-पडोस की स्त्रिया वस्त्र-आभूषणादि के विषय मे उसकी सम्मति लेती तो सुमन ऊपर से उन्हे निष्काम भाव से सलाह देती, पर मन-ही-मन उसे बडा दुख होता था। वह सोचती 'ये सब नये-नये गहने बनवाती हे, नये-नये कपडे लेती है ओर मेरे यहा रोटियो के भी लाले है।' इन बातो ने सुमन के आत्म-सम्मान एव अहकार-भावना को भले ही तृप्त किया हो किन्तु अपने जीवन के प्रति असतोष की उसकी भावना तीव्रतर हो गई। उसके हृदय के असतोष को प्रेमचन्द ने बडे मनोवैज्ञानिक ढग से चित्रित किया हे।

व्यक्ति की इस अहभावना के साथ-साथ प्रेमचन्द ने दिखाया हे कि किस प्रकार समाज मे नैतिक आचार-विचारो की आड मे अनेक ऐसे अनैतिक कार्य होते रहते है जिनका प्रभाव व्यक्ति के मन पर अनिवार्य रूप से पडता है। जिन पुरुषो के पास धन है, यश है वे अनैतिक कार्य करके भी धर्मात्मा एव आदरणीय बने रह सकते हे। सुमन के मन को नैतिक आचार-विचारो ने ही किस प्रकार अनैतिकता की ओर अग्रसर किया हे इसका अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। प्रारम्भ मे सुमन के हृदय मे भी परम्परा-गत नैतिकता और अनैतिकता का विवेक था। वह वेश्या को दुश्चरित्र ओर कुलटा समझती थी ओर अपने को समझाती थी कि 'मे दरिद्र सही, दीन सही, पर अपनी मर्यादा पर दृढ हूँ, किसी भलेमानुष के घर मे मेरी रोक तो नही, कोई मुझे नीच तो नही समझता।'[1] बाद मे अपने जीवन से दुखी सुमन को अपनी इस नैतिक भावना पर कुठाराघात करना पडता है। वह समाज की थोथी नेतिकता से बार-बार प्रश्न करती पाई जाती हे। सुमन यदि अपने जीवन से दुखी न होती, उसे अपने पति गजाधर का प्रेम मिला होता तो शायद उसका ध्यान अन्यत्र आकर्षित न होता। किन्तु असतोषी जीवन चारो ओर भटकता है। इसके अतिरिक्त परिस्थितियो के चक्कर मे पडकर उसके आत्म-सम्मान पर बार-बार सीधी चोट पडती है। बाह्य परिस्थिति और आतरिक अहकार मे बराबर सघर्ष होता

---

१. प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ २४)

रहता है। अन्त मे वह अपने को सँभाल नही पाती और समाज की विडम्बनाओ के भँवर मे तिनके के समान बहती चली जाती है।

दुर्भाग्य से सुमन के घर के सामने ही भोली नाम की वेश्या का घर है। इसलिए सहज ही सुमन का ध्यान उधर आकर्षित होता है। यदि उसके घर के सामने वेश्या का घर न होता तो सम्भवत सुमन का ध्यान उस ओर न जाता। वह उस वेश्या के यहाँ सभी प्रतिष्ठित लोगो को जाते देखती है, यहाँ तक कि उसका पति गजाधर भी जाता है। रामनवमी के दिन मन्दिर मे जन्मोत्सव के अवसर पर वह भोली को वैष्णव तिलकधारियो के बीच जाते देखती है। धर्मात्मा और ज्ञानी-ध्यानी कहे जाने वाले लोग भी भोली के एक-एक कटाक्ष मे स्वर्ग-लोक का-सा आनन्द पा रहे थे। इस दृश्य ने सुमन के हृदय पर वज्र का-सा आघात किया। अपने नैतिक आचरण के बल पर वह जिस भोली को नीची दृष्टि से देखती थी, उसी को उसने देवी की तरह पुजते देखा। तब सुमन ने अनुभव किया कि भोली के आगे धन ही सिर नही झुकाता, धर्म भी उसका कृपाकाक्षी है। चौकीदार का थकी-माँदी सुमन को अपमानित करके बेंच से उठाना और उन्ही बेंचो पर वेश्या भोली का स्वागत करना ,उसकी क्रोध की अग्नि के लिए घी का काम करता है। वकील पद्मसिह, जिनको वह देवता का अवतार समझती थी, म्युनिस्पैलिटी के चुनाव मे सफल होने पर भोली को बुलाकर नाच-गाने का आयोजन करते है। और मामूली रसिक की भाँति वेश्या के रूप से अपने नयनो को तृप्त करते ज न पडते है। भद्र और प्रतिष्ठित व्यक्तियो के इस प्रकार के व्यवहार ने सुमन को बाध्य कर दिया कि वह अपने उपेक्षित जीवन की तुलना भोली के सम्मानित जीवन से करे। वह सोचती है कि वह भोली से अधिक सुन्दर होने पर भी और सभ्य समाज मे रहकर भी समाज के लिए पैर की जूती के समान है, जब कि नीच कर्म करने वाली भोली समाज की रानी बनी बैठी है। एक ओर सुमन के मन मे भोली के प्रति प्रतिद्वन्द्विता बढती जाती है तो दूसरी ओर रूढिवादी नैतिकता के प्रति उसकी विरोध-भावना भी तीव्रतर होती जाती है।

इस मनोदशा मे जब सुमन को एक रात देर से घर पहुचने के अपराध मे क्रोधी गजाधर बिना कोई जाँच-पडताल किये घर से निकाल देता है, तब भी उसके पैर भोली के घर की ओर नही उठते। कुमार्ग पर जाने के लिए उसके सस्कार रोकते है। घर से निकाले जाने पर अबला नारी के पास कोई ऐसा स्थान नही जहाँ वह सुरक्षित रह सके। नारी के आर्थिक रूप से असहाय होने के कारण उसके एकाकी जीवन को समाज मे कोई आदर नही मिल पाता। हारकर वह वकील पद्मसिह के यहाँ चली जाती है, किन्तु कुछ ही दिन पश्चात् लोकापवाद के डर से पद्मसिह भी उसको जाने के लिए कहने पर विवश हो जाते है और वह निराश्रित हो जाती है। तब वह सिलाई करके अपना पेट भरना चाहती है, किन्तु उसमे भी पुरुष की कामुक प्रवृत्ति उसे चैन नही लेने देती। अन्त मे जिस सुमन को समाज के कर्णधार अपने घर मे आश्रय न दे सके उसे भोली वेश्या अपने कोठे पर आश्रय देती है। समाज का नैतिक अध पतन यहाँ पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। परम्परागत रूढ़ियो का,

पीडन और अत्याचार का, धर्म, धन और सज्जनता के मिथ्याडम्बर का ही फल है कि अविवेक और लोकापवाद के आघातो से हत्प्राय सुमन विवश होकर भोली के चगुल मे फँस जाती है। सुख-भोग की अबाध आकाक्षा, पति की दासता से मुक्त होने की लालसा, रूप-प्रदर्शन की दुर्बलता, आर्थिक परतन्त्रता, पति की और अपनी अनुभव हीनता ने मिलकर उसे भोली के मायाजाल मे डाल दिया। वह गृहिणी से वेश्या बन जाती है।

चण्डीप्रसाद हृदयेश ने 'मगल प्रभात' मे राधा के वेश्या बनने का मूल कारण अनमेल विवाह को माना है। राधा का विकसित नारीत्व अबोध पति को प्रेम नही कर पाता। न वह अपने पति और सास-ससुर के अत्याचारो को सहन कर पाती है। अपने आत्मसम्मान, यौवन और सौन्दर्य को तिरस्कृत होते देखकर उसके हृदय मे ज्वाला-सी धधकने लगती है। वह मानसिक और शारीरिक तृप्ति के लिए प्रेमतीर्थ की ओर आकर्षित होती है, किन्तु वह प्रेम मरुमरीचिका ही सिद्ध होता है। अन्त मे असहाय, अनाश्रित हो वह वेश्यावृत्ति स्वीकार कर लेती है।

पुरुष नारी के सदाचरण पर सदियो से अविश्वास करता आया है। वह उसके चरित्र को सदेहात्मक दृष्टि से देखता है। यदि स्त्री किसी भी कारण वश एक रात भी बाहर रह जाती है तो पुरुष की शका इतनी प्रवल हो जाती है कि वह उसे कलकित समझकर पुन घर मे स्वीकार नही करता। यदि कोई सुधारक पुरुष ऐसी नारी की रक्षा करता है तो उस पुरुष को भी समाज अविश्वास की दृष्टि से देखने लगता है।[१] इस प्रकार घर से परित्यक्त होकर नारी दर-दर की भिखारिणी बन जाती है। समाज के भय से कोई भी परिवार उसे शरण नही देता।[२] ऐसी स्थिति मे यदि उसे किसी सज्जन का सम्पर्क मिल गया, तब तो उसका जीवन सम्मानपूर्वक व्यतीत हो जाता है, अन्यथा उसे या तो अपना धर्म त्यागना पडता है या वेश्यावृत्ति स्वीकार करनी पडती है।[३]

विनोदशकर व्यास लिखित 'अशान्त' मे वीणा का चरित्र ऐसा ही है। यद्यपि वीणा ने अपने प्राणो की बाजी लगाकर विधर्मियो से अपने सतीत्व की रक्षा की किन्तु तो भी उसका परिवार उसे स्वीकार नही करता और इस ओर से निराश होकर वह अनाथाश्रम की शरण लेती है। किन्तु ये स्थल भी निरापद नही होते। एक ओर स्वय आश्रम के मत्री महोदय उसकी इज्जत लूटना चाहते है, दूसरी ओर वह एक कुटनी के फदे मे फँस जाती है। 'अमर अभिलाषा मे चतुरसेन शास्त्री ने भी यही दिखाया है कि सुशीला और भगवती दोनो ही कुटनी के फदे मे पड जाती है। सुशीला तो एक सज्जन की सहायता से

---

१. ऋषभचरण जैन : 'मास्टर साहब' (पृष्ठ ११२)
२. तेजकुमारी दीक्षित : 'हृदय का काँटा' (पृष्ठ ९२)
३. प्रेमचन्द ने अपनी पत्नी शिवरानीदेवी से कहा था, 'अब भी तुम्हारे घर की जो स्त्रियाँ निकाली जाती है, वे मुसलमानों के ही घर जाती हैं, या चकले में जाती है।' शिवरानीदेवी प्रेमचन्द : 'प्रेमचन्द : घर में' (पृष्ठ १३०)

वेश्या होने से बच जाती है किन्तु भगवती को और कोई मार्ग नही रहता। ऋषभचरण जैन के उपन्यास 'वेश्या पुत्र' मे हिन्दू-मुस्लिम दगे मे मारे गये एक पुरुष की पत्नी पुरुष की लम्पटता और चरित्रहीनता से तग आकर वेश्या हो जाती है। उमाशकर मिश्र लिखित 'बनारस की वेश्याएँ' (१९३९) नामक उपन्यास मे भी अलका, जमना, लीला और सावित्री की जीवन-गाथा के द्वारा यह दिखाया गया है कि सामाजिक विडम्बना, कुरीति और प्रवचना के कारण स्त्रियाँ वेश्या बन जाती है।

इतना होने पर भी इन उपन्यासकारो ने यह दिखाया है कि यदि नारी का चरित्र पर्वत के समान अटल और समुद्र के समान मर्यादित हो तो बाहरी तूफान उसे नही डिगा सकते। हिन्दी उपन्यासो मे ऐसी सच्चरित्र नारियाँ भी चित्रित है जिनकी दृढता और पवित्रता के सम्मुख पुरुष की कामवासनाएँ भी परास्त हो जाती है। किन्तु ऐसे चरित्र नितान्त आदर्श बनकर सामने आये है। विषम परिस्थितियो की घनघोर घटा मे व्यक्ति का मन कब भटक जाए, कहना कठिन है। इस युग की सुधारवादीचेतना व्यक्ति-मन की दुर्बलता को भी क्षमा न कर सकी। वेश्यावृत्ति के लिए उन्होने एक ओर समाज-व्यवस्था को दोषी ठहराया है तो दूसरी ओर नारी के अबोध और अनुभवहीन मन की दुर्बलता को भी। यही कारण है कि 'सेवासदन' की सुमन वेश्यावृत्ति से उबरने पर आत्मपीडक बन जाती है। वह समाज को दोषी ठहराने के स्थान पर अपनी विलास-वृत्ति और अज्ञान को ही दोष देती पाई जाती है।

जब एक बार नारी सद्गृहिणी से वेश्या बन जाती है,तब समाज की लाछना उस तक ही सीमित नही रहती प्रत्युत उसके सगे सम्बन्धियो और विशेषत उसकी सतान के लिए भी अभिशाप सिद्ध होती है। इस प्रकार नारी को पीढी-दर-पीढी वेश्यावृत्ति ग्रहण करनी पडती और एक ऐसे विष-चक्र की रचना हो जाती है जिसका अत दिखाई ही नही देता। यदि वेश्या की पुत्री स्वय उस निन्दनीय वातावरण से निकलकर स्वस्थ जीवन की साँस लेना चाहे, जीविका का कोई सम्मानपूर्ण प्रबन्ध करना चाहे और इस प्रकार स्वाभाविक जीवन बिताना चाहे तो भी उसके लिए कोई उपाय नही मिलता। किसी भी परिस्थिति मे समाज उसे स्वीकार करने को प्रस्तुत नही होता। वह जहाँ है, जिस स्थिति मे है, उसी मे रहने के लिए बाध्य हो जाती है। इस युग के लेखको का ध्यान समाज की इस विडम्बना पर भी गया है।

भगवतीचरण वर्मा लिखित 'तीन वर्ष' मे जब रमेश वेश्या सरोज से पूछता है कि क्या उसे वेश्यावृत्ति स्वीकार करते हुए बुरा नही लगा था, तब वह कहती है 'मैं न जाने कितनी रोई हूँ, न जाने कितनी तड़पी हूँ। लेकिन जो कुछ भगवान ने दिया, वह लेना ही पडा। मै सच कहती हूँ कि मेरी माँ भी बहुत दुखी हुई। इसी दुख से वे घुल-घुल कर मर गई। लेकिन होता क्या है ? धीरे-धीरे मैं इसकी आदी हो गई।"[1]

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'तीन वर्ष' (पृष्ठ २६२)

उषादेवी मित्रा लिखित 'जीवन की मुस्कान' (१९३९) मे पूरबी का जन्म वेश्यालय में होने के कारण ही उसको वेश्या बनना पडता है। उसका मन बडा कोमल और भावुक है, वह रात-दिन रोया करता है। किन्तु उसे दूसरा कोई उपाय दृष्टिगोचर नही होता। उल्टे इसी के कारण उसकी विवाहिता छोटी बहिन को भी उसका पतित्याग देता है। पूरबी उदास होकर अपने अभिशप्त जीवन की कहानी पृथीश से कहती है 'मेरे ही लिए तो उस बेचारी को पति ने छोटे बच्चो के साथ त्याग दिया। उसे पता चल गया कि इसकी बहिन वेश्या है। और एक मेरे ही कारण क्वाँरी है। वेश्या की बहिन को कौन ब्याहने लगा।'[1]

'सेवासदन' मे भी मदनसिह को जैसे ही पता चलता है कि शान्ता वेश्या सुमन की ही बहिन है, वे बारात लौटा लाते है। शान्ता अपनी बहिन के पास विधवाश्रम मे शरण लेती है किन्तु विधवाश्रम मे भी जैसे ही पता चलता है कि सुमन पहले वेश्या थी, वहाँ हलचल मच जाती है और अनेक विधवाएँ आश्रम छोडकर चली जाती हे। अन्त मे जब सुमन सात्विक जीवन बिताने लगती है और मदनसिह का ही पुत्र सदन बडे साहसपूर्वक शान्ता के साथ विवाह करके सुमन की ही कुटिया मे रहने लगता है, तब भी सदन के माँ-बाप उसके पास जाकर रहने मे अपना अपमान समझते हे।

वेश्या में नारी-सुलभ गुण

इस युग के कुछ उपन्यासकारो ने वेश्या की कुचेष्टाओ को सामाजिक समस्या के लिए गौण जानकर समस्या के अधिक गम्भीर पक्ष की ओर ध्यान दिया हे। उसकी कुचेष्टाएँ तो बाह्य व्यवहार मात्र है जो उसे सामाजिक और आर्थिक विवशता के कारण करना पडता है। उन्होने इस व्यवहार के नीचे दबी हुई सहज नारी-भावना एव नारी-सुलभ गुणो को देखने का प्रयास किया है। वेश्या का ऐसा चित्रण करने मे उपन्यासकारो का मुख्य दृष्टिकोण यह है कि वेश्या घृणित नही, उसका कर्म घृणित है,[2] जो उसे परिस्थितिवश करना पडता है। नही तो उसकी आत्मा भी उतनी ही पवित्र ओर महान हो सकती हे जितनी किसी अन्य चरित्रवती नारी की। वह भी सच्चे एक-निष्ठ प्रेम की उतनी ही आकांक्षिणी हो सकती है जितनी कोई पतिव्रता। उसके मन मे जीवनोद्धार की अभिलाषा है किन्तु रास्ता नही मिलता।[3] यदि हम उसकी समस्याओ को सहानुभूतिपूर्वक सुलझा

---

१. उषादेवी मित्रा : 'जीवन की मुस्कान' (पृष्ठ १२०)

२. 'हमे उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ है जिन्होंने वेश्या का रूप धारण किया। यह दालमण्डी हमारे ही जीवन का कलुषित प्रतिबिम्ब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात्कार स्वरूप है। हम किस मुँह से उन्हे घृणा करें।'
प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ २१५)

३. 'आपको यह देख कर आश्चर्य होगा कि उनमें कितनी धार्मिक श्रद्धा, पाप-जीवन से

सके, उसे इस घृणित नारकीय जीवन से मुक्त कर सके तो वह भी कुलवधू की भाँति सम्मानित जीवन व्यतीत कर सकती है और उपयोगी नागरिक बन सकती है।

बहुत-सी वेश्याएँ ऐसी होती है जो भिन्न-भिन्न व्यक्ति के मन को पहचान कर तदनुरूप व्यवहार और आचरण करती है। जो पुरुष उसके पास केवल काम-वासना की तृप्ति के लिए आते है उनके प्रति उनके मन मे तनिक भी श्रद्धा नही होती। किन्तु सहृदय व्यक्ति को देखकर कभी-कभी वेश्या के मन की प्रसुप्त नारी-सुलभ कोमल भावनाएँ जाग उठती है। वे उनको प्रेम करने लगती है—ऐसा निस्वार्थ प्रेम जिसमे निरा समर्पण होता है, प्रतिदान की आकाक्षा नही होती, जो कुल-वधू मे भी मुश्किल से मिलता है।

प्रेमचन्द ने वेश्या-जीवन के इस सत्य की ओर 'गबन' और 'सेवासदन' दोनो मे ही सकेत किया है। 'गबन' मे वेश्या जोहरा रामनाथ से प्रेम करने लगती है, उसी की प्रेरणा से रमानाथ मे सद्बुद्धि जागृत होती है और वह अपना झूठा बयान बदलता है। जोहरा की इस सद्वृत्ति को स्वय रमानाथ स्वीकार करता है।[1] इसी प्रकार 'सेवासदन' मे सुमन भी सदन को सच्चा प्रेम करती है। अपने स्वार्थवश उसने कभी भी सदन को कुमार्ग की ओर प्रेरित नही किया। उल्टे, जब सदन अपने घर से सोने के कगन चुरा लाकर उसे देता है तो वह उन्हे उसी के घर वापस पहुँचवा देती है। ऐसी मनोदशा मे सुमन को अपनी वेश्यावृत्ति से तीव्र असतोष होने लगता है। वह किसी एक की होकर एक पुरुष के प्रेम मे अपने को समाहित कर देना चाहती है, किन्तु वेश्या के लिए ऐसा प्रेम सम्भव नही। यहाँ उसकी भावना का नही, रूप का मूल्य है। वेश्या का मन किस प्रकार पति-व्रत अपनाने के लिए लालायित होता है इसका प्रेमचन्द ने बडा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है.

'सुमन का ध्यान इस समय सुभद्रा की ओर लगा हुआ था। वह मन मे उससे अपनी तुलना कर रही थी। जो शान्तिमय सुख उसे प्राप्त है, क्या वह मुझे मिल सकता है? असम्भव! यह तृष्णा-सागर है, यहाँ शान्ति-सुख कहाँ? जब पद्मसिह के कचहरी से आने का समय होता तो सुभद्रा कितनी उल्लसित होकर पान के बीडे लगाती थी, ताजा हलवा पकाती थी। जब वह घर मे आते थे तो वह कैसी प्रेम-विह्वल होकर उनसे मिलने दौडती थी। आह! मैने उनका प्रेमालिगन भी देखा है, कितना भावमय। कितना सच्चा। मुझे वह सुख कहाँ? यहाँ या तो अधे आते है या बातो के वीर। कोई अपने धन का जाल

कितनी घृणा, अपने जीवनोद्धार की कितनी अभिलाषा है...उन्हे केवल एक सहारे की आवश्यकता है।'
प्रेमचन्द 'सेवासदन' (पृष्ठ ३११)

१. 'मै इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे उस तरफ से प्रकाश मिला जिधर से औरो को अंधकार मिलता है। विष से मुझे सुधा प्राप्त हो गई।'
प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ ३१८)

बिछाता है, कोई अपनी चिकनी-चुपडी बातो का। उनके हृदय भाव-शून्य, शुष्क और ओछेपन से भरे हुए होते है।"[1]

इसी प्रकार 'तीन वर्ष' मे भगवतीचरण वर्मा ने वेश्या सरोज का एव 'जीवन की मुस्कान' मे उषादेवी मित्रा ने वेश्या पूरबी का जो सवेदनापूर्ण चित्रण किया हे वह भी पाठक के मन को छूता है।

ऋषभचरण जैन लिखित 'चम्पाकली' मे चम्पाकली और अनूपलाल मडल लिखित 'मीमासा' मे वेश्यापुत्री अरुणा के कोमल हृदय का भी अच्छा चित्रण हुआ है। अनूपलाल मण्डल ने दूसरे उपन्यास 'समाज की वेदी पर' मे भी वेश्या बालिका के प्रेम का मार्मिक चित्रण किया है।

इस युग के उपन्यासकारो ने जहाँ एक ओर वेश्या के कलकित वेश मे छिपी परित्यक्ता, तिरस्कृता नारी की कोमल भावना और उद्धार-कामना का चित्रण किया है, वही दूसरी ओर उसकी प्रकट कुचेष्टाओ और हाव-भाव-प्रदर्शन का भी विस्तृत वर्णन किया है। पर इस वर्णन का उद्देश्य किसी भी प्रकार की रस-सृष्टि नही है। ऐसे वर्णन द्वारा ये लेखक पुरुष-समाज को वेश्या के पास जाने से विरत करना चाहते थे। वेश्यावृत्ति के उन्मूलन के एक पहलू के रूप मे ही हमे इस वर्णन को ग्रहण करना होगा।

वेश्या की कुचेष्टाओ का चित्रण

अनेक सामाजिक, आर्थिक और परिस्थिति-जन्य विवशताओ के कारण जब नारी को वेश्यावृत्ति स्वीकार करनी पडती है, तब वह उसी मे अपना मन लगाने की चेष्टा करती है। धीरे-धीरे वह इसकी अभ्यस्त हो जाती है। जीविका का अन्य कोई साधन न होने के कारण उसको अपने इस कार्य मे छल, कपट, झूठ और आडम्बर का सहारा लेना पडता है। यही इस वृत्ति की प्रकृति हे, यही उसका पेशा है। बिना इन चेष्टाओ का सहारा लिये वेश्या बनकर भी उसकी जीविका की समस्या हल नही हो सकती। इस प्रकार का आचरण करते-करते कुछ वेश्याएँ इतनी अभ्यस्त हो जाती है कि वे इन कुचेष्टाओ का पुजीभूत स्वरूप होकर रह जातो है। उनकी सद्वृत्तियो का सर्वथा लोप हो जाता है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के उपन्यास 'माँ' मे वेश्या के आडम्बर-युक्त लोलुप जीवन का सच्चा चित्रण है। वह किस प्रकार मिथ्या प्रेम-प्रदर्शन करके युवको को फँसाये रहती है, किस प्रकार जिस पुरुष के पास जितना अधिक धन होता है उसके प्रति उसके प्रेम-प्रदर्शन की मात्रा भी उतनी ही बढ जाती है, यह इस उपन्यास मे भली प्रकार वर्णित है। विश्वनाथ, श्यामनाथ और गोकुलचन्द तीनो वेश्यागामी पुरुषो को देखकर वेश्या बन्दी की माँ कहती हे . 'या अल्लाह, जब से आपको चौक में घूमते देखा, तब से मछली की तरह तडपती फिरती रही। कई बार कहा—आज अभी तक नही आये, क्या न आवेगे। और मै कहती थी आवेगे जरूर। आखिर वही

---

१. प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ ९९)

हुआ।'[1] तब बन्दी और अधिक रग जमाने के लिए एक हृदय-हारिणी मुख-भगी करके कहती है · 'भई, हम अपनी आदत को क्या करे। हमारी तो जिससे मुहब्बत होती है, उसी से बातचीत करने को जी चाहता है। यो हमसे हँसा नही जाता, चाहे कोई लखपति हो या करोडपति। हम तो मुहब्बत के भूखे है, रुपये के भूखे नही। रुपया लेकर हमे करना क्या है? जिस खुदा ने पैदा किया है, वह शाम तक खाने को दे ही देगा।'[2] जब कमरुन्निसा और शम्सुन्निसा वेश्याओ के कारण श्यामनाथ बहुत दिन तक वेश्या बन्दी के यहाँ नही जा पाता तो उसकी स्वार्थ भावना प्रकट हो जाती है। बन्दी अपनी माँ से कहती है 'मैं उन्हे आसानी से थोडे छोड दूँगी, अगर कही आँख लगी भी होगी, तो भी जहाँ तक होगा, पजे से निकलने न दूँगी।'[3]

इस प्रकार इस युग के उपन्यासकारो ने वेश्या की नितान्त स्वार्थ-वृत्ति का चित्रण करके पुरुष-समाज को सावधान करने का प्रयत्न किया। साथ ही उन्होने यह भी कहने की चेष्टा की कि वेश्या-गमन से स्वास्थ्य और धन की हानि तो होती ही है, वेश्यागामी पति की पत्नी का जीवन भी अस्वाभाविक-रूप मे बीतने लगता है। पति की उपेक्षा पाकर या तो वह भी भटक जाती है या फिर मानसिक असतोष और यातनाओ को सहते सहते क्षय-ग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त होती है। 'कौशिक' के 'माँ' मे सती-साध्वी चुन्नी का ऐसा ही चरित्र है जो पति के वेश्यागामी होने के कारण मरकर ही चैन पाती है।

वेश्यावृत्ति और समाज का दायित्व

सेठ गोविन्ददास ने अपने 'इन्दुमती' (१९५०) उपन्यास मे वेश्यावृत्ति के सम्बन्ध मे समाज की दूषित मनोवृत्ति पर व्यग्य करते हुए लिखा है कि सन् १९१७ मे यद्यपि वेश्या-नृत्य के विरोध मे आवाज उठने लगी थी, पर सभ्य कहलाने वाले समाज से उसका बहिष्कार नही हो पाया था। उस समय के लोग वेश्याओ को 'मगलामुखी' के नाम से पुकारते थे, और ब्याह-शादी, जन्मोत्सव और धार्मिक समारोहो मे वेश्या-नृत्य को आवश्यक मानते थे। उस समय का अधिकाश समाज धार्मिक उत्सवो मे जडमूर्ति के दर्शन के लिए नही, इस चेतन प्रतिमा के प्रेक्षण के लिए पधारता था।[4]

वेश्यावृत्ति मे 'सेवासदन' की सुमन को जो अनुभव होता है वह समाज की रूढिवादी नैतिकता पर चुभता हुआ व्यग्य है। जब सुधारक विट्ठलदास सुमन से वेश्यावृत्ति छोडने का आग्रह करता है तब वह कहती है 'मेरा तो यह अनुभव है कि जितना आदर मेरा अब हो रहा है उसका शताश भी तब नही होता था। एक बार मै सेठ चिम्मनलाल के ठाकुरद्वारे मे झूला देखने गई थी, सारी रात बाहर खडी भीजती रही, किसी ने भीतर न

---

१. विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' : 'माँ' (पृष्ठ १३०)
२. वही : (पृष्ठ १३१)
३. वही : (पृष्ठ ३०३)
४. सेठ गोविन्ददास : 'इन्दुमती' (पृष्ठ ४७-४८)

जाने दिया, लेकिन कल उसी ठाकुरद्वारे मे मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पडता था मानो मेरे चरणो से वह मन्दिर पवित्र हो गया।[१] खोखली नैतिकता के विरुद्ध सुमन के मन का यह विद्रोह प्रगतिशील भावना है।

प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन लेखको ने समाज के अनैतिक आचार-विचारों का खूब भण्डाफोड किया है। समाज के जो नेता है, जिनके हाथ मे सभाज की वागडोर है, जो आर्थिक रूप से मदद करने मे समर्थ है वे ही दुर्वासनाओ की कीच मे सने हुए है तो फिर समाज की दशा कैसे सुधर सकती है? कोई रसिक वेश्याओ को सगीत कला की सरक्षिका समझता है तो कोई सौन्दर्योपासको की देवियाँ। कुछ पुरुष अपने स्वार्थ के लिए वेश्या को उसी स्थिति मे बने रहने देना चाहते है। उनका मत है 'इससे गन्दगी गन्दी जगह रह जाती है, बाकी समाज की शुद्धता बच जाती है।'[२] तत्कालीन समाज मे प्रचलित इन सब प्रवृत्तियो का ही फल है कि एक पद्मसिह के अतिरिक्त सुधारक विट्ठलदास की कोई मदद नही करता, उल्टे सब पग-पग पर उसके काम मे बाधा पहुँचाना चाहते है।

'सेवासदन' मे पद्मसिह और विट्ठलदास समाज-सुधारक के रूप मे हमारे सामने आते है। उनके मन मे वेश्या-उद्धार की सच्ची लगन है। वे जानते है कि पुरुष की कुवासनाओ, सामाजिक अत्याचार और कुप्रथाओ के कारण ही नारी वेश्या का रूप धारण करती है। इसलिए वे उनके उद्धार के लिए सतत प्रयत्न करते है।

समाज मे अनैतिक रूढियो ओर धर्माडम्बर के हिमायतियो की कटु आलोचना 'हृदयेश' ने 'मगल प्रभात' मे और भगवतीचरण वर्मा ने 'पतन' मे की है। जो महत और बडे-बडे दिग्गज तिलकधारी पडित धर्म के विचार से अनाश्रिता नारी को अवलम्ब और आश्रय नही देते वे ही नारी के वेश्या बन जाने पर छुपे-छिपे उसके रूप के पतग बनते फिरते है।[३] यही है समाज की विडम्बना।

प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' मे दिखाया है कि कुछ वेश्याएँ अपने नारकीय जीवन से मुक्त होने के लिए धन-सम्पत्ति का बलिदान करने को भी प्रस्तुत हो जाती है किन्तु तो भी समाज के कर्णधार उधर ध्यान नही देते। मजाक उडाने वाले तो ढेरो है किन्तु मदद करने वाला कोई दिखाई नही देता।[४] केवल दो-चार समाज-सुधारक ही इस समस्या को सुलझाने की ओर सचेष्ट दिखाई देते है।

प्रेमचन्द ने नारी द्वारा वेश्यावृत्ति अपनाने के जितने भी कारण हो सकते है, लगभग

---

१. प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ ९७)
२. चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' : 'मंगल प्रभात' (पृष्ठ ४९४)
३. वही : (पृष्ठ ४९४)
४. प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ ३११)

सभी सुमन के चरित्र के माध्यम से 'सेवासदन' मे पाठको के सम्मुख रख दिये है। इसलिए जब वेश्याओ की स्थिति सुधारने का प्रश्न उठता है तब उन सब कारणो के निराकरण पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। यदि सुमन के घर के सामने भोली वेश्या न रहती तो सम्भवतः सुमन वेश्यावृत्ति की ओर न झुकती। पार्क आदि सार्वजनिक स्थलो पर वेश्याओ के जाने से सभ्य समाज मे उनके नाच और मुजरे के प्रबन्ध होने से घर की बहू-बेटियो का ध्यान बरबस उस ओर आकर्षित होता था। इन्ही सब बातो पर ध्यान रखते हुए पद्मसिह म्युनिसिपल बोर्ड मे प्रस्ताव रखते है

वेश्यावृत्ति की समस्या और उसका समाधान

(१) वेश्याओ को शहर के मुख्य स्थलो से हटाकर बस्ती से दूर रखा जाए।

(२) उन्हे शहर के मुख्य सैर करने के स्थलो और पार्को मे आने का निषेध किया जाए।

(३) वेश्याओ का नाच कराने के लिए एक भारी टैक्स लगाया जाए, और ऐसे जलसे किसी हालत मे न हो।[1]

रूढिवादियो के विरोध के कारण यद्यपि यह प्रस्ताव पास नही हो पाता तथापि इस प्रस्ताव से यह ज्ञात हो जाता है कि उस समय आर्य-समाज आदि सुधारवादी सस्थाएँ इस समस्या का समाधान किस प्रकार करना चाहती थी। लेखक ने समाधान के रूप मे 'सेवासदन' के नाम से एक आदर्श आश्रम की स्थापना की है। 'सेवासदन' मे वेश्याओ की ही लडकियाँ रखी जाती थी। उन्हे शिल्प आदि की शिक्षा देकर उनको जीविकोपार्जन के योग्य बनाना ही उसका मुख्य उद्देश्य था। इस प्रकार प्रेमचन्द ने एक समाधान अवश्य प्रस्तुत किया है, किन्तु वे स्वयइससे सतुष्ट न थे। क्योकि उनको इस बात का पक्का विश्वास नही था कि इन लडकियो को समाज ग्रहण कर ही लेगा। यदि सयमित जीवन बिताने का प्रण करने पर भी वेश्या की लडकियो को समाज ग्रहण नही करता तो वेश्यावृत्ति की समस्या हल नही होती। सुभद्रा के पूछने पर सुमन सरल भाव से उत्तर देती है. 'यही तो टेढी खीर है। हमारा कर्तव्य यह है कि इन कन्याओ को चतुर गृहिणी बनने योग्य बना दे। उनका आदर समाज करेगा या नही, नही कह सकती।'[2]

सच तो यह है कि 'सेवासदन' मे दिया गया समाधान प्रेमचन्द के प्रारम्भिक आदर्शवादी मान्यताओ का ही प्रतिबिम्ब है। इस उपन्यास की रचना के समय उनको यथार्थ की वह सम्पूर्ण दृष्टि नही मिली थी जो 'गोदान' मे है। यही कारण है कि उनका दिया हुआ समाधान इसी समस्या पर लिखे गए अलैक्जैण्डर कुप्रिन के प्रसिद्ध उपन्यास 'यामा दि पिट' से इतना भिन्न है। वेश्यावृत्ति के अन्त के लिए नारी की सामाजिक स्थिति मे आमूल परिवर्तन अनिवार्य है, यह प्रेमचन्द अभी नही जान पाये थे।

---

१. प्रेमचन्द 'सेवासदन' (पृष्ठ २६७)

२. वही : (पृष्ठ ३५३)

देश मे राष्ट्रीय आन्दोलन एवं नारी-जागरण से प्रभावित होकर इलाचन्द्र जोशी ने 'घृणामयी' (१९२९) मे वेश्याओ के सुधार के लिए एक नये प्रकार का सुझाव दिया है। 'आँल इण्डिया काग्रेस कमेटी' के आगामी अधिवेशन मे यह प्रस्ताव पेश किया जाए कि हिन्दुस्तान भर की सब वेश्याओ को काग्रेस की सदस्या बनने के लिए देश भर मे प्रचार कार्य होना चाहिए . वेश्याओ मे सार्वजनिक जीवन की वृत्ति जागरित होने से उनका पतित जीवन भी सुधर सकेगा और देश को भी सहायता मिलेगी।''[1]

इस काल के अन्तिम चरण मे सामाजिक समस्याओ को हल करने मे आर्य-समाज और काग्रेस की विचारधारा के अतिरिक्त एक और विचारधारा का समावेश हो रहा था। वह थी साम्यवादी विचारधारा। प्रेमचन्द पर इस विचारधारा का प्रभाव पडा था। 'सेवासदन' सन् १९१६ मे प्रकाशित हुआ था और 'गोदान' १९३६ मे। 'सेवासदन' से 'गोदान' तक आते-आते उनकी विचारधारा मे एक स्पष्ट परिवर्तन है, विकास है। 'सेवासदन' मे वे 'सेवासदन' जैसे आश्रम से ही सतोष कर लेते है किन्तु 'गोदान' मे वे मेहता के शब्दो मे कहते है: 'रोजी के लिए और बहुत से जरिए है। देश की भूख रोटियों से नही जाती। उसके लिए दुनिया के अच्छे-अच्छे पदार्थ चाहिए। जब तक समाज की व्यवस्था ऊपर से नीचे तक बदल न डाली जाए, इस तरह की मडली से कोई फायदा न होगा।'[2]

साधारणत वेश्यावृत्ति को नगर की समस्या माना जाता है। यही कारण है कि इस युग के हिन्दी उपन्यासकारो ने केवल शहरो मे रहने वाली वेश्या का ही चित्रण किया है, गाँव की वेश्या की ओर किसी का भी ध्यान नही गया है, यद्यपि ग्रामीण क्षेत्र भी इससे अछूते नही है। वहाँ भी सशुल्क और निःशुल्क दोनो प्रकार की वेश्याएँ पाई जाती है। कुछ ग्रामीण क्षेत्रो मे इसने आतिथ्य का रूप भी धारण कर लिया है। मा या बेटी अथवा दोनो ही घर मे आये हुए अतिथि के आदर-सत्कार मे अपने को समर्पित कर देती है। इसका कोई उल्लेख हिन्दी उपन्यासो मे नही मिलता। यशपाल ने अपनी कुछ कहानियो मे ऐसा चित्रण अवश्य किया है। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि दलाल लोग ग्रामीण बालाओ को बहका कर आसपास के नगरो मे ले जाकर वेश्यावृत्ति कराते है। फिर भी ग्रामीण क्षेत्रो मे वेश्यावृत्ति अधिक प्रचलित नही है। चोरी-छिपे ग्रामीण घरो मे दो-चार उदाहरण भले ही मिल जाएँ किन्तु खुले आम चकलो की स्थापना यह शहर की ही विशेषता है। इसका मुख्य कारण यही है कि गाव का नैतिक मापदण्ड शहर के नैतिक मापदण्ड से भिन्न है। इसके अतिरिक्त शहर की नारी को असहाय परिस्थिति और मानसिक यातनाओ का जितना सामना करना पड़ता है, उतना गाँव की

गाँवों में वेश्या-वृत्ति की समस्या

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'घृणामयी' (पृष्ठ २६)

२. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ४१५)

नारी को नही करना पडता। कुछ ग्रामीण जातियो मे विधवा-विवाह और तलाक की भी प्रथा प्रचलित है। शहर की नारी की भाँति गाँव की नारी आर्थिक रूप से इतनी परतन्त्र नही होती कि आवश्यकता पडने पर जीविका की समस्या हल न कर सके। नारी द्वारा अर्थोपार्जन गाँवो मे बुरा नही माना जाता अत गाँव मे वेश्यावृत्ति अधिकाशत नारी की चारित्रिक दुर्बलता अथवा पुरुष की काम-लोलुपता के ही कारण होती है।

स्वच्छन्द प्रेम और अन्तर्जातीय विवाह की समस्या

अनमेल-विवाहो के दुष्परिणामो एव नवीन सामाजिक चेतना के फलस्वरूप प्रेमचन्द युग के सभी उपन्यासकारो का ध्यान नारी के जीवन मे प्रेम की आवश्यकता पर गया। उन्होने प्रचलित मान्यताओ के साथ-साथ विवाह मे प्रेम को आवश्यक माना। यद्यपि इस युग के उपन्यासकारो ने नारी मे उन सभी गुणो का समावेश किया है जिनके बल पर वह समाज मे आदर-भाव पाती है, तथापि इनके साथ-साथ प्रेम-तत्त्व को और जोड दिया है, क्योकि प्रेम के बिना सफल-से-सफल गृहस्थी भी थोडे ही दिनो मे नष्ट हो सकती है। इन लेखको की धारणा थी कि एक प्रेम ही ऐसा तत्त्व है जो दो व्यक्तियो के मन को एक सूत्र मे बाँधने की क्षमता रखता है, उसी से व्यक्ति के व्यक्तित्व मे बल और पूर्णता आती है और जीवन के विकास के लिए सच्चा आधार मिलता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की भाँति इस युग के लेखको ने प्रेम को नारी की सबसे बडी विभूति और शक्ति माना है। प्रेम की अनुभूति के बिना नारी-जीवन अपूर्ण है।[1] प्रेम करना उसका नैसर्गिक[2] और जन्मसिद्ध अधिकार है।[3] इस प्रेम-तत्त्व के ही कारण नारी पुरुष की बर्बरता पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होती है। इसीलिए ,उन्होने बाल-विवाह, अनमेल विवाह और वृद्ध-विवाह का घोर विरोध किया है, क्योकि ऐसे विवाह-सम्बन्धो मे प्रेम की कोई सम्भावना नही रहती। उन्नीसवी शताब्दी तक कन्या का विवाह पूर्णत अभिभावक की इच्छा पर निर्भर होता था।

---

१. प्रेमचन्द ने कहा : 'औरत को यदि जीवन मे प्रेम न मिले, तो उसका मर जाना ही अच्छा है।'
हंसराज रहबर : प्रेमचन्द · 'जीवन और कृतित्व' (पृष्ठ २९२)

२. 'वहाँ प्राकृतिक, स्त्री जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है जैसा कि घटनावश प्रायः स्त्रियाँ किया करती है, उसे क्यो छोड़ दूँ ?'
जयशंकर प्रसाद : 'कंकाल' (पृष्ठ १८९)

३. 'स्त्रियों का हृदय. . .प्रेम का रंगमंच है. . . । स्त्रियो का यह जन्मसिद्ध उत्तराधिकार है मंगल। उसे खोजना-परखना नहीं होता, कही से ले आना नहीं होता। वह बिखरा रहता है असावधानी से—धन-कुबेर की विभूति के समान। उसे सँभालकर केवल एक ओर व्यय करना पड़ता है. . .इतना ही तो।'
वही : (पृष्ठ २५९)

किन्तु प्रेमचन्द के काल तक समाज ने काफी उन्नति कर ली थी। उच्च और मध्यवर्ग की नारी शिक्षा प्राप्त करने लगी थी, उसका व्यक्तित्व विकसित होने लगा था। वह प्रेम और उसके अभाव के अन्तर को समझने लगी थी। नारी की प्रगति और अपनी आदर्श-भावना इन दोनो की प्रेरणाओ के फलस्वरूप इन लेखको ने नारी-जीवन मे प्रेम को इतना महत्व दिया है। यही कारण है कि प्रेमचन्द-युग के उपन्यासो मे अधिकाश प्रेयसियाँ यथार्थ रूप मे चित्रित होकर भी अन्त मे आदर्शगामिनी बन जाती है। उनके अनुसार यदि स्त्री-पुरुष के प्रेम का आधार केवल रूप का आकर्षण और कामवसाना है तो वह प्रेम छिछला है, किन्तु यदि इस प्रेम के पीछे व्यक्ति का त्याग, आदर्श और आन्तरिक ऐक्य की भावना है तो वह प्रेम वाछनीय है, स्थायी है, समाज के विकास के लिए स्वास्थ्यकर है।

इस प्रकार प्रेमचन्द आदि उपन्यासकारो ने प्रेम-तत्त्व के चित्रण मे मानसिक कुठाओ का चित्रण नही किया है। प्रेम और काम को वे स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप मे अवश्य स्वीकार करते है किन्तु उन्होने उसको प्रतिपाद्य विषय नही बनाया है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस युग के प्रवर्तक प्रेमचन्द इस विषय मे मूलत परम्परावादी थे। वे त्याग, सेवा और पवित्रता को नारी के मुख्य आदर्श मानते थे।[1] पाश्चात्य प्रभाव के कारण स्वच्छन्द प्रेम और स्वेच्छया विवाह की जो लहर भारत मे बडे प्रबल रूप से फैल रही थी उसको उनका सस्कारी मन आत्मसात न कर सका, क्योकि उसमे उनको छिछले प्रेम और क्षणिक मोह के दर्शन होते थे, किन्तु परम्परावादी होते हुए भी वे विचारक और सुधारक भी थे। उनके सस्कार तो परम्परावादी थे किन्तु जब वे समाज की गतिविधि को देखते और समझते थे तो अपने इन सस्कारो मे ही उलझे नही रह जाते थे। वे समय के साथ बदलने मे विश्वास करते थे।[2] इसलिए यद्यपि वे अपने परम्परागत विचारो का सर्वथा

---

१. 'मेरा नारी का आदर्श है एक ही स्थान पर त्याग, सेवा और पवित्रता का केन्द्रित होना। त्याग बिना फल की आशा के हो, सेवा सदैव बिना असंतोष प्रकट किये हुए हो और पवित्रता सीज़र की पत्नी की भाँति ऐसी हो, जिसके लिए पछताने की आवश्यकता न पड़े।'
उपर्युक्त पक्तियाँ प्रेमचन्द ने डा० इन्द्रनाथ मदान को ७ सितम्बर १९२५ लिखे पत्र में लिखी थी।
डा० इन्द्रनाथ मदान : 'प्रेमचन्द : एक विवेचन' (पृष्ठ १७७)

२. 'तुम सुधार चाहती हो तो तुम्हारे लड़के उसको मिटाना जरूर ही चाहेंगे। इसमें घबड़ाने की कौन-सी बात है? जैसा समय होता है, उसी तरह कायदे-क़ानून भी तो बदलेंगे। सदी तो बीसवीं है और आप चाहती हैं पहले वाला युग। नहीं बीसवीं सदी के अनुसार क़ायदे-कानून भी बनेंगे और बनने चाहिये, जिसमे एकतरफ़ा डिगरी करने का किसी को हक़ न रहे।'
शिवरानी देवी प्रेमचन्द : 'प्रेमचन्द : घर में' (पृष्ठ १३३)

त्याग न कर सके किन्तु उन्होने उनमे समयानुकूल परिवर्तन, सशोधन अवश्य किया जो उनकी समन्वित दृष्टि का आधार बना। अपने विचारो को समयानुरूप ढालने की उनकी प्रवृत्ति प्रगतिशीलता की द्योतक है। इस समन्वित दृष्टि के सहारे प्रेमचन्द ने नारी के प्रेम का जो रूप प्रस्तुत किया है वह आधुनिक भारतीय नारी का सच्चा चित्र है। मध्यकालीन शृगारिक नारी-भावना की प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रेमचन्द ने नारी को शक्तिमती और सकल्पवती का रूप दिया है, जैसे 'रगभूमि' की सोफी, 'कायाकल्प' की मनोरमा, 'गोदान' की मालती, 'गबन' की जालपा और 'कर्मभूमि' की सुखदा। नारी के इसी कर्मठ रूप को वे उसका सच्चा सौन्दर्य मानते थे। उनके उपन्यासो की पृष्ठभूमि मे नई सामाजिक चेतना थी। इसलिए वे प्रेमिका का चित्रण करते समय भी उसके सामाजिक प्रभाव का ध्यान रखते थे। यथार्थ और आदर्श का सामजस्य ही उनके उपन्यासो की प्रेयसियो की विशेषता है। उनकी नारी शरद की नारी की भाँति भावुकता की पिटारी मात्र नही है। उसमे सकल्प एव देशोद्धार की भावना प्रधान है।

प्रेमचन्द की भाँति इस युग के अन्य उपन्यासकार प्रसाद, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीचरण वर्मा, सियारामशरण गुप्त, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, वृन्दावनलाल वर्मा, उषादेवी मित्रा, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि ने भी प्रेम के क्षेत्र मे सोद्देश्यता और सयम का ध्यान रखा है। इनके उपन्यासो मे चित्रित प्रेयसियो मे बलिदान और त्याग की भावना है तथा कष्ट-सहन करने की प्रवृत्ति है। इन्होने नारी के प्रेम को कही भी उच्छृखल या कलुषित नही बनने दिया है। प्रत्युत इन्होने तो यह माना है कि यदि नारी पुरुष से सच्चा एकनिष्ठ प्रेम करती है तो कुमार्ग पर चलने वाला व्यक्ति भी सुमार्ग ग्रहणकर सकता है।

इन उपन्यासो मे वर्णित नारी-प्रेम मे त्याग, मर्यादा एव अनन्यता पर इतना बल इसीलिए दिया गया है कि इस युग के लेखक को यह भय था कि कही नारी पाश्चात्य प्रभाव के कारण उच्छृखल न बन जाए। समाज मे स्वच्छन्द प्रेम की जो प्रवृत्ति बल पकड रही थी उसको कोई रोक नही सकता था। वरन् इसके विरोध के कारण कही-कही तो बडे अनर्थ भी दिखाई दे रहे थे। अत इस युग के उपन्यासकार ने स्वच्छन्द प्रेम का समर्थन तो किया किन्तु भारतीय आदर्शो के अनुरूप प्रेम मे आत्मसमर्पण और निस्वार्थ भावना को आवश्यक माना है। उनका मत है कि जो प्रेम नितान्त काम से प्रेरित होकर किया जाता है वह सच्चा प्रेम नही है। इसी कारण इस युग के लेखको ने ऐसे निस्वार्थ आन्तरिक मिलन के सामने विवाह के रीति-विधान को भी गौण माना है।[1] यद्यपि प्रेम मे विवाह की इच्छा स्वाभाविक

---

१. (अ) 'प्रेम जब आत्मसमर्पण का रूप लेता है, तभी वह ब्याह है, उसके पहले ऐयाशी।'
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १८५)

(आ) 'जो कहते हैं अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृखल है, वे भ्रांत है। हृदय का सम्मिलन ही तो ब्याह है। मै सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूँ और तुम मुझे; इसमें किसी के मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों—मन्त्रो का महत्त्व कितना। झगड़े

है क्योकि यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिस वस्तु को व्यक्ति प्यार करता है, उसको पाना चाहता है, किन्तु इन लेखको ने अपनी आदर्शवादिता के कारण प्रेम की अनिवार्य परिणति के रूप मे विवाह को स्वीकार नही किया है। लगभग सभी उपन्यासो ने निस्वार्थ और आन्तरिक प्रेम की दुहाई दी है। प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' मे सकीना ओर मुन्नी का ऐसा ही चित्रण किया है। यहाँ तक कि 'गोदान' मे भी मालती निस्वार्थ प्रेम के आदर्श के वशीभूत होकर विवाह को आवश्यक नही मानती। प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने स्पष्ट शब्दो में निस्वार्थ प्रेम की सराहना करते हुए कहा 'विवाह की इच्छा स्वार्थ है, इसलिए वह प्रेम पाप है। अगर उसका निस्वार्थ प्रेम है, तो वह कभी विवाह की इच्छा ही नही करेगी। एक रूप से, एक भाव से, निरन्तर प्यार करती रहेगी, और उसी प्रेम में अपना जीवन उत्सर्ग कर देगी।'[1] उषादेवी मित्रा के 'वचन का मोल' मे कजरी का चरित्र और 'पिया' मे पिया का चरित्र तथा भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' मे सरोज का चरित्र ऐसा ही है। ये प्रेमिकाएँ अपने निस्वार्थ प्रेम की एकनिष्ठा पर मर मिटती है किन्तु प्रतिदान की आकाक्षा नही करती।

प्रेम-भावना की इस अनन्यता पर बल देने मे लेखको का दुहरा उद्देश्य था। आधुनिकता के विरोधी लोग स्वच्छन्द प्रेम मे जो दोष देखते थे उनसे बचने का यह सीधा उपाय था। दूसरे क्षणिक आकर्षण के आधार पर किये गए विवाह-सम्बन्ध यथार्थण की कसौटी पर बहुत कम खरे उतरते है। इसीलिए इन लेखको ने यह सिद्ध किया कि यदि स्त्री-पुरुष का मन एक दूसरे से मिलता है तो फिर विवाह के आडम्बर का कोई महत्व नही है। प्रेम ही जीवन का सत्य है।[2] विवाह तो बाह्य उपकरण मात्र है, दिखावा है।[3] यदि स्त्री-पुरुष का

की, विनिमय की यदि सम्भावना रही तो समर्पण ही कैसा। मैं स्वतन्त्र प्रेम की सत्ता स्वीकार करता हूँ, समाज न करे तो क्या।'
जयशंकर प्रसाद : 'कंकाल' (पृष्ठ १८७)

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ २८२)

२. (अ) 'जिसको सब कहते हुए छिपाते हैं; जिसे अपराध कह कर कान पकड़ कर स्वीकार करते हैं, वही तो जीवन का, योवनकाल का ठोस सत्य है।'
प्रसाद : 'कंकाल' (पृष्ठ ११८)

(आ) 'हम एक दूसरे को चाहते है, एक दूसरे को प्यार करते है। स्पष्ट तो है कि हमने एक दूसरे को अपना हृदय दे रखा है। फिर मै उससे दूर क्यों रहूँ; उससे अलग रहने की कोशिश मे तबाह क्यों बनूँ?'
रामवृक्ष बेनीपुरी : 'पतितों के देश में' बेनीपुरी ग्रंथावली: भाग १ : (पृष्ठ २१)

३. 'किन्तु यहाँ सवाल होता है, शादी है क्या चीज ? क्या शादी उसी को कहा जाए, जिसमें कहीं का ईंट, कही का रोड़ा, 'भानवती का कुनवा जोडा' की कहावत के अनुसार दो प्राणियों को दो जगह से लाकर जबर्दस्ती गठबंधन कर दिया जाए? क्या विवाह के लिए दो हृदयों के पारस्परिक मिलन की कोई अनिवार्यता है ही नहीं?' वही (पृ०८३)

मन नही मिलता, उसमे आन्तरिक आदान-प्रदान सम्भव नही होता तो फिर विवाह का बन्धन भी निरर्थक हो जाता है और यदि उनमे प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है तो फिर उनका विवाह न होने पर भी उनका जीवन सफल हो जाता है। विवाहित और अविवाहित जीवन की यही व्याख्या 'ककाल' के सभी नारी-पात्रो मे चरितार्थ की गई है। 'ककाल' की विवाहिता किशोरी को अपने पति से प्रेम नही है इसलिए उसे आन्तरिक सुख की झलक भी नही मिलती। यमुना अपने जीवन का सचित प्रेम मगल को अर्पित कर समाज की रूढियो को थोथा सिद्ध कर देती है। घटी और गाला अविवाहित होकर भी अनन्य प्रेम के आदर्श का पालन करती है। इसी प्रकार रामवृक्ष बेनीपुरी विवाह मे आन्तरिक मिलन पर इतना अधिक बल देते है कि उसके बिना पति-पत्नी के समाजानुमोदित सम्बन्धो को वे व्यभिचार मानते है। प्रेम और विवाह के प्रचलित मापदण्डो पर उन्होने कटु व्यग्य किया है जिससे पाठक सच्चे प्रेम के महत्व को समझ सके। उन्होने 'पतितो के देश मे' कहा है 'मेरे ख्याल से तो सबसे बडा व्यभिचारी पति नामधारी वह महापुरुष है, जो पत्नी नामी एक अबला पर, हृदय-मिलन की आवश्यकता के बिना महसूस किये ही, केवल इसीलिए कि वह किसी पडित जी या कुछ बडे-बूढो के द्वारा पति करार कर दिया गया है, अपनी पाशविक तृष्णा की पूर्ति करता है। कैसा भयकर अधेर। तथाकथित विवाह की ओट मे होने वाली दिन-रात की इस व्यभिचार लीला पर तो कुछ विचार नही किया जाता और यदि कभी इकले-दुकले युवक-युवती हृदय की पुकार से बाध्य हो परस्पर मिलते है, तो व्यभिचार-व्यभिचार का तूमार खडा कर दिया जाता है।'[१] इस प्रसग मे अग्रेजी के विख्यात विचारक और नाटककार जार्ज बर्नर्ड शा का यह मत भी दृष्टव्य है कि 'विवाह नियमानुमोदित वेश्यावृत्ति है।'

'प्रसाद', प्रेमचन्द, बेनीपुरी आदि उपन्यासकारो ने प्रेम की अनन्यता और हृदय के सम्मिलन पर बल अवश्य दिया है पर उन्होने विवाह की अवहेलना नही की है। इस युग का उपन्यासकार विवाह को भी आवश्यक मानता है क्योकि विवाह एक-निष्ठ प्रेम का प्रमाण माना गया है। उन्होने विवाह-सस्कार को तभी हेय माना है, जब वर-वधू मे प्रेम न होने के कारण वह आडम्बर मात्र बन कर रह जाता है। यदि प्रेम की परिणति विवाह मे होती है तो वह वाछनीय है। विवाहोपरान्त नारी के जीवन का वास्तविक विकास होता है, उसमे पूर्णता आती है। 'प्रसाद' ने 'ककाल' मे केवल प्रेम-स्वातन्त्र्य पर ही आग्रह किया था किन्तु 'तितली' तक आते-आते उनके विचारो मे विकास पाया जाता है। इसमे उन्होने प्रेम-स्वातन्त्र्यके साथ-साथ विवाह को भी आवश्यक माना है। तितली और शैला दोनो विवाह करके प्रेममय स्वस्थ जीवन व्यतीत करती है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 'भिखारिणी' मे स्वतन्त्र प्रेम और विवाह की समस्या को विभिन्न पहलुओ से देखने का प्रयास किया है। लेखक ने एक ओर रमानाथ

---

१. रामवृक्ष बेनीपुरी : 'पतितो के देश में' (पृष्ठ ८३)

के चित्रण द्वारा युवको के छिछले प्रेम पर तीक्ष्ण व्यग्य किया है, दूसरी ओर जस्सो के स्वतन्त्र प्रेम को आदर्श की भाँति उपस्थित किया है। रमानाथ का चरित्र उन युवको का प्रतीक है जिनका प्रेम रूप और यौवन के प्रति कामान्धता पर आधारित रहता है, और जो समाज की आँखो से बचकर अपने प्रेम की दुहाई देते रहते है किन्तु परीक्षा के समय पीछे हट जाते है। जस्सो पर प्राण न्यौछावर करनेवाला रमानाथ अपने पिता से विवाह के सम्बन्ध मे दो शब्द कहने का भी साहस नही बटोर पाता है। लेकिन स्वतन्त्र प्रेम का समर्थन करने के साथ-साथ लेखक यह भी चाहता है कि समाज भी उसकी वाछनीयता स्वीकार करे। यदि समाज उसे स्वीकार नही करता तो फिर केवल स्वतन्त्र प्रेम के बल पर किया गया विवाह सफल नही हो सकता। क्योकि उस दशा मे समाज पग-पग पर बाधा बन कर सामने आता है। इस प्रकार 'कौशिक' ने विवाह के विषय मे समाज की सम्मति को बहुत महत्व दिया है। उन्होने किसी भी पात्र का ऐसा चित्रण नही किया है जो सामाजिक मान्यताओ का विरोध कर प्रसन्न रह सका हो। इसके लिए सम्भवत लेखक के परम्परावादी सस्कार ही उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त इस युग का वातावरण भी ऐसा था कि कोई क्रान्तिकारी कदम उठाना उसके लिए सभव न था। इसलिए उसने इस समस्या का कोई व्यावहारिक हल नही बताया है। व्यक्ति के मन का सघर्ष उसके अन्तर्द्वन्द्व तक ही सीमित रह जाता है। जस्सो को अपनी समस्या का हल नही मिलता तो वह जहर का घूंट पीकर हँसने का प्रयास करती है, सामाजिक विवशता के कारण आत्मा का हनन करती है, और अपनी कामनाएँ फलहीन देखकर विद्रोह के स्थान पर आध्यात्मिक शान्ति की खोज मे निकल पडती है।

इस युग के लगभग सभी उपन्यासकारो ने पाश्चात्य प्रणाली के अनुकरण पर किये जानेवाले प्रेम की भर्त्सना की है। पाश्चात्य प्रेम के सम्बन्ध मे उनका विचार यह है कि उसमे एकनिष्ठता, अनन्यता, त्याग, सयम और आत्मसमर्पण का अभाव है, जब कि भारतीय प्रेम-पद्धति मे यही गुण आदर्श माने गए है। इसी प्रतिकूल उद्देश्य के कारण उन्होने पाश्चात्य प्रेम-प्रणाली की कटु आलोचना की है ताकि भारतीय नारी पाश्चात्य लहर मे अपने निजी व्यक्तित्व को न भुला दे। किसी प्रणाली का अधानुकरण वाछनीय नही है। इन उपन्यासकारो ने कहा कि अपनी परिस्थितियो, परम्परा और सस्कृति को ध्यान मे रखकर ही हम किसी प्रभाव को ग्रहण कर सकते है। उषादेवी मित्रा ने 'वचन का मोल'[१] और 'पिया' दोनो उपन्यासो मे पाश्चात्य नक़ल पर किये गए विवाह-पूर्व प्रेम को निषिद्ध माना है।[२] भगवतीचरण वर्मा ने 'तीन वर्ष' मे उच्च-वर्गीय प्रभा के प्रेम का ऐसा चित्र

---

१. 'हम क्रिशिचियन तो है नही कि शादी के पहले प्रेम करना पड़ेगा।'
उषादेवी मित्रा : 'वचन का मोल' (पृष्ठ ४२)

२. आलोक नाम का युवक प्रतिभा से कोर्टशिप करके, विवाह स्वीकार कर उसका सतीत्व नष्ट करके भाग जाता है। तब विभूति कहता है : 'कोर्टशिप का यह पुरस्कार

उपस्थित किया है कि प्रेम के प्रति श्रद्धा ही उठने लगती है। प्रभा अवकाश के क्षणो मे मन बहलाने के लिए प्रेम का आश्रय लेती है। उसमे कोई गहराई या स्थायित्व नही है। इसी कारण विवाह की चर्चा चलने पर वह पुरुष की आर्थिक स्थिति पर अधिक बल देती है। राधिकारमणप्रसाद सिह लिखित 'राम रहीम' मे बिजली का भी ऐसा ही चरित्र है जो अनेक पुरुषो से प्रेम का स्वाँग रचती है। 'प्रसाद' ने 'तितली' मे अनवरी तथा प्रेमचन्द ने 'गोदान' मे मीनाक्षी जैसी उद्दण्ड और मालती जैसी स्वतन्त्र प्रकृति की नारी का चित्रण किया है। इस प्रकार नारी-उदाहरण प्रस्तुत करने के मूल मे लेखक का उद्देश्य पाश्चात्य प्रेम-पद्धति के दोषो का उद्घाटन करना था। यद्यपि उन्होने अपनी आदर्शवादिता के कारण अन्त मे अधिकाँश ऐसी प्रेमिकाओ को भी त्याग, तपस्या आदि गुणो से विभूषित कर दिया है[१]

सक्षेप मे, इन लेखको का यह निश्चित मत है कि जो प्रेम केवल निजी स्वार्थ अथवा ऊपरी आकर्षण पर आश्रित होता है, वह स्थायी नही हो सकता। जब दो व्यक्तियो के मन मिल कर एक हो जाते है, तभी उनमे गहराई आती है, और उसे स्थायित्व प्राप्त होता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का मन निश्छल हो, उसका दृष्टिकोण विशाल हो, उसमे आत्मसमर्पण की भावना हो, और उसे अपने कर्तव्यो का सही ज्ञान हो। तभी उसका प्रेम सफल होगा, अन्यथा वह उसके जीवन को विषाक्त बना देगा।

इस प्रकार इस युग के उपन्यासकार ने भारतीय चरित्रादर्शो से मर्यादित स्वच्छन्द प्रेम को मान्यता दी है। उनके युग की दृष्टि से यह मान्यता एक साहसपूर्ण कदम है क्योकि यह जर्जर जाति-वर्ण-व्यवस्था के बधनो पर सीधा प्रहार करती है।

अन्तर्जातीय विवाह

प्रेमचन्द ने विभिन्न धार्मिक सप्रदायो के सदस्यो के बीच होने वाले अन्तर्जातीय विवाह का भी कही विरोध नही किया है। उन्होने 'गोदान' मे सरोज और रुद्रपाल के स्वच्छन्द-प्रेम और विवाह को बुरा नही माना है। जब रायसाहब अपने पुत्र रुद्रपाल का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध अन्यत्र करना चाहते है तो मेहता साहब उनका मजाक उडाते है। उनके मत मे प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को अपने विवाह का दायित्व स्वय ग्रहण करना चाहिए क्योकि तब वह अपना हानि-लाभ समझने के योग्य हो जाता है।[१] फिर भी साधारणत प्रेमचन्द के पात्रो ने इस प्रकार का साहसी कदम नही उठाया है। कई स्थलो पर प्रेमचन्द ने पात्रो के स्वच्छन्द

है पिया, अब चिढ़ने से क्या होता है? नकल करना है हमें विलायती और फिर वे भी बुरी चीज़ों की। तो फिर फल भोगने आयगा कौन?'
उषादेवी मित्रा : 'पिया' (पृष्ठ १४३)

१. 'आप अपनी शादी के जिम्मेदार हो सकते है, लड़के की शादी का दायित्व आप क्यों अपने ऊपर लेते हैं, खासकर जब आपका लड़का बालिग़ है और अपना नफा-नुकसान समझता है।
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ४०५)

प्रेम को सहानुभूति देते हुए भी उन्हे विवाह की स्थिति तक नही पहुँचाया है। सम्भवत इस मानसिक स्थिति के पीछे लेखक के जाति-गत सस्कार ही काम कर रहे है। 'रगभूमि' की सोफिया के जीवन मे ऐसे अनेक अवसर आते है जब वह विनय से विवाह कर सकती थी। किन्तु प्रत्येक बार वह हिचकने लगती है और अन्त मे आत्महत्या कर लेती है। 'कर्मभूमि' की सकीना के भावो मे भी अनायास परिवर्तन आ जाता है और अन्त मे वह अमरकान्त के प्रति अपना प्रेम भुलाकर सजातीय सलीम से विवाह कर लेती है। 'गोदान' मे मालती और मेहता साहब मे प्रबल और गहरा आकर्षण है। मालती की मातृत्व-भावना अतृप्त दिखाई गई है। यही नही, वह प्राय अनुगता की भाँति ही मेहता साहब के स्वास्थ्य और दैनिक जीवन की देखभाल करती है, लेकिन फिर भी उनके साथ विवाह-बधन मे नही बँधती। उसका अनुमान है कि विवाह करने से उनका प्रेम सीमित हो जाएगा। वह अपने प्रेम को व्यापक रूप देकर समाज-सेवा मे लगा देना चाहती है, और अन्त मे इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि प्रिय पुरुष की पत्नी बनने से उसकी मित्र बनकर रहना कही अच्छा है।[1]

जयशकर 'प्रसाद' के जीवन-दर्शन मे प्रेम के आधार पर आनन्द की प्राप्ति को लक्ष्य माना गया है। इसलिए उन्होने स्त्री-पुरुष के चिरन्तन सम्बन्धो मे प्रेम-स्वातन्त्र्य को बहुत महत्व दिया है। उनके उपन्यासो मे पात्रो के विवाह प्रेम पर आधारित है, जाति पर नही। जो लोग जाति-बधन स्वीकार करते है, उन्होने उनकी कसकर आलोचना की है। 'ककाल' मे मगल यमुना से प्रेम करके भी समाज के डर के कारण उससे विवाह नही करता इसलिए उसको उन्होने कायर के रूप मे चित्रित किया है। 'तितली' मे शैला और इन्द्रदेव अन्तर्जातीय विवाह करते है। जब शैला विवाह के बाद सजातीय वाट्सन की ओर अपनी मानसिक दुर्बलता प्रकट करती है तो तितली उसे तुरन्त सँभाल लेती है।

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासो मे चित्रित प्रेमी-प्रेमिकाओ के प्रेम की एकाग्रता और तीव्रता के कारण जाति-बधन ढीले पड गए है। लेखक ने 'गढकुडार मे प्रणय और अन्तर्जातीय विवाह को एक समस्या के रूप मे रखा है। नागदेव खगार होकर बुन्देला हेमवती को प्रेम करता है, अग्निदत्त ब्राह्मण होकर खगार मानवती से विवाह करना चाहता है, और दिवाकर कायस्थ होकर ब्राह्मण-कन्या तारा पर न्यौछावर हो रहा है। समाज अपनी प्रथा के कारण इस प्रेम को विवाह का रूप नही दे पाता, इसलिए समूचे उपन्यास मे जाति-पाँति के बधन के प्रति असतोष और विद्रोह की भावना निहित है। नागदेव और अग्निदत्त अपने प्रेम मे विफल होते है, दिवाकर सफल। दिवाकर की सफलता का रहस्य यह है कि दोनो ओर प्रेम की उत्कटता एक-सी थी, बल्कि तारा का प्रेम दिवाकर से भी

---

१. 'अन्त में मैंने यह तय किया है कि मित्र बन कर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है।'

प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ४३२)

अधिक गहरा सिद्ध होता है। किन्तु हेमवती और मानवती मे इतना सकल्प नही था कि वे समाज की अवहेलना कर सकती,' इसलिए उनका प्रेम हार जाता है। स्वय दिवाकर और तारा मे समाज की रूढियो को तोडने का साहस तो है, पर समाज के सामने डटे रहने का नही। वे योग-साधन का मार्ग अपनाते है।[1] समाज के अत्याचारो से बचने के लिए बाहर चले जाते है। इस प्रेम-कथा को ऐसा मोड देकर यद्यपि लेखक ने उसका क्रान्तिकारी प्रभाव घटा दिया है, फिर भी उसके माध्यम से वर्ण-व्यवस्था के दोषो पर कटु टिप्पणी हो गई है, जो अभिनन्दनीय है। उनके दूसरे उपन्यास 'कुण्डली चक्र' मे लेखक के दृष्टिकोण मे और भी प्रगति दिखाई देती है, जब पूना और अजित अन्तर्जातीय विवाह करते है पर फिर भी उन्हे योग-मार्ग अपनाने की आवश्यकता नही पडती। इन दोनो के प्रेम पर भी समाज चुप है। लेकिन उनके परवर्ती उपन्यास 'मृगनयनी' मे यह पलायन की भावना फिर दिखाई देती है। अहीर कन्या लाखी गूजर जाति के अटल से प्रेम करती है। वे दोनो परस्पर विवाह करना चाहते है किन्तु समाज और धर्म के ठेकेदारो को यह सम्बन्ध स्वीकार नही। गॉव का पुजारी बोधन इस विवाह का सक्रिय विरोध करता है। गूजर और अहीर मे विवाह-सम्बन्ध वर्णाश्रम-धर्म का अपमान माना जाता है। किन्तु लाखी और अटल अपने प्रेम पर दृढ रहते है और समाज की व्यवस्था के विरुद्ध विवाह करके एक रात गॉव छोडकर नटो के साथ चले जाते है। इस प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यासो मे स्वच्छन्द प्रेम और अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया है। उनके पात्रो मे अन्तर्जातीय विवाह करने का भी साहस है यद्यपि वे समाज की आलोचना से बचना चाहते है।

सेठ गोविन्ददास लिखित 'इन्दुमती' मे इन्दुमती कायस्थ है और उसका प्रेमी ललित-मोहन मारवाडी वैश्य। किन्तु अपनी उच्च-शिक्षा और स्वतन्त्र व्यक्तित्व-विकास के फलस्वरूप राष्ट्रीय जागरण के प्रथम चरण मे ही वह अन्तर्जातीय विवाह जैसा साहसपूर्ण कदम उठाती है। इदुमती के श्वसुर इस विवाह के कट्टर विरोधी है इसीलिए ये दम्पति अपनी पैतृक धन-सम्पत्ति का त्याग कर बडे साहसपूर्वक स्वतन्त्र रूप से प्रेममय जीवन-यापन करते है। अन्त मे नई पीढी के सम्मुख पुरानी पीढी को झुकना ही पडता है।

निराला अपने विचारो मे इन लेखको से आगे निकल गये है। उनके 'निरुपमा' उपन्यास मे प्राचीन सस्कारो मे पली बडी-बूढी स्त्रियॉ भी अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष मे

---

१. विवाहोपरान्त दिवाकर अपने भविष्य के सम्बन्ध में कहता है :'तारा, हमारा संयोग अखड और अनंत है। वर्णाश्रम धर्म हमारी देहो के सयोग का निषेध कर सकता है परन्तु आत्मा के संयोग का निषेध नहीं कर सकता। यही हमारा संयोग है। तारा, हम लोग योग-साधन करेंगे।'
वृन्दावनलाल वर्मा : 'गढ़कुंडार' (पृष्ठ ४६६)

है। यह बात थोडी अस्वाभाविक लगती है। यहाँ तक कि कुमार की माँ अपने पुत्र का विवाह एग्लो इन्डियन महिला से करने मे भी कोई बुराई नही देखती। उनके मत मे जिस लडकी पर पुत्र का स्नेह होगा उस लडकी पर माँ का स्नेह होना स्वाभाविक बात है। अन्त मे कुमार और निरुपमा का अन्तर्जातीय विवाह सम्पन्न होता है। बाद मे इस सम्बन्ध को समाज भी मान लेता है।

विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 'भिखारिणी' मे मुख्य रूप से अन्तर्जातीय विवाह की समस्या उठाई है। जाति-भेद के फलस्वरूप प्रेम-विवाह न हो सकने के कारण कितने अबोध जीवन नष्ट हो जाते है, यही विषमता इस उपन्यास की मुख्य समस्या है। इसलिए इस उपन्यास मे जाति-भेद के दुष्परिणामो पर विस्तार से विचार किया गया है। नदराम-सिह और सोना को अन्तर्जातीय विवाह सूत्र मे बाँधकर लेखक ने यद्यपि एक क्रान्तिकारी कदम भी उठाया है तथापि उसका अन्त दुष्परिणाम मे दिखाया है। लेखक ने समाधान के समय कहा है कि जिस सम्बन्ध को समाज अनुचित मानता है, उसे हेय दृष्टि से देखता है, वह व्यक्ति के लिए कभी शुभ नही हो सकता, क्योकि समाज की सम्मति के बिना या उससे छिपकर किया गया कार्य पाप की कोटि मे आता है और उसका अत अनिवार्यत दुखद होता है।

प्रफुल्लचद्र ओझा 'मुक्त' ने 'पाप और पुण्य' मे अन्तर्जातीय विवाह के समर्थन मे बडे-बडे भाषण दिलवाये है।[1] अरुण और जान्हवी अन्तर्जातीय विवाह भी करते है किन्तु अन्त मे बडे नाटकीय ढग से लेखक यह दिखाता है कि वास्तव मे वे बचपन मे विवाह-सूत्र मे बँध चुके थे। उपन्यास की यह घटना अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष को कमजोर ही करती है।

इस प्रकार इस युग के उपन्यासो मे अन्तर्जातीय विवाह की समस्या को वह महत्व नही मिल सका है जो स्वतन्त्र प्रेम की समस्या को दिया गया है। यही कारण है कि इस युग के अधिकाश उपन्यासकार युवक-युवतियो के आकर्षण-विकर्षण, उनके मानसिक द्वन्द्व और स्वतन्त्र प्रेम के चित्रण मात्र से सतुष्ट हो गए है। स्वतन्त्र प्रेम की समस्या को सहानुभूति से देखने के कारण, जहाँ भी अन्तर्जातीय विवाह की समस्या उठी है, वहाँ धीमे स्वर मे उसका समर्थन करने की ही चेष्टा की है। केवल प० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने अपने उपन्यास 'अरुणोदय' मे अन्तर्जातीय विवाह की भीषण रूप से छीछालेदर की है। फिर भी अधिकाँश उपन्यासो मे पात्रो को अन्तर्जातीय विवाह की स्थिति तक कम पहुँचाया गया है। 'प्रसाद', 'निराला' और वृन्दावनलाल वर्मा ही ऐसे उपन्यासकार है जिन्होने इस ओर साहसपूर्वक कदम उठाया है।

---

१. 'जाति-पाँति के झूठे अभिमान मे भर कर अपना सर्वनाश न कीजिये; ऊँच का आडम्बर फैला कर अपने को नीचे मत गिराइये।'
प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' 'पाप और पुण्य' (पृष्ठ २१४)

असफल विवाह और तलाक की समस्या

नई सामाजिक चेतना के फलस्वरूप प्रेमचन्द-युग मे तलाक की समस्या भी उठ खडी हुई थी। किन्तु इस युग के किसी भी उपन्यासकार ने तलाक को वाछनीय नही माना है। वैवाहिक जीवन की असफलता की ओर लेखको का ध्यान तो गया है, और कही-कही इस विषमता-पूर्ण जीवन से मुक्ति पाने के लिए या पति के अत्याचारो का प्रतिशोध लेने के लिए पत्नी के मन मे विद्रोह भी उत्पन्न हुआ है किन्तु तलाक की अनुमति किसी लेखक ने नही दी है।

प्रेमचन्द लिखित 'कर्मभूमि' मे अमरकान्त जब सकीना से प्रेम करता है और बिना कुछ कहे अपनी पत्नी सुखदा को छोडकर चला जाता है तो सुखदा के मन मे जो विद्रोह की भावना विकसित होती है वह तलाक की ओर सीधा सकेत करती हुई प्रतीत होती है। प्रेमचन्द उसके मन का विद्रोह इन शब्दो मे प्रकट करते है 'उसका विद्रोही मन सारे ससार से प्रतिकार करने के लिए जैसे नगी तलवार लिये खडा रहता है। कभी-कभी उसका मन इतना उद्विग्न हो जाता है कि समाज और धर्म के सारे बन्धनो को तोडकर फेक दे। ऐसे आदमियो की सजा यही है कि उनकी स्त्रियाँ भी उन्ही के मार्ग पर चले। तब उनकी आँखे खुलेगी और उन्हे ज्ञात होगा कि जलना किसे कहते है। एक मैं कुल-मर्यादा के नाम को रोया करूँ, लेकिन यह अत्याचार बहुत दिन नही चलेगा। अब कोई इस भ्रम मे न रहे कि पति चाहे जो कहे, उसकी स्त्री उसके पाँव धो-धोकर पियेगी, उसे अपना देवता समझेगी, उसके पाँव दबायेगी और वह उससे हँसकर बोलेगा, तो अपने भाग्य को धन्य मानेगी। वह दिन लद गए। इस विषय मे उसने पत्रो मे कई लेख भी लिखे है।'[1]

'रगभूमि' मे भी प्रेमचन्द ने इन्दु और महेन्द्रकुमार के दाम्पत्य जीवन की घोर विसगति का मार्मिक चित्रण किया है। उन दोनो का मत कभी भी नही मिल पाता। वे जो कुछ करते हैं या सोचते है, उसका फल सदा प्रतिकूल ही होता है।[2] अत उनका दाम्पत्य जीवन कटु से कटुतर होता जाता है। अन्त मे जब इन्दु सूरदास की प्रतिमा के लिए अपने पास से एक हजार रुपये का चन्दा दे देती है तो बात बढ जाती है। वह अमीर

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ २०५)

२. महेन्द्रकुमार स्वय कहते है : 'मै जानता हूँ, तुम जिद मे ऐसा नही करतीं। मैं यहाँ तक कह सकता हूँ, तुम मेरे आदेशानुसार चलने का प्रयास भी करती हो किन्तु फिर जो यह अपवाद हो जाता है, उसका क्या कारण है? क्या यह बात तो नही कि पूर्व जन्म मे हम और तुम एक दूसरे के शत्रु थे; यों विधाता ने मेरी अभिलाषाओं और मंसूबों का सर्वनाश करने के लिए ही मेरे पल्ले बाँध दिया है? मै बहुधा इसी विचार मे पड़ा रहता हूँ, पर कुछ रहस्य नहीं खुलता।'
प्रेमचन्द : 'रगभूमि' दूसरा भाग (पृष्ठ १३७-१३८)

घर की बेटी है, जिन्दगी भर लौंडी बनना पसन्द नही करती।[१] उधर महेन्द्रकुमार भी उससे मुक्ति पाना चाहते है।[२] अभिमानिनी प्रकृति की इन्दु पति द्वारा अपमानित होने पर 'स्त्री-धन' लेकर पति-गृह छोडकर मातृ-गृह चली आती है।[३] कानूनी कार्यवाही तक न पहुँचने पर भी यह घटना तलाक की ही श्रेणी मे आती है। किन्तु ऐसा कटु दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने पर भी जब इन्दु पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर मातृ-गृह लौटती है तो उसकी माँ को अच्छा नही लगता। वह कहती है 'तुमने उससे बिना पूछे चन्दा क्यो लिखा?'

'इन्दु मैने किसी के हाथो अपनी आत्मा नही बेची है।'

'जाह्नवी जो स्त्री अपने पुरुष का अपमान करती है, उसे लोक-परलोक कही शान्ति नही मिलती।'

'इन्दु क्या आप चाहती है कि यहाँ से भी चली जाऊँ? मेरे घाव पर नमक न छिडके।'

'जाह्नवी 'पछताओगी, और क्या। समझाते-समझाते हार गई, पर तुमने अपना हठ न छोडा।'[४]

इस चित्रण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने को बाध्य होते है कि प्रेमचन्द के मत मे सुखी वैवाहिक जीवन का उत्तरदायित्व पति से अधिक पत्नी पर है। पत्नी को पति की इच्छानुसार आचरण करना चाहिये ताकि विच्छेद की स्थिति ही न आने पाये।

प्रेमचन्द लिखित 'गोदान' मे भी मिस्टर खन्ना और मिसेज खन्ना के कटु वैवाहिक जीवन का इतना अधिक चित्रण हुआ है कि ऐसी स्थिति से मुक्ति के उपाय के रूप मे पाठक का ध्यान बरबस तलाक की ओर चला जाता है। मिसेज खन्ना अपने पति के अत्याचारो से दुखी होकर एक बार घर से निकल भी पडती है, किन्तु बात तलाक तक नही पहुँचती। मेहता साहब मिसेज खन्ना को घर लौटा लाते है और मातृत्व के उत्तरदायित्व का स्मरण कराते है। बाद मे पति-पत्नी मे सन्धि हो जाती है। इसी प्रकार 'कर्मभूमि' मे सुखदा और अमरकान्त भी अन्त मे अपनी-अपनी भूल स्वीकार करते है। प्रेमचन्द

---

१. 'आपको अपनी कीर्ति और सम्मान मुबारक रहे, मेरा भी ईश्वर मालिक है। मै भी जिन्दगी से तग आ गई। कहाँ तक लौंडी बनूँ, अब हद हो गई।'
प्रेमचद : 'रंगभूमि' दूसरा भाग (पृष्ठ ३९८)

२. महेन्द्रकुमार कहते है : 'न-जाने वह कौन दिन होगा कि तुमसे मेरा गला छूटेगा। मौत के सिवा शायद अब कहीं ठिकाना नहीं है।'
वही : (पृष्ठ ३९८)

३. इन्दु : 'अच्छा अब चुप रहिये, बहुत हो गया, मै आपकी गालियाँ सुनने नही आई हूँ, यह लीजिये अपना घर, खूब टाँगें फैला कर सोइए।'
वही : (पृष्ठ ३९८)

४. वही : (पृष्ठ ४००)

विवाह को एक पवित्र बधन मानते थे जिसको तोडने का अधिकार न पति को था, न पत्नी को।'[1]

प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' ने तो 'तलाक' (१९३२) उपन्यास उसके गुण-दोषो पर विचार करने के लिए ही लिखा। चुन्नी और निरुकार के असतोषमय जीवन को देखकर पाश्चात्य विचारधारा का प्रतीक डाक्टर चुन्नी को तलाक देने की सलाह देता है 'हमारे समाज की वैवाहिक-प्रथा बहुत ही विशृखल हो गई है, फिर भी शृखला उसकी इतनी मजबूत और अटूट है कि वह हमारा-तुम्हारा गला घोट देती है। तो, इसी से, मै वैवाहिक-प्रथा के ही विरुद्ध हूँ। लेकिन, जिनका विवाह हो चुका है और पति-पत्नी का मन नही मिलता, तो मै उनको यही नेक सलाह दूँगा कि वे एक-दूसरे को तलाक देकर एक-दूसरे के मार्ग से हट जावे। स्वय सुखी हो और दूसरो को सुखी होने दे। घुल-घुलकर मरने और मारने मे कोई मजा नही है। मनुष्य को अपने हृदय की सकीर्णता दूर करनी ही होगी, तभी समाज का, देश का और व्यक्ति का कल्याण होगा। मनुष्य प्रेम के बधन मे बँध कर रह सकता है, कानून या रीति-रिवाजो के नही। उसे यदि जबर्दस्ती बाँधने की चेष्टा की जाएगी, तो उसके जीवन का दुरुपयोग होगा।'[2] किन्तु हिन्दू सस्कृति मे पली चुन्नी को यह पथ पसन्द नही है। वह यह मानती है कि स्वामी से अलग रहकर पत्नी सुखी रह ही नही सकती।[3] उधर निरुकार को यह गलतफहमी हो जाती है कि चुन्नी उसे तलाक देना चाहती है। इसी गलतफहमी के कारण वह कही चला जाता है जिसके फलस्वरूप दोनो ही सुख से वचित हो जाते है। लेखक ने यद्यपि समस्या का कोई समाधान उपस्थित नही किया है किन्तु अन्त मे दोनो के विशृखल जीवन को देखकर यही प्रतीत होता है कि लेखक तलाक को पसन्द नही करता।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने अपने 'विदा' और 'विकास' दोनो उपन्यासो मे तलाक का विरोध किया है। उनके मत मे तलाक पश्चिमी सभ्यता का कलक है जहाँ विवाह वासना की तृप्ति के लिए किये जाते है।[4] इसके विपरीत भारतीय समाज मे विवाह को

---

१. 'विवाह को मै सामाजिक समझौता समझता हूँ और उसे तोडने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को।'
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ७५)
२. प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' : 'तलाक' (पृष्ठ २३२)
३. 'मै हिन्दू की कन्या हूँ, हिन्दू के घर में पैदा हुई हूँ, हिन्दुस्तान के अन्न-जल से मेरा शरीर पला है। मै अपना कर्तव्य कैसे भूल सकती हूँ ? वो मेरे स्वामी है—कैसे भी हों, यह बात मै कैसे भूल जाऊँ कि वो मेरे स्वामी हैं। स्वामी कैसा भी हो, स्त्री उससे अलग होकर कैसे सुखी रह सकती है, यह जिन्दगी तो इन्हीं के साथ पार होगी...फिर चाहे हँसकर हो, या रोकर।' वही : (पृष्ठ २३२)
४. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १९४)

पवित्र बंधन मानते है। इसको तलाक द्वारा तोडना जघन्य कर्म है।[१] अत तलाक बिल पास होने से गृहस्थ-जीवन छिन्न-भिन्न हो जाएगा। जरा-जरा-सी बात पर तलाक होने लगेगे और मनुष्य पशु के समान हो जाएगा।[२]

तलाक की अनुमति न देने के कारण यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि फिर असफल दाम्पत्य जीवन से मुक्ति पाने का क्या उपाय है। इसके लिए उपन्यासकार अनमेल विवाह को मिटा देने की बात कहता है। क्योकि उसके मत मे अनमेल विवाह के ही कारण दाम्पत्य-जीवन मे विसगतियाँ उत्पन्न होती है। 'विदा' की चपला कहती है- 'प्रतिकार के लिए हमको यह जरूरी है कि हम उसकी जड नाश करे, यह नही कि बीच मे दवा देकर उस रोग को शान्त करने का उपाय करे। इस अशान्ति की जड है अनमेल विवाह। इसको रोकना चाहिए। स्त्रियो को शिक्षा दी जाए, और उनको भी यह अधिकार हो कि वे अपनी सम्मति या असम्मति निस्सकोच प्रकट कर सके। हर एक लडके-लडकी का जैसा भी चरित्र रहा हो, वह वहाँ लिखा रहना चाहिये, जहाँ उसने शिक्षा पाई है। लडका और लडकी दोनो एक दूसरे का चरित्र-इतिहास देख जाएँ, अगर दोनो की सम्मति हो, तो विवाह किया जाए, नही तो नही।'[३]

नारी की आभूषण-प्रियता

नारी की आभूषण-प्रियता की समस्या आर्थिक ही नही है, वह सास्कृतिक और मनोवैज्ञानिक भी है। आभूषण-प्रियता की प्रवृत्ति उच्च, मध्य और निम्न तीनो वर्गों की नारियो मे समान रूप से पाई जाती है। उच्च वर्ग मे वह समस्या बनकर सामने नही आती क्योकि उसकी उत्तम आर्थिक स्थिति के कारण आभूषण-प्रेम न तो अस्वाभाविक लगता है और उनकी प्राप्ति के लिए न किसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पडता है। इसी प्रकार निम्नवर्ग मे भी उसका कोई जटिल रूप नही मिलता, क्योकि उस वर्ग की नारी अपनी आर्थिक दुरवस्था की अभ्यस्त होती है। किन्तु मध्य-वित्त समाज मे यह समस्या विकट रूप धारण करके सामने आती है, क्योकि मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति अनिश्चित और डॉवाडोल होती है, परन्तु वह अपने-आपको उसी प्रतिष्ठा और सम्मान का अधिकारी समझता है, जो उच्च-वर्ग को मिलती है। इन विषम स्थितियो के कारण उसका जीवन दुखमय बन जाता है और उसे कभी-कभी अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए झूठ, प्रवचना, चोरी, छल और पलायन सभी का सहारा लेना पडता है।

आभूषणो के प्रति नारी के इस असाधारण मोह का एक और कारण है। बचपन से ही भारतीय परिवार मे कन्या अपने पूर्वजो और गुरुजनो से आभूषण-प्रेम की परम्परा मे

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १९६)
२. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विकास' (पृष्ठ २९३)
३. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १९४)

दीक्षित हो जाती है। उठते-बैठते, सोते-जागते वह नारी-समुदाय मे इन्ही की चर्चा विशेष रूप से पाती है, जिसके फलस्वरूप उसके अबोध मन पर आभूषणो के प्रति एक अमिट-ललक अकित हो जाती है। प्राचीन परिपाटी पर चलने वाले परिवार मे तो नारी के लिए विवाह का अर्थ विशेषत आभूषणो की प्राप्ति ही होने लग गया था। यदि किसी कारण-वश विवाह मे उसे सन्तोषजनक आभूषण न मिल पाते, तो उसका धक्का वह जीवन भर न भूल सकती थी। यही नही, अपढ नारी का मन आभूषणो को ही पति-प्रेम का प्रमाण मानता है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि प्रेमचन्द के युग मे भी विवाहित जीवन के सुख और आनन्द का प्रतीक नारी ने आभूषण को ही माना था। यदि नारी के पास भडकीले गहने है तो नारी-समाज उसे सौभाग्यवती और सुखी मानने पर बाध्य होता था। यही कारण है कि मध्यवर्ग की नारी के प्राण आभूषणो मे ही बसते थे। और आभूषणो का अभाव, या आभूषणो की हानि उसके जीवन को दुख और अशान्ति की कहानी बना देती थी।

ऐसी परिस्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि प्रेमचन्द का ध्यान नारी की इस समस्या की ओर जाता। उन्होने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि इस समस्या के कारण घर-के-घर तबाह हो जाते है। इसीलिए अपने उपन्यास 'गबन' मे उन्होने इस समस्या को ही कथानक का केन्द्र बनाया है। उन्होने नारी की आभूषण-प्रियता के सारे पहलुओ को मार्मिक ढग से उपस्थित करने के लिए जालपा जैसी मध्यवर्गीय नारी को अपनी सम्वेदना का विषय बनाया है और उसको व्यक्ति-विशेष के रूप मे न देखकर एक वर्ग-विशेष के रूप मे चित्रित किया है, जिससे इस उपन्यास का महत्व बहुत बढ गया है। जालपा की मनोवृत्ति समूचे मध्यवर्गीय नारी-समाज की मनोवृत्ति है जिसके कारण वह अपना और अपने परिवार का जीवन अशान्तिमय बना देती है। नारी के मन मे आभूषणो का मोह इतना अधिक होता है कि उनकी प्राप्ति के लिए अन्य सभी सुखो को तुच्छ मानती है, यहाँ तक कि वह अपने पति, सास, श्वसुर, माँ-बाप के प्रेम को भी आभूषणो की तुला मे ही तौलती है।

प्रेमचन्द ने नारी की आभूषण-प्रियता को एक सामाजिक समस्या के रूप मे लिया है। इसलिए उन्होने उसके कारण, प्रभाव और निदान-सभी पक्षो पर गभीरता से विचार किया है। बचपन से ही नारी कैसे आभूषण प्रिय बन जाती है, विवाहोपरान्त उसकी इस इच्छा का कैसे विकास होता है, कैसे घर की शान्ति-भग होती है तथा उसके क्या दुष्परिणाम होते है—इन सभी घटनाओ का उन्होने ऊहापोहात्मक चित्रण किया है। जालपा जब अबोध बालिका थी तभी उसने अपनी दादी से गहनो की चर्चा सुनी थी। उसके पिता उसके खेलने के लिए खिलौनो के स्थान पर गहने लाया करते। जालपा स्वय गुडियो का खेल खेलते समय आभूषणो को लेकर मान-लीला करती रहती। नारी-समाज मे आभूषणो को लेकर सदा मनोरजक प्रसग छिडता रहता। जालपा की माँ मानकी चन्द्रहार पाकर मुग्ध हो गई थी, उसके बहुत दिनो की साध पूरी हुई थी। फलत बचपन मे ही जालपा आभूषणो के ही कारण अपनी माँ से भी होड करती पाई जाती है।

जालपा माँ से ही कहती है, 'तुमने अपने लिए बनवाया है, मेरे लिए क्यो नही बनवाती।'[१] ससुराल से उसके लिए नया चद्रहार आएगा, यह सुनकर वह भविष्य के स्वप्न देखती हुई बिल्लौर के नकली चद्रहार से ही सतोष करती है। किन्तु अपने विवाह के अवसर पर जब वह देखती है कि उसके ससुराल से भी चद्रहार नही आया तब मानो उसकी चिर-सचित अभिलाषा पर तुषारापात हो जाता है। 'उसके कलेजे पर चोट-सी लग गई। मालूम हुआ देह मे रक्त की एक बूँद भी नही है। मानो उसे मूर्छा आ जाएगी। वह लालसा जो आज सात वर्ष हुए उसके हृदय मे अकुरित हुई थी, जो इस समय पुष्प और पल्लव से लदी खडी थी, उस पर वज्रपात हो गया। वह हराभरा लहलहाता हुआ पौधा जल गया केवल उसकी राख रह गई।'[२]

ससुराल से चद्रहार न आने पर जालपा की यह निराशा किसी सन्यासी की तपस्या-भग होने से कम नही है।

ससुराल मे आकर उसकी आभूपण-प्रियता की धार और तेज हो जाती है। खाने-पहिनने की यही तो उम्र है—यह भावना आभूषण-लिप्सा को तीव्र कर देती है। नये-नये गहने खरीदना और बनवाना वह अपना पत्नी-सुलभ अधिकार समझती है। 'जालपा को गहनो से जितना मोह था, उतना कदाचित् ससार की और किसी वस्तु से नही।'[३] आभूषणो के चोरी चले जाने की बात को जानकर वह मूर्छित होकर गिर पडती है, उनके अभाव मे वह न पति से प्रसन्न है और न सास-श्वसुर से। पति को जली-कटी सुनाती तो सास-श्वसुर को पराया समझती। आभूषण-लिप्सा के कारण नारी इतनी अधी हो जाती है कि वह अपने घर की आर्थिक स्थिति को समझने की भी चेष्टा नही करती। यदि नये गहने नही बनते है तो वह यही समझती है कि घर के सब लोग उसकी उपेक्षा कर रहे है। और यदि हर बार कुछ-न-कुछ नया गहना बनता रहे तो दासता की जजीर मे भी अपने-आपको प्रसन्न और सुखी समझती है। नारी का यह मिथ्या आत्मसतोप कितना दुख-दायी है।

यह जानकर भी कि उसके पति की आमदनी कम है। जालपा नित्य ही उसे सराफे की ओर जाने को प्रेरित करती है। अपनी सहेलियो को लिखे गए उसके पत्रो से पता चलता है कि वह गहनो के अभाव मे अपने जीवन को व्यर्थ समझती है। रमानाथ की नौकरी लगने की खबर सुनकर वह सबसे पहले अपने लिए एक चद्रहार बनवाने की इच्छा प्रकट करती है। इसके लिए वह रमानाथ के रिश्वत लेने को भी बुरा नही मानती और अपनी सास को वेतन की रकम घटाकर सिर्फ पद्रह रुपये बताने की बात कहती है। आवश्यक धन इकट्ठा होने तक वह अपनी अतृप्त भावना को बहलाने की दृष्टि

---

१. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ ५)
२. वही : (पृष्ठ १२)
३. वही : (पृष्ठ २८)

से छिप-छिप कर आभूषणो के एक पुराने सूचीपत्र को बडी तन्मयता से देखती रहती है।

प्रेमचन्द ने नारी के आभूषण-प्रेम की वृत्ति को एक समस्या के रूप मे उपस्थित करने के कारण सभी नारियो के हृदय मे मोह और पुरुषो के हृदय मे चिन्ता का चित्रण किया है। किन्तु उच्च वर्ग मे आर्थिक कठिनाई न होने के कारण यह समस्या कुछ भिन्न रूप मे दिखाई देती है। वहाँ नारी की ओर से पूर्ण आग्रह है किन्तु पुरुष को उस आग्रह मे किसी प्रकार का कष्ट नही है। प्रत्युत नारी को गहनो का पुरस्कार दे कर वह उसके हृदय को अनायास जीत लेता है। गहनो का यह उपहार पाकर नारी अपने जीवन के अन्य असतोषो को भुला देना चाहती है। 'गबन' की रतन इस उच्च नारी वर्ग की प्रतीक है। वह अपने पास दो जोडी कगन होने पर भी तीसरी जोडी बनवाती है। उसके पति वकील साहब हाथो-हाथ जौहरी से उसके लिए साढे ग्यारह सौ रुपये का हार खरीद लेते है।

नारी की आभूषण-प्रियता के कारण निम्नवर्ग मे भी एक समस्या उठ खडी होती है। 'गबन' मे ही देवीदीन जिन शब्दो मे अपनी बुड्ढी पत्नी का परिचय देता है उससे उस समाज की नारी की मनोवृत्ति, पुरुष की परेशानी एव उस समाज की आर्थिक समस्या पर प्रकाश पड़ता है। 'अब भी गहने पहनती है। सोने की बालियाँ और सोने की हँसुली पहने दूकान पर बैठी रहती है — अब भी एक-न-एक गहना बनवाती ही रहती है। न जाने कब इसका पेट भरेगा। सब घरो का यही हाल है। जहाँ देखो हाय गहने। गहने के पीछे जान दे दे। घर के आदमियो को भूखा मारे, घर की चीजे बेचे। और कहाँ तक कहूँ अपनी आबरू तक बेच दे। छोटे-बडे, अमीर-गरीब सब को यही रोग लगा हुआ है।'[1] देवीदीन और पुलिस इन्सपैक्टर आभूषण-प्रियता को ही गबन के अपराध का मूल कारण बताते है। स्वय देवीदीन अपनी पत्नी की आभूषण-लालसा के कारण तीन वर्ष की जेल काट चुका है।

जेब मे रुपये न होने पर भी जब रमानाथ रमेश से सर्राफ तक चलने का अनुरोध करता है तब प्रत्युत्तर मे रमेश जो कुछ कहता है, उसके द्वारा स्वय प्रेमचन्द ही मानो नारी की प्रवृत्ति और देश की आर्थिक परिस्थिति से दुखी होकर भारतीय नारी को शिक्षा देना चाहते है 'गहनो का मर्ज न जाने इस दरिद्र देश मे कैसे फैल गया? जिन लोगो के भोजन का ठिकाना नही, वे भी गहनो के पीछे प्राण देते है। हर साल अरबो रुपये केवल सोना-चाँदी खरीदने मे व्यय हो जाते है। ससार के और किसी देश मे इन धातुओ की इतनी खपत नही होती। बात क्या है। उन्नत देशो मे धन व्यापार मे लगता है, जिससे लोगो की परिवरिश होती है और देश का धन बढता है। यहाँ धन शृगार मे खर्च होता है, उससे उन्नति और उपकार की जो महान शक्तियाँ है, उन दोनो का ही अन्त हो जाता है। बस, यही समझ लो कि जिस देश मे लोग जितने मूर्ख होगे, वहाँ जेवरो का प्रचार भी उतना ही अधिक होगा। .. धन जो भोजन मे खर्च होना चाहिए, बाल-बच्चे

१. प्रेमचंद : 'ग़बन' (पृष्ठ १३९)

काट कर गहनो की भेट कर दिया जाता है। बच्चो को दूध न मिले, न सही। घी की गध तक उनकी नाक मे न पहुँचे, न सही। मेवो और फलो के दर्शन उन्हे न हो, कोई परवाह नही, पर देवी जी गहने जरूर पहनेगी और स्वामी जी गहने जरूर बनवायेगे। दस-दस, बीस-बीस रुपये पाने वाले क्लर्को को देखता हूँ जो सडी हुई कोठरियो मे पशुओ की भाँति जीवन काटते है, जिन्हे सबेरे का जलपान तक मयस्सर नही होता, उन पर भी गहनो की सनक सवार रहती है। इस प्रकार से हमारा सर्वनाश होता जा रहा है। मै तो कहता हूँ, यह गुलामी पराधीनता से बढकर है। इसके कारण हमारा कितना आत्मिक, नैतिक, दैहिक, आर्थिक और धार्मिक पतन हो रहा हे, इसका अनुमान ब्रह्मा भी नही कर सकते।'[1]

व्यथित हृदय से निकले इस उद्‌गार मे प्रेमचन्द ने गहनो के प्रति नर-नारी के दृष्टिकोण एव आर्थिक विषमता का कितना यथार्थ चित्रण किया है। गहनो की समस्या केवल नारी की ही समस्या नही है, पुरुष भी नारी को गहने देकर, उसे पहना कर अपना गौरव एव अपने कर्तव्य की पूर्ति समझता है। गहनो की प्रथा के फलस्वरूप हमे जीवन मे कितनी अनैतिकता एव आर्थिक सकट का सामना करना पडता है, इसका विस्तृत चित्रण करके प्रेमचन्द ने हमे अपना भविष्य सुधारने की जो प्रेरणा दी, उसके लिए भारतीय नारी सदा उनकी कृतज्ञ रहेगी।

जालपा के आभूषण-प्रेम और अपने मिथ्या प्रदर्शन के कारण ही रमानाथ कर्ज से लदता है, मानसिक यातनाएँ सहता है और अन्त मे एक दिन झूठी प्रतिष्ठा के भण्डाफोड के अवसर पर कायरो की भाँति घर से भाग जाता है। इस प्रकार आभूपण-प्रेम की प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर सारे परिवार के जीवन को नष्ट कर देती हे।

प्रमचन्द ने 'कायाकल्प' मे भी स्त्रियो के आभूषण-प्रेम की चर्चा की है।[2] किन्तु यह बात ध्यान देने की है कि प्रेमचन्द ने गहने पहनने को इतना बुरा नही माना है जितना उनके प्रति अत्यधिक मोह की उस भावना को जिसके कारण पारिवारिक शान्ति नष्ट हो जाती है। उन्होने नारी की आभूषण-प्रियता की समस्या को सामाजिक और आर्थिक समस्या के रूप मे ग्रहण किया है और समाज-सुधार की दृष्टि से उस पर गम्भीरता से विचार किया है। उन्होने इसके लिए केवल नारी को दोपी न ठहराकर समाज की दूपित मनोवृत्ति पर ही मुख्य रूप से प्रहार किया है। प्रेमचन्द आदर्शवादी थे। वे नारी को त्याग और क्षमा की मूर्ति समझते थे। अत एक ओर जहाँ उन्होने नारी के इस असाधारण मोह की

---

१. प्रमचंद : 'गबन' (पृष्ठ ५२)

२. 'रानी देवप्रिया के बहुमूल्य आभूषणों के लिए तो वह सग्राम छिड़ा कि कई दिनों तक आपस में गोलियाँ-सी चलती रहीं। राजा साहब पर क्या बीत रही है, राज्य की क्या दशा है, इसकी किसी को सुधि न थी। उन . जीवन में यदि कोई वस्तु थी तो वह रत्न और आभूषण थे।'
प्रेमचन्द : 'कायाकल्प' (पृष्ठ १९७)

भर्त्सना की है, वहाँ दूसरी ओर यह भी चित्रित किया है कि सकट के समय नारी अपने आभूषणो का त्याग करने मे तनिक भी नही हिचकिचाती। जालपा को जैसे ही पति की परेशानियो का पता चलता है, वह स्वय सराफे मे जाकर गहने बेच देती है। 'प्रेमाश्रम' की शीलमणि भी समाज-सेवा के लिए तुरन्त अपने गहने अर्पण करने को प्रस्तुत हो जाती है। 'कर्मभूमि' की सुखदा भी श्वसुर को गहने लौटा देती है और स्वाभिमानिनी की भाँति पति से कहती है 'तुम समझते होगे मै गहनो के लिए कोने मे बैठकर रोऊँगी, और अपने भाग्य को कोसूँगी। स्त्रियाँ अवसर पडने पर कितना त्याग कर सकती है, यह तुम नही जान सकते। मै इस फटकार के बाद इन गहनो की ओर ताकना भी पाप समझती हूँ।'[1]

यद्यपि प्रेमचन्द के अतिरिक्त अन्य किसी उपन्यासकार ने इस समस्या को अपना विषय नही बनाया है, तथापि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासो मे, और विशेषत 'गबन' मे इस समस्या के सारे पहलुओ पर इतना विशद प्रकाश डाला है कि दूसरे उपन्यासकारो की यह उपेक्षा खटकती नही।

नारी-स्वातन्त्र्य की समस्या

प्रेमचन्द-युग मे नारी-स्वतन्त्रता का प्रश्न महत्वपूर्ण बन कर सामने आया। इस युग के उपन्यासकारो ने नारी की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता दोनो पर ही विचार किया है। उन्होने पाश्चात्य प्रणाली के अनुकरण पर आश्रित नारी-स्वतन्त्रता की जी खोलकर निन्दा करते हुए भी भारतीय आदर्शो के अनुरूप उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्वीकार किया है। आधुनिक शिक्षा के माध्यम से शहर की नारी का विकास होता है तो खेती मे पुरुष का हाथ बँटाने के कारण ग्रामीण नारी मे आत्म-विश्वास की भावना का सचार होता है। प्रेमचन्द लिखित 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा, 'गबन' की जालपा, 'कर्मभूमि' की सुखदा, 'रगभूमि' की जाह्नवी, सोफी और इन्दु, 'प्रेमाश्रम' की शीलमणि, 'गोदान' की मालती और धनिया, 'प्रसाद' लिखित 'तितली' की तितली और शैला, उषा-देवी मित्रा लिखित 'पिया' की पिया और कविता तथा 'वचन का मोल' की कजरी, प्रताप-नारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' की चपला, केट, लज्जावती और कुमुदिनी, 'विजय' की कुसुम और मनोरमा, 'विकास' की मालती आदि अनेक नारियो के चरित्र-चित्रण मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भावना लक्षित होती है। ये नारियाँ पुरुष के प्रभुत्व के कारण कोई कार्य नही करती प्रत्युत इनके प्रत्येक कार्य के पीछे मन का सच्चा सहयोग ध्वनित होता है। किन्तु नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सिद्धान्त-रूप मे स्वीकार करते हुए भी इस युग के उपन्यासकार ने उसके आचरण की मर्यादा पर विशेष बल दिया है। कहीं पर भी उसे इतनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रदान नही की है कि उसका व्यवहार उच्छृखल कहा जा सके। उसके कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध मे घर को प्रधानता दी गई है। इसके साथ-साथ

वैयक्तिक स्वतन्त्रता

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ ११३)

इन उपन्यासकारो का मत है कि भारतीय नारी को वैयक्तिक स्वतन्त्रता देने पर भी उसके मन मे अनजाने ही परम्परागत पातिव्रत सस्कार इतने प्रबल है कि विषम-से-विषम परि-स्थिति मे भी वह अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नही करती।

नारी की स्वतन्त्रता की समस्या का विवेचन सेठ गोविन्ददास लिखित 'इन्दुमती' मे बड़े विस्तार से किया गया है। इन्दुमती प्रतिष्ठित और सम्पन्न वकील अवध-बिहारी लाल की एक मात्र सतान है। प्रारम्भ से ही उसके पिता उसे केवल एक ही शिक्षा देते रहे है : 'विश्व मे निज का व्यक्तित्व ही सब कुछ है, जो अपने को ही केन्द्र मान सब कुछ अपने लिए करता है, ससार की समस्त वस्तुओ को अपने आनन्द के लिए साधन मानता है, उसी का जीवन सुखी और सफल होता है।'[1] पिता के इस उपदेश को इन्दुमती घुट्टी की भाँति पचाकर जीवन की पगडडियो मे पैर बढाती है। अपने व्यक्तित्व को ही जीवन का केन्द्र मानने के कारण वह परम्परागत भारतीय आचार से दूर रहने की भरसक चेष्टा करती है। लगता है उपन्यासकार इन्दुमती जैसी नारी के चित्रण द्वारा यह प्रयोग करना चाहता है कि यदि नारी को चेष्टा करके प्रारम्भ से ही पूर्ण वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाए तो उसके व्यक्तित्व का विकास किस प्रकार होगा तथा वह उस स्वतन्त्रता का उपयोग किस प्रकार करेगी। इसीलिए इन्दुमती का चरित्र-चित्रण अन्य सभी नारी-पात्रो से एकदम भिन्न, एक विचित्र नारी के रूप मे हुआ है।

इन्दुमती जब कालेज मे पढती है तब निज को ही महत्वपूर्ण मानने के कारण वह सभी छात्र-छात्राओ की नेत्री बन जाती है। वह मारवाडी-पुत्र ललितमोहन से प्रेम करती है, फिर अन्तर्जातीय विवाह करती है और राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेती है। पति की मृत्यु के उपरान्त पति के वश की रक्षा के हेतु वह कृत्रिम गर्भाधान द्वारा पुत्र उत्पन्न करती है। कुछ दिनो बाद वह मजदूर-नेता वीरभद्र की ओर आकर्षित होती है। इसी प्रबल आकर्षण के फलस्वरूप वह मजदूरो की बस्ती मे सेवा-कार्य करती है, असाधारण परि-परिस्थितियो मे जन्म प्राप्त करने के कारण जब उसके पुत्र मयक को समाज मे अपमान का सामना करना पडता है तो वह अपने पुत्र की प्रसन्नता को निज की प्रसन्नता मानकर अमरीका चली जाती है और शशिबाला नाम से नर्तकी के रूप मे ख्याति प्राप्त करती है।

इस प्रकार इन्दुमती के जीवन मे अनेक मोड आते है, और प्रत्येक मे वह अपने व्यक्तित्व को ही परम महत्वपूर्ण मानकर कार्य करती है। फिर भी जीवन मे उसे कभी भी शान्ति का अनुभव नही होता। अन्त मे जब वह अमरीका से स्वदेश लौटती है, तब लेखक एक थोथे सिद्धान्त के पीछे नष्ट होने-वाले उसके जीवन की व्यर्थता को छिपाने के लिए दार्शनिकता का सहारा लेने लगता है। फिर भी वह इतना तो सिद्ध कर ही देता है कि आत्म-व्यक्तित्व को सर्वोपरि मानकर अन्य परिस्थितियो और प्रभावो को ठुकराते रहने मे नारीका कल्याण सम्भव नही है।

---

१. सेठ गोविंददास : 'इंदुमती' (पृ० ५३)

नारी को आर्थिक स्वतन्त्रता को सस्मया

नारी-शिक्षा और पाश्चात्य प्रभाव के कारण नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता की समस्या भी उठ खडी हुई थी। समाज मे धीरे-धीरे यह प्रगतिशील विचारधारा फैल रही थी कि आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हुए बिना नारी अपनी दासता की जजीरो से पूर्णत मुक्त नही हो सकती। आर्थिक स्वतन्त्रता से ही उसकी परवशता मिट सकती है, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व का विकास होता है, वह पुरुष के समकक्ष खडी हो सकती है। किन्तु इस विचार-धारा को प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासकारो ने स्वीकार नही किया है। उनका मत है कि 'स्त्री घर की स्वामिनी है और पुरुष बाहर का।'[1] 'स्त्री का जन्म अपने पति की सेवा के लिए हुआ है, और पुरुष का जन्म उसकी रक्षा के लिए। दोनो को अपने-अपने कर्तव्य-पालन करने चाहिए'[2] किन्तु इसके साथ-साथ स्त्री मे इतनी योग्यता होनी चाहिए कि समय पडने पर अपनी जीविका का भी प्रबन्ध कर सके।[3]

यो तो इस युग के कई उपन्यासो मे नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता के उदाहरण मिल जायेगे, जैसे यशपाल की 'दिव्या', भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा', निराला की 'अप्सरा', चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगर वधू' सभी आर्थिक रूप मे स्वतन्त्र नारियाँ हैं। 'प्रसाद' लिखित 'तितली' की अनवरी रानी साहिबा की सेविका है। तितली स्वय लडकियो का स्कूल खोलती है तथा शैला नीलकोठी मे ग्रामसुधार के कार्य मे जुट जाती है जिसके द्वारा वह आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने मे समर्थ होती है। 'गोदान' की मालती डाक्टर है। 'कर्मभूमि' को सुखदा एक स्कूल मे अध्यापिका का कार्य करती है। किन्तु शैला, तितली और मालती को छोडकर अन्य नारियो को आर्थिक स्वतन्त्रता को आनुषगिक महत्व ही मिला है, उसका चित्रण नारी-स्वातन्त्र्य की समस्या और उसके समाधान के रूप मे नही हुआ है। शैला के चित्रण से इस बात का आभास मिलता है कि 'प्रसाद' के मत मे आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने पर ही स्त्री आपसी सम्बन्धो के विषय मे मुक्त भाव से कुछ कह सकती है। शैला इन्द्रदेव पर आर्थिक रूप से निर्भर है, वह उसको प्रेम भी करती है। उसके मन मे यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि कही आर्थिक स्वार्थ के कारण ही तो वह प्रेम नही करती। इसलिए वह नीलकोठी मे ग्रामसुधार के कार्य द्वारा आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो जाना चाहती है। उसका मत है कि अपने पैरो के नीचे ठोस भूमि पाकर ही वह जीवन के बारे मे निर्लिप्त भाव से सोच समझ सकती है। वह इन्द्रदेव से कहती है: 'तुमको-अपने को समान अन्तर पर रखकर कुछ दिन परीक्षा लेकर, तब मन से पूछूँगी।'[4] यहाँ 'प्रसाद'

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १८३)

२. वही (पृष्ठ १८३)

३. वही (पृष्ठ १८३)

४. जयशकर 'प्रसाद' : 'तितली' (पृष्ट १८३)

ने पुरुष और नारी के व्यक्तित्वों को समान भूमि पर लाकर खडा कर दिया है; जहाँ न किसी का प्रभुत्व है और न कोई किसी का आश्रित है।

इस प्रकार 'प्रसाद' ने नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता का केवल एक पहलू लिया है। इस क्षेत्र मे भी प्रेमचन्द ही एक ऐसे उपन्यासकार है जिन्होने समस्या के सभी पहलुओ पर गम्भीरता से विचार किया है। 'गोदान' मे मेहता नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे जो कुछ कहते है, वे मानो प्रेमचन्द के ही विचार है। वे स्त्री और पुरुष के कार्यक्षेत्र को भिन्न मानते है। मेहता कहते है 'स्त्री को पुरुष के रूप मे, पुरुष के कर्म मे रत देखकर मुझे उसी तरह वेदना होती है, जैसे पुरुष को स्त्री के रूप मे स्त्री के कर्म करते देखकर। मुझे विश्वास है ऐसे पुरुषो को आप अपने विश्वास और प्रेम का पात्र नही समझती और मै आपको विश्वास दिलाता हूँ, ऐसी स्त्री भी पुरुष के प्रेम और श्रद्धा का पात्र नही बन सकती।'[1] .....'देवियो, मैं उन लोगो मे नही हूँ, जो कहते है, स्त्री और पुरुष मे समान शक्तियाँ है, समान प्रवृत्तियाँ है, और उनमे कोई भिन्नता नही है। इससे भयकर असत्य की मै कल्पना नही कर सकता'[2]. . 'आपकी विद्या और आपका अधिकार हिंसा और विध्वस मे नही, सृष्टि और पालन मे है। क्या आप समझती है, वोटो से मानव-जाति का उद्धार होगा या दफ्तरो मे और अदालतो मे जबान और कलम चलाने से ? इन नकली अप्राकृतिक, विनाशकारी अधिकारो के लिए आप वे अधिकार छोड देना चाहती है, जो आपको प्रकृति ने दिये है।'[3]

प्रेमचन्द ने नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता को पाश्चात्य आदर्श मानकर उसकी भर्त्सना की है। इसके विपरीत भारतीय नारी का आदर्श उन्होने गृह-सचालन माना है। पत्नी यदि अर्थोपार्जन करती है तो पति के आत्म-सम्मान और अह को धक्का लगता है।[4] फिर भी प्रेमचन्द ने सकट के समय नारी द्वारा अर्थोपार्जन का समर्थन किया है। 'कर्मभूमि' मे सुखदा जब ससुराल त्यागकर अपना घर अलग बसाती है और मायके से मिले गहने भी अपनी माँ को लौटा देती है तो उसके पति अमरकान्त को बुरा लगता है। किन्तु वह पति को ढाढस दिलाती हुई आत्म-सम्मानपूर्वक कहती है· 'मै तुम्हारे भरोसे पर नही

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १९९)

२. वही : (पृष्ठ २००)

३. वही : (पृष्ठ २०३)

४. 'कायाकल्प' में अहल्या लेख आदि लिखकर कुछ अर्थोपार्जन करती है किन्तु उसके इस कार्य से उसके पति चक्रधर के अहं को आघात पहुँचता है, 'उनके अहंकार को धक्का-सा लगा। उनके मन में गृहस्वामी होने का जो गर्व अलक्षित रूप मे बैठा हुआ था, वह चूर-चूर हो गया। वे अज्ञात भाव से बुद्धि में, विद्या मे एव व्यावहारिक ज्ञान में अपने को अहल्या से ऊँचा समझते थे। रुपये कमाना उनका काम था। यह अधिकार उनके हाथ से छिन गया।' प्रेमचन्द : कायाकल्प : (पृष्ठ ३०१)

जा रही हूँ। अपनी गुजर भर को आप कमा लूँगी। रोटियो में ज्यादा खर्च नही होता। खर्च होता है आडम्बर मे।"[१]

'गोदान' की मालती भी अपनी डाक्टरी द्वारा अर्थोपार्जन करती है। जबतक पश्चिमी नारी की भाँति विलासमय जीवन व्यतीत करना उसका आदर्श रहा, लेखक उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता को श्रेय नही दे सका। किन्तु जब वह समाज-सेवा के हेतु अर्थोपार्जन करने लगती है तब उसका वही कार्य सराहनीय बन जाता है।

इस समस्या के चित्रण के सम्बन्ध मे दो बातो पर और ध्यान जाता है। एक तो, इस युग के किसी भी लेखक ने उस नारी द्वारा अर्थोपार्जन का समर्थन नही किया है जो विवाहिता है और अपने पति के साथ रहती है। इस स्थिति मे उपन्यासकारो ने गृह-सचालन ही उसका मुख्य कर्तव्य माना है। 'प्रसाद' लिखित 'तितली' मे तितली और प्रेमचन्द लिखित 'कर्मभूमि' की सुखदा उसी समय अर्थोपार्जन करती हैं जब उनके पति घर से चले जाते है। 'तितली' की शैला और 'गोदान' की मालती अविवाहितावस्था में धनोपार्जन करती है। 'कायाकल्प' की अहल्या पति के साथ रहकर कुछ धनोपार्जन करना चाहती है तो पति के अह-भाव पर चोट लगती है और वह उसको ऐसा करने से रोक देता है। दूसरे इस युग के लेखक पुरुषो के समकक्ष बैठकर दफ्तरो और अदालतो मे कार्य करने को नारी के लिए हानिकर मानते है। आवश्यकता पडने पर भी वे नारी को केवल अध्यापन और डाक्टरी के काम की ही अनुमति देते है। प्रेमचन्द ने सुखदा से और 'प्रसाद' ने तितली से अध्यापन-कार्य कराया है तथा मालती से डाक्टरी का कार्य।

पारिवारिक समस्याएँ

सम्मिलित परिवार का विघटन

प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासो मे सम्मिलित परिवार के प्रति जो प्रगाढ मोह की भावना थी, वह इस समय तक आते-आते टूटने-सी लगती है। सम्मिलित परिवार के प्रति मोह तो अब भी है, किन्तु इस युग का उपन्यासकार देखता है कि पारिवारिक सम्बन्धो में अब तेजी से परिवर्तन हो रहे है, उसके सदस्यो को वैयक्तिकता प्रधान होती जा रही है तथा परिवार मे आर्थिक समस्याएँ जटिल बनती जा रही है।

पहले सम्मिलित परिवार मे घर का बडा ही घर का मालिक माना जाता था, चाहे वह छोटो से कम उपार्जन करता हो। किन्तु अब जो अर्थोपार्जन करता है, वही अपने को घर का मालिक समझता है और उसकी पत्नी अपने-आपको घर की मालकिन समझती है। वैयक्तिकता की प्रधानता के कारण सम्मिलित परिवार मे स्नेह का वह पवित्र बधन ढीला पडता जाता है जो उसे एक सूत्र मे बाँधे रहता था। उदाहरण के लिए 'गबन' में जालपा ही अपने आपको घर की मालकिन समझती है क्योकि उसका पति रमानाथ कमाता

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ ११३)

है। इस परिवार मे स्नेह का अभाव है, सभी व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थों को लेकर चलते है। जालपा पति की तनख्वाह मे से गहने बनवाना चाहती है इसलिए वह अपनी सास को वेतन की रकम कम बताती है। जालपा और उसकी सास मे गहनो के प्रश्न पर वैमनस्य भी हो जाता है।

इस युग के उपन्यासकारो ने देवरानी-जिठानी और ननद-भौजाई के झगडो पर उतना ध्यान नही दिया है जितना सास-बहू के झगडो पर। कही सास बहू पर और कही बहू सास पर अत्याचार करती दिखाई देती है। 'हृदयेश' लिखित 'मगल प्रभात' मे और रमाशकर सक्सेना लिखित 'अबला' मे सास बहू पर अत्याचार करती है तो प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' मे कुमुदिनी और चतुरसेन शास्त्री लिखित 'आत्मदाह' मे भगवती अपनी सास पर अत्याचार करती है।

इन्ही सब कारणो से सम्मिलित परिवार टूटने लगता है। उसको बिखरने से रोकना किसी के वश की बात नही। 'कर्मभूमि' मे अमरकान्त सैद्धान्तिक मतभेद के कारण अपने पिता समरकान्त के घर रहना नही चाहता। उसकी पत्नी को पहले तो ससुर-गृह से अलग रहने की कल्पना भी अच्छी नही लगती। वह अमरकान्त को उसके पिता के साथ रहने के लिए बाध्य करती है। किन्तु जब वह स्वय अनुभव करती है कि उसके श्वसुर अमरकान्त के प्रत्येक मामले मे हस्तक्षेप करते है तो वह ससुराल से अलग रहने का प्रस्ताव करती है। 'कायाकल्प' मे चक्रधर अपनी आदर्शवादिता के कारण अनाथ-बालिका अहल्या से विवाह करता है। उसके पिता इसको पसन्द नही करते। अत उसका अपने परिवार से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' मे भी सम्मिलित परिवार छिन्न-भिन्न होते दिखाया गया है। 'गोदान' मे होरी बडी चेष्टा करता है कि सम्मिलित परिवार बना रहे किन्तु उसके देखते-देखते सब अलग हो जाते है। पहले वह अपने भाइयो से अलग होता है और बाद मे उसका बेटा गोबर भी उसे छोडकर नौकरी करने शहर चला जाता है। 'प्रसाद' लिखित 'तितली' मे भी दो पीढियो के स्वभावो मे इतना मौलिक अन्तर है कि परिवार-विच्छेद अनिवार्य हो जाता है।

सम्मिलित परिवार के इस विघटन के मूल मे आर्थिक कठिनाइयाँ, शिक्षा द्वारा व्यक्तित्व का विभिन्न दिशाओ मे विकास और गाँव की मिट्टी से हटकर नगर की ओर सक्रमण का हाथ तो है ही, उसका एक प्रमुख कारण समाज मे नारी की स्थिति मे क्रमिक परिवर्तन भी है। जब गोबर अपने पिता होरी को छोडकर शहर जाता है तो उसकी पत्नी झुनिया उसके साथ शहर जाने मे अत्यन्त उत्साहित और प्रसन्न दिखाई देती है। पति गोबर के साथ शहर जाने मे झुनिया के प्रसन्न होने का एक कारण यह भी है कि आज की नारी चाहे वह अपढ-गँवार ही क्यो न हो, घर मे सास के आधिपत्य मे रहना नही चाहती। आधुनिक युग मे नारी की वैयक्तिकता का तेजी से विकास होने के कारण वह भी पुरुष की भाँति अपने भावो और कामनाओ को चरितार्थ करना चाहती है। वह चाहती है कि अपनी गृहस्थी स्वय बनाकर वह उसकी स्वामिनी बने। 'रगभूमि' मे ताहिरअली की

पत्नी कुल्सूम को भी अपनी सास-द्वय का आधिपत्य स्वीकार नही है। वह उनसे अलग रहना चाहती है।

अत सम्मिलित परिवार का मेरुदण्ड युग-युग से नारी के समर्पण और बलिदान पर ही टिका था। उसके नष्ट हो जाने के कारण अब सम्मिलित परिवार के लिए कोई टेक ही न बची। 'तितली' मे वर्णित विच्छेद का भी ऐसा ही कारण है। श्यामदुलारी और माधुरी के विचार इन्द्रदेव के विचारो से मेल नही खाते। थोडा-सा विरोध इस छोटी-सी गृहस्थी को तोड देने मे सफल होता है। इन्द्रदेव खिन्न होकर स्वय सम्मिलित परिवार के विच्छेद का विश्लेषण करते है। इस विश्लेषण मे आज के समाज का गहरा अध्ययन मिलता है। 'भारतीय सम्मिलित कुटुम्ब की योजना की कडियाँ चूर-चूर हो रही है। वह आर्थिक सगठन अब नही रहा, जिसमे कुल का एक प्रमुख सबके मस्तिष्क का सचालन करते हुए रुचि की समता का भार ठीक रखता था।. . प्रत्येक प्राणी, अपनी व्यक्तिगत चेतना के उदय होने पर, एक कुटुम्ब मे रहने के कारण अपने को प्रतिकूल परिस्थिति मे देखता है। इसलिए सम्मिलित कुटुम्ब का जीवन दु खदायी हो रहा है।'[1]

इसके अतिरिक्त जबतक नारी देखती है कि परिवार मे उसकी सेवा की कद्र है, तबतक तो वह सम्मिलित परिवार को स्वीकार करती है, किन्तु जैसे ही उसे विदित होता है कि परिवार के अन्य व्यक्ति स्वार्थी है, उनके लिए चाहे जितने कष्ट सहे, वे आडे दिनो मे काम नही आयेगे, तो वह सम्मिलित परिवार मे रहना पसन्द नही करती। 'गोदान' की धनिया ने अपनी देवरानियो और देवर की भलाई के लिए क्या नही किया। स्वय भूखी रहती पर देवरानियो के जलपान का भी ध्यान रखती थी। अपने शरीर पर मैला-कुचैला ही क्यो न हो, देवरानियो के लिए दो-दो चार-गहने तक बनवा दिये थे। पर जब इतने उपकारो पर भी देवर-देवरानी कोई कृतज्ञता अनुभव नही करते, उल्टे उसे उल्टी-सीधी सुनाते है, तब परिवार का विघटन अनिवार्य हो जाता है। विच्छेद के बाद भी होरी सम्मिलित परिवार के सस्कारो को त्याग न ही पाता। वह जानते हुए भी कि उसकी गाय को उसी के छोटे भाई हीरा ने जहर खिलाया है, परिवार की बदनामी के भय से वह सच्ची बात नही कहता, उल्टे सच बोलनेवाली अपनी पत्नी धनिया को ही पीटता है। लेकिन धनिया के मन के सस्कार मिट चुके है। यथार्थ की आग मे तपकर वह इतनी बदल गई है कि सम्मिलित परिवार की झूठी प्रतिष्ठा को बचाने की उसे कोई चिन्ता नही। होरी से पिटने पर भी वह पचो के सामने हीरा को ही अपराधी बताती है। इसी प्रकार 'रगभूमि' का ताहिरअली होरी की भाँति अपनी सौतेली माँ-द्वय का और भाइयो का भरण-पोषण करना अपना कर्तव्य समझता है।[2]

---

१. जयशकर 'प्रसाद' : 'तितली' (पृष्ठ ११६)

२. 'कैसी बात करती हो, आखिर वे लोग कोई गैर तो नहीं हैं। अपने ही भाई हैं, अपनी माँएँ हैं। उनकी परवरिश मेरे सिवा और कौन करेगा !' प्रेमचन्द : 'रगभूमि' प्रथम भाग : (पृष्ठ १५८)

जिसके कारण वह अपनी पत्नी और बच्चो पर भी ध्यान नही दे पाता। किन्तु उसकी पत्नी कुल्सूम सौतो की स्वार्थी मनोवृत्ति को अच्छी तरह पहचानती है इसलिए वह पति से कहती है 'तुम समझते होगे, वे तुम्हारे मुहताज है, मगर उन्हे तुम्हारी रत्ती भर भी परवाह नही। सोचती है, जबतक मुफ्त का मिले, अपने खजाने मे क्यो हाथ लगाये। मेरे बच्चे पैसे-पैसे को तरसते है, और वहाँ मिठाइयो की हाँडियाँ आती है, उनके लडके मजे मे खाते है। देखती हूँ और आँखे बन्द कर लेती हूँ।'' सम्मिलित परिवार के प्रति मोह के कारण यद्यपि ताहिरअली को कुल्सूम की बात प्रिय नही लगती, फिर भी स्वार्थ की पराकाष्ठा के कारण अन्त मे परिवार-विच्छेद हो ही जाता है।

इस प्रकार से देखा जाये तो सम्मिलित परिवार का विघटन नारीकी मुक्ति का घोषणा-पत्र है। बड़े परिवार मे नारी आजीवन सेवा करने पर भी अपने अधिकार का दावा नही कर सकती थी। पुरुष-वर्ग और घर की बडी-बूढी स्त्रियाँ उस पर सदैव शासन करती रहती थी। छोटे-छोटे मुक्त परिवार मे ही नारी को पुरुष की समभागिनी और समानाधिकारिणी बनने का अवसर मिलता है। इस प्रकार सम्मिलित परिवार का अन्त समय की गति का प्रतीक है, उसके लिए किसी को दोषी नही ठहराया जा सकता, न सम्मिलित परिवार के अतीत गौरव के गीत गाने से उसे जीवित ही रक्खा जा सकता है।

जब परिवार-विच्छेद होता है तो पति-पत्नी और उनके बच्चो का एक अलग छोटा-सा परिवार बन जाता है जिसमे पति घर का स्वामी होता है और पत्नी घर की स्वामिनी। सम्मिलित परिवार मे रहते समय वे अनेक महत्वपूर्ण निश्चयो का भार अपने माँ-बाप पर छोडकर निश्चिन्त रहते है। परन्तु परिवार-विच्छेद के उपरान्त सभी निश्चयो का उत्तरदायित्व उनके ऊपर आ जाता है। ऐसी स्थिति मे पति-पत्नी की अल्पवयस्कता अथवा अनुभवहीनता के कारण कभी-कभी परेशानियाँ भी उत्पन्न हो जाती है। परिवार-विच्छेद से उत्पन्न इस दशा को भी प्रेमचन्द ने देखा और 'गोदान' मे चित्रित भी किया है। जब गोबर अपनी गर्भवती पत्नी झुनिया को अपने माँ-बाप के पास छोड जाता है, तब न तो गोबर को झुनिया की कोई चिन्ता करनी पडती है और न झुनिया को ही किसी प्रकार की चिन्ता होती है। अनुभवी धनिया के कारण झुनिया को प्रसव-काल मे भी किसी प्रकार की कठिनाई नही होती, उल्टे पुत्र-जन्म की खुशी मे उत्सव भी मनाया जाता है। किन्तु जब झुनिया गोबर के साथ शहर चली जाती है, तब अकेले ही घर को सँभालते हुए उसको अनुभव होता है कि वास्तव मे प्रसव के समय बडो की मदद कितनी आवश्यक होती है। इस सबध में गोबर और झुनिया दोनो ही अबोध है। ऐसे अवसर पर झुनिया अपनी सास का स्मरण करती है, पर घर से लडकर आ जाने के कारण अब लौटकर जाने का कोई मार्ग नही। परिवार-विच्छेद के पश्चात् छोटे-छोटे परिवारो की मदद आस-पडौस ही

---

१. प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' प्रथम भाग : (पृष्ठ १५८)

करता है। यहाँ झुनिया की मदद चुहिया करती है। चुहिया के रूप मे प्रेमचन्द ने नारी के हृदय की सारी करुणा और सहानुभूति का चित्रण किया है।

दाम्पत्य-प्रेम

परिवार को बनाने या बिगाडने मे पति-पत्नी के सम्बन्ध विशेष रूप से महत्व रखते है। पाश्चात्य नारी स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के प्रभाव से भारतीय नारी भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए चिन्तित होने लगी थी। इस युग के लेखक को भय था कि कही नारी गलत रास्ते पर भटककर अपने पारिवारिक जीवन को अशान्तिमय न बना ले। इसलिए उन्होने सच्ची स्वाधीनता की व्याख्या करते हुए पति-पत्नी के कर्तव्यो को भी निश्चित किया। प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' मे चपला कहती है 'नही, सच्ची स्त्री-स्वाधीनता वही है, जहाँ स्त्री पर अत्याचार न हो। स्त्री-पुरुष दोनो एक होकर रहे, दोनो मे मतभेद न होने पावे। स्त्री को यह गर्व न हो कि मै स्वामी से बडी हूँ और न स्वामी को अभिमान हो कि ईश्वर ने सब बुद्धि मेरे ही हिस्से मे रक्खी है। स्त्री घर की मालकिन है और पुरुष बाहर का। लेकिन दोनो मे मतैक्य हो। दोनो उस पवित्र प्रेम-सूत्र मे बँधे हो, जहाँ न राज है न अभिमान, न द्वेष है और न कलह। असीम शान्ति है, अनत प्रेम है।'[१] इस अनन्त प्रेम के बल पर ही परिवार मे शान्ति रह सकती है। यह प्रेम का सम्बन्ध चाहे पति-पत्नी मे हो, सास-बहू मे हो, देवरानी-जिठानी मे हो या ननद-भौजाई मे हो। जहाँ प्रेम नही, वहाँ पारिवारिक कलह उत्पन्न हो जाती है।

सन्तान का लालन-पालन

परिवार मे बच्चो का भी विशेष महत्व है। बच्चे का लालन-पालन जब माँ-बाप मिलकर करते है तब कोई समस्या उत्पन्न नही होती किन्तु पिता की मृत्यु हो जाने पर या कही चले जाने पर उसका सारा भार माँ के कधों पर आ पडता है। 'प्रसाद' लिखित 'तितली' मे तितली का पति मधुबन और सियारामशरण गुप्त लिखित 'नारी' मे जमना का पति घर छोड़कर चले जाते है। दोनो नारियाँ परित्यक्ता है। दोनो की गोद मे बालक है। इनका लालन-पालन करना दोनो ही नारियो के लिए एक समस्या है। फिर भी दोनो अपने बच्चो के मानसिक विकास पर ध्यान देते हुए उनका लालन-पालन कर अपना उत्तरदायित्व निभाती है।

सौतेली माँ—सौतेली संतान

परिवार मे जब सौतेली माँ का पदार्पण होता है तो अनेक पारिवारिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। सौतेले बच्चो के प्रति सौतेली माँ के व्यवहार मे एक प्रकार की कटुता पाई

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १८३)

जाती है, जिसके कारण पारिवारिक शान्ति भग हो जाती है। सौतेली माँ के कटु व्यवहार को उपन्यासकारो ने बहुत ही सतही ढग से देखा है। केवल प्रेमचन्द ने 'निर्मला' उपन्यास मे इस समस्या को जडतक पहुँचने की चेष्टा की है। निर्मला का विवाह जब विधु तोताराम से होता है तो प्रारम्भ मे वह उनकी मृत पहली पत्नी के बच्चो को अपना मानकर उनके साथ सीधा, सरल, स्नेह पूर्ण व्यवहार करती है। किन्तु प्रेमचन्द ने दिखाया है कि साम जिक वातावरण ऐसे व्यवहार को पनपने नही देता। निर्मला की ननद रुक्मिणी एक ओर निर्मला के इस उत्तम आचरण और व्यवहार को शका की दृष्टि से देखती है और दूसरी ओर उन बच्चो को अपनी सौतेली माँ के विरुद्ध नित्य-प्रति उल्टी-सीधी बाते सिखलाती रहती है। बच्चो को 'उसके पास फटकने भी नही देती, मानो वह कोई पिशाचिनी है जो उन्हे निगल जायेगी।'[१]

इस प्रकार, साधारण परिवार के व्यक्ति यह मानकर चलते है कि सौतेली माँ का व्यवहार सौत के बच्चो के प्रति अच्छा हो ही नही सकता। प्रेमचन्द ने समाज की इस मनोवृत्ति पर भी तीखा व्यग्य किया है। निर्मला अपनी सौत के बडे पुत्र मशाराम को जीवन देने के लिए अपने प्राण भी दे सकती थी। निर्मला के प्रति तोताराम की मूर्खता और शकालु स्वभाव के कारण मशाराम की मृत्यु होती है। किन्तु समाज के लोग वास्तविक कारण की खोज नही करते। वे सौतेली माँ को ही सब आपत्तियो की जड समझ बैठते है। वे मशाराम की मृत्यु का कारण भी सौतेली माँ निर्मला को ही मानते है। 'चारो ओर यही चर्चा थी। ईश्वर न करे, लडको को सौतेली माँ से पाला पडे। जिसे अपना बना-बनाया घर उजाडना हो, अपने प्यारे बच्चो की गर्दन पर छुरी फेरवानी हो, वह बच्चो के रहते हुए अपना दूसरा ब्याह करे। ऐसा कभी नही देखा कि सौत के आने पर घर तबाह न हो गया हो। वही बाप जो बच्चो पर जान देता था, सौत के आते ही उन्ही बच्चो का दुश्मन हो जाता है उसकी मति ही बदल जाती है। ऐसी देवी ने जन्म ही नही लिया, जिसने सौत के बच्चे को अपना समझा हो।'[२]

इस युग के अधिकाँश उपन्यासकारो ने भी इसी पूर्वाग्रह की भावना से सौतेली माँ का चित्रण किया है। अवधनारायण ने 'विमाता' मे रघुनन्दन की सौतेली माँ को ऐसी हृदय-हीना अत्याचारिणी के रूप मे चित्रित किया है कि शायद ही कोई विश्वास कर सके। रघुनन्दन जैसे सच्चरित्र और साधु प्रकृति के बालक के साथ किसी भी व्यक्ति का ऐसा अमानवीय व्यवहार अप्रत्याशित ही नही, असभाव्य भी है।

फिर भी, यह सही है कि साधारणतः नई माँ अपने सौतेले बच्चो को वह स्नेह और यत्न नही दे पाती, जो वे अपनी वास्तविक माँ से पाते। पर इसका मुख्य कारण नई माँ के मन मे समाई ईर्ष्या नहीं, उसकी अयोग्यता है। प्रेमचन्द-युग मे लड़कियो का विवाह

---

१. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ ३६)
२. वही : (पृष्ठ १३५)

छोटी उम्र मे होने के कारण, वे मातृत्व-भावना लेकर नही, यौवन की उमगे लेकर सुसराल मे आती थी। आते-आते ही गृहस्थी और बाल-बच्चो की देखरेख का भार उनके कोमल कधो पर लाद दिया जाता था। विधुर से विवाह होने के कारण पति भी प्राय समवयस्क नही होता था। अत नव-वधू के अरमान मन मे ही रह जाते और अतृप्त जीवन की कडवाहट उसके व्यवहार मे प्रकट होने लगती। फलत वह सौत के बच्चो को वह स्वाभाविक स्नेह नही दे पाती जो उनको माँ दे सकती। अपने व्यक्तिगत असतोषो पर विजय पाकर यदि कोई सौतेली माँ सौत के बच्चो को स्नेह दे भी पाती तो उसे उन बच्चो की ओर से वह निश्छल स्नेह नही मिलता जो अपनी सतान से मिल सकता था। इस विषम स्थिति के कारण सौतेली माँ और सौत के बच्चो का सम्बन्ध साधारणत शान्तिपूर्ण नही हो पाता। किन्तु प्रेमचन्द के अतिरिक्त अन्य लेखको ने इन कारणो पर कम ध्यान देकर परिवार के उस अशान्तिपूर्ण वातावरण पर ही विशेष ध्यान दिया है जो सौतेली माँ के पदार्पण के बाद दिखाई देता है।

नैतिक मूल्यों मे परिवर्तन की समस्या

यद्यपि प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारो का ध्यान नारी की दुरवस्था और उससे उसके उद्धार के उपायो पर ही केन्द्रित था, तथापि वे बदलती सामाजिक परिस्थिति मे परम्परागत नैतिक मूल्यो की व्यर्थता और नए नैतिक मूल्यो की आवश्यकता की उपेक्षा नही कर सके। सदियो से भारतीय समाज नारी की परवशता और दासता पर ही आधारित था। पुरुष के चरणो मे अपना सारा विवेक, कर्तव्य, ज्ञान और जीवन अर्पित कर देने में ही उसका कल्याण माना गया। यहाँ तक कि पुरुष के अनैतिक आचरण का दोष भी उसी के मत्थे मढा जाता था। पर नई सामाजिक चेतना के फलस्वरूप जब नारी-उद्धार की भावना प्रकट होने लगी, तब उसके आचरण की नई कसौटी की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। यद्यपि स्पष्ट रूप से इस युग के लेखको ने यह माँग नही की है कि नारी के आचरण को पुराने मापदण्ड पर न परखा जाय, फिर भी तत्कालीन जीवन का उन्होने जो यथार्थ चित्रण किया है, उसमे उनका यह मतव्य अवश्य झलकता है। इस प्रसग मे सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास जयशकर 'प्रसाद' का 'ककाल' है, जिसमे जर्जर समाज के खोखलेपन और परम्परागत नैतिक मूल्यो की निस्सारता का ऐसा निर्मम उद्घाटन किया गया है कि पाठक तिलमिला उठता है। यमुना, जो समाज के लिए, परिवार के लिए, यहाँ तक कि अपने प्रेमी मगल के लिए भी त्याज्य समझी गई, सच्चे अर्थ मे पवित्र जीवन व्यतीत करती है। वेश्या के घर रहकर भी उसका तन-मन निष्कलक है। दूसरी ओर किशोरी है जो विवाहिता है, समाज मे सम्मानित है, किन्तु जो अपने पति को प्रेम नही करती। पति के बाहर जाने पर वह धूर्त महात्मा के साथ रहती है, उसी को पति-रूप मे मान लेती है। उसके पति उसके खर्चे के लिए प्रति मास रुपये भेज देते है, यही उसके लिए सब-कुछ है। 'बाह्य धर्माचरण

दिखलाना ही उसके दुर्बल चरित्र का आवरण था।'[1] भडारे, दक्षिणा, तीर्थयात्रा के बाह्य प्रदर्शन के कारण उसकी मूल अनैतिकता पर समाज ध्यान भी नही देता। इस प्रकार 'ककाल' मे 'प्रसाद' ने यमुना और किशोरी के दो विरोधी चरित्र खडे करके नारी की नैतिकता के नए मूल्यॉकन की आवश्यकता पर व्यग्यपूर्ण शैली मे गम्भीरता से विचार किया है।

भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' मे भी पाप-पुण्य की समस्या है। चित्रलेखा समाज की दृष्टि मे भोग्या है, वेश्या है, अपवित्र है। कुमारगिरि योगी है, सन्यासी है, पवित्र है। किन्तु लेखक जीवन की विभिन्न परिस्थितियो मे उनके आचरण द्वारा यह सिद्ध कर देता है कि वास्तविकता यह नही है। चित्रलेखा अपने मन के प्रति, अपने प्रेम के प्रति अधिक सच्ची और ईमानदार है। जो उसके अन्दर है वही बाहर भी है। वह समाज के डर से बाह्याडम्बर के फेर मे पडकर कोई कार्य नही करती, मन की सचाई पर ही विशेष महत्व देती है, जब कि योगी कुमारगिरि क्षणिक वासना मे अन्धा होकर अपने तप और ब्रह्मचर्य से च्युत हो जाता है। नर्तकी चित्रलेखा और योगी कुमारगिरि की इस प्रतिद्वन्द्विता मे चित्रलेखा ही विजयी होती है। सच्ची नैतिकता अन्त करण की पवित्रता मे है, और ऊपर से नैतिकता का दम भरनेवाला पाखण्ड त्याज्य है, इस युग का लेखक बार-बार इस सिद्धान्त को दुहराता है।

प्रेमचन्द के 'सेवासदन' मे इस समस्या के एक दूसरे पहलू पर प्रकाश डाला गया है। सुमन के वेश्या बनने मे पुरुष-समाज की अनीति का बहुत बडा हाथ है। बिना सोचे-समझे गजाधर का सुमन को उस रात मे घर से बाहर निकालना अनैतिक कार्य था, उसका वेश्या भोली के यहाँ जाना भी अनैतिक कार्य था। समाज के भाग्य-विधाता ही अनेक प्रकार के अनैतिक कर्म द्वारा वेश्यावृत्ति को प्रश्रय देते है। प्रेमचन्द ने पुरुषो के इस अनैतिक आचरण पर तीखा व्यग्य किया है जिसके कारण सुमन को वेश्या बनना पडता है। दूसरी ओर सुमन की सच्ची नैतिकता द्वारा उन्होने नारी का गौरव बढाया है, क्योकि वेश्या बनकर भी सुमन तन-मन से निष्कलक रहती है।

इसी प्रकार उषादेवी मित्रा लिखित 'पिया' मे सुशिक्षित कविता नैतिकता और अनैतिकता के वास्तविक अर्थों को समझती है। केवल समाज के डर से कोई अनैतिक कार्य करने के लिए उसका मन साक्षी नही देता, उसकी बाल-विधवा बडी बहिन नीलिमा को उसके (कविता) पति सुकान्त से गर्भ रह जाता है। समाज की भर्त्सना से बचने के लिए सुकान्त और नीलिमा की माँ हरमोहिनी गर्भपात की सलाह देते है किन्तु कविता इसको उचित नही मानती। वह बहन से कहती है कि तुम हत्या न करो, जिसको मन से पति रूप मे ग्रहण किया है, उससे विवाह करो। अपने पति सुकान्त को भी वह नीलिमा

---

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'कंकाल' (पृष्ठ १०७)

से विवाह करने के लिए बाध्य करती है और माँ हरमोहिनी से कहती है, 'वास्तविक अपराध को छिपाकर दुनिया के सामने साधु बनना एक पाप है माँ।'[1]

इस युग के उपन्यासकार नारी की सामाजिक स्थिति के सुधार मे लगे थे, इसलिए अधिकतर उपन्यासो मे नारी-चरित्र पुरुषो से अधिक नैतिक दिखाये गए है। नारी सब ओर से लाचार होकर ही कोई अनैतिक कार्य करती है। 'गबन' मे जब रमानाथ रुपये के लोभ के कारण झूठी गवाही देता है, तो जालपा को असीम दुख होता है। वह हर तरह से अपने पति को समझाती है। अन्त मे वह विह्वल और विवश होकर कहती है : 'मै औरत हूँ। अगर कोई धमकाकर मुझसे पाप कराना चाहे, तो चाहे उसे मार न सकूँ, अपनी गर्दन पर छुरी चला दूँगी। क्या औरत के बराबर भी हिम्मत नही है।'[2]

विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक' लिखित 'भिखारिणी' की जस्सो रमानाथ को प्रेम करती थी और रमानाथ जस्सो को। किन्तु जाति-भेद के कारण उनका विवाह नही हो पाता। रमानाथ तो अन्य लडकी से विवाह करके सुख-चैन से रहने लगता है किन्तु जस्सो रमानाथ के प्रेम के सहारे ही जीवन-नैया खेती है। रमानाथ को छोडकर दूसरे पुरुष को प्रेम करना वह अनैतिक मानती है। इसी प्रकार उषादेवी मित्रा के 'जीवन की मुस्कान' की सविता भी कमलेश के प्रेम का सम्बल लेकर सन्यासिनी हो जाती है।

प्रेमचन्द के 'निर्मला' मे सुधा का तथा भगवतीप्रसाद वाजपेयी और प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' लिखित 'लालिमा' मे सध्या का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा है। वे दोनो ही पति को प्रेम करती थी किन्तु जब उन्हे मालूम पडता है कि उनके पति अन्य लडकी से प्रेम करते है, तो वे आत्मसम्मान खोकर अपने पति के साथ रहना नही चाहती। निर्मला के प्रति किये गए असभ्य व्यवहार की ग्लानि के कारण जब सुधा के पति जहर खाकर मृत्यु को प्राप्त होते है, तब भी सुधा को दुख नही होता। वह चरित्रहीन पति के साथ रहने से वैधव्य को अच्छा मानती है। वह बडे आत्म-विश्वास के साथ कहती है : 'ऐसे सौभाग्य से मै वैधव्य को बुरा नही समझती। दरिद्र प्राणी उस धनी से कही सुखी है, जिसे उसका धन साँप बनकर काटने दौडे। उपवास कर लेना आसान है, विषैला भोजन करना उससे कही मुश्किल।'[3] इसी प्रकार 'लालिमा' मे सध्या को जैसे ही विदित होता है कि उसके पति ने उसकी सखी के साथ उचित व्यवहार नही किया है, वह बिना कहे ही पति को छोड-कर चली जाती है और देश-सेवा का कार्य करने लगती है। नैतिकता की दृष्टि से पर-स्त्री से प्रेम करने को वह अक्षम्य अपराध समझती है। और जब पति अपनी पत्नी को प्रेम न करके दूसरी स्त्री को प्रेम करता हो तो वह ऐसे पति की छत्रछाया मे रहने को नैतिक दृष्टि से उचित नही मानती।

---

१. उषादेवी मित्रा : 'पिया' (पृष्ठ १६२)
२. प्रेमचन्द : 'गबन' (पृष्ठ २८०)
३. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ १७२)

सियारामशरण गुप्त लिखित 'नारी' मे भी नैतिक समस्या उठी है। जमना पति और पुत्र दोनो को ही असीम प्रेम करती है। अचानक एक दिन उसका पति कही चला जाता है, ओर कोई सूचना तक नही देता। फिर भी जमना के मन मे उसके लौटने की आशा लगी रहती है। इसी बीच मे उसका पुत्र हल्ली खो जाता है। पति को खोने के बाद पुत्र ही उसका एक मात्र सहारा है। उसको अत्यन्त दुख होता है, पर वह अकेली है, कहाँ-कहाँ हल्ली को ढूंढने जाये। ऐसे सकट मे अजीत उसका सहायक बनकर हल्ली को ढूंढने के लिए दिन-रात एक कर देता है। हल्ली के लिए वह अपने प्राणो की भी परवाह नही करता। जमना अजीत के प्रति कृतज्ञ-भावना मे डूब जाती है। अजीत उसके लिए इतना कर रहा है, उस निर्धन वचिता नारी के पास क्या है जिससे वह उसके उपकार का बदला चुकाये। इस विशिष्ट परिस्थिति मे वह अजीत की इच्छा-पूर्ति के लिए उसका घर बसाने को प्रस्तुत हो जाती है। पर उसके इस समर्पण के पीछे न कोई काम-वासना है, न स्वार्थ-भावना। सच्चे सहायक के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का उसे यही एक मार्ग सूझता है। बिना प्रतिदान दिये पुरुष की सहायता स्वीकार करना उसको सहन नही होती।[1]

इस प्रकार इस युग के लेखक ने नारी-चरित्र को नैतिकता और अनैतिकता का निर्णय परम्परागत प्रचलित मान्यताओ के आधार पर न कर उसके कर्म की मूल प्रेरणा के आधार पर किया है। यदि उसकी भावना सच्ची और पवित्र है, तो प्रत्यक्ष रूप से अनैतिक होते हुए भी उसको दोषी नही ठहराया जा सकता। नारी का ऐसा चित्रण युगानुरूप साहस का परिचय तो देता ही है, वह नारी-समाज की प्रगति मे भी सहायक है।

नारी-जागरण की समस्या

भारतीय जनता पर महात्मा गाधी के सिद्धान्तो और आन्दोलनो का प्रभाव सन् १९२० के बाद से ही पडने लगा था। घर से बाहर निकलकर नारी ने सन् १९२० और १९३० के राष्ट्रीय आन्दोलनो मे सक्रिय रूप से भाग लिया था, आजीवन खद्दर पहनने की शपथ ली थी, पिकेटिंग और जुलूसो मे साहसपूर्वक भाग लेकर वह जेल भी गई थी। इस क्षेत्र मे भी जो काम पुरुष नही कर सका था, उस काम को नारी ने त्याग, सहृदयता, लगन, दृढता और सचाई द्वारा बडी सफलतापूर्वक किया। नारी की इस छिपी शक्ति को देखकर उस समय की प्रबुद्ध जनता भी चकित हो रही थी। प्रेमचन्द-युग के लगभग सभी लेखको ने नारी की इस जागृति की झलक प्रस्तुत की है। उन्होने गाधीजी के आदर्शों

नारी में राष्ट्रीय चेतना

१. 'कहने में मुझे लज्जा नहीं है। फिर घर बसा लेने के लिए कहा था। तुम्हें मंजूर हो तो फिर कहीं मेरे लिए जाओ, मैं न रोकूँगी।'— सियारामशरण गुप्त : 'नारी' (पृष्ठ १०४)

से प्रेरणा पाकर ही एक ओर नारी के नए आदर्शों की स्थापना की, और दूसरी ओर नारी की राजनैतिक चेतना का भी चित्रण किया। गाधीजी की ही भाँति इस युग के उपन्यासकारो के सामने नारी-जागरण एक मुख्य समस्या थी। वे नारी की निहित शक्ति को उपन्यासो के माध्यम से प्रत्यक्ष करना चाहते थे। वे चाहते थे कि भारतीय नारी पुरुष के समान ही देश-भक्त बने, उसकी सामाजिक और राजनैतिक चेतना एव उसमे अपने अधिकारो के लिए सघर्ष की भावना विकसित हो। अपने ऊपर किए गये अत्याचारो को वह मूक हो करके सहन न करती जाये प्रत्युत उनके विरुद्ध सक्रिय रूप से युद्ध करे। उनके मत मे नारी के मन, बुद्धि और व्यक्तित्व के विकास का यही सर्वोत्तम मार्ग था। इसीलिए इस युग के अनेक उपन्यासो मे विभिन्न प्रकार से नारी-जागरण का चित्रण किया गया है। यदि शहर की नारी गाधीजी के आन्दोलनो से प्रभावित होकर राजनैतिक कार्य करती है, रचनात्मक कार्य करती है, जुलूसो मे भाग लेती है, खद्दर पहनती है, पिकेटिग करती है और सभाओ मे भाषण देती है तो गाँव की नारी मे वर्ग-सघर्ष की भावना तीव्रतर है। नारी के ये दो रूप नारी-जागरण के ही दो पहलू है। नारी जागृत होकर स्वय भी वीरता दिखा सकती है और अपनी सतान को भी वीर बना सकती है।

इस युग के उपन्यासकारो मे प्रेमचन्द ने नारी-जागरण की समस्या पर सबसे अधिक गम्भीरता से विचार किया है। गाँधीजी के सत्याग्रह-आन्दोलन से प्रेरणा पाकर उन्होने 'कर्मभूमि' की रचना की और उसमे सुखदा जैसी साहसी, कर्मठ, राजनैतिक नारी का चित्रण किया। सुखदा का चित्रण इतना सजीव हुआ है कि इस युग की राजनैतिक नारी अपने समूचे व्यक्तिव के साथ सुखदा के चरित्र मे प्रकट होती है। विदेशी शासन के शोषण और अत्याचारो के कारण मध्यवर्गीय नारी किस प्रकार स्वय ही राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर झुक गई थी इसका चित्रण सुखदा के चरित्र मे यथार्थ रूप मे हुआ है।

सुखदा तेजस्विनी प्रकृति की नारी है। अत्याचार, अन्याय और अनधिकार चेष्टा के प्रति विरोध की भावना उसमे प्रारम्भ से ही है। जब वह शोषक वर्ग द्वारा दिन-प्रति-दिन किये जाने वाले अत्याचार (जिसमे मुन्नी पर किया गया बलात्कार भी सम्मिलित है) और निरीह जनता के कष्ट देखती है तो उसकी तेजस्विता उत्सर्ग के रूप मे फूट पडती है। वह उन्माद की दशा मे घर से निकली और पुलिसवालो के सामने खडी होकर ललकारती हुई बोली 'भाइयो! क्यो भाग रहे हो? यह भागने का समय नही, छाती खोलकर सामने खडे होने का समय है। दिखा दो कि तुम धर्म के नाम पर किस तरह प्राणो को होम करते हो। धर्मवीर ही ईश्वर को पाते है। भागनेवालो की कभी विजय नही होती',[1] सुखदा के उत्सर्ग की प्रखर भावना को देखकर पुलिस भी झुक जाती है, सगीने उतार देती है और बाद मे जन-समूह की विजय होती है।

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ २०९)

इस प्रकार सुखदा किसी के कहने या उपदेश से राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग नही लेती उसकी चेतना स्वय ही उस ओर खिचती है। अपने इसी चारित्रिक और नैतिक बल के कारण कुछ ही दिनो मे वह सारे शहर की नेत्री बन जाती है। वह शोषितो और पीडितो की भावना को समझती है, उनकी आशा को ही अपने स्वर मे भरकर कहती है 'एक दिन आयेगा, जब आज के देवता कल ककड-पत्थर की तरह उठा-उठाकर गलियो मे फेक दिये जायेंगे और पैरो से ठुकराये जायेंगे।'[१] एक-न-एक दिन शोषण, अन्याय और दमन का अन्त होगा ही और शोषको की विजय। प्रेमचन्द ने सुखदा के शब्दो मे जो भविष्यवाणी की थी, वह आज सत्य हो चुकी है।

इस आन्दोलन मे भाग लेने के साथ-साथ सुखदा यह भी चेष्टा करती हे कि गरीबो के निवास के लिए म्यूनिस्पैलिटी मुफ्त जमीन दे दे। वह इस लडाई के लिए कमर कसकर आगे आती है। वह मज़दूर मतई से कहती है: 'मै खुद घर-घर घूमूंगी, द्वार-द्वार जाऊँगी, एक-एक के पैर पडूंगी और हडताल कराके छोड़ूंगी, और हडताल न हुई, तो मुँह मे कालिख लगाकर डूब मरूँगी।'[२]

यह है नारी का आत्म-विश्वास और सकल्प। सुखदा सहर्ष जेल जाती है। नारी पर किये गए विदेशियो के अत्याचार तथा अपमान को भारतीय जनता सहन नही कर सकती। इसीलिए वह दुखी श्वसुर को समझाती हुई कहती है कि उसके जेल जाने के कारण यह आन्दोलन टक्कर खाई हुई गेद की भाँति और अधिक आगे को बढेगा। वह वीर नारी की भाँति अपने लिए जमानत भी नही देने देती। क्योकि उसका मत है कि जमानत देना ब्रिटिश सरकार के प्रति आत्मसमर्पण करने के समान है। जमानत के प्रस्ताव पर वह अपनी त्यौरियाँ बदलकर ससुर से कहती है: 'नही, कदापि नही। मै क्यो जमानत दूं? क्या इसलिए कि अब मै कभी जबान न खोलूंगी, अपनी आँखो पर पट्टी बाँध लूंगी, अपने मुँह पर जाली लगा लूंगी। इससे तो कही अच्छा है कि अपनी आँख फोड लूं, ज़बान कटवा दूं।'[३]

'कर्मभूमि' की ग्रामीण नारी मुन्नी मे भी प्रारम्भ से ही आत्मसम्मान, नैतिक साहस और आत्माभिव्यक्ति की भावना थी। वह अत्याचार सहन नही कर सकती थी। इन्ही गुणो के कारण वह दो आततायी अग्रेजो की हत्या कर डालती है। बाद मे मृत गाय के पास बैठकर वह जो सत्याग्रह करती है, उस पर गाधीजी के सत्याग्रह का पूरा प्रभाव लक्षित होता है। वह ललकारती हुई कहती है: 'अब जिसे गडाँसा चलाना हो चलाये, बैठी हूँ।'[४] यही नही, वह वचको के अत्याचार के सामने झुकना नही जानती। अमरकान्त की गिरफ्तारी

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ २६६)
२. वही : (पृष्ठ २७१)
३. वही : (पृष्ठ २७७)
४. वही : (पृष्ठ १७०)

के अवसर पर संघर्ष की क्रान्तिकारी भावना से भरकर वह सहसा उत्तेजित होकर कहती है . 'इतने जने खडे ताकते क्या हो। उतार लो मोटर से।'[1]

इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द ने इस उपन्यास की एक अन्य पात्री सलोनी के चित्रण मे ग्रामीण जनता की विद्रोही भावना को बडे सफल रूप मे व्यक्त किया है। सलोनी के चरित्र पर विचार करते समय मैक्सिम गोर्की लिखित 'माँ' का स्मरण हो आता है। अपढ, वृद्धा नारियाँ भी किस प्रकार विषम परिस्थिति, अन्याय और अत्याचार के कारण विप्लव के मार्ग पर अग्रसर होती है यह सलोनी और गोर्की की 'माँ' के चरित्र से जाना जा सकता है। नौकरशाही के प्रति सलोनी के मन मे इतना क्षोभ भरा हुआ था कि उसके अत्याचारो से पीडित होकर प्रतिशोध की भावना से वह हाकिम के मुँह पर थूक देती है और गोलियो के सामने सीना तानकर खडी हो जाती है। वह हन्टर की मार से भी नही डरती वरन् हन्टर की हर चोट उसकी प्रतिशोध और ग्लानि की भावना को तीव्रतर करती है। 'हरेक हन्टर पर गाली देती थी। जब बेदम होकर गिर पडी, तब जाकर उसका मुँह बन्द हुआ।'[2] गोर्की के उपन्यास 'माँ' मे भी शोषक वर्ग के जुल्म और अत्याचार के विरोध मे माँ चिल्ला-चिल्लाकर अपनी वेदना प्रकट करती है।[3]

अर्थाभाव, वार्धक्य और अत्याचार से उसकी कमर अवश्य झुक गई है, किन्तु उसका मन कभी नही झुका। मार्क्स ने एक बार कहा था 'शोषित वर्ग के पास खोने को है ही क्या ? यदि वे कुछ गँवायेगे तो दासता की जजीरे ही गँवायेगे।' इसी बात को प्रेमचन्द ने मानो सलोनी के चरित्र मे चरितार्थ किया है। उसके पास खोने को क्या है जिसके लिए वह घर के अन्दर द्वार बन्द किये बैठी रहे। कोई भी हिंसक शक्ति जन-जीवन को नष्ट नही कर सकती। सलोनी पग-पग पर कुछ-न-कुछ सीखती ही चलती है। यही कारण है कि सलोनी का जीवन इस बुढापे मे भी सरस हो उठा है। व्यक्तिगत सुख-दुख समाज का सुख-दुख हो गया है। वह इस फटेहाल मे भी, हन्टर की मार से सूजी हुई देह को लेकर भी अमरकान्त के पिता समरकान्त से हँसी करती है 'कहाँ हो देवर जी ! सावन मे आते तो तुम्हारे साथ झूला झूलती, चले हो कातिक मे।'[4]

उपर्युक्त नारियो के अतिरिक्त उषादेवी मित्रा लिखित 'पिया' की पिया तथा उनके

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' : (पृष्ठ ३१८)

२. वही : (पृष्ठ ३३२)

३. 'सत्य को तुम रक्त के महासागर मे भी नहीं डुबा सकते' . . . पुलिस वालों ने उसके हाथ से चौखट छुटाने के लिए माँ के हाथ पर वार किया।

'हाय रे ! व्यर्थ में ही तुम लोगों की घृणा के पात्र बन रहे हो। अरे नासमझो ! यह खून एक दिन तुम्हारे सिर पर चढ़ कर बोलेगा।'—मैक्सिम गोर्की : 'माँ' अनुवादक : चंद्रभाल जौहरी (पृष्ठ ४०८)

४. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ ३३२)

दूसरे उपन्यास 'वचन का मोल' की कजरी, 'गोदान' की मालती, 'रगभूमि' की सोफीया और इन्दु, रामकिशोर मालवीय लिखित 'शैलकुमारी' की कात्यायिनी, त्रिमूर्ति लिखित 'मीठी चुटकी' की सौदामिनी, चतुरसेन शास्त्री लिखित 'आत्मदाह' की सुधा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' की चपला, निराला लिखित 'अलका' की अलका, 'कर्मभूमि' की रेणुका, सेठ गोविन्ददास लिखित 'इन्दुमती' की इन्दुमती आदि अनेक नारियाँ गाधीजी के आदर्शो से प्रभावित होकर राजनैतिक जागरण मे भाग लेती दिखाई देती है। कुछ नारियाँ आन्दोलन करती है तो कुछ नारियाँ रचनात्मक कार्य करके समाज-सेवा करती है। पिया, सुधा, सोफी और इन्दुमती राजनैतिक सभाओ मे सक्रिय रूप से भाग लेती हैं। इन्दुमती, पिया और सुधा पिकेटिग करती है। सुधा तो जेल भी जाती है और बीमारी की अवस्था मे वही उसकी मृत्यु होती है। कात्यायिनी, कजरी, इन्दुमती और सुधा खद्दर पहनती है। कात्यायिनी सार्वजनिक कार्य करती है, बाद मे 'नवयुग' नामक पत्र का सपादन भी करती है। कात्यायिनी, कजरी और सुधा नारी-उद्धार के लिए आश्रम खोलती है। अलका मजदूरो की स्त्रियो को प्रति-दिन दो घटे पढाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती है। रेणुका 'सेवाश्रम' के लिए अपनी समस्त जायदाद दे देती है। चपला समाज-सुधार की भावना लेकर स्त्री-समाज की उन्नति करने का बीडा उठाती है।[1] मालती गाँव-गाँव जाकर गरीब बच्चो को तथा रोगियो को देखकर मुफ्त दवाई देती है तथा वहाँ की स्त्रियो को सफाई के महत्व और बच्चो के लालन-पालन के सम्बन्ध मे शिक्षा देती है।[2]

इन सब महिलाओ पर गाधीजी का प्रभाव है। किन्तु इनके चरित्र मे उस स्वाभाविक राष्ट्रीय चेतना का समावेश न हो सका जो हमे सुखदा के चरित्र मे मिलता है। ऐसा लगता है मानो लेखको ने उनको खद्दर, समाज-सेवा और अहिसा का बाना नारी-जागरण के उद्देश्य से पहना दिया है। यही कारण है कि राष्ट्रीय चेतना न तो इन महिलाओ के जीवन को झकझोरती है और न कोई गहरा प्रभाव पैदा करती है।

नारी मे वर्ग-संघर्ष की भावना

इन नारी पात्रो के अतिरिक्त कुछ ऐसी ग्रामीण नारियो का भी चित्रण हुआ है जिनमे

---

१. चपला अपने जीवन का कार्यक्रम निश्चित करते हुए कहती है :

'जब तक स्त्रियाँ स्वयं अपने-आपको न बचायेगी, कोई दूसरा उनकी रक्षा के लिए आगे नही बढ़ेगा। मै हर एक स्त्री के पास सदेश पहुँचाऊँगी—हर एक स्त्री को उत्तेजित करूँगी—हर एक को अपनी लाज, अपनी सभ्रान्ति, अपना गौरव और धर्म बचाने के लिए उत्साह दूँगी—बस यही ससार मे मेरा काम होगा।'

प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १८२)

२. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ३८९)

वर्ग-संघर्ष की भावना तीव्र रूप मे निहित है। 'प्रेमाश्रम' की विलासी, 'कर्मभूमि' की सलोनी, 'गोदान' की धनिया और 'तितली' की तितली ऐसी ही ग्रामीण नारियाँ है। वे किसान वर्ग की नारियाँ है जिनका सीधा सम्बन्ध जमीदार और महाजन वर्ग से होता है। उन्ही के अत्याचार और शोषण की चक्की मे यह वर्ग पिसा जाता है। गाधीजी के प्रभाव के कारण इस वर्ग की नारियो मे भी अपनी वास्तविकता का ज्ञान हो चला था। इसलिए इन नारियो के मन मे जमीदार-वर्ग के प्रति विद्रोह की भावना लक्षित होती है, जो दिन-प्रतिदिन के अनुभवो से तीव्रतर होती जाती है।

'प्रसाद' के 'तितली' उपन्यास मे तितली का जमीदार-वर्ग से मेल है, प्रतिदिन का आना-जाना है, वहाँ उसका सम्मान भी होता है, फिर भी तितली मे वर्ग-सघर्ष की भावना आ ही जाती है। मेल-मुलाकात होने के कारण उसकी विद्रोह-भावना क्षोभ और ग्लानि मे परिणत हो जाती है। जब वह समझती है कि उसके जान-पहिचान के लोग ही उसका शोषण कर रहे है, तो उसके मन मे शोषक वर्ग के प्रति क्षोभ की भावना घर कर लेती है। शोषित होने पर भी ग्रामीण जनता आत्म-सम्मान बनाये रखना चाहती है। यही कारण है कि जीवन की दु खपूर्ण घडियो मे भी तितली जमीदार के पुत्र इन्द्रदेव से किसी प्रकार की सहायता नही लेती और इन्द्रदेव और शैला को बताये बिना ही वह काशी से चली आती है। अपनी पाठशाला को चलाने के लिए भी किसी के आगे हाथ नही पसारती। जब अधिकारी वर्ग के लोग स्वय ही मदद करने की चर्चा करते है तब उसका क्षोभ हुकार कर ही उठता है 'जमीदार ने मेरी पुरखो की डीह ले ली। मुझे माफी पर भी लगान देना पड रहा है, और मुझे विपत्ति मे डालनेवाले है यहाँ के जमीदार और तहसीलदार साहब। तब भी आप लोग कहते है कि मै उन्ही से सहायता लूँ'।[1]

'कर्मभूमि' की सलोनी के चित्रण मे भी वर्ग-सघर्ष की भावना निहित है। अपने दैन्य और सचित अनुभवो से उसे विश्वास हो गया है कि न्याय कही नही है। खेत मे उपज हो या न हो, घर मे खाने को अनाज का एक दाना भी न हो किन्तु जमीदार को लगान देना ही पडता है। सलोनी के खेत मे थोडा-सा तेलहन पैदा हुआ था जिसका उसको एक रुपया मिला था। किन्तु जमीदार का प्यादा उस रुपये को भी ले जाता है। भूख, गरीबी और अत्याचार से पीडित होकर उसे विश्वास हो गया है कि इन लोगो से फरियाद करने से कुछ नही होगा, अपना अधिकार तो स्वय लडकर हस्तगत करने से ही लिया जा सकता है। इसी ठोस अनुभव के कारण सलोनी का चरित्र बडा शक्तिशाली बन गया है।

इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' की विलासी भी प्रारम्भ मे शोषक वर्ग के अत्याचारो से परिचित होने पर भी उन्हे प्रसन्न रखने की चेष्टा करके अपने धैर्य और विवेक का परिचय देती है। किन्तु जब अत्याचारो की अति हो जाती है और नारी पर भी हाथ उठाये जाते

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'तितली' (पृष्ठ २५५)

है तो उसके सहनशील मन मे भी स्थानीय तानाशाही के विरुद्ध विद्रोह की चिन्गारी फट ही पडती है। स्त्री पर हाथ चलाने की बात से ही उसके रोम-रोम से अग्नि की ज्वाला निकलने लगती है।[१] इस अपमान का बदला लेने की चेष्टा मे जब उसका पति मनोहर स्वय आत्महत्या कर लेता है तब भी विलासी अपने सम्मान की रक्षा के लिए गर्व से अपना मस्तक ऊँचा किये रहती है।[२]

प्रेमचन्द ने 'गोदान' मे धनिया के व्यग्यपूर्ण कथोपकथन के माध्यम से वर्ग-सघर्ष की तीक्ष्ण भावना व्यक्त की है। जीवन के समस्त अधिकारो और साधनो से वचित होकर भी होरी भारतीय किसान की परम्परागत मान्यताओ को अक्षुण्य बनाये रखना चाहता है, किन्तु विषम परिस्थितियो के कारण उसके मन मे एक विकलता है, एक विद्रोह की भावना है जिसको वह प्रकट करना नही चाहता। धनिया मानो उस विद्रोह की साकार मूर्ति है। वह प्रत्येक अत्याचार के प्रति सजग ही नही है, उनके आधारभूत सिद्धान्तो पर प्रश्न भी करती पाई जाती है, और कुछ का तो वह प्रगतिशील ढग से समाधान भी कर लेती है। इसके लिए उसको तीखे व्यग्यो का सहारा लेना पडता है। उसकी असाधारण वाक्-शक्ति से होरी ही नही, सारा गाँव थर्राता रहता है।

लोक-लाज की रक्षा के लिए होरी अपने मन की बात धनिया से कहकर भी मुकर सकता है, अपने पुत्र गोबर की झूठी सौगन्ध खा सकता है, और धनिया को चार लोगो के सामने मार भी सकता है, किन्तु धनिया इस झूठी मान-मर्यादा के परे है। भाई के घर की तलाशी न होने देने के कारण होरी झीगुरी से तीस रुपये उधार ले कर दरोगा को घूस देना चाहता है किन्तु धनिया यह अन्याय नही सह पाती। वह अदम्य साहस के साथ रुपयो की गठरी छीन लेती है और नागिन की तरह फुकार कर होरी से कहती है : 'ये रुपये कहाँ लिये जा रहा है, बता। भला चाहता है तो सब रुपये लौटा दे, नही कहे देती हूँ। घर के परानी रात-दिन मरें और दाने-दाने को तरसे, लत्ता भी पहनने को मयस्सर न हो और अँजुली भर रुपये लेकर चला है इज्जत बचाने।'[३]

यही नही, वह समाज के नेता बननेवाले महाजन, पटवारी और हाकिमो की चील-झपट्टा वाली नीति पर भी गहरा व्यग्य-प्रहार करती है। वह ललकार कर कहती है : 'मैं दमडी भी न दूंगी, चाहे मुझे हाकिम के इजलास तक ही चलना पडे। हम बाकी चुकाने को पचीस रुपये माँगते थे, किसी ने न दिया। आज अँजुली भर रुपये ठनाठन निकाल कर दिये। मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाँट-बँटवारा होनेवाला था, सभी के मुँह मीठे होते। ये

---

१. प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम' (पृष्ठ ३०१)
२. 'मै विधवा हो गई तो क्या, घर सत्यानाश हुआ तो क्या, किसी के आगे आँखें नीची तो नहीं हुईं, अपनी लाज तो रक्खी।' प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम' (पृष्ठ ३७३)
३. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १४२)

हत्यारे गाँव के मुखिया है, गरीबों का खून चूसनेवाले। सूद-ब्याज, डेढी-सवाई नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबो को लूटो। उस पर सुराज चाहिए। जेहल जाने से सुराज न मिलेगा। सुराज मिलेगा धरम से, न्याय से।'[1]

किन्तु जीवन के कटु अनुभव उसे सिखा देते है कि न्याय कही नही है। सारा परिवार खून-पसीना एक करता है फिर भी न तो उन्हे दो जून भर पेट रोटी मिलती है और न कर्ज ही चुका पाते है। होरी दातादीन के यहाँ मजदूर बन कर काम करता है। किसान को मजदूर बनने मे अत्यधिक मानसिक क्लेश होता है, किन्तु जीवन की परवशता सभी कुछ करने को बाध्य कर देती है। उस पर दातादीन यम की भाँति पास खडा रहकर उसे क्षण भर भी दम नही लेने देता, प्रत्युत और अधिक शीघ्रता से काम करने के लिए बराबर टोकता रहता है। दातादीन के इस अमानुषिक व्यवहार पर होरी तो विष का घूंट पीकर चुप रह जाता है, पर उसकी चेतना स्वरूपा धनिया आहत होकर साहसपूर्वक कराह ही उठती है 'क्या जरा दम भी न लेने दोगे महाराज। हम भी तो आदमी है। तुम्हारी मजूरी करने से बैल नही हो गये। जरा मूंड पर एक गट्ठा लादकर लाओ, तो हाल मालूम हो।'[2]

आधुनिक समाज-व्यवस्था मे वर्ग-सघर्ष की भावना अनिवार्य रूप से लक्षित होती है। शोषित वर्ग की मूक व्यथा को धनिया ने वाणी दी है। धनिया, विलासी, सलोनी और तितली शोषित वर्ग की प्रतीक बन कर साहसी, सकल्पमती और विद्रोहिणी नारी के रूप मे सामने आती है।

---

१. प्रमचन्द : 'गोदान' : (पृष्ठ १४३)
२. वही : (पृष्ठ २५७)

अध्याय ५

नारी-जीवन की समस्याएँ और उनका समाधान : प्रेमचन्दोत्तर-काल

नारी-जीवन की समस्याओ की दृष्टि से प्रेमचन्द-युग के और प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासो मे मूलभूत अतर है। प्रेमचन्द-युग मे मुख्यत' नारी की सामाजिक समस्याओ का ही चित्रण हुआ है, जब कि फ्रायड, युग, एडलर आदि मनोविश्लेषणवादियो के प्रभाव के कारण प्रेमचन्दोत्तर-काल मे नारी-मन की मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ मुख्य समस्या बन गई। यद्यपि अब भी समाज मे बाल-विवाह, नारी-शिक्षा, विधवा-विवाह, दहेज, वेश्या-वृत्ति आदि समस्याएँ बनी हुई थी किन्तु अब उनको दूर करने की आवश्यकता स्वीकार की जा चुकी थी। इसीलिए साहित्यकार का ध्यान उन्ही तक सीमित नही था। इस काल मे लेखक ने नारी-मन की उथल-पुथल, स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण अर्थात् काम-भाव की समस्या को गहराई से देखना-समझना प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त नारी की वैयक्तिक और आर्थिक स्वतन्त्रता को जितना सबल समर्थन इस युग के उपन्यासो मे मिला है, उतना पूर्ववर्ती उपन्यासो मे नही मिलता।

प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासो मे नारी के विवाहोत्तर जीवन की समस्याओ का चित्रण भी मुख्य रूप से हुआ है। यद्यपि इस काल मे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे स्त्री-पुरुष की समानता की भावना समाज मे फैल चुकी थी, फिर भी उपन्यासकार ने अनुभव किया कि भारतीय पत्नी पढ-लिख कर भी एव अपनी स्वतन्त्रता तथा मानवीय अधिकारों के लिए विकल होने पर भी पति से वे अधिकार नही पाती जो वह स्वय ले लेता है। इसलिए इस युग के अनेक उपन्यासो मे पुरुष द्वारा नारी के शोषण की समस्या का चित्रण हुआ है। अपने विकसित व्यक्तित्व के कारण नारी अब पुरुष के शोषण को सहज रूप मे स्वीकर नही कर पाती थी। अतः विकसित अह-युगल की टकराहट से दाम्पत्य जीवन मे विसगतियाँ उत्पन्न होने लग गई जिनका उपन्यासो में चित्रण होना अनिवार्य था। दूसरी ओर नारी के इसी व्यक्तित्व-विकास के कारण उसकी रुचि और भावना का महत्व बढ गया और समाज एव साहित्य मे घर-बाहर अथवा पर-पुरुष के प्रति प्रेम की समस्या उठ खड़ी हुई। प्रेमचन्द-युग मे नारी का व्यक्तित्व अपेक्षाकृत कम विकसित होने के कारण नारी का प्रेम भी प्रायः परम्परागत मार्ग पर ही प्रवाहित होता था। इसी काल मे आकर पहली बार उसे अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का बोध हुआ और स्वतन्त्रता के पहले अतिरेक मे उसका मन समाज और परिवार की सीमाओ को तोड़ कर बहने लगा। यह सामाजिक स्थिति

मनोविश्लेषणवादियो के लिए बहुत अनुकूल सिद्ध हुई, और उन्होने अपनी कृतियो मे उसका पूरा-पूरा लाभ उठाया। जिन उपन्यासो मे आतकवाद और साम्यवाद से प्रभावित नारियो का चित्रण है, उनमे भी इस प्रवृत्ति का आभास मिलता है।

इस युग के उपन्यासकारो मे दूसरा वर्ग उनका था जो सुधारवाद की प्रवृत्ति को व्यर्थ और निष्फल मानते थे। मार्क्स एव अन्य समाजवादी विचारको के सिद्धान्तो से प्रभावित होकर उनका मत था कि समाज मे आवश्यक सुधार तभी हो सकेगा जब क्रान्ति द्वारा व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धो मे आमूल परिवर्तन हो जाये। वे सामाजिक प्रगति को, और इसीलिए नारी की प्रगति को भी, वर्ग-सघर्ष के रूप मे देखते थे और भारतीय समाजवादी आन्दोलनो मे रुचि रखते थे। इन उपन्यासकारो ने क्रान्तिकारी दलो मे काम करनेवाली नारियो को स्थान दिया है और अपने चरित्र-चित्रण द्वारा वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त का पोषण करने का प्रयत्न किया है, यद्यपि वह प्रयत्न कही-कही पर अत्यन्त अस्वाभाविक और एकागी हो गया है।

सामाजिक समस्याएँ

नारी-शिक्षा

नारी-शिक्षा का काफी प्रचार हो जाने के फलस्वरूप प्रेमचन्दोत्तर-काल मे नारी को शिक्षित करने की समस्या हिन्दी उपन्यासकारो के सम्मुख न थी। इस युग मे हिन्दी उपन्यासो की लगभग सभी नारियाँ शिक्षित दिखाई देती है। प्रेमचन्द-युग के अधिकाँश उपन्यासो मे भी शिक्षित नारी के दर्शन होते है, किन्तु उस युग के लेखक ने साधारण शिक्षित नारी को जो सहानुभूति दी है वह उच्च शिक्षित नारी को नही। अधिकाँशत: उच्च शिक्षित नारी का चित्रण पाश्चात्य रग मे रँगी नारी के रूप मे किया गया है। जैसे प्रेमचन्द के 'गोदान' की मालती, राधिकारमणप्रसाद सिंह के 'रामरहीम' की बिजली और भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' की प्रभा। किन्तु प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यास-कारो के दृष्टिकोण मे स्पष्ट अन्तर लक्षित होता है। उन्होने शिक्षित और उच्च शिक्षित दोनों ही प्रकार की नारियो को सहानुभूति दी है और उनकी समस्याओ को सहानुभूति-पूर्वक समझने और सुलझाने का प्रयत्न किया है। उच्च शिक्षित नारी आज की विकास-शील, व्यक्तित्व प्रधान नई नारी के रूप मे चित्रित हुई है। हिन्दी उपन्यासो मे स्थल-स्थल पर शिक्षित नारी अपने कुसस्कारो से मुक्ति पाने और अपने अधिकारो के लिए सामाजिक अन्याय के विरुद्ध सिर उठाने मे सचेष्ट दिखाई देती है।

यशपाल ने अपने कई उपन्यासों मे ऐसी ही उच्च शिक्षा-प्राप्त नारी का चित्रण किया है। 'दादा कामरेड' की शैल एम० ए० मे पढती है, 'पार्टी कामरेड' की गीता रिसर्च स्कालर है और 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा एम० ए० मे अध्ययन करती है। ये सभी नारियाँ नई नारी के रूप मे चित्रित हुई है। इनके अतिरिक्त 'दादा कामरेड' की यशोदा, 'मनुष्य के रूप' की सोमा और 'देशद्रोही' की चन्दा और राज भी शिक्षित दिखाई

देती है। रागेय राघव के 'घरौंदे' मे लवग, लोला, इन्दरा और रानी कालेज मे अध्ययन करती है। इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' की रमा, नीलिमा और प्रतिमा, 'मुक्तिपथ' की प्रमीला उच्च शिक्षा प्राप्त है। 'पर्दे की रानी' की शीला जटिल मनोविश्लेषण-शास्त्र की पुस्तके पढने की भी क्षमता रखती है, निरजना भी कालेज मे शिक्षा प्राप्त कर चुकी है। 'संन्यासी' की शान्ति अध्यापन-कार्य करती है तथा 'प्रेत और छाया' की मजरी पढ-लिख कर अस्पताल की सबसे बडी डाक्टरनी बन जाती है। 'अज्ञेय' के 'शेखर · एक जीवनी' की शशि उच्च शिक्षिता है तथा जैनेन्द्र के 'कल्याणी' की कल्याणी इग्लैण्ड से डाक्टरी की उपाधि लेकर आई है। 'सुनीता' की सुनीता और 'त्यागपत्र' की मृणाल भी साधारणतः शिक्षित है। 'पहाडी' के 'सराय' की रेखा, नरोत्तमप्रसाद नागर के 'दिन के तारे' की चद्रमणि, 'अचल' के 'चढती धूप' की तारा, 'नई इमारत' की आरती और धर्मवीर भारती के 'गुनाहो का देवता' की सुधा भी उच्च शिक्षा-प्राप्त है। इस प्रकार, इस युग के लगभग सभी उपन्यासो मे शिक्षित और उच्च शिक्षित नारी का चित्रण हुआ है।

आज के समाज मे नारी-शिक्षा को प्रोत्साहन दो उद्देश्यो से मिलता है (१) शिक्षित नारी को अच्छा, सुयोग्य घर और वर मिलने की अधिक सभावना रहती है (२) वह अवसर पडने पर अपनी शिक्षा के सहारे स्वावलम्बिनी भी बन सकती है। आज का पति अपनी पत्नी को सुशिक्षित, सभ्य और सुसस्कृत देखना चाहता है। इसलिए प्रेमचन्दोत्तर-कालीन हिन्दी उपन्यासो मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जब पुरुप नारी के इन गुणों पर मोहित होकर उससे प्रेम करने लगता है। कुछ उपन्यासकारो ने इस ओर भी दृष्टिपात किया है कि नारी की शिक्षा उसको आत्मनिर्भर बनाने के लिए भी आवश्यक है।

यशपाल के 'देशद्रोही' मे यमुना आत्मनिर्भर बनने के लिए पढती है। डिग्री के साथ-साथ कन्या पाठशाला मे उसके वेतन मे भी वृद्धि होती जाती है और जब वह एम० ए० पास करती है, तब उसको उसी स्कूल से सवा सौ रुपये वेतन मिलने लगता है।[१] इसी प्रकार 'निर्वासित' मे रमा एम० ए० पास करने के बाद नौकरी पाने के उद्देश्य से एल० टी० करती है। यह डिग्री प्राप्त कर वह शहर के एक महिला विद्यालय मे नौकरी करने लगती है।[२]

'अचल' ने भी अपने दोनो उपन्यासो मे नारी-शिक्षा के इस पहलू पर ध्यान दिया है। 'चढती धूप' मे ममता घर मे मोहन से पढकर इन्टर तक का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, परन्तु वह कोई परीक्षा नही दे पाती। एक बार मोहन की माँ उसको दिलासा देती हुई कहती है : 'परीक्षा पास करने में क्या रक्खा है? मूल बात है योग्यता और ज्ञान। वह अगर

१. यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ १९९)
२. इलाचन्द्र जोशी : 'निर्वासित' (पृष्ठ १२)

पास है तो परीक्षा की सनद हो चाहे न हो। तुम्हे नौकरी करनी नही। परीक्षा पास करने की सनद नौकरी की तलाश मे काम देती है।[1]

किन्तु आज के युग की ममता समझती है कि जीवन मे कोरी योग्यता और ज्ञान से ही भाग्य का निबटारा नही हो जाता। आज की नारी को जीवन की टेढी-मेढी पगडडियो से भी गुजरना पड सकता है। योग्यता का प्रमाण-पत्र होने से नारी इस कठिन पथ पर ज्यादा आसानी से चल सकती है। वह कहती है . 'नौकरी करने की नौबत आ सकती है माँ ! मानव के जीवन की गति कितनी अप्रतिरोध है क्या तुमसे छिपा है। जीवन के चारो ओर विशेषकर स्त्री के जीवन के चारो ओर ऐसा सघन वन है कि कभी-कभी किसी ओर मार्ग नही सूझता। वह यहाँ जाती है, वहाँ जाती है पर असल मे एक ही जगह जुए मे बँधे कोल्हू के बैल की तरह चक्कर मारती रहती है। ऐसी स्थिति मे कौन जाने कब क्या न करना पड जाय।'[2]

'अचल' के दूसरे उपन्यास 'नई इमारत' मे आरती अपनी शिक्षा के बल पर आत्म-निर्भर अनुभव करती है। जब उसके पिता उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह आ।ई० पी० से करना चाहते है तो उसको इतना बुरा लगता है कि वह घर छोडकर जाने को तत्पर हो जाती है और कहती है . 'आपके आशीर्वाद से इतना पढ-लिख गई हूँ कि सौ-पचास रुपये की नौकरी मिल जायेगी।'[3]

विद्यार्थी-जीवन एक ऐसा समय होता है जब व्यक्ति समाज की विषमताओ और उसके सघर्ष से दूर अपने सपनो की दुनिया मे खोया-सा रहता है। इस काल के चरित्र-चित्रण से व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति और उसके मनोविज्ञान पर अच्छा प्रकाश पड जाता है। यही कारण है कि कुछ उपन्यासकारो ने नारी की स्वाभाविक प्रवृत्ति और उसके मानसिक विकास का चित्रण करने के लिए उसके शिक्षा-काल का चित्रण किया है। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की मृणाल और धर्मवीर भारती के 'गुनाहो का देवता' की सुधा बचपन मे कितनी नटखट, साहसी, चचल और सरल प्रकृति की थी, यह प्रदर्शित करने के लिए इन दोनो लेखको ने उनके विद्यार्थी-जीवन का बडा सजीव चित्रण किया है।

मृणाल अपने स्कूल मे की गई शरारत का वर्णन करती हुई प्रमोद से कहती है : 'आज मास्टरजी को ऐसा छकाया, ऐसा छकाया, कि प्रमोद, तुझे क्या बताऊँ . . और प्रमोद, वह हैं नही गणित के मास्टर। शीला ने उनकी कुर्सी की गद्दी मे पिन चुभोकर रख दी, शीला बड़ी नटखट है। . . मास्टर ने बेत फटकार कर कहा . 'मै तुम्हे एक-एक को पीटूँगा।' सचमुच उनको गुस्सा बहुत था। उनका गुस्सा देखकर सब लडकियाँ एक-दूसरे की तरफ देखने लगी। यह मुझको बुरा लगा। मैंने खडे होकर कहा : 'यह मेरा

---

१. 'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ ४२)
२. वही : (पृष्ठ ४२)
३. 'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ ७९)

कसूर है, मास्टर जी।' मास्टर जी पहले तो मुझको देखते रहे। फिर कहा : 'यहाँ आओ।' मै चली गई। कहा 'हाथ फैलाओ।' मैने हाथ फैला दिया। उस फैली हथेली पर उन्होने तीन-चार बेत मारे। मैने समझा था और मारेगे। पर जब बेत उन्होने अपने हाथ से अलग कर दिया तो मैने भी अपना हाथ खीच लिया। सच कहूँ, प्रमोद, मुझे कुछ भी चोट नही लगी। मैं उनकी उस आँख की तरफ देख रही थी फिर मास्टर जी ने चिल्लाकर कहा 'अब तो नही करेगी? मै चुपचाप खडी रही और सोचती रही कि एक बार तो मै भी सचमुच का कसूर करके देखूँगी।'[1]

इसी प्रकार 'गुनाहो का देवता' मे मिस उमालकर जब गृह-विज्ञान के घण्टे मे आलू खाने की हानियाँ बतलाती है तब सहसा बीच मे गेसू का यह पूछना : 'गुरुजी, गाधीजी आलू खाते है या नही?' और इस बात पर सारी क्लास का खिलखिला कर हँसना; तथा मिस उमालकर द्वारा हरी तरकारियो के लाभ वर्णन करते समय एक लडकी का गेसू से यह कहना 'ले फिर क्या है, निकाल चने का हरा साग,खा-खा कर मोटे हो, मिस उमालकर के घटे में' और उसी घटे मे कामिनी, गेसू, सुधा और प्रभा का छिप-छिप कर चने का साग खाना, मिस उमालकर के देख लेने पर और बाहर निकल जाने के हुक्म पर गेसू और सुधा का मुस्कराते हुए बाहर निकलना, गुस्से से नीली पडकर मिस उमालकर का क्लास से बाहर जाना और उनके जाने के बाद गेसू का यह कहना . 'बडे बे-आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले', पुन सब लडकियो का खिलखिला कर हँसना और कुछ ही देर बाद सुधा और गेसू का छतनार पाकड के पेड के नीचे लेटकर गपशप करना––आदि घटनाओ से विदित होता है कि शिक्षा के कारण नारी की बुद्धि प्रखर होती है और उसके स्वभाव मे हास-परिहास की क्षमता आती है।

इसके अतिरिक्त शिक्षा के माध्यम से नारी अपने मनोनुकूल मित्र पा सकी, जिनसे वह अपने मन की बात कर सकी, उसका मन अधिक खुला और उसके जीवन मे कुछ अधिक सरसता का आविर्भाव हो सका। 'त्यागपत्र' मे सहपाठिनी शीला से मृणाल की गहरी मित्रता थी। इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' मे निरजना और शीला साथ-साथ होस्टल मे रहती थी। वे आपस मे घनिष्ट मित्र थी। 'गुनाहो का देवता' मे गेसू और सुधा की मित्रता का जैसा चित्रण किया गया है उससे कालेज की लड़कियो का सजीव चित्र उभर आता है। वे दोनो घटों एकान्त मे बैठी हुई अपने सुख-दुख की ढेरो बाते करते नही अघाती।

लेकिन कालेज-जीवन की यह स्फूर्ति और स्वतन्त्रता परवर्ती जीवन की समस्याओ से जूझने मे कोई सहायता नही देती। मृणाल और सुधा दोनो शिक्षित होते हुए भी सस्कार-ग्रस्त साधारण नारी की भाँति व्यवहार करती है। इसका एक कारण तो लेखको की स्वप्नशीलता है ही, एक और कारण यह भी है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली का हमारे

---

१. जैनेन्द्र : 'त्याग-पत्र' (पृष्ठ ३)

दैनिक जीवन से वह गहरा सम्बन्ध नही हो सका है जो दोनो मे मुक्त आदान-प्रदान सभव बना सके। विद्यार्थी-जीवन एक प्रकार की कृत्रिमता और अलगाव के वातावरण मे एक पलायन-लोक-सा प्रतीत होता है।

विधवा-जीवन की समस्या

प्रेमचन्द-युग मे विधवा-समस्या जितनी महत्वपूर्ण बनकर सामने आई थी उतनी प्रेमचन्दोत्तर-काल मे नही। इस युग तक आते-आते उसका बहुत कुछ समाधान हो चुका था। यह बात सामाजिक मान्यता प्राप्त कर चुकी थी कि यदि विधवा चाहे तो उसके पुनर्विवाह मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये। विधवा को अनावश्यक निषेधो और प्रतिबन्धो मे बदी कर उसके दुर्भाग्य को बरबस प्रलम्बित करने मे कोई सगति नही है, यह बात अब स्वीकार कर ली गई थी, और नारी भी शिक्षा एव जागृति के बल पर अपनी स्थिति को अपने हाथ मे लेने योग्य होती जा रही थी। मृत पति के प्रति तर्कहीन निष्ठा के कारण अपने दीर्घ लौकिक जीवन को नष्ट करना सही नही है, यह उसकी समझ मे आता जा रहा था।

फलस्वरूप इस युग के उपन्यासो मे ऐसी विधवा का चित्रण बहुत कम हुआ है जो निरीह भाव से परिवार और समाज का अत्याचार सहती हुई अपने जीवन को नष्ट कर देती है। नव-शिक्षा और नव-जाग ण के प्रभाव के कारण वह पुनर्विवाह करने को बुरा नही मानती और उपयुक्त पात्र पाकर पुनर्विवाह कर भी लेती है। यशपाल के 'देशद्रोही' की राज, 'मनुष्य के रूप' की सोमा, इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्ति पथ' की सुनन्दा, रागेय राघव के 'घरौदे' की लवग आदि अनेक उदाहरणो से इस बात की पुष्टि होती है। अधिकाँश उपन्यासों मे विधवा के पुर्नविवाह को ही उचित माना गया है। 'विधवा कह-कर उसे जीवन भर के लिए निष्प्रयोजन, अनुर्वर और बाँझ न बना दिया जाये। अपनी दुर्दमनीय सृजन-शक्ति को वासना के अगारो पर सेक-सेक कर झुलसाते रहने के लिए उसे बाध्य न किया जाये।''[1]

विधवा पर समाज के अत्याचार

किन्तु देश के जिन भागो मे नारी-जागरण की लहर नही पहुँच सकी है, वहाँ यह समस्या इस काल मे भी मिलती है। उपन्यासकारो ने दिखाया है कि गाँवो मे, पिछडी जातियो मे तथा कुछ मध्यवर्गीय समाज मे विधवा के मन मे प्राचीन सस्कार अब भी इतने प्रबल है कि वह पुर्नविवाह की बात सोचती तक नही और हताश जीवन व्यतीत करती जाती है। 'अचल' के 'नई इमारत' की शमीम बाल-विधवा होने पर भी अपने पुर्नविवाह की बात सोचती तक नही, अपना समस्त जीवन भाई-बहिन की सेवा मे अर्पित कर देती है। 'मुक्तिपथ' की सुनन्दा अपने भाई की गृहस्थी

---

१. 'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १५७)

का सारा काम-काज अपने कधो पर झेलकर किसी तरह अपने दिन बिताती है। नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' मे विधवा चाची भी अपने दिन दुख और अभाव मे काटती है। यशपाल के 'मनुष्य के रूप' की विधवा सोमा को असहनीय दुख सहना पडता है। इस 'समाज मे स्त्री का पुरुष यदि नही रहता तो समाज समझता है कि स्त्री मे से मान-प्रतिष्ठा अनुभव करने की शक्ति निकल गई। स्त्री स्वय कुछ नही है, पति के मर जाने पर एक सेठानी भी उसी प्रकार नारी मात्र रह जाती है जैसे एक कगालिन।'[१] नव-चेतना से दूर रहने के कारण ये नारियाँ समाज के अत्याचार मौन रूप से सहती जाती है।

'रतिनाथ की चाची' मे नागार्जुन ने गरीब, ग्रामीण, विधवा ब्राह्मणी के करुणा-विगलित जीवन का मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। इस उपन्यास मे समाज की विषमता, विधवा पर पुरुष के अत्याचार, उसकी स्वार्थपरता, समाज की मिथ्या लॉछना और उसके बीच नारी का उत्पीडन, उसके स्नेह और शील का बडा सजीव चित्रण किया गया है।

विधवा होने के कारण यशपाल के 'मनुष्य के रूप' की सोमा घर भर का अत्याचार सहती है तिस पर भी उसे चैन नही। उसे दिन-रात डॉट और मार सहनी पडती है। बाहर निकलती है तो मनचले लडके उसे चैन नही लेने देते। और घर मे ये अत्याचार। उसके दुखो का यही अन्त नही हो जाता। जब उसे मालूम पडता हे कि मन्नूसाह उसको ढाई-तीन सो रुपये मे एक पजाबी के यहॉ बेच देना चाहते है तो उसकी रूह कॉप जाती है। वह इन दुखो से ऊब कर अपने प्रति सहानुभूति प्रकट करने वाले धनसिह ड्राइवर के साथ निकल भागती है।

इसी प्रकार 'देशद्रोही' मे मध्यवर्गीय विधवा राज का चित्रण किया गया है। एक दिन पश्चिमोत्तर सीमान्त के केन्द्रीय सैनिक दफ्तर से डॉ० भगवानदास खन्ना की मृत्यु का तार आता है। पति की मृत्यु का दुखद समाचार सुनकर राज को इतना दुख होता है कि वह जहर खा लेती है। लोकापवाद के कारण परिवार वाले उसे मृत्यु के मुँह से तो बचा लेते है किन्तु विधवा होने के कारण उसके प्रति उनके व्यवहार मे इतना अन्तर आ जाता है कि वह बोझ स्वरूप बन जाती है।[२] अपनी स्थिति मे आ गये परिवर्तन को राज समझती है किन्तु अपने को बेबस जानकर चुप रहती है।

'मुक्तिपथ' की सुनन्दा भी बाल-विधवा है। वह अपने दूर के रिश्ते के भाई उमाप्रसाद और कृष्णा भाभी के पास रहने लगती है। विधवा होने के कारण वहाँ उसकी स्थिति एक दासी से भी हीन हो जाती है। 'सुनन्दा दिन भर गिरस्ती के कामो मे इस कदर उलझी रहती है कि एक क्षण के लिए भी विश्राम का अवकाश नही पाती और रात मे भी बारह-एक बजे तक उसे ड्यूटी बजानी पडती। दाल-चावल बीनने, महाराज को रसोई का सामान सहेजने, बच्चो को खिलाने-पिलाने और सुलाने.

---

१. रामचन्द्र तिवारी : 'कमला' (पृष्ठ १६६)
२. यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ ४७)

भवानी और उसकी जीजी प्रमीला को समय-असमय चाय पिलाने से लेकर रात मे भैया की प्रतीक्षा मे बारह-एक बजे तक बैठे रहने तक के सब कामो का उत्तरदायित्व वह अपने ऊपर लिये हुए है।'[१]

इस दुख भरे जीवन मे इन पीडित नारियो को जब किसी की सहानुभूति मिलती है तो स्वाभाविक रूप से इनका मन उधर ही झुक जाता है। 'देशद्रोही' की राज को बद्री-बाबू की सहानुभूति मिलती है। वह उनके कहने मे सार्वजनिक कार्य करती है। और कुछ ही दिनो मे वे उसके अपने बन जाते है। उनसे अलग अपने जीवन की कल्पना कर सकना भी राज के लिए सम्भव नही बचता। और एक दिन अखबार मे समाचार छपता है 'राजनैतिक विवाह। दिल्ली के सुप्रसिद्ध नेता बद्री बाबू का श्रीमती राजदुलारी से अदालती विवाह।'[२] राज बद्री बाबू से विवाह करके सुख-सतोष का अनुभव करती है। इसी प्रकार 'मुक्तिपथ' की सुनन्दा को अपने नीरस और एकाकी जीवन मे राजीव से सहानुभूति और नवचेतना मिलती है। राजीव उसके तेजस्वी व्यक्तित्व, शील और कर्तव्यनिष्ठा का बखान करता हुआ कहता है 'इसलिए एक बात मै तुमसे कहे देता हूँ। घर-गिरस्ती की यह चहार-दीवारी चाहे कैसे ही मजबूत इस्पात की बनी क्यो न हो, वह तुम्हारे समान तेजस्विनी नारी को अपने घेरे मे सदा के लिए नही बाँध सकती। या तो वह तुम्हारे तेज मे गल कर ढह जायेगी या तुम्हे जल्दी ही एक दिन स्वय अपने ही तेज मे अपनी ही आहुति दे देनी होगी। '[३]

विधवा की समस्या और समाज-सुधार

अपनी छिपी शक्ति का ज्ञान पाकर सुनन्दा के मन और प्राणो मे एक निराली ही वेदना का सचार होता है। उस वेदना मे अवसाद की जडता नही वरन् प्रलाप के-से विक्षोभ की एक प्रचड गतिशीलता है। 'इस प्रलयकर, विकराल वेदना के सागर की उमडती हुई, क्षुब्ध गर्जन करती हुई लहरे समस्त विधि-विधान और सामाजिकता के प्रति विद्रोही होकर लौकिकता के जहाज को सागर के अतल गर्त मे विलीन करने के लिए व्याकुल हो उठी है। आज तक वह शान्त रूप से, अपने अन्तर्मन के अपरिस्फुट असतोष को दबाती हुई, ससार, समाज और परिवार के सारे कर्मचक्र को बिना किसी शिकायत के निभाती चली आ रही थी। पर आज अचानक यह कैसी सर्व-ध्वसी झझा उसके भीतर हाहाकार मचाने लगी।'[४]

इस चित्रण से लेखक यह प्रतिपादित करना चाहता है कि विधवा नारी के मन मे अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति गहरा असतोष समाया रहता है, उसके अवचेतन मन मे

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' (पृष्ठ ५३-५४)
२. यशपाल : 'देशद्रोही' : (पृष्ठ १७७–१७८)
३. इलाचन्द्रजोशी : 'मुक्तिपथ' : (पृष्ठ ७८)
४. वही : (पृष्ठ ८०)

इस स्थिति से मुक्ति पाने की लालसा भी होती है, परन्तु उससे उबरने के लिए उसे सहारे की आवश्यकता है। राजीव सुनन्दा के लिए यही सहारा बन जाता है। किन्तु आस-पडोस तथा परिवार के लोगो को विधवा सुनन्दा का पर-पुरुष से इस प्रकार हेल-मेल बढाना उचित नही लगता। सुनदा के चरित्र के सम्बन्ध मे कानाफूसी प्रारम्भ हो जाती है, जिसको सुनकर सुनदा अत्यन्त दुखी हो उठती है। उसके इस दुख को नयी चेतना के प्रतीक राजीव और प्रमीला समझते है। प्रमीला राजीव के प्रति सुनदा के आकर्षण को भी समझती है, वह उसको बुरा भी नही मानती। प्रत्युत सुनदा के हिचकिचाने पर साहस बँधा कर कहती है 'इसमे लाज की क्या बात है? विधवा के क्या मन नही होता? उसके हृदय के स्थान पर क्या सृष्टिकर्ता केवल पत्थर या लोहे का कोई यत्र बना कर रख देता है?'[1]

प्रमीला की यह बात सुनदा के मन को छू लेती है किन्तु फिर भी सुनदा के सस्कार एकाएक नही मिटते। प्रमीला के यह पूछने पर कि 'तुम क्या राजीव बाबू को सचमुच चाहती हो?'[2] वह विह्वल होकर कहती है 'पर इस तरह का प्रश्न तुम्हे मुझसे करना नही चाहिये था रानी! मैंने आज तक स्वय अपने मन से भी यह बात छिपा रखी थी। मै बहुत दुखी हूँ, हजारो बधनो मे जकडी हुई हूँ, अकेली हूँ, असहाय हूँ। मुझे क्या इस तरह के विचार मन मे लाने चाहिए'।[3] किन्तु प्रमीला का मत है कि आज का समाज विकसित हो रहा है, उसकी सामाजिक मान्यताएँ बदल रही है इसलिए यदि विधवा साहस करके प्राचीन बधनो को तोडकर बाहर निकल आये तो समस्त विश्व मे कोई भी उसका रास्ता नही रोक सकता। वह सुनदा से कहती है 'बुआ, तुम फिर आत्म-करुणा की उसी तुच्छ भावुकता मे डूब चली। तुम न अकेला हो और न असहाय। एक बहुत बडा समाज तुम्हारे साथ है, तुम्हारे लिए एक भी बधन नही है। जिन हजारों बधनो की बात तुम कह रही हो, वे सब तुम्हारे मन के द्वारा रचे गए मकडो के जाले है, जो अँधेरे मे हौवे की तरह लग रहे हैं। एक बार दृढ निश्चय करके, पूर्ण विश्वास के साथ खडी हो जाओ। देखोगी, तुम्हारा पथ रोकनेवाला समस्त विश्व मे एक भी नही है। उठो बुआ, हिम्मत बाँधो।'[4]

प्रमीला और राजीव की प्रेरणा से ही एक दिन सुनन्दा अपने बधन तोडकर राजीव के साथ समाज-निर्माण के कार्य मे जुट जाती है। उसके मन के बधन यहाँ तक टूट जाते हैं कि वह स्वयं अपने मुँह से राजीव से विवाह का प्रस्ताव करती है यद्यपि मिथ्या भावुकता के फेर मे पडकर राजीव उसके प्रस्ताव को ठुकरा देता है।

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' : (पृष्ठ २३०)
२. वही : (पृष्ठ २२९)
३. वही : (पृष्ठ २३०)
४. वही : (पृष्ठ २३०—२३१)

इस प्रकार हम देखते है कि इस युग के उपन्यासकार ने विधवा-विवाह का मुक्त कठ से समर्थन किया है और उस पर आचरण करने वाले पात्रो के साहस और त्याग की सराहना की है।

जैनेन्द्र भी बाल-विधवा की आत्म-व्यथा को समझते थे। इसलिए उन्होंने बड़े स्वाभाविक ढग से 'परख' मे बाल-विधवा कट्टो के मन की उथल-पुथल का चित्रण किया है और उसके माध्यम से विधवा-विवाह का समर्थन किया है। जब कट्टो पाँच वर्ष की थी तभी वह विधवा हो जाती है।[1] बाल साथी सत्यधन के प्रति उसका प्रेम स्वाभाविक रूप से विकसित होता है और वह मन-ही-मन उसको अपना मन समर्पित कर देती है। एक बार कट्टो सत्यधन के चरणो को अश्रु-जल से सिंचित करती है।[2] वह विधवा इस क्षण को अपना सौभाग्य समझती है।[3] इसी उछाह की मनोदशा में वह अपने वैधव्य को भूल-कर बाज़ार से सोहाग के अलकार खरीद लाती है। ये चीज़े खरीद-कर 'वह चौके मे नही गई, अपने कमरे मे आई। वहाँ एक तेल से चिकने हो रहे आले मे अभी-अभी ताजी-ताज़ी बिसाती से खरीदी एक टिकुली की डिबिया, एक छोटा-सा दर्पन, एक राधा-किसन की तस्वीर—ऐसी ऊटपटॉग चीजे सजा कर रख दी है। वहाँ आकर उस छोटे-से दर्पण को लेकर, दोनो भौहो के बीचोबीच, जरा ऊपर को, सीक से उस डिबिया मे से, बडी नन्ही-सी एक टिकुली लगा ली। देखती रही,—कैसे यह लाल-लाल बिन्दी काली पडती जा रही है।'[4] इन पक्तियो मे लेखक ने अपनी कुशल लेखनी से विधवा के मन की ललक का कितना सजीव और मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। कट्टो जानती है कि विधवा के लिए ये सोहाग की चीजे वर्जित है। इसलिए वह न तो किसी से इन चीजो को मँगाती है और न इस विषय मे अपनी माँ से ही चर्चा करती है।

यद्यपि सत्यधन माँ की प्रसन्नता के लिए और मर्यादा के विचार से कट्टो से विवाह नही करता, फिर भी यदि सत्यधन उसके सामने ऐसा प्रस्ताव रखता तो सम्भवत कट्टो को विवाह करने मे आपत्ति न होती। किन्तु सत्यधन के अतिरिक्त वह अन्य किसी व्यक्ति से विवाह नही करना चाहती। सत्यधन की इच्छा पूरी करने के लिए बिहारी के

---

१. 'चौथे वर्ष में उसका विवाह हो गया और पाँच वर्ष की होते-न-होते वह विधवा हो गई।'
जैनेन्द्र : 'परख' : (पृष्ठ ५)

२. 'पैरों को पाकर कट्टो न अश्रु-जल से उनका खूब ही अभिसिंचन किया।'
वही : (पृष्ठ ३४)

३. 'इधर कट्टो सौभाग्य के पहाड़ के नीचे दबकर अचेतन-सी हो गई। जिसके पास तक स्वप्न में भी पहुँचने की हिम्मत नहीं हुई थी, वही सौभाग्य जब एकदम इस तरह सिर पर बरस पड़ा तो कट्टो विह्वल हुई और फिर बेसुध हो गई।'
वही : (पृष्ठ ३५)

४. वही : (पृष्ठ ४२)

मन का झुकाव समझकर वह बिहारी से केवल आध्यात्मिक सम्बन्ध स्वीकार करती है।[1] विवाह की बात छिडते ही प्राचीन परिपाटी का सहारा ले लेती है 'जीजी' कुछ नही। भला ब्याह कैसा ? जीजी, जानती नही तुम, मै तो विधवा हूँ। विधवाओ का भी ब्याह होता है ? छि ।'[2]

इस तरह जैनेन्द्र ने कथा-चक्र को अप्रत्याशित मोड देकर बडी कुशलता से काम लिया है। मूलत आदर्शवादी होने के कारण वे एक ओर व्यावहारिक क्षेत्र मे विधवा-विवाह को बचा जाते है, दूसरी ओर यह कहकर कि 'कट्टो को विधवा कहना 'विधवा' शब्द की विडम्बना है। विधवा हो भी तो भी क्या ? उसका अवश्य विवाह होगा',[3] विधवा-विवाह को सहानुभूति भी दे देते है। उपन्यास के अन्त मे पाठक के मन पर यही प्रभाव पडता है कि वास्तव मे कट्टो वैधव्य के कारण नही, सत्यधन के प्रति अपने प्रेम के कारण ही बिहारी से पुर्नविवाह नही करती।

इस प्रकार इस युग तक आते-आते विधवा-विवाह की समस्या का समाधान हो जाता है! फिर भी, उपन्यासकारो ने विधवा-विवाह का समर्थन करने पर भी विधवा-मन की दमित कामनाओ की उच्छृखल अभिव्यक्ति को क्षमा नही किया है। रागेय राघव के 'घरौंदे' मे विधवा लवग का चित्रण इसका प्रमाण है। विधवा होने के दो महीने बाद ही लवग अतृप्ति का अनुभव करती है।[4] उसका मन समर की ओर आकर्षित होता है। वह अपनी वासना को तृप्त करने के लिए समर के साथ पार्क मे अकेले जाती है, समर की ओर से निराश होकर वह प्रोफेसर मिसरा के साथ अवैध सम्बन्ध स्थापित करती है जिसके कारण वह सभी ओर से धिक्कारी जाती है। इस लॉछन से बचने के लिए वह ससुराल लौट जाती है। लवग के इस आचरण के प्रति लेखक ने कोई भी सहानुभूति नही दी है। यद्यपि वह विधवा पर लगाये जानेवाले अस्वाभाविक प्रतिबधो का पक्षपाती नही है, फिर भी उसे सदाचार और सयम की मर्यादाओ को लाँघने देना नही चाहता।

विधवा-जीवन का आदर्श

इसी के साथ-साथ इस युग के उपन्यासकारो ने ऐसी विधवा के पुर्नविवाह को भी उचित नही माना है जिसको मातृत्व प्राप्त हो चुका हो। उनका मत है कि मातृत्व प्राप्त करके नारी अपने सभी दुखो को भूल सकती है। इसलिए ऐसी विधवाओ की कोई

१. दोनों प्रतिज्ञा करते है : 'हम दोनो वैधव्य-यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं। हम एक होंगे—एक प्राण दो तन। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा।'
जैनेन्द्र : 'परख' (पृष्ठ ७५)
२. वही : (पृष्ठ ८५)
३. वही : (पृष्ठ २१)
४. रागेय राघव : 'घरौंदे' : (पृष्ठ ३२८)

समस्या उपन्यासकारो ने नही उठाई है। पति की मृत्यु के बाद उनका मुख्य कर्तव्य अपने दाम्पत्य जीवन के प्रेम-प्रतीक उन बच्चो का उचित ढग से लालन-पालन करना ही बताया गया है। इलाचन्द जोशी के 'निर्वासित' मे विधवा मिसेज खन्ना ऐसा ही करती है। विधवा होने के बाद उनकी एक ही इच्छा है कि उनकी पुत्रियाँ अच्छी शिक्षा प्राप्त करके अच्छे घर ब्याही जाये। जोशीजी के दूसरे उपन्यास 'लज्जा' मे विधवा माधवी का बडा मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। अपने पति की मृत्यु पर माधवी दु ख से व्याकुल हो जाती है किन्तु बच्चो के दु ख का ध्यान आते ही वह अपने आँसुओ को रोकती है और माँ से भी वैसा ही रहने को कहती है। "माधवी दीदी की आँखे आँसुओ से भीग रही थी, पर वह शान्तिपूर्वक अपनी अम्मा का हाथ पकडकर उन्हे दिलासा दे रही थी। करुण कठ से कहती थी : 'अब रोने से क्या होगा अम्मा ? मेरा सर्वनाश होना था सो हो गया। अब धीरज धरो। दीनू और रामू तुम्हे देखकर बहुत घबडा उठे है।'[1] किन्तु अम्मा माधवी की बात को अनसुनी करके अपनी छाती पीट कर बोली 'माधवी, तू अभी तक जीती क्यो है ? क्या तूने भीतर कही ज़हर नही रक्खा है ? खा क्यो नही लेती, मर जा बेटी, मर जा ! अब जीना महापाप है।'[2] पर इन मर्मभेदी शब्दो को भी धैर्य के साथ सहकर माधवो कहती है : 'मरने से क्या होगा अम्मा ! अपने कर्मो का भोग तो मुझे हर हालत मे भोगना होगा। मै मर जाऊँ तो दीनू रामू और छोटे बच्चे का क्या हाल होगा।'[3] यही नही, वह अपने हृदय पर पत्थर रखकर बच्चो को भी दिलासा देती हुई कहती है 'रोओ मत मेरे लाल ! किसी को कुछ नही हुआ।'[4] उसके मन की अकथनीय व्याकुलता और दिवगत पति के प्रति उसकी असीम श्रद्धा तभी प्रकट होती है जब वह अन्तिम बार अपने पति के पैर छूना चाहती है।

वेश्यावृत्ति की समस्या

प्रेमचन्दोत्तर-काल मे वेश्यावृत्ति की समस्या के सम्बन्ध मे भी हम उपन्यासकारो के दृष्टिकोण मे स्पष्ट अन्तर और विकास पाते है। प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' मे वेश्यावृत्ति के कारण, परिणाम और निनाद पर विस्तार से विचार किया था, और अपने युग के अनुरूप उसके समाधान का भी प्रयत्न किया था। 'सेवासदन' इस दृष्टि से हिन्दी का बेजोड उपन्यास है। पर 'सेवासदन' का उपन्यासकार समाज-सुधारक है और उस समस्या-विशेष से ही जूझता जान पडता है। प्रेमचन्दोत्तर-काल का उपन्यासकार सुधारक नही है, उसके युग की चेतना यथार्थवादी चेतना है और कला एव साहित्य मे यथार्थ के

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'लज्जा' : (पृष्ठ ११४)
२. वही : (पृष्ठ ११५)
३. वही : (पृष्ठ ११५)
४. वही : (पृष्ठ ११८)

चित्रण पर उसका ज़ोर अधिक है। नारी वेश्या क्यो बनती है, वेश्या-जीवन क्यो घृणित है, और उसे इस नारकीय जीवन से उबारने का क्या उपाय है, इन प्रश्नो के सम्बन्ध मे उसके मन मे कोई पूर्व-निश्चित 'फार्मूला' नही है, क्योकि उसकी दृष्टि इस समस्या तक ही सीमित नही है, अपितु वह इस समस्या को सामाजिक क्रान्ति की समस्या के एक पहलू और एक अग के ही रूप मे देखता है। साथ ही वह उपदेशक और प्रचारक भी नही है, इसलिए वह वेश्या के उद्धार की आवश्यकता का ढोल नही पीटता, उसकी सामाजिक विषमताओ और परिस्थितियो का चित्रण भर करता है, ताकि समस्या की गहराई समझी जा सके। इसीलिए इस युग मे वेश्या का चित्रण सम्पूर्ण जीवन के एक अग के रूप मे ही हुआ है, और उसके उद्धार की आवश्यकता का सकेत जहाँ कही भी मिलता है, केवल आनुषगिक ही है। जीवन के यथार्थ के प्रति इस आग्रह के ही कारण उसने जानबूझकर न तो वेश्या को दुष्टा अथवा पतिता के रूप मे देखा है, और न उसके वेश्यावृत्ति अपनाने के कोई पूर्व निश्चित कारण बताये है। जिस प्रकार समाज मे नारी नाना कारणो से वेश्यावृत्ति अपनाती है, जिस प्रकार वेश्याये नाना प्रकृति और प्रवृत्ति की होती है, इस युग के उपन्यासो मे उसी प्रकार उसका चित्रण भी हुआ है।

इस चित्रण की दो प्रमुख विशेषताएँ हम स्पष्ट पाते है। पहली विशेषता तो यह है कि वेश्या का चरित्र पाठक की सहानुभूति पाने मे पहले से अधिक सफल होता है क्योकि उसके चित्रण मे किसी पूर्वाग्रह का हाथ नही है। दूसरी विशेषता यह है कि पाठक को यह बात भली प्रकार समझ मे आ जाता है कि वेश्यावृत्ति के प्रचलन के अनेक कारण है और उन सब कारणो को दूर किये बिना समाज से वेश्यावृत्ति मिटाई नही जा सकती। 'सेवासदन' की सुमन के जीवन को देखकर हमे लगता है कि यदि नारी आत्म-निर्भर और स्वतन्त्र हो तो वह वेश्यावृत्ति की ओर न झुकेगी। पर 'शेखर एक जीवनी' को मणिका को देखकर इस समाधान की अपूर्णता स्पष्ट हो जाती है, और 'पर्दे की रानी' की निरंजना को देख कर तो जैसे एक नई दृष्टि मिलती है कि वेश्यावृत्ति के प्रभाव पीढियो तक बने रहते है। सच तो यह है कि सामाजिक अवस्था मे तात्कालिक सुधार की प्रेरणा के फल-स्वरूप प्रेमचन्द ने समस्या के केवल बाहरी पक्ष पर ही ध्यान दिया था। 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी उसके मनोवैज्ञानिक और नैतिक पक्षो की गहराई तक जाते है।

यही कारण है कि इस युग के जिन उपन्यासो मे वेश्या का चित्रण मिलता है उनमे उसके जीवन की विडम्बनाओ, उसकी परिस्थितियो की विवशताओ और उसके मन की सच्ची शुभकामनाओ पर भी प्रकाश डाला गया है। उपन्यासकार इस बात पर जोर देता जान पडता है कि यद्यपि किसी-न-किसी विवशता के कारण नारी-विशेष को वेश्यावृत्ति अपनानी पडी है पर वह उसको सहज स्वीकार नही करती और उसका मन उस जीवन से उबरने के लिए छटपटाता रहता है।[१] इसी के साथ इन उपन्यासकारो ने

---

१. 'भारतीय वेश्या के समान करुणाशील और उदार प्राणी का जोड़ मिलना कठिन है।

पुरुष जाति की उस लोलुपता और स्वार्थान्धता का भी भण्डाफोड़ किया है, जिसके कराण वेश्यावृत्ति की समस्या सुलझ नही पाती।

रागेय राघव के 'घरौदे' मे वेश्या नादानी कामेश्वर को सहृदय जानकर उससे अपने मन की बात कहती है 'कामेश्वर मैं एक रिक्शावाले की तरह हूँ। पैसे के लिए दौड़ लगाते-लगाते थक गई हूँ। अब मेरे फेफडो मे दर्द होने लगा है। अब मैं सदा के लिए चली जाऊँगी।' कामेश्वर चुप नही रहा। उसने पूछा 'कहाँ जाओगी नादानी ?'

वेश्या मे नारी-सुलभ गुण

'ओह अपने रुपयो की याद दिला रहे हो ? नही, सो तो पाई-पाई करके चुकाकर ही जाऊँगी। लेकिन मैं उस सज्जाद को नही सह सकती। वह एकदम घृणित है। नही, नही, तुम्हारी पहली मुलाकात के बाद ही मेरे भीतर. . .'

कामेश्वर समझा नही। वह मुस्कराया 'वेश्या भी एक पति का ढोंग करती है।'

'दुनिया की हर औरत हरेक आदमी को नही चाहती बाबू जी,' उसने नम्र होकर कहा। एकाएक वह ज़ोर से बोल उठी 'बरसात मे गन्दी नालियो मे बहते पानी को एक गड्ढे मे जमा करना जरूरी हो जाता है, वैसे ही तुमने मुझे बना रखा है। तुमने मच्छरो की भन-भन सुनकर कदम दूर-ही-दूर रखा। कामेश्वर, तुम आजकल के पढे-लिखे आदमी हो, तुम तुम भी मुझे नही उबार सकते ? बोलो ? जो तुम दोगे वही खाऊँगी, जो दोगे वही पहनूंगी, मगर यह नरक मुझे जीवित मे ही मुर्दा किये हुए है, मुझे इससे बाहर ले चलो मैं विवाह नही चाहती। तुम मुझे रख लो।. . .रख लो इसलिए कहा कि मुझमे और विवाहित स्त्री मे अधिक फर्क नही है।"[1] किन्तु कामेश्वर नादानी को देवी मानते हुए भी[2] उसे स्वीकार नही करता।

इलाचन्द्र जोशी के 'प्रेत और छाया' मे वेश्या नदिनी कुलवधू बनने की प्रबल इच्छा[3] के कारण ही भुजौरिया से विवाह करती है। किन्तु जब उसे विदित होता है कि भुजौरिया

मैं इस ज्वलत सत्य पर पर्दा नहीं डालना चाहता कि यथार्थ जगत की बहुत-सी वेश्याएँ ऊपर से बड़ी लोभी, संकीर्ण हृदय, मूर्ख और घोर स्वार्थी लगती हैं, पर अगर उनके भी बाहरी जीवन का कड़ा चमड़ा चीरकर देखा जाय तो भीतर स्वस्थ प्रेम और सच्ची करुणा के सैकड़ो सोते फूटते हुए दिखाई देंगे।'
इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' (पृष्ठ ३३०)

१. रागेय राघव : 'घरौंदे' (पृष्ठ २९३)

२. 'तुम देवी हो'
वही : (पृष्ठ २९४)

३. 'नदनी में यह महत्वाकांक्षा वर्षो से घर किये हुए थी कि किसी कुलीन और सद्‌गृहस्थ परिवार से सूत्र जोड़े।'
इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' (पृष्ठ २१५)

ने अर्थलाभ की दृष्टि से उससे विवाह किया है तो उसका मन भुजौरिया के प्रति भी विद्रोह कर उठता है और वह पारसनाथ को सहृदय जानकर और उससे आश्वासन पाकर[1] उसके साथ चली जाती है।

इसी प्रक.र नदिनी की बहिन वेश्या हीरा को पारसनाथ से स्नेह मिलता है। जब उसको लगता है कि पारसनाथ उस पर विश्वास करता है और उसके सहयोग से अपने जीवन को सुधार सकता है[2] तो उसका सोया नारीत्व जाग उठता है। 'उसकी सारी आत्मा उससे भर गई थी। उसके जन्म से कुचला और ठुकराया हुआ नारी-हृदय इतने दिनो तक जड और चेतनाहीन-सा बना हुआ था।. .पर आज पारसनाथ की इस बात से उसके अतर के अतल मे जैसे एक अग्निमयी क्रान्ति मच उठी, जिसके फलस्वरूप उसके हृदय का रुद्ध-मुख ज्वालामुखी के एक प्रचंड विस्फोट से खुल गया, और उसका सारा व्यक्तित्व एक भीषण भूकप के आन्दोलन से डाँवाडोल हो उठा।'[3] वह समर्पिता नारी की भाँति बोली ' 'मैं तो नाचीज़ हूँ, पारस बाबू, एक तुच्छ और हीन प्राणी हूँ। अगर मै जीवन मे आपकी किसी भी सेवा मे आ सकी अपने को कृतार्थ समझूँगी। भला मैं आपको उबारने की क्या सामर्थ रखती हूँ ? फिर भी विश्वास रखिये कि मैं तन-मन से आपके साथ हूँ।'[4] इसी समर्पण का फल है कि एक दिन पारसनाथ की आवश्यकता समझकर वह उसी क्षण पद्रह हज़ार रुपयो का प्रबन्ध कर देती है। 'मैं यह सब कुछ नही जानती, मैं केवल यह जानती हूँ कि उन्हे इस समय पद्रह हज़ार रुपयो की आवश्यकता है। इतना जानना मेरे लिए काफी है। यह लो, मै अभी दिये देती हूँ।'[5] और अन्त मे जब पारसनाथ से उसका विवाह तय हो जाता है तब उसके मन मे कुलवधू के सभी सस्कार जागृत हो जाते है और वह साधारण गृहिणी की भाँति अपने श्वसुर की सेवा करती है[6] तथा गृहस्थी को सुखमय बनाने की चेष्टा करती है।

---

१. 'मेरा विश्वास करो नन्दिनी। मैंने चाहे तमाम संसार के साथ विश्वासघात किया हो, या सारे संसार ने मेरे साथ विश्वासघात किया हो, पर तुम्हारे साथ मैं कभी इस जन्म में विश्वासघात नहीं करूँगा।'
इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' : (पृष्ठ २९३)

२. 'आपका परिचय मेरे पिछले जीवन की सब भूलों को धोकर मुझे फिर से कुत्ते से मनुष्य बना सकता है, बशर्ते आपकी कुछ भी कृपा मुझ पर हो।'
वही : (पृष्ठ ३६५)

३. वही : (पृष्ठ ३६६)

४. वही : (पृष्ठ ३६६)

५. वही : (पृष्ठ ३७६)

६. 'हीरा अपनी सच्ची सेवाओं से उनकी प्रसन्नता को और अधिक बढ़ाती चली गई। भावी ससुर की सेवा में जो एक विशेष प्रकार का स्निग्ध सुख हीरा को मिल रहा था,

जोशीजी ने इसी उपन्यास में मंजरी के चरित्र से भी यही सिद्ध किया है कि यद्यपि मजरी 'परिस्थितियो की विवशता के कारण होटल मे ठहरने वाले यात्रियो को अपने रूप की झलक दिखाकर उनसे पैसा स्वीकार करने को बाध्य हुई थी,'[1] तथापि उसके मन में नारी-सुलभ सभी गुण पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान थे। वह बीमार माँ की सेवा-सुश्रूषा के लिए ही वेश्यावृत्ति जैसा घृणित काम स्वीकार करती है। पारसनाथ का स्नेह पाकर वह उस पर विश्वास करके उसके साथ चली जाती है और विवाहिता नारी की ही भाँति गृहस्थी सँभालती है। उसकी आन्तरिक इच्छा है कि पारसनाथ उससे विवाह करके उसे सामाजिक रूप मे ग्रहण करे।

वेश्या की मातृत्वभावना का एक सुन्दर उदाहरण विश्वनाथ वैशम्पायन के 'मातृत्व का अभिशाप' मे मिलता है। जब वेश्या राधा के सामने मदन की पुत्री के जीवन-मरण का प्रश्न आता है तो वह मदन को लाखो रुपये के कर्ज से मुक्त कर देती है।

वेश्या मे पत्नीत्व की भूख कितनी प्रबल होती है इसका दिग्दर्शन कराने के लिए मन्मथनाथ गुप्त ने 'अवसान' (१९५०) मे मुनिया का चित्रण किया है। परिस्थितिवश विवाहिता मुनिया को वेश्या बनना पड़ता है किन्तु जब उसका पति बलखडी उसके पास जाता है और एक साथ रहने की बात कहता है तो उसे अपार हर्ष होता है। वह फिर से एक छत के नीचे कुलवधू की भाँति रहना चाहती है। उसके मन मे पति के सामीप्य की चाह इतनी प्रबल है कि जब वह दूसरी स्त्री के पास जाता है, और उसका अर्जित धन जुए और शराब मे फूँकता है तब भी वह यह सोचकर सुखी रहती है कि उसे पति का सामीप्य तो प्राप्त है। बलखडी उसके सारे गहने चुराकर, उसका धन खर्च कर, उसको गर्भवती बना कर चला जाता है। फिर भी उसे पति पर क्रोध नही आता, उल्टे जब वह पुन उसके पास आता है तो वह सहर्ष उसे स्वीकार कर लेती है और उस पर विश्वास करके अपने चार वर्ष के पुत्र को पढने के लिए गोकुल पहुँचा आने का आग्रह करती है। उस पुत्र को बलखण्डी ईसाइयो के यहाँ बेच देता है और मुनिया के बाकी गहने लेने के चक्कर मे उसकी और उसकी नौकरानी की भी हत्या कर देता है। किन्तु मुनिया मरते दम तक अपनी कोमल भावनाओ का त्याग नही करती। मरने के पहले वह कह जाती है कि बलखण्डी ने उसकी हत्या नही की है। लेखक ने यद्यपि बलखण्डी को इतना अधिक अत्याचारी और मुनिया को इतना अधिक उदार बनाकर अतिवाद से काम लिया है तथापि इससे वेश्या के मन मे पत्नी बनने की प्रबल कामना पर अच्छा प्रकाश पड जाता है।

उसका अनुभव तो दर-किनार, उसकी कल्पना भी उसने इसके पहले कभी नहीं की थी। उसके हृदय के अतल में युगों से दबे हुए भारतीय कुलवधू के संस्कार जैसे किसी माया-मंत्र से जाग पड़े थे।'

इलाचंद्र जोशी : 'प्रेत और छाया' : (पृष्ठ ४०१)

१. वही : (पृष्ठ ३२४)

वेश्या में हीन-भावना

वेश्यावृत्ति नीच, पतित और जघन्य कार्य है इस बात को जैसे सभ्य और कुलीन समाज समझता है वैसे ही वेश्या भी समझती है। इसी कारण उसके मन मे हीन-भावना घर कर लेती है। उसकी यह हीन-भावना कभी आत्मग्लानि के रूप मे, कभी समाज के प्रति विद्रोह के रूप मे और कभी अपने-आपको निर्दोष प्रमाणित करने के रूप मे दिखाई देती है। इलाचन्द्र जोशी मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार है। उनका मत है कि वेश्या मे ही नही, वेश्या-पुत्री मे भी परोक्ष रूप से हीन-भावना निहित रहती है। जोशी जी ने अपने उपन्यास 'पर्दे की रानी' की निरजना के चरित्र मे मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से यही चित्रित किया है कि वेश्या-पुत्री होने के कारण ही निरजना किस प्रकार जीवन भर हीन-भावना से मुक्ति नही पा सकी। अपनी इस हीन-भावना से मुक्ति पाने के लिए वह अह का सहारा लेती है और इन्ही दोनो तत्वो के कारण उसको जीवन मे कभी भी सामजस्य और मानसिक शान्ति के दर्शन नही होते। यदि कभी वह अत्यधिक दयनीय दिखाई देती है तो कभी उच्छृ खल। अह के कारण वह एक ओर दूसरो को चिढाने और जलाने मे अपार सुख का अनुभव करती है तो दूसरी ओर अपनी हीन-भावना के कारण आन्तरिक वेदना से भी विकल होती रहती है। अपने मन के इस विरोधाभास से वह स्वय भी परिचित है।[१]

इसी हीन-भावना के कारण निरजना के मन मे उस पुरुष समाज के प्रति प्रतिहिंसा उत्पन्न हो जाती है जो वेश्यावृत्ति को घृणित मानकर भी स्वय उसके प्रचलन मे सहायक होता है, और फिर भी समाज मे नैतिकता और उच्चता का दावा करता है।[२] हीन-

---

१. 'मेरे भीतर कई विरोधाभास वर्तमान है, मुझे ऐसा लगता है। कभी-कभी मुझे यह अनुभव होने लगता है कि मेरे मन के मूल केन्द्र के ऊपर बहुत से विचित्र-विचित्र संस्कारो के स्तर एक के ऊपर एक इस सिलसिले मे जमे हुए है, ओर उनमे से प्रत्येक स्तर के तत्व किसी दूसरे स्तर के तत्वो से मेल नही खाते। उन सब स्तरों के नीचे मेरा मूल स्वभाव भयंकर भार से दबा पड़ा है. . . मेरी यह मूल प्रवृत्ति कभी भीषण ज्वालामुखी के समान आग के फव्वारे छोड़ती है, और कभी स्निग्ध-शीतल जलधारा बरसाती है। पर मै न पहले का कारण जानती हूं न दूसरे का। मै अपने भीतर के विचित्र सस्कारों की क्रिया-प्रतिक्रिया की एक कठपुतली मात्र हूँ।
इलाचन्द्र जोशी : 'पर्दे की रानी' (पृष्ठ ९७)

२. 'इसका कारण क्या स्पष्ट ही यह नही है कि वह एक पुरुष की हैसियत से किसी भी नारी के साथ रस-रंग की बातें करना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझता है, और यह भी जानता है कि जिस लड़की के यहाँ आने-जाने से उसकी बहनो की सामाजिक सत्ता घट सकती है, उसके यहाँ स्वयं डट कर जलपान करने, चाय प ` और पहली ही मुलाकात मे बेतकल्लुफ प्रेम-चर्चा चलाने से समाज मे उसका सम्मान घटने के बजाय बढ़ सकता है?' वही : (पृष्ठ ५४)

भावना और प्रतिहिंसा की इस द्विधा मे यदि एक ओर निरजना इन्द्रमोहन के प्रति प्रबल वेग से आकर्षित होती है तो दूसरी ओर उसको अपने रूप-प्रदर्शन से तडपाते रहने मे उसे एक विशेष प्रकार का सुख मिलता है। जब इन्दमोहन उससे नुमाइश चलने का प्रस्ताव करता है तो वह सहर्ष स्वीकार कर लेती है और खूब साज-शृगार करके जाती है।[1] नुमाइश मे अपने रूप के प्रति इन्द्रमोहन की तीव्र आसक्ति देखकर और भीड की आकर्षण-केन्द्र बनने पर वह गर्व और उल्लास का अनुभव करती है। उसके इस निर्द्वन्द्व स्वीकार का ही यह फल होता है कि इन्द्रमोहन उसे खाना खाने के बहाने होटल ले जाता है और वहाँ आसक्ति के चरम क्षणो मे उससे अनुचित व्यवहार करता है। परन्तु निरजना का नारीत्व इसे स्वीकार नही करता और वह भाग निकलती है। उसके इस विरोधी व्यवहार के मूल मे कौन-से सस्कार काम कर रहे थे इसका विश्लेषण करती हुई वह कहती है : 'मेरे भीतर वेश्या के सस्कार पूर्ण मात्रा मे वर्तमान है। यदि ऐसा न होता तो मै इन्द्रमोहनजी को अपनी भाव-भगिमा से उस तरह रिझाने की चेष्टा न करती और उन्हे इच्छानुसार नचाकर अकारण परेशान करने पर उतारू न होती, नुमाइश मे उनके साथ अकेले जाने के लिए तैयार न होती, और होटलवाली घटना और उसके बाद की दुर्घटना का कारण न बनती। निश्चय ही मैं एक वेश्या की अधम लडकी हूँ।'[2] उसके मन की दूसरी प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए उसके गुरुजी कहते है 'जो व्यक्ति तुम्हारा रक्षक बनकर भी भक्षक बनने पर उतारू था, तुम्हे एक वेश्या की बेटी समझकर अत्यन्त हीन दृष्टि से देखता था (अपनी लडकियो तक को उसने कभी तुम्हारे पास नही आने दिया) और साथ ही तुम्हारे सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होकर छल, बल और कौशल से तुम्हारा कौमार्य नष्ट करने की प्रबल इच्छा रखता था, उसके लडके के भीतर लालसा की आग भडकाकर उसे जीवन भर अशान्ति की आँच मे तडपाते रहने की प्रवृत्ति जान मे या अनजान मे तुम्हारे भीतर घर कर गई थी'।[3]

इन दो प्रवृत्तियो के घात-प्रतिघात के कारण ही वह बाद मे इन्द्रमोहन की पत्नी और अपनी सहेली शीला को अकेली छोडकर इन्द्रमोहन के साथ सहर्ष पैलेडियम मे नाच देखने जाती है। कैम्प्टी फॉल्स की सैर करने जाती है, 'सेवाय' होटल मे नृत्य-गीत मे भाग लेती है और स्वय उन्मादिनी बनकर इन्दमोहन के साथ नृत्य करती है।[4]

---

१. 'बढ़िया-से-बढ़िया लोशन, क्रीम, पाउडर, लिपस्टिक आदि शृंगार-सामग्री, जो मेरे पास पड़ी हुई थी, और जिसका उपयोग मैं इतना कम करती थी कि वह नहीं के बराबर था, निकालकर मैंने बड़े यत्न के साथ शृंगार किया।' इलाचन्द्र जोशी : 'पर्दे की रानी' (पृष्ठ ७९)

२. वही : (पृष्ठ १२८)

३. वही : (पृष्ठ २१५)

४. 'मैं जैसे जानबूझ कर उन्मादिनी बनी हुई थी, और उस क्षणिक रंग मे अपने को पूर्णतया रँगाकर इन्द्रमोहन जी की मस्ती को सुलगा रही थी।' वही : (पृष्ठ १८३)

अपने जन्मजात सस्कारो के कारण उसे होटल का सारा वातावरण अपने अनुकूल ही लगता है।'[1]

निरजना के चरित्र मे जोशी जी ने एक और मनोविश्लेषणात्मक तत्व का समावेश किया है। वेश्या की पुत्री होने के कारण उसे समाज मे जो अपमान मिलता है उसके कारण उसके अवचेतन मन मे अपनी माँ के प्रति विरोध की भावना समा जाती है। उसका अवचेतन मन स्नेहमयी शीला को माँ के प्रतीक रूप मे ग्रहण करता है। इसीलिए उसके मन मे शीला के प्रति एक ओर प्रगाढ स्नेह-भावना और ममत्व है तो दूसरी ओर उससे प्रतिशोध लेने की भावना भी निहित है। जब वह इन्द्रमोहन से कहती है कि 'जबतक शीला जीवित है तबतक आप मुझसे हर्गिज इस तरह की आशा न करे।'[2] तब उसके मूल मे प्रतिहिसा की यही भावना प्रमुख होती है। इसी भावना का मनोविश्लेषण करते हुए गुरुजी कहते है 'चूँकि तुम्हारी माता समान ही स्नेहशील शीला को तुम्हारे अन्तर्मन ने माता के प्रतीक रूप मे ग्रहण किया होगा, इसलिए उसके विरुद्ध तुम्हारा वह विद्रोह और हिसक भाव पूर्ण रूप से कारगर, हुआ।'[3]

इस प्रकार इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'पर्दे की रानी' मे हमे वेश्यावृत्ति की समस्या के मनोवैज्ञानिक पक्ष का चित्रण मिलता है। निरजना स्वय वेश्या नही है, परन्तु वेश्या-पुत्री होने के कारण उसके चेतन-अवतचेन मन के घात-प्रतिघात उसके जीवन को निष्फल और दुखी बना देते है।

जहाँ तक वेश्या-वृत्ति के लिए समाज के दायित्व का प्रश्न है इस युग के अधिकाँश उपन्यासो मे भी सुधार की ही भावना पाई जाती है। कही वेश्या की विवशता और

वेश्यावृत्ति और समाज का दायित्व

छटपटाहट का चित्रण है तो कही पुरुष समाज के प्रति उसके मन की घृणा तीखे व्यग्य के रूप मे व्यक्त हुई है। किन्तु इस युग के उपन्यासो मे प्रेमचन्द-युग के उपन्यासो जैसा आदर्शवादी समाधान नही मिलता।

आधुनिक युग की वेश्या अपनी पतितावस्था के प्रति सजग होती जाती है। उसकी स्थिति क्यो ऐसी है, उसके मूल मे क्या कारण है, वह इसको भी समझने लगी है। रागेय राघव के 'घरौंदे' की नादानी अपनी स्थिति का परिचय देती हुई कहती है : 'बरसात मे गन्दी गलियो मे बहते पानी को एक गड्ढे मे जमा करना जरूरी हो जाता है, वैसे ही तुमने

---

१. 'चूंकि नृत्यशाला का सारा वातावरण मेरी सामाजिक स्थिति के बिलकुल अनुकूल था,इसलिए मैं वहाँ अपने को जैसे पानी में एक बहुत बड़ी जात की मछली की तरह मालूम कर रही थी।'
इलाचन्द्र जोशी : 'पर्दे की रानी' : (पृष्ठ १८२)

२. वही : (पृष्ठ १८८)

३. वही : (पृष्ठ २१५)

मुझे बना रखा है, तुमने मच्छरो की भन-भन सुनकर पैर दूर-ही-दूर रखा।'[१] जिस पुरुष की काम वृत्ति को तृप्त करने के लिए उसे यह नीच कर्म करना पड़ता है वह तो समाज मे नीच नही माना जाता किन्तु उसको तृप्त करने वाली नारी नीच मानी जाती है। पुरुष के इस अन्याय पर व्यथित होकर नादानी न्याय की माँग करती है 'तुम नदी मे नहाते हो, मगर तुम तो गदे नही होते, उल्टे बहने वाली नदी गदी हो जाती है? क्या न्याय है तुम्हारा? और पाप को दूसरो पर मँढने के लिए शहर भर के गदे नालो को नदी मे लाकर छोडने का प्रयत्न करते हो।'[२] पुरुष की इस स्वार्थ-परता और आत्म-दमन के प्रति व्यग्य करती हुई नादानी और भी करुण हो कर कहती है 'तुम स्त्री को दासी बनाना चाहते हो? हमारी चीख मे तुम्हारा समाधान है, हमारी हँसती सिसक मे तुम्हारी विजय। हम अपराध सहती है, स्वय रो लेती है, इसलिए कि पाप से घृणा करती हुई भी आगे आती है। अपराध स्वीकार करा देने पर भी किन्तु होती है हम ही अधिक अपराधिनी। पुरुष की भूल की भाँति नारी की भूल क्षणिक नही होती'।[३]

यह भूल साधारण पुरुष ही करते हो, ऐसी बात नही है। जो व्यक्ति समाज के नेता हैं, जिनके हाथ मे समाज की बागडोर है, वे भी अपनी वासना की तृप्ति के लिए वेश्या के यहाँ जाने मे नही हिचकते। मन्मथनाथ गुप्त के 'अवसान' की वेश्या मुनिया कहती है . 'उसके पास आता कौन नही था? काग्रेसी, लीगी, वकील, मौलवी, मास्टर, समाज के सभी तरह के लोग।'[४]

पुरुष के आचरण की बिडम्बना का यही अन्त नही हो जाता। वेश्या के यहाँ पहुँचकर भी अनैतिक कार्य करते हुए भी वे उसे अपने जाल मे अधिकाधिक फाँसने के लिए उसकी सहृदयता और सभ्यता का गुण-गान करने लगते है। पुरुष की दुरगी चाल को भाँप कर नरोत्तम नागर के 'दिन के तारे' की वेश्या शान्ति का मन घृणा से भर उठता है। वह कहती है · 'हाँ, पतित भाइयो का उद्धार मै अवश्य करना चाहती हूँ---उन भाइयो का जो अपनी पत्नी की शराफत को छोडकर मेरी शराफत पर मुग्ध होने के लिए यहाँ आते है।'[५]

'त्यागपत्र' मे जैनेन्द्र ने आनुषगिक रूप से वेश्यावृत्ति की समस्या की ओर सकेत किया है। पति के द्वारा निकाल दिये जाने पर मृणाल कोयलेवाले के सग रहने लगती है। मृणाल का यह कार्य वेश्यावृत्ति की ही श्रेणी मे आता है। कोयलेवाला मृणाल के रूप और यौवन पर मोहित होकर उसकी असहाय स्थिति से लाभ उठाता है और मृणाल निराश्रित होने के कारण उसकी इच्छा की शिकार बन जाती है। जब मृणाल का सम्पन्न भतीजा

---

१. रागेय राघव : 'घरौंदे' (पृष्ठ २९३)
२. वही : (पृष्ठ २९४)
३. वही : (पृष्ठ २९५)
४. मन्मथनाथ गुप्त : 'अवसान' (पृष्ठ १७९)
५. नरोत्तम नागर : 'दिन के तारे' (पृष्ठ ३२६)

प्रमोद उसको इस स्थिति से उबारना चाहता है तब मृणाल उसके प्रस्ताव को स्वीकार नही करती। वह पक्की आदर्शवादिनी की भाँति आत्मोद्धार नही, सबका उद्धार चाहती है। कहती है 'इस कोठरी मे मैं न रहूँगी, कोई और रहेगा, ये कोठरियाँ तो आबाद ही रहेगी।'[1] मृणाल के इस उत्तर से प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के विचारो का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। 'सेवासदन' की सुमन अपनी मुक्ति के लिए छटपटाती है और सहारा मिलते ही उस दुनिया को छोड कर 'सेवासदन' की स्थापना करती है। किन्तु मृणाल को अपनी चिन्ता नही है। वह अपनी यत्रणा को मौन स्वीकार देकर सामाजिक 'अन्त करण' को जगाना चाहती है। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के दृष्टिकोणो का यह अन्तर दो युगो का अन्तर है। प्रेमचन्द ने व्यावहारिक आदर्शवाद से काम लिया है, जब कि जैनेन्द्र सैद्धान्तिक आदर्शवाद के आगे व्यक्ति के बलिदान को श्रेयस्कर समझते है।

इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' मे नदिनी के चित्रण के माध्यम से पुरुष-समाज पर तीखा व्यग्य करते हुए यह दिखाया है कि यदि वेश्या अपने निकृष्ट जीवन से छुटकारा पाना चाहे तो भी पुरुष-समाज उसका सहायक होने के बदले उल्टे उसकी स्थिति से नाजायज़ लाभ उठाना चाहता है और उसको उसी स्थिति मे बने रहने देना चाहता है।

नदिनी अपने वेश्या-जीवन से मुक्ति पाने की लालसा के कारण भुजौरिया से विवाह करती है। किन्तु कुछ ही दिनो बाद उसे अनुभव होता है कि भुजौरिया ने उससे विवाह समाज-सुधार के लिए नही वरन् अर्थ-लाभ के उद्देश्य से किया है। वह भुजौरिया के प्रति तीव्र घृणा व्यक्त करती हुई कहती है : 'भुजौरिया से विवाह किया, पर उस ब्रह्मराक्षस ने भरसक यह चेष्टा की कि मैं उस विवाहित स्थिति मे भी गुप्त रूप से उसके परिचित राजा-रईसो के साथ व्यभिचार का सम्बन्ध स्थापित किये रहूँ, और उस उपाय से उसके कभी न भरे जा सकनेवाले पाप के घड़े को सोने की मोहरो से भरती रहूँ। मेरे मन का और मेरी आत्मा का सब स्निग्ध रस सोखकर, मेरा सारा पार्थिव वैभव—मेरी माँ का दिया हुआ और अपना जोडा हुआ रुपया भी उसने हडप लिया।'[2]

भुजौरिया के वास्तविक मन्तव्य को जानकर नन्दिनी उससे भी छुटकारा पाना चाहती है। तभी वह पारसनाथ के सम्पर्क मे आती है। वह उसे सच्चा सहृदय व्यक्ति प्रतीत होता है। पारसनाथ भी भाँति-भाँति के आश्वासन देकर उसको विश्वास दिलाता है।[3] फलस्वरूप नदिनी उसके साथ भाग निकलती है। किन्तु ज्योही पारसनाथ को

---

१. जैनेन्द्र : 'त्यागपत्र' (पृष्ठ ५२)
२. इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' । (पृष्ठ ३०४)
३. 'मेरा विश्वास करो, नंदिनी। मैने चाहे तमाम संसार के साथ विश्वासघात किया हो, या सारे संसार ने मेरे साथ विश्वासघात किया हो, पर तुम्हारे साथ मैं कभी इस जन्म में विश्वासघात नहीं करूंगा।'
वही : (पृष्ठ २९३)

मालूम होता है कि नदिनी पहले वेश्या-वृत्ति करती थी, उसका मन घृणा से भर जाता है। पारसनाथ के इस मनोविश्लेषण के मूल मे लेखक का उद्देश्य यही है कि पुरुष का मन पतित नारी को उबारना नही चाहता, अपितु उसको पतन की ओर ले जाता है। नदिनी अपने अपमानित नारी-हृदय के प्रचड विद्रोह को व्यक्त करती हुई कहती है 'तो क्या अभी तक तुम यह समझे बैठे थे कि समाज और पति के बधन मे बँधी हुई एक भले घर की बहू को फुसलाकर भगाये लिये जा रहे हो? ठीक है, यही बात है। एक कुलीन घराने की विवाहिता स्त्री को भगा कर उसका धर्म नष्ट करने मे तुम जैसे अधम पुरुषो को जो सुख मिलता है वह किसी वेश्या-समाज की लडकी को (फिर चाहे वह विवाहिता ही क्यो न हो) भगाने मे कहाँ मिल सकता है।'[१]

इस प्रकार अपने अनुभवो से नदिनी इसी निष्कर्ष पर पहुँचती है कि वह पतित जीवन से मुक्ति पाने के लिए चाहे कितना भी क्यो न छटपटाये, पुरुष-समाज उसे उबरने नही देगा। अपनी विवशता का ध्यान कर पुरुष-समाज पर व्यग्य करती हुई वह पुन कहती है · 'तुम सब लोग मिल कर जैसे यह षड्यत्र रचे बैठे हो कि मै वेश्या-जीवन से मुक्ति पाने के लिए चाहे कितना ही छटपटाऊँ, लाख प्रयत्न करूँ, पर किसी भी हालत मे मैं उस प्रयास मे सफल न होने पाऊँ, और अन्त मे वेश्या की वेश्या ही बनी रहूँ।'[२] और नन्दिनी को सचमुच पुन वेश्यावृत्ति स्वीकार करनी पडती है।

वेश्यावृत्ति की समस्या और उसका समाधान

अब प्रश्न यह उठता है कि इस समस्या का हल क्या है। अचल, इलाचन्द्र जोशी, श्रीकृष्णदास आदि उपन्यासकारो ने इस ओर सकेत किया है। 'प्रेत और छाया' मे इलाचन्द्र जोशी और 'अग्नि-पथ' मे श्रीकृष्णदास के चित्रण से लगता है कि वे इस समस्या का हल दो उपायो से सोचते है। या तो वेश्या किसी योग्य और त्यागी पुरुष से विवाह कर समाज मे सम्मान पाये, या फिर वह देश-सेवा का सात्विक जीवन व्यतीत करे। नन्दिनी और उसकी बहिन हीरा की परिणति से जोशी जी तथा 'अग्निपथ' मे वेश्या रेखा की परिणति से श्रीकृष्णदास इसी ओर इगित करते जान पडते है।

इसके विपरीत 'अचल' की दृष्टि मे वेश्यावृत्ति का प्रश्न नारी की आर्थिक स्वाधीनता से इतने घनिष्ठ रूप से जुडा हुआ है कि जबतक नारी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर न हो, तबतक उनके मत मे, वेश्यावृत्ति की समस्या का समाधान नही हो सकता। 'चढती धूप' मे वे स्पष्ट कहते है: 'रह गई आर्थिक स्वाधीनता की बात। उसके लिए साम्यवादी व्यवस्था के अतिरिक्त दूसरा चारा नही। अन्य कोई व्यवस्था नारी की आर्थिक दीनता को कायम रक्खेगी। तुमको यह मालूम होगा कि रूस मे साम्यवाद की स्थापना के बाद से वेश्या-प्रथा

---

१. इलाचंद्र जोशी : 'प्रेत और छाया' : (पृष्ठ ३०३.)
२. वही : (पृष्ठ ३०३)

का उन्मूलन हो गया है। मै समझता हूँ, यदि साम्यवाद और कुछ न कर केवल मानवता का इतना बडा कलक धो देता है तो उसका सारा अस्तित्व—उसके लिए सारी कुरबानी और सारा सघर्ष सार्थक है।'[१]

इसमे सदेह नही कि 'अचल' के कथन मे काफी सत्य है। पर एक तो वेश्यावृत्ति का सम्बन्ध आर्थिक स्थिति के अतिरिक्त अन्य विषमताओ से भी है, दूसरे साम्यवाद की स्थापना की दुहाई देकर तात्कालिक प्रयत्नो से मुँह मोड लेना भी उचित नही प्रतीत होता। सच तो यह है कि यह समस्या बडी ही जटिल और बहुमुखी समस्या है, और उसका समाधान पाने के लिए अनेक स्तरो और अनेक क्षेत्रो मे एक साथ प्रयत्न करना आवश्यक है।

शिक्षा-प्रसार के कारण जहाँ वेश्यावृत्ति की समस्या कम हो गई है, वही एक और नई समस्या का जन्म भी हुआ है। इसे हम शिक्षित वेश्या की समस्या कह सकते है। इस समस्या की ओर इलाचन्द्र जोशी और 'अज्ञेय' ने

शिक्षित वेश्या

ध्यान दिया है। 'प्रेत और छाया' मे मजरी बी० एस-सी० परीक्षा की तैयारी कर रही थी कि माँ की बीमारी और अर्थाभाव के कारण वह होटल मे अपने रूप के प्रदर्शन और आगतुको के मनोरजन द्वारा अर्थोपार्जन करने के लिए बाध्य हो जाती है।—'उस लडकी के प्रवेश करते ही सब लोग अत्यन्त उत्सुक दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे।'[२] इश्योरेंस कम्पनी के एजेन्ट मजरी के कधे पर हाथ रख कर बोले '''आप तो कुछ बोलती ही नही ? हम लोगो से आप इस कदर नाराज क्यो है ?' लडकी ने उसका हाथ धीरे से हटाते हुए कहा . 'नही, नही, ऐसा न कीजिए।' उसकी घबराहट इस हद तक पहुँच चुकी थी कि उसके चेहरे से मालूम होता था जैसे वह रो देगी। पर उसके मुख के इस भाव से उपस्थित मडली के दो रसिकजनो का उत्साह भग होने के बजाय और अधिक भडक उठा।. .पर दोनो मित्रों का उत्साह तनिक भी ठडा नही पड रहा था और वह ठौर-कुठौर हाथ फेरते हुए उसे परेशान करने मे एक विचित्र सुख का अनुभव कर रहे थे'।''[३]

इस प्रकार मजरी का चरित्र समाज मे उठने वाली एक नई समस्या के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करता है। फिर भी जोशी जी ने मजरी का जो चित्रण किया है, उसमे अर्थाभाव को कारण-रूप मे स्वीकार कर समस्या को फिर भी उसी स्तर पर रहने दिया है जिस स्तर पर वह पहले से ही थी। परन्तु 'अज्ञेय' ने अपने उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' मे इस नई समस्या को स्पष्टता और प्रखरता दी है। मणिका न तो अर्थाभाव से ग्रस्त है, न उसके जीवन मे ऐसी कोई सामाजिक विवशता है जो उसे वेश्यावृत्ति के लिए बाध्य करे। फिर भी वह अनैतिक यौन-सम्बन्धो मे एक प्रकार का रस लेती है, और युवको को

---

१. अचल : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १५८)
२. इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' (पृष्ठ ९)
३. वही : (पृष्ठ १०)

अपने चारो ओर मँडराते देख कर अपना जीवन सार्थक मानती है। ऐसी पुँश्चली (Flirt) नारी के चित्रण द्वारा 'अज्ञेय' वेश्यावृत्ति के नैतिक पक्ष पर जोर देते जान पडते है।

मणिका यद्यपि एक आनुषगिक चरित्र है, और लेखक ने उसका समावेश केवल शेखर के विकास की दृष्टि से ही किया है, फिर भी वह एक हद तक प्रतिनिधि चरित्र है। वह उस उच्छृंखल और अनैतिक मनोवृत्ति का प्रतिनिधि है, जो पाश्चात्य जीवन के वैभव-विलास की चकाचौध मे अपना विवेक खो बैठी है, और जो पार्थिव भोग को अनावश्यक महत्व देने मे एक प्रकार के मिथ्या गर्व का अनुभव करती है। सभवत लेखक को स्वय इस बात की चेतना नही है कि वह मणिका के द्वारा, भारत या किसी एक ही देश मे नही, वरन् सभी स्थानो मे प्रचलित एक ऐसी प्रवृत्ति का चित्रण कर रहा है जो आधुनिक सभ्यता की एक विषम समस्या है और जिसका सम्बन्ध वेश्यावृत्ति से भी अधिक नैतिक सयम से है। इस अनैतिकता मे मणिका को एक प्रकार का वैशिष्ट्य दीखता है। तभी तो वह शेखर से कहती है "I collect men (मैं तो पुरुषो का सग्रह करती हूँ!) कैसे-कैसे अजीब नमूने होते है—'लेकिन' एकाएक उसका स्वर अब और थकान से भर गया था—'चमडी के नीचे सब एक से! असमय, असस्कृत-लोलुप पशु'[1] यह सुन कर शेखर के मन ने जोडा—'चमडी के नीचे सब एक-से—सब पुरुष, सब स्त्रियाँ—पुरुष और स्त्री, स्त्री और पुरुष' "[2]

स्वच्छन्द प्रेम और अन्तर्जातीय विवाह की समस्या

प्रेमचन्दोत्तर-काल मे अविवाहित नारी के प्रेम की समस्या उतनी गभीर और विवादग्रस्त नही बची थी। नारी को प्रेम का अधिकार स्वीकृत हो चुका था। यही नही, पुरुष के मन मे उस प्रेम को प्राप्त करने की कामना का भी उदय हो चुका था। मनोवैज्ञानिक प्रभाव के कारण अब स्त्री-पुरुष के आकर्षण को स्वाभाविक, नैसर्गिक और वाछनीय माना जाने लगा।[3] उस प्रेम की सीमाएँ और मर्यादाएँ क्या हो, इस पर अवश्य भिन्न-भिन्न उपन्यासकारो का अपना-अपना मत है।

---

१. अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १९)

२. वही : (पृष्ठ १९)

३. (अ) 'दो हृदयों के प्रकृतिगत आकर्षण का निवारण करने की शक्ति इस विश्व में कहीं भी है, इस बात पर मे कदापि विश्वास नहीं कर सकती। वह आकर्षण सदाचार और दुराचार से परे है। इसका अनुभव मै अपने मर्म के अणु-परमाणु में कर रही हूँ।'
इलाचन्द्र जोशी : 'संन्यासी' (पृष्ठ १४४)

(आ) 'शेखर, मैंने सदा तुम्हें प्यार किया है। पाप मैंने कभी नहीं किया।'
'अज्ञेय' : 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग : (पृष्ठ २४२)

प्रेमचन्द-काल मे नारी के प्रेम को आदर्शवाद के कवच से ढँक दिया गया था। त्याग, समर्पण, सेवा आदि के विशेषणो से विभूषित कर नारी के स्वाभाविक प्रेम को यथार्थ स्वातन्त्र्य से दूर रखने की चेष्टा की गई थी। पर आलोच्य काल मे नारी के प्रेम पर ऐसा कोई आरोप नही मिलता। अब यह माना जाने लगा कि पुरुष और स्त्री की वृत्तियाँ समान है। दोनो ही अपनी मूल प्रेरणा से एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते है। यही कारण है कि इस युग मे प्रेम-तत्व के चित्रण के सदर्भ मे नारी की मानसिक कुठाओ का चित्रण हुआ। प्रेम अथवा काम-भाव से उत्पन्न मानसिक कुठाएँ समस्या के रूप मे चित्रित हुई। नारी भी अपनी काम-भावनाओ से प्रेरित होकर उसी प्रकार आकर्षित होती है जिस प्रकार पुरुष। इलाचन्द्र जोशी लिखित 'पर्दे की रानी' (१९४१) की निरजना, 'सन्यासी' (१९४१) की शान्ति और 'प्रेत और छाया' की मजरी, 'मुक्ति पथ' (१९५०) की सुनन्दा, 'अज्ञेय' लिखित 'शेखर एक जीवनी' (१९४४) की शशि; भगवतीप्रसाद वाजपेयी लिखित 'दो बहिने' की लता, 'पहाडी' लिखित 'सराय' की रेखा, रागेय राघव लिखित 'घरौंदे' (१९४६) की लीला, यशपाल लिखित 'दादा कामरेड' की शैल, 'देशद्रोही' की चन्दा; नरोत्तम नागर लिखित 'दिन के तारे' की मद्रासिन आदि अनेक नारियाँ इस बात की पुष्टि करती है। इलाचन्द्र जोशी ने 'पर्दे की रानी' मे निरजना के चरित्र मे इस समस्या एव उससे उत्पन्न मानसिक कुठाओ का चित्रण मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर किया है। निरजना प्रारम्भ से ही इन्द्रमोहन की ओर आकर्षित है किन्तु अपराधी पिता और वेश्या माँ की पुत्री होने के कारण उसके मन मे एक हीन-भावना घर कर जाती है। इस हीन-भावना की प्रतिक्रिया से उसके मन मे अह का जन्म होता है। इस अहभाव के कारण उसका मन इन्द्रमोहन की ओर

(इ) 'यह तो जीवन का स्वाभाविक मार्ग है।'
यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ १११)

(ई) 'नर और नारी का चिरन्तन संबध है। सदैव से स्त्री पुरुष को प्यार करती है और पुरुष स्त्री को देखकर रीझता है।'
अंचल : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १६०)

(उ) 'प्रेम स्नेह जैसे रागात्मक सम्बन्ध वस्तुतः प्राणी मात्र के सहज स्वाभाविक गुण हैं। इनका उद्रेक अकल्याणकर नहीं हो सकता। इनके बिना हमारा जीवन मरुस्थल है, जहाँ हमारे रागी प्राणो को प्यासो दम तोड़ना पड़ेगा। मुहिम पर चलते हुए भी प्यास लगती ही है, और पानी पिया ही जाता है।'
श्रीकृष्णदास : 'क्रान्तिदूत' निवेदन से उद्धृत।

(ऊ) 'क्या विवाह करके ही हम मिल सकते हैं? विवाह ही प्रेम को सार्थकता है? विवाह का मूल्य तो शरीर है। आत्मा का बंधन प्रेम है।'
सर्वदानंद वर्मा : 'प्रश्न' (पृष्ठ २४)

आकर्षित होने पर भी समर्पित नही हो पाता और वह जीवन भर मानसिक कुठाओ से ग्रसित रहती है।

इस काल के कुछ उपन्यासो मे एकागी प्रेम का भी वर्णन मिलता है। यह परोक्ष रूप से नारी के व्यक्तित्व की नई उपलब्धि है। शिक्षित, विकसित नारी अब पुरुष से प्रेम-दान पाना चाहती है, कभी-कभी उसकी माँग भी करती है। जैसे, इलाचन्द्र जोशी लिखित 'मुक्ति पथ' की सुनन्दा, रागेय राघव लिखित 'घरौदे' की लीला, 'पहाडी' लिखित 'सराय' की रेखा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी लिखित 'दो बहने' की लता। समाज-सेवा करने से सुनदा को कर्तव्य-पालन का सतोष भले ही मिलता है, किन्तु उसकी दमित वासनाएँ फिर भी अपनी तृप्ति के लिए उसके अन्तस् मे बैठी उथल-पुथल मचाती रहती है। वह सोचती है कि यदि राजीव उसे स्नेह-दान दे तो वह बडे-से-बडा कार्य करने की शक्ति जुटा सकती है। पर उसे निराश ही होना पडता है। 'घरौदे' की लीला ऐसी शिक्षित युवती है जो भगवती की उपेक्षा और अवहेलना पा कर भी उसके प्रेम की प्यासी रहती है। 'सराय' की रेखा के जीवन की केवल एक चाह है कि वह दिनेश से विवाह कर के गृहस्थी जमा कर सुख-चैन से जीवन व्यतीत करे। किन्तु दिनेश स्पष्ट रूप से इन्कार कर देता है। अतृप्त जीवन के कारण रेखा के चरित्र मे विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती है। 'दो बहने' की लता ज्ञानप्रकाश को प्रेम करती है, पर ज्ञानप्रकाश से उसे प्रतिदान नही मिल पाता जिसके कारण उसका जीवन असतुष्ट रहता है।

नारी के मन मे प्रेम की इस भूख का कुछ उपन्यासो मे ऐसा चित्रण हुआ है जो यथार्थ और स्वाभाविकता से परे भी लगता है, और जो नैतिकता की सीमाओ का भी अतिक्रमण कर जाता है। इन उपन्यासकारो मे यशपाल प्रमुख है, जिन्होने वर्ग-सघर्ष के आर्थिक, राजनैतिक सिद्धान्तो को बिना सोचे-विचारे मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मे भी घटाने का प्रयत्न किया है। यशपाल के 'दादा कामरेड' की शैल अनेक पुरुषो से प्रेम करने मे ही तृप्ति का अनुभव करती है। वह सोचती है कि ऐसा करने से वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर रही है। वह रति-स्वातन्त्र्य की पूर्ण समर्थक है। उसका विचार है कि किसी एक पुरुष के प्रेम मे बँध जाना ऐसा कार्य है जिससे पुरुष की स्वामित्व भावना को ही प्रश्रय मिलता है। नारी की ओर से ऐसे एकनिष्ठ प्रेम को वह पुरुष की सम्पत्ति बन जाने के बराबर समझती है। वह कहती है 'प्रेम द्वारा मै अपने जीवन का विस्तार करना चाहती थी और वह मुझ पर बधन लगा कर मेरे जीवन को अपने लिए सकुचित कर देना चाहता था। देखो, चौदह-पन्द्रह बरस का लडका भी मुझे अपनी सम्पत्ति समझना चाहता था।'[१]

प्रेम की एकनिष्ठ भावना को सम्पत्ति अधिकार की भावना समझना वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त का भ्रमपूर्ण विस्तार है। यशपाल द्वारा नारी के प्रेम को इस दृष्टिकोण से देखने

१. यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ ४५)

के कारण एक आलोचक ने उनकी नारी की तुलना रूमाल से दी है[1] जो सुनने में हास्यास्पद लगने पर भी उचित लगती है। उनके दूसरे उपन्यास 'देशद्रोही' की राज पहले तो अपने पति डा० खन्ना को इतना प्यार करती है कि उनकी मृत्यु की सूचना से ही दुखी हो कर आत्महत्या करना चाहती है। दुख कम हो जाने पर वह बद्रीप्रसाद से विवाह कर लेती है। किन्तु डा० खन्ना की मृत्यु की सूचना गलत सिद्ध होती है और बहुत दिन बाद जब वह विक्षिप्तावस्था मे राज के पास पहुँचता है तो वह उसे अपने घर मे स्थान भी नही देती। उनके अन्य उपन्यास 'मनुष्य के रूप' की सोमा का चित्रण भी ऐसा ही है। वह पहाडिन अपने जीवन मे क्रमश धनसिंह, मनोरमा के भाई, बरकत, बनवारी और सुतलीवाला इन सभी पुरुषो से प्रेम करती है। यह ठीक है कि उसने कभी भी किसी भी पुरुष को धोखा देने के भाव से प्रेम नही किया। आर्थिक परिस्थितियो के कारण ही वह ऐसा करती है, पर नारी के प्रेम का ऐसा चित्रण कर लेखक ने निपट स्वार्थ से प्रेरित ही सिद्ध किया है। उसके मत मे वर्तमान समाज मे प्रेम केवल जीवन का सहायक साधन है।[2] वह एक सौदा-मात्र है। नारी पुरुष का आश्रय पाने के लिए ही प्रेम करती है। देह-विक्रय से ही यह आश्रय उसे सुलभ होता है।

अन्त मे सोमा सफल अभिनेत्री बन जाती है और फिल्म प्रोड्यूसर सुतलीवाला से प्रेम करके जीवन भर उसी के साथ रहने की आकाक्षा करती है। सुरक्षा, विलास और आधुनिकता के इस वातावरण मे वह अपने अतीत को स्वीकारने से इन्कार करती है। जेल से रिहा हो कर लौटे धनसिह को वह न पहचान सकने का स्वॉग भरती है। 'सफलता का नशा उस पर छा गया है। अपना गत जीवन भी उसे खूब याद था। उसकी तुलना मे अपनी क्षमता और सफलता का अनुभव कर उसे वर्तमान से असतोष न था।'[3] जब धनसिह लौट कर उससे मिलता है तो पल भर को उसका मन उसकी ओर आकर्षित होता है किन्तु अपनी आर्थिक सफलता का ध्यान तत्काल ही उसे विव्रत कर देता हैं। धनसिह से मिलने पर वह अपनी पथराई हुई ऑखो से उत्तर देती है . "'आप लोग क्यो मेरे पीछे पडे है ? . . . मैं सोमा नही हूँ . . मै नही हूँ सोमा।' उसकी ऑखे लाल हो गई और दो बूंद ऑसू गालो पर बह गए।"[4]

इस प्रकार सोमा पहले तो आर्थिक कठिनाइयो से मुक्ति पाने के लिए, और बाद मे वैभव-विलास के मोह मे पड कर प्रेम-दान को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाती है।

---

१. 'यशपाल की दृष्टि में तो नारी वह रूमाल है जिससे जितने आदमी अपना मुँह पोंछ सकें, पोंछ सकते है। उससे कालिख छूटेगा ही, लगेगा नहीं।'
त्रिभुवनसिंह : 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' : (पृष्ठ ११३)
२. यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ २८३)
३. वही : (पृष्ठ १८३)
४. वही : (पृष्ठ ३४०)

प्रेम जैसी उदात्त भावना का ऐसा चित्रण मानवीय विवेक के प्रति अविश्वास प्रकट करता है, यद्यपि लेखक उसे बदलती परिस्थितियो मे बदलते व्यवहार की अनिवार्यता के रूप मे ग्रहण करता है।

इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा लिखित 'आखिरी दाँव' (१९५०) की चमेली अपने प्रेम का सौदा करती हुई अनेक पुरुषो के आश्रय मे रहती है। सोमा की भाँति चमेली को भी रूप और यौवन के विनिमय मे पुरुष का आश्रय और आजीविका मिलती है। फिर भी चमेली और सोमा मे यह अन्तर है कि चमेली के लिए आर्थिक सफलता जीवन का एक-मात्र उद्देश्य नही है। वह रामेश्वर को सच्चे मन से प्रेम करती है और उसी के प्रेम का कवच धारण कर वह फिल्मी दुनिया मे जाती है। वहाँ ऐसे अनेक अवसर आते है जो उसे सत्पथ से विचलित करते है किन्तु अपने प्रेम मे दृढ विश्वास के कारण वह गिरती नही और अन्त तक अपने प्रेम के प्रति सच्ची बनी रहती है। रामेश्वर के सम्पर्क मे आने से पहले जो पुरुष उसके जीवन मे आये, उनसे उसे सच्चे प्रेम का प्रतिदान नही मिला, इसीलिए उसे विभिन्न पुरुषो का आश्रय ग्रहण करना पडता है। पर सच्चे प्रेम का प्रतिदान पाकर उसके जीवन की समस्या का समाधान हो जाता है। किन्तु सोमा के जीवन मे ऐसा समाधान नही मिलता। धनसिंह सोमा को सच्चे मन से प्रेम करता है, उसी के कारण वह जेल जाता है, और लम्बी सजा भोगने के बाद जब वह लौट कर आता है तो सर्व प्रथम सोमा से ही मिलने की आकाँक्षा करता है। किन्तु सोमा अपनी बदली हुई परिस्थितियो के कारण उसके साथ रहना नही चाहती और इसीलिए न पहिचानने का अभिनय करती है।

'अश्क' लिखित 'सितारो के खेल' की लता के जीवन मे भी अनेक पुरुष आते है। वह बारी-बारी से उनसे प्रेम करती है। किन्तु वह प्रेम को न तो सौदा समझती है और न उसे जीवन का साधन मानती है। उसके प्रेम मे निष्काम अपनत्व और समर्पण की भावना है। किसी से भी उसको प्रेम का प्रतिदान नही मिल पाता, और वह अत मे मानसिक विकृतियो की शिकार होकर आत्म-हत्या कर लेती है।

इस प्रकार इस काल के उपन्यासो मे नारी-प्रेम के के विभिन्न पहलुओ का चित्रण मिलता है, जिसमे कही-कही अतिरजना अथवा अस्वाभाविकता होने पर भी, अधिकाँश मे यथार्थ विश्लेषण पर बल दिया गया है। पर यह प्रेमचन्द-कालीन प्रेम की भाँति सीधा और सरल नही है। आर्थिक-सामाजिक जीवन की विसगतियो के कारण उसमे जटिलता और उलझन आ गई है, उसकी प्रेरणाओ में स्वार्थ और परिस्थितियो ने भी स्थान ले लिया है, और इसी कारण कभी-कभी प्रेमियो के मिलन द्वारा भी उसका समाधान सभव नही होता। जैसे इलाचन्द्र जोशी लिखित 'सन्यासी' की जयन्ती तथा 'निर्वासित' की नीलिमा, यशपाल के 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा आदि अनेक नारियो का प्रेम-विवाह अशान्ति और असतोष ही लाता है।

तो फिर नारी के प्रेम का लक्ष्य क्या है, और प्रेम मे निराशा से उत्पन्न मानसिक विकृतियो का क्या हल है? इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर इन लेखको के पास नही है।

इनमे से कुछ का मत है कि नारी को प्रेम और विवाह की स्वतन्त्रता मिलने से समस्या का समाधान हो सकता है। इस काल के उपन्यासो मे विवाह-पूर्व आकर्षण से न उबर सकने के कारण नारी की कुण्ठा का जो चित्रण किया गया है उससे भी लेखको के इसी मत की पुष्टि होती है। किन्तु कुछ का यह मत भी परिलक्षित होता है, और इन लेखको मे यशपाल प्रमुख है, कि नारी-प्रेम की यह समस्या सामाजिक जीवन मे परिवर्तन की बडी समस्या का ही एक अग है, जो तबतक नही सुलझ सकती जबतक क्रान्ति द्वारा व्यक्ति का मन नये धरातल पर न पहुँच जाये।

अन्तर्जातीय विवाह

प्रेमतत्व पर अत्यधिक महत्व देने के कारण इस युग के हिन्दी उपन्यासो मे अन्तर्जातीय विवाह की समस्या के समाधान का भी प्रयत्न किया गया है, यद्यपि विवाह मे जाति-धर्म के विचार के प्रति इस युग का लेखक बहुत आस्था नही रखता, और इसीलिए अन्तर्जातीय विवाह प्रेम की समस्या के रूप मे ही आया है, सामाजिक समस्या के रूप मे नही। यह स्थिति प्रेमचन्द-युग की अपेक्षा अधिक विकसित और प्रगतिशील है। उदाहरण के लिए, 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा घर मे अपने विवाह की चर्चा सुनते ही अपने प्रेमी-सुतलीवाला को बुलाकर उससे विवाह कर लेती है। उनका यह विवाह जाति-नियम-सम्मत है अथवा नही, इसका भी पता नही चलता। इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' मे मिसेज खन्ना अपनी पुत्री नीलिमा का विवाह ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिह से करते है।

'अचल' के दूसरे उपन्यास 'नई इमारत' (१९४५) मे अन्तर्जातीय विवाह की समस्या के एक जटिल रूप का चित्रण है। राजपूत कन्या आरती मुसलमान युवक महमूद से विवाह करना चाहती है। पुरानी पीढी के प्रतीक उसके पिता इस विवाह से सहमत नही है किन्तु आरती की भाभी और भैया के रूप मे हमे बदली हुई नई पीढी के दर्शन होते है।[1] वे इस विवाह को अनुचित नही मानते। आरती की भाभी अपने श्वसुर को समझाती हुई कहती है, 'बीबी महमूद को दिलोजान से प्यार करती है। महमूद उन्हे उतनी ही सच्चाई से चाहता है। शादी-ब्याह का उद्देश्य भी यही है। शादी हो गई और दिल न मिला तो जीवन भार हो जायेगा।'[2] नई विचार धारा के अनुसार 'अचल' भी विवाह से अधिक प्रेम को महत्व देते है।[3] नई शिक्षा और महमूद के प्रति प्रेम के कारण आरती के

---

१. 'शादी मेरी होगी। मैं सबसे पूछती फिरूँगी, ऐसा मैने न सोचा था। आपको क्यों एतराज है? भैया और भाभी को तो नही है। वे भी इसी पवित्र उज्ज्वल वंश के है।'
अंचल : 'नई इमारत' (पृष्ठ ९६)

२. वही : (पृष्ठ ९८)

३. 'प्रेम की पूर्ति विवाह से न हुई तो विवाह व्यर्थ है। प्रेम विवाह से बढ़ कर है। जीवन की समस्त योजना से बढ़ कर है।' वही : (पृष्ठ १३२)

चरित्र मे दृढता और स्पष्टवादिता आती है। पिता यदि महमूद से अन्तर्जातीय विवाह करने की अनुमति न दे तो आरती घर छोडकर जाने तक को प्रस्तुत हो जाती है।[1] पुरानी पीढी और नई पीढी का यह सघर्ष स्पष्ट हो जाता है। नई मान्यताओ के सम्मुख पुरानी जर्जरित रूढियो को परास्त होना पडता है। आरती का विवाह महमूद से ही होता है। इसी प्रकार श्री कृष्णदास लिखित 'क्रान्ति दूत' की मुसलमान युवती नसीम हिन्दू युवक विनय से प्रेम करती है तथा 'अग्नि पथ' की ईसाई युवती लुई प्रेम नामक हिन्दू युवक से प्रेम करती है। इन दोनो के ही प्रेम-सम्बन्धो को लेखक ने उज्ज्वल रूप मे चित्रित किया है तथा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया है।

वैवाहिक जीवन की विसगतियाँ

जैसा कि कहा जा चुका है कि आधुनिक काल के वैवाहिक जीवन मे अनेक विसगतियाँ उत्पन्न हो गई है। ये विसगतियाँ दाम्पत्य-जीवन मे इतनी विषमता एव कटुता का समावेश कर देती है कि आज के समाज मे, विशेषकर बुद्धिजीवी समाज मे यह समस्या अत्यन्त विकट रूप धारण कर चुकी है। वैवाहिक जीवन की इन असगतियो के मूल मे विवाह-पूर्व आकर्षण की ग्रथि, विवाहेतर आकर्षण, दाम्पत्य-जीवन की आर्थिक और मनोवैज्ञानिक विषमताये, पुरुष द्वारा नारी का शोषण करने की प्रवृत्ति, पारस्परिक सदेह और विकसित व्यक्तियो की टकराहट प्रमुख कारण है। इस युग के उपन्यासकारो ने इन सभी कारणो पर विचार किया है, पर इनमे से कुछ पर विशेष बल दिया है।

पूर्वाकर्षण की ग्रंथि

प्रेम-विवाह न होने पर भी साधारणत पति-पत्नी के साथ-साथ रहने-सहने से दोनो मे प्रेम-भावना का विकास हो सकता है, और उनका जीवन सुखी भी बन सकता है। पर यदि विवाह के बाद भी उन दोनो मे से किसी के मन मे कोई पूर्व आकर्षण की ग्रन्थि बच रहे तो फिर हृदय का आदान-प्रदान अत्यन्त कठिन हो जाता है, और ऐसी परिस्थिति मे उन दोनो का वैवाहिक जीवन विषमय बन जाता है। पूर्वाकर्षण की ग्रन्थि से उत्पन्न वैवाहिक जीवन की इस असफलता और विषमता का चित्रण इस काल के कई उपन्यासों मे विस्तार से मिलता है। इस समस्या को इतना विस्तार देने मे लेखकों का अभिप्राय सम्भवत यही था कि प्रेम-विवाह को सामाजिक समर्थन प्राप्त हो।

जैनेन्द्र लिखित 'त्यागपत्र' (१९३७) की मृणाल, सर्वदानद वर्मा लिखित 'प्रश्न'

---

१. 'लेकिन शादी मै आई० पी० क्या गवर्नर से भी नहीं करूँगी। शादी के मामले मे किसी को दखल देने का अधिकार नहीं है। आपको मुझे मकान पर रखना स्वीकार नहीं तो कह दीजिए। मै जुलाई में चली जाऊँगी। आपके आशीर्वाद से इतना पढ़-लिख गई हूँ कि सौ-पचास रुपये की नौकरी मिल जायेगी।'
वही : (पृष्ठ ९६)

(१९३८) की मालती, अज्ञेय लिखित 'शेखर एक जीवनी' (१९४०-४३) की शशि, सर्वदानन्द वर्मा लिखित 'सस्मरण' (१९४०) की चित्रा, यज्ञदत्त लिखित 'प्रेम समाधि' (१९४०) की मिस क्लैबर्ट, इलाचन्द्र जोशी लिखित 'सन्यासी' (१९४१) की जयन्ती, वृन्दावनलाल वर्मा लिखित 'अचल मेरा कोई' (१९४१) की कुन्ती, रामेश्वर शुक्ल 'अचल' लिखित 'चढती धूप' (१९४५) की ममता, भैरवप्रसाद गुप्त लिखित 'शोले' (१९४७) की शोभी, धर्मवीर भारती लिखित 'गुनाहो का देवता' (१९४९) की सुधा, शिवचन्द्र शर्मा लिखित 'नया आदमी' (१९४९) की रेवा, कचनलता सब्बरवाल लिखित 'त्रिवेणी' (१९५०) की सुरभि आदि अनेक नारियो के चरित्रो मे पूर्वाकर्षण की स्मृति से उत्पन्न वैवाहिक विषमता का चित्रण किया गया है। इन सभी नारियों का मन विवाह के पूर्व ही प्रेम मे बँध चुका है, किन्तु उनका विवाह अपने प्रेमी से न होकर अन्यत्र होता है जिसके कारण उनका दाम्पत्य-जीवन असफल हो जाता है। कुन्ती और जयन्ती तो अपने विवाह के बाद कुछ दिनो तक अपने पूर्व-प्रेम को भूल भी जाती है किन्तु मृणाल, शशि, चित्रा, मिस क्लैबर्ट, ममता, सुधा, शोभी, रेवा और सुरभि विवाह हो जाने पर एक क्षण को भी अपने प्रेमियो को नही भूल पाती। सामाजिक बधनो और नियमो का उल्लघन करने की शक्ति अथवा साहस न होने के कारण यद्यपि वे अपने विवाह का विरोध नही कर पाती तथापि उनका मन सदैव अपने प्रेमी के चरणो पर न्योछावर होता रहता है।

पूर्वाकर्षण की इस समस्या की एक सुन्दर झलक हमे जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' (१९३७) मे मिलती है। वास्तव मे मृणाल के जीवन की मूल समस्या यही है। किशोरावस्था मे ही वह अपनी सहेली शीला के भाई के प्रति आकर्षित हो जाती है और मन-ही-मन अनेक रगीन सपने देखती रहती है। लेखक ने उसकी इस अवस्था का चित्रण अत्यन्त कुशल कलाकार की भाँति किया है। हल्के रगो से केवल सकेत भर किये है जिनसे हमे मृणाल की मनोदशा का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। वह शीला के भाई से मिलने-जुलने के लिए पिटती भी है, छिपाकर पत्र भी भेजती है, और अबोध प्रमोद से बहकी-बहकी बाते करती रहती है। उसका विवाह इस आकर्षण मे एक अप्रत्याशित बाधा की भाँति आता है। इसीलिए विवाह का बधन उसके मन को किसी भी प्रकार स्वीकार नही होता। उसके कोमल किशोर मन को जो भारी धक्का लगता है, वही एक प्रकार से उसके शेष सारे जीवन को नियमो की लीक से हटा देता है। जिस दिन मृणाल का यह अनचाहा विवाह होता है, उसी दिन ऐसा लगता है, मानो उसका मन मर चुका हो, केवल ढाँचा रह गया हो। अपनी विदा-वेला मे वह प्रमोद से कहती है "'प्रमोद' तेरी बुआ तो मर गई। तू अब उसे कभी याद मत करियो।"[1] और सच पूछा जाय तो उसी दिन से हँसमुख, चचल मृणाल मर जाती है, उसके स्थान पर गम्भीर और निस्तेज मृणाल दिखाई देती है। इसके बाद वह जो कुछ करती है, जिस प्रकार परिस्थितियो को स्वीकार करती है उसमे जैसे उसके

१. जैनेन्द्र : 'त्यागपत्र' (पृष्ठ १०)

मन मे सहयोग का कोई प्रश्न नही है। वह निर्विरोध भाव से यत्रवत् सब कुछ सहती चली जाती है।

विवाह के चार दिन बाद ही निष्प्राण-सी होकर जब मृणाल पति-गृह से लौटती है तब भी उसका ध्यान शीला के भाई की ओर ही लगा हुआ है। वह उसके पास पत्र भेजती है, और जब उसका उत्तर उसे मिलता है तो उसे पढते समय वह अपने आप मे खो जाती है। किन्तु आदर्शवादी जैनेन्द्र मृणाल को समाज के प्रति प्रत्यक्ष विरोध का प्रतीक नही बनाना चाहते, इसलिए वे मृणाल से यह पत्र फडवा डालते है। 'खत बडा नही था। लेकिन कई मिनिट तक वह उसे पढती रही। यह भी भूल गई कि प्रमोद भी उनका कोई है और इस वक्त वह पास ही खडा है। काफी देर के बाद उन्होने वहाँ से आँख हटाई, खत को धीमे-धीमे तह किया और मुझको देखा—मानो उस वक्त मुझे वह पहचान नही रही थी। मानो सब भूल गई कि क्या था, क्या है, क्या होगा। फिर उसी बेबूझ भाव से मुझे देखते रहकर मानो यत्र की भाँति उस खत को फाडकर नन्हे-नन्हे टुकडो मे कर दिया। मानो वह कुछ नही कर रही, जाने कौन करा रहा है। हल्के-हल्के चैतन्य उन्हे लौटा। मानो उन्होने अब कुछ-कुछ जगत को पहचाना। थोडी देर बाद बोली 'प्रमोद, अब वहाँ कभी मत जाना। तुझसे जवाब लाने को किसने कहा था ? कभी किसी का कोई खत लाने की जरूरत नही है। समझा।'[१]

इस प्रकार समाज की रीति-नीति का ध्यान आते ही वह अपने मन को समेट लेती है और अन्तर मे घुमडते विद्रोह को दबाकर प्रमोद से सरोष कहती है 'देख प्रमोद, शीला के भाई का कोई पैगाम आया कि मै छत से गिर कर मर जाऊँगी। मुझे उन्होने समझा क्या है ?'[२]

'शेखर एक जीवनी' की शशि बचपन से ही अपने मौसेरे भाई शेखर के प्रति अनुरक्त है। शेखर को अपने मन मे स्थान देने के कारण वह अन्यत्र विवाह भी नही करना चाहती। जब शशि की विधवा माँ विद्यावती सामाजिक रीति के अनुसार उसका विवाह-सम्बन्ध स्थिर कर देती है तो उसे अत्यन्त पीडा होती है। इस समय शेखर, जिसको वह एक मात्र अपना समझती है,[३] जेल मे बन्द है। तो भी शशि इस विकट स्थिति मे उसका क्या कर्त्तव्य है यह जानने के लिए जेल के सीखचो के अन्दर ही शेखर के पास पत्र भेजती है। शेखर विवाह करने या न करने का दायित्व शशि पर ही छोडता है, किन्तु दोनो विकल्पो मे अपने पूर्ण सहयोग का आश्वासन देता है। शेखर शशि का भाई है इसलिए शेखर से विवाह करने का प्रश्न उसके सामने नही है। अब शशि के सामने दो ही विकल्प है या तो विवाह करे या आजीवन अविवाहित रहे। विधवा माँ को समाज की आलो-

---

१. जैनेन्द्र : 'त्याग पत्र' : (पृष्ठ १५)

२. वही : (पृष्ठ १६)

३. 'अगर शेखर बाहर होता तो वह उसकी सहायता माँगती बातचीत को स्थगित

चना से बचाने के लिए शेखर का यह आश्वासन पाकर वह अपने अनिच्छुक अप्रस्तुत मन का कर्त्तव्य की वेदी पर चढ़ा देती है। इसलिए इस विवाह से उसे कोई प्रत्याशा नहीं है। वह शेखर से ही कहती है: 'मैंने ब्याह किया नहीं था, मेरा तो ब्याह हुआ था। ब्याह करके कुछ पाने का प्रश्न मेरे आगे नहीं था, पाना तो—'[1] अतः शेखर के प्रति पूर्वाकर्षण में बँधी शशि वैवाहिक-जीवन में केवल अपने कर्तव्य की पूर्ति करती है। उसमें उसके मन का सहयोग नहीं है। वह तो शेखर को समर्पित है।[2] इसी कारण अपने दाम्पत्य-जीवन में वह खोई-खोई सी, अन्यमनस्क-सी रहती है जिसे उसका पति रामेश्वर पसन्द नहीं करता।[3]

जब शेखर जेल में था—तब बहुधा शशि अपने पति रामेश्वर से शेखर की चर्चा करती थी। ऐसा लगता है, यह चर्चा भी रामेश्वर को अप्रिय लगती थी। इसी चर्चा के कारण शशि के चरित्र के प्रति उसके मन में अनजाने ही एक शंका घर कर लेती है। शेखर के सामने वह शशि के सम्बन्ध में जिस प्रकार व्यंग्यपूर्वक बातें करता है, उससे उसके मन की इस ग्रंथि का पता चलता है। वह शेखर से कहता है, 'यहीं रहिए, मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, और शशि को तो होगी ही। वह तो अक्सर आपकी बात करती रहती है।'[4] रामेश्वर बार-बार 'आपकी बहिन' की चर्चा में 'आप' पर बल देकर व्यंग्य करता पाया जाता है।[5] रामेश्वर के मन का यह संदेह तब और भी स्पष्ट हो जाता है जब शेखर डाक से शशि को कविता और कहानी भेजता है। यह घटना शशि शेखर को इस प्रकार सुनाती है "तुम्हारे पीछे उन्होंने पूछा, 'चिट्ठी किसकी है।' मैंने बता दिया, तो अचम्भे में बोले, 'अभी तो आये थे, चिट्ठी क्यों।' मैंने बताया कि कहानी और कविता भेजी है। बोले, 'अच्छा, तब तो हम भी पढ़ें—' मैंने उन्हें सब कुछ दे दिया, पर उनके वे पन्ने उलटने-पुलटने से मैंने जाना कि उनकी रुचि कविता-कहानी में नहीं है। फिर उन्होंने कहा, 'भई, हम कविता-अविता क्या जानें, यह तो कलाकार लोग ही समझें—' और कागज मुझे लौटा

कराने में, पर वह जेल में है, और, और कोई इस इतनी बड़ी दुनिया में है नहीं जो उसका पक्ष ले।'
'अज्ञेय' : शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ ६९)

१. वही : (पृष्ठ १५५)
२. 'पर तुममें मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ, जो मेरा मैं है।' वही : (पृष्ठ १६६)
३. 'शशि तो पढ़ती रहती। अक्सर पढ़ती ही रहती है। हँसना-बोलना तो इन्हें अच्छा नहीं लगता। हम तो कई काम करते-कर थक जाते हैं, तफरीह जरूरी मालूम होती है।' (वही : (पृष्ठ ११६)
४. वही : (पृष्ठ १०८)
५. (अ) 'आपकी बहन का स्वभाव विचित्र है।' वही : (पृष्ठ १०८)
(आ) 'आपकी बहन तो बड़े परिष्कृत टेस्ट की है।' (पृष्ठ ११९)

दिये। बहुत देर बाद फिर बोले, 'तो ऐसे सकपकाकर भागने की क्या जरूरत थी।"[1] बाद मे जब शेखर 'हमारा समाज' नामक पुस्तक की पाण्डुलिपि शशि को दिखाता है तब फिर रामेश्वर व्यग्य करता है 'नही तो इसे भी डाक से भेज देते'[2] और ठहाका मारकर हँस पडता है।

शेखर के स्वास्थ्य और कुशल-क्षेम के प्रति शशि की यह चिन्ता और यत्न इसीलिए अस्वाभाविक बन जाते है कि उनके पीछे एक ऐसा एकान्त सर्मापित मन है जो अपने गार्हस्थ्य-जीवन मे घुटन और अतृप्ति के कारण खुल नही पाता। इसी कारण ऐसी नन्ही-नन्ही घटनाये रामेश्वर को सदेह करने पर विवश करती है। फिर भी उसका सदेह मूर्त रूप तभी लेता है जब शशि एक दिन रात भर शेखर के कमरे मे रहकर दूसरे दिन सबेरे अपने घर जाती है। भाई के साथ बहिन का रह जाना साधारणत शका की दृष्टि से नही देखा जा सकता पर अब तक उन दोनो की स्थिति का असाधारणत्व शशि के पति और सास पर प्रकट हो चुका है, और वे इतनी प्रकट क्रूरता से शशि को मारकर घर से निकाल देते है जैसे उसके चरित्रहीन होने मे अब उन्हे कोई सदेह ही न रह गया हो।

पति का यह पदाघात ही शशि की मृत्यु का कारण बनता है।

इसी प्रकार 'चढती धूप' मे ममता का मोहन के प्रति आकर्षण है। बचपन मे वे दोनो सहज भाव से एक दूसरे के साथ खेलते थे। ममता मोहन को भैया कहकर पुकारती थी, मोहन ममता को पढाता था। ममता के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को बनाने का श्रेय मोहन को ही था। किशोरावस्था आने पर यह सख्य-भाव प्रणय मे परिणत हो जाता है।

ममता अपने सम्पूर्ण मन से मोहन को चाहती है। उसके मन की एक ही साध है कि अपना जीवन मोहन के चरणो मे व्यतीत कर दे। जब विवाह का प्रश्न उठता है, तो मोहन और ममता दोनो के माँ-बाप उनके विवाह के लिए सहमत और उत्सुक प्रतीत होते है, पर मोहन ममता के इतने गहरे प्रेम के बावजूद यह सम्बन्ध स्वीकार नही करता। उसकी धारणा है कि अपनी निर्धनता के कारण वह ममता को सुखी न रख सकेगा, और उनका विवाह उसके सार्वजनिक कार्य मे बाधा-बधन बन जायेगा। मोहन की ओर से निराश होकर ममता के माँ-बाप उसका विवाह अन्यत्र निश्चित करते है। इस अनचाहे विवाह सम्बन्ध से मुक्ति पाने के लिए ममता पत्र लिखकर मोहन को बुलाती है। मोहन के आने पर वह स्पष्ट रूप से अपने प्रेम की अनन्यता व्यक्त करती हुई कहती है 'मुझे तुम न त्यागो। मै हड्डी हड्डी, त्वचा-त्वचा, मज्जा-मज्जा तक तुम्हारी हूँ।'[3] पर मोहन अपने निश्चय पर अटल है। 'मेरा कल्याण और सुख इसी मे है कि मेरा विवाह तुम्हारे

---

१. अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १२१)
२. वही : (पृष्ठ १२२)
३. अचल : 'चढती धूप' (पृष्ठ १३९)

साथ न हो।'[१] अन्त मे मोहन की आज्ञा को टालने मे असमर्थ होने के कारण और मोहन के कल्याण की भावना को सबसे अधिक महत्व देने के कारण ममता अनचाहे विवाह की वेदी पर अपना बलिदान कर देती है। फिर भी उसके प्राण मोहन को ही पुकारते रहते है और उससे बिछुडकर वह अपने आपको विधवा मानती है। इसी कारण वह न तो अपने विवाह मे कोई उल्लास दिखाती है और न नववधू की भाँति शृगार ही करती है। यहाँ तक कि वह सोहागरात मे पति से ठीक से बोलती भी नही। पूर्वाकर्षण की इस अटूट ग्रन्थि के कारण उसका वैवाहिक-जीवन यातना बन जाता है। जब मोहन को ममता की इस अवस्था का पता चलता है, वह उसे बहुत समझाता-बुझाता है। और सौगध दिला जाता है कि वह पति के प्रति उचित व्यवहार करेगी।[२] फलस्वरूप ममता अपने पति को तन तो समर्पित कर देती है किन्तु उसका मन समर्पित नही हो पाता। वह मोहन से कहती है 'मै सदैव तुम्हारी थी मेरे पूरे अस्तित्व पर—मेरी सम्पूर्ण सत्ता पर तुम्हारा अधिकार है। तुम जो कहोगे वह होगा। आज से मै सारा शरीर उनके आगे फेक दूँगी। पर मन ! मन के विषय मे कोई 'अन्डरटेकिग' देने की सामर्थ मुझमे नही भैया। यही मै विवश हूँ।'[३]

इस अनचाहे समर्पण के कारण उसका पति अत्यधिक असतुष्ट है और वह स्वय ममता से अलग-अलग-सा रहता है। और जब उसे मोहन के प्रति ममता के पूर्वाकर्षण का ज्ञान होता है तो उसकी सारी निराशा क्रोध का रूप ले लेती है। वह फूटकर कहता है 'मैं सब जान गया हूँ। तुम्हारा रात-रात भर उसके साथ घर से गायब रहना, गाँव मे आजादी से यहाँ जाना—वहाँ घूमना, जमना किनारे की सैर और विहार, प्रेम और निर्लज्जता की सारी किलोले मुझे मालूम है। तब तुम कुँआरी थी—उस जीवन की जिम्मेदारी तुम्हारे पिता पर थी। अब तुम विवाहित हो—मै तुम्हारा पति हूँ। तुम मेरे अधिकार मे हो। मैं तुम्हे साफ-साफ बता देना चाहता हूँ—उसका यहाँ आना—तुम्हारा इस तरह मे आजादी से मिलना-जुलना। मेरी गैरहाजिरी मे घण्टो बैठना और चलते समय तुम्हे नोट पकडा देना मुझे कतई पसन्द नही।'[४] 'तुम्हारी धृष्टता और निर्लज्जता की सीमा नही। भैया-भैया-भैया सुनते-सुनते मै जब ऊब गया और पाखड सहन न हुआ तभी मैने सब कहा, वरना न कहता। मुझे पर-पुरुष के साथ अपनी पत्नी का मिलना-जुलना पसन्द

---

१. अंचल : 'चढती धूप' : (पृष्ठ १४२)

२. 'तुम तन और मन दोनों से पति की निष्ठापूर्वक सेवा करोगी सोच लो और कहो हाँ—नही तो मै कानपुर क्या दुनिया छोड दूँगा। तुम जानती हो जब मै तुम्हे छोड सकता हूँ। तो दुनिया भी छोड सकता हूँ। पति के प्रति तुम्हारी सारी घृणा का आज से अन्त हो जाना चाहिए।' वही : (पृष्ठ १८२)

३. वही (पृष्ठ १८३)

४. वही : (पृष्ठ २२१)

नही। वह यहाँ आये शौक से, पर मेरे सामने आये। मेरी अनुपस्थिति मे उसे आने की जरूरत नही।'[1]

यह सुनकर ममता का सर्वांग घृणा से सिहर उठता है। मोहन को वह अपनी आत्मा का सबसे बडा सौंदर्य समझती है, उसके प्रति अपने अनन्य प्रेम को वह पाप नही मानती। इसीलिए वह अपनी भावना को साधारण पत्नी की भाँति छिपाती नही प्रत्युत बडे साहस-पूर्वक पति के सामने स्पष्ट करती हुई कहती है 'आप मुझे धमकियाँ देते है! आपकी दो रोटियो के लिए मै अपनी आत्मा के सबसे बडे सौंदर्य-जीवन के सबसे बडे सत्य—छाती के सबसे बडे अग को काटकर फेक दूँगी? जानते नही—औरत का यह सबसे बडा धन होता है जो आसानी से नही छूटता। जिस महान आत्मा के पैरो की धूलि भी आप नही है न हो सकते है—उस पर कलक लगाने चले है। उस व्यक्ति पर आप आक्षेप करते है—मेरे सामने—मुझे सुना-सुनाकर—जो चाहे तो मुझे कोठे पर बैठाकर वेश्या का पेशा करा सकता है। जिसके इगित पर मै पशु को भी अपना तन दे सकती हूँ। जो मेरे जीवन के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक का स्वामी है।'[2]

इस प्रकार हम देखते है कि ममता का पूर्वाकर्षण अत्यन्त असाधारण घटना है जो विवाहित-जीवन के साधारण नियमो की तुला पर नही तोली जा सकती। वास्तव मे वह अपने आपको विवाहित नही मानती। विवाह भी उसने अपने प्रेमी की आज्ञा से स्वीकार किया है, उसका समर्पण पति के प्रति नहीं, प्रेमी के ही प्रति है। इसी अनन्यता के कारण वह अपने वैवाहिक-जीवन मे नितान्त कर्त्तव्य-च्युत सिद्ध होती है। अपने सदेहशील पति की इच्छा और आज्ञा की उपेक्षा कर वह मोहन की बीमारी का समाचार पाकर उसकी सेवा-सुश्रूषा के लिए उसके पास जाती है और रात भर वही रहती है। मोहन के पूछने पर कहती है 'रानी रूठेगी अपना सोहाग लेगी। साल मे पेट भर रोटी, चार धोती की गुनहगार हूँ। घर से निकाल देगे—तो कही मेहनत मजदूरी कर लूँगी।'[3] और अन्त मे मोहन की मृत्यु हो जाने पर वह मानो विधवा हो जाती है। 'शोक से उन्मत्त ममता ने मस्तक का सिन्दूर पोंछ डाला, हाथ की चूडियाँ एक-एक कर तोडने लगी।'[4] 'मैं विधवा हो गई यह सब अब न पहनूँगी पहनूँगी तो पागल हो जाऊँगी।'[5] और विक्षिप्त-सी होकर अर्थी के पीछे सती होने के लिए दौडती है। सार्वजनिक कार्यकर्त्ता उसे रोक लेते है। वे उसके दाम्पत्य-जीवन की विसगति को समझ जाते है। श्रीमती मेहरा ममता का हाथ पकडकर कहती है 'चलो बहन! तुम मेरे साथ चलो तुम्हे अपने पुराने

---

१. अंचल : 'चढती धूप' : (पृष्ठ २२२)
२. वही : (पृष्ठ २२४)
३. वही : (पृष्ठ २५९)
४. वही : (पृष्ठ ३२१)
५. वही : (पृष्ठ ३२१)

घर जाने की जरूरत नही ''[1] इस प्रकार ममता के पूर्वाकर्षण की ग्रन्थि के कारण उसका दाम्पत्य-जीवन नष्ट हो जाता है।

जहाँ तक पूर्वाकर्षण की इस समस्या का सम्बन्ध है, 'चढती धूप' की ममता और 'गुनाहो का देवता' की सुधा का चरित्र एक ही साँचे मे ढला है। ममता की भाँति सुधा भी विवाह के पूर्व से ही चन्दर के प्रति अत्यधिक अनुरक्त है। चन्दर किसी कारणवश अपना घर छोडकर प्रयाग चला आता है जहाँ उसकी देखरेख सुधा के पिता डा० शुक्ला करते है। डा० शुक्ला चन्दर को पुत्र के समान मानते है। और चन्दर डा० शुक्ला के परिवार को अपना मानता है। इन सम्बन्धों की पृष्ठभूमि मे चन्दर और सुधा के बीच सहज ही स्नेह अकुरित हो जाता है। जब सुधा के विवाह का प्रश्न उठता है तब ममता की भाँति सुधा भी विवाह से बचना चाहती है। विवाह के प्रस्ताव पर वह कहती है, 'मै ब्याह नही करूँगी, कभी नही करूँगी, किसी से नही करूँगी। तुम सभी लोगों ने अगर मिलकर मुझे मार डालने की ठानी है तो मै अभी सिर पटककर मर जाऊँगी।'[2] और मारे तैश के सचमुच सुधा अपना सिर दीवार पर पटक देती है। किन्तु चन्दर मोहन की ही भाति आदर्श की झोक मे उसे समझा-बुझा कर विवाह कर लेने के लिए राजी कर लेता है।[3]

पिता के दुःख का विचारकर और चन्दर की आज्ञा का पालन करने के लिए सुधा विवाह तो स्वीकार कर लेती है किन्तु उसके प्राण फिर भी चन्दर के लिए छटपटाते रहते है। विवाह सस्कार सम्पन्न हो जाने पर आँचल से आँसू पोछती हुई सुधा चन्दर के पास आती है और अपने गले से बेले का हार उतारकर तोड डालती है। यह देखकर चन्दर कहता है 'अरे यह क्या कर रही हो सुधा ?'[4] तो बहुत मुश्किल से रुँधे गले से सुधा कहती है, "जो मेरे मन मे आयेगा। मुझे किसी का डर नही। तुम जो कुछ दड दे चुके हो, उससे बडा दण्ड तो अब भगवान भी नही दे सकेगे।' सुधा ने चन्दर के पाँवो पर फूल रखकर उन्हे चूम लिया और अपनी कलाई मे बँधी हुई एक पुडिया खोलकर उसमे से थोडा-सा सिन्दूर उन फूलो पर छिडककर चन्दर के पाँवो पर सर रखकर चुपचाप रोती रही।'[5] पतिगृह मे वह एक क्षण भी चन्दर को नही भूल पाती। वह निरन्तर सोचती है कि विवाह करके उसने अच्छा नही किया। वह चन्दर को पत्र मे लिखती है 'आज शादी के छै महीने बाद भी मै यही कहूँगी चन्दर, तुमने अच्छा नही किया। मेरी आत्मा सिर्फ तुम्हारे लिए बनी थी, उसके रेशे मे वह तत्व है जो तुम्हारी ही पूजा के लिये थे। तुमने मुझे दूर फेक दिया, लेकिन इस दूरी के अँधेरे मे भी जन्म-जन्मान्तर तक मे भटकती हुई

---

१. अंचल : 'चढ़ती धूप' : (पृष्ठ ३२३)
२. धर्मवीर भारती : 'गुनाहो का देवता' : (पृष्ठ १२८)
३. वही : (पृष्ठ १३१)
४. वही : (पृष्ठ १७२)
५. धर्मवीर भारती : 'गुनाहो का देवता' : (पृष्ठ १७२)

सिर्फ तुम्ही को ढूँढूगी, इतना याद रखना। और इस बार यदि तुम मिल गये तो जिन्दगी की कोई ताकत, कोई आदर्श, कोई सिद्धान्त, कोई प्रवञ्चना मुझे तुमसे अलग नही कर सकेगी।"[1]

विवाह-पूर्व बँधी इस प्रणय-ग्रन्थि के कारण सुधा अपने पति को तन तो अर्पित करती है; किन्तु मन नही दे पाती। सुधा के इस अधूरे समर्पण के कारण उसका पति कैलाश भी उससे सतुष्ट नही रह पाता। वह चन्दर से कहता 'वैसे मेरी शारीरिक प्यास का इन्होने चाहे समर्पण किया, वह भी एक बेमनी से, उससे तन की प्यास भले बुझ जाती हो कपूर, लेकिन मन तो प्यासा ही रहता है भरसक मै इन्हे दुखी नही होने देता, हाँ अक्सर यह दुखी हो जाती है, लेकिन मै क्या करूँ यह मेरी मजबूरी है, वैसे मै इन्हे भरसक सुखी रखने का प्रयास करता हूँ—और ये भी मेरी जायज-नाजायज हर इच्छा के सामने झुक जाती है, लेकिन इनके दिल मे मेरे लिए जगह नही है वह जो एक पत्नी के मन मे होती है। लेकिन खैर, जिन्दगी चलती जा रही है। अब तो जैसे हो निभाना ही है।"[2]

इस प्रकार इस अधूरे समर्पण के कारण एक ओर सुधा का पति असतुष्ट रहता है, दूसरी ओर स्वय सुधा को अत्यधिक मार्मिक वेदना होती है। दाम्पत्य-जीवन की इस विसगति के कारण वह तिल-तिलकर घुलती जाती है। उसे अपने पति को तन देकर भी मन न दे पाने का बहुत क्षोभ है, परन्तु पति को मन देना उसके सामर्थ्य के बाहर है। इसीलिए मन-ही-मन वह अपने आपको धिक्कारती है, दोषी मानती है। यही कारण है कि मृत्यु-शैया पर लेटी सुधा अपने पति से क्षमा माँगने की इच्छा प्रकट करती है। 'उन्हे इसलिए देखना चाहती हूँ कि मरने के पहले उन्हे क्षमा कर दूँ, उनसे क्षमा माँग लूँ। चन्दर तुम तकलीफ का अन्दाजा नही कर सकते।'[1] और अन्त समय वह चन्दर के ही पैरो की धूलि माथे से लगाकर प्राण त्याग देती है।

पूर्वाकर्षण की समस्या के प्रति इस युग के उपन्यासकारो मे हमे आदर्शवादी स्वप्नशील दृष्टिकोण के और भी कई पहलू मिलते है। 'नया आदमी' मे गजानन अपनी पत्नी रेवा की अन्यमनस्कता से बडा कष्ट अनुभव करता है। उसके मत मे प्रेम के अस्तित्व के बिना विवाह-सम्बन्ध निस्सार है। इसीलिए, वह नाना प्रकार से पत्नी को प्रसन्न करने की ओर उसके मन को अपनी ओर ढालने की चेष्टा करता है, पर उसे सफलता नही मिलती। रेवा सदा खोई-खोई सी, दुखी और उदास रहती है। तभी सहसा गजानन को पत्नी के इस असाधारण-व्यवहार का रहस्य मिल जाता है। जब उसे ज्ञात होता है कि रेवा विवाह के पूर्व ही से नरेन्द्र को प्रेम करती है, और आज भी उन दोनो की आसक्ति मे कोई अन्तर नही आया है, तो वह समाज के सारे नियम-बँधनो की अवहेलना करके अपनी पत्नी को नरेन्द्र के हाथ सौपकर सन्यासी हो जाता है। इस आदर्शवादी पलायन के द्वारा लेखक

---

१. धर्मवीर भारती : 'गुनाहों का देवता' . (पृष्ठ २२३-२२४)
२. वही : (पृष्ठ २८५)

ने इस अत्यन्त विकट समस्या का यथार्थ पक्ष निर्बल कर दिया है। नारी मे अविश्वास के माध्यम से निवृत्ति का मार्ग ग्रहण करना मध्ययुगीन आदर्श है जिसका आधुनिक वास्तविकता से कोई मेल नही बैठाया जा सकता।

आदर्शवादी पलायन का एक ओर रूप 'त्रिवेणी' मे है। सुरभि सुधीर के प्रति अनुरक्त है, पर सुधीर का ध्यान धन-वैभव पर टिका है। फलत वह सुरभि के प्रेम को कोई महत्व नही दे पाता। पर सुरभि का मन सुधीर को नही भुला पाता। अपने इस एकागी प्रेम के प्रति अटल रहने के कारण वह अपने वृद्ध पति के साथ निरपेक्ष और नीरस जीवन व्यतीत करती है, ओर अन्त मे सुधीर की रक्षा मे अपने प्राणो का बलिदान कर देती है। इस प्रकार उपन्यासकार फिर समस्या का सीधा सामना करने से कतरा जाता है।

इलाचन्द्र जोशी के 'सन्यासी' की जयन्ती भी इस समस्या का सीधा सामना नही कर पाती और कोई समाधान न पाकर आत्महत्या कर लेती है। तेरह वर्ष की उम्र से ही उसकी आसक्ति कैलाश की ओर थी। यदि कैलाश अपनी परिस्थितियो तथा अपने स्वभाव की दुर्बलता के कारण कतरा न जाता तो जयती उससे विवाह करके अपने को धन्य भी मानती, किन्तु उसका विवाह कैलाश के यहाँ न होकर नदकिशोर से होता है। फिर भी वह साधारण भारतीय नारी की भाँति पति की सच्ची सगिनी बनने का निश्चय कर लेती है। इसीलिए वह अपने गार्हस्थ-जीवन के कर्तव्यो को निभाने के प्रति पूर्ण सचेष्ट है। परन्तु उसके पति नदकिशोर का स्वभाव इतना अधिक शकालु है कि विवाह से पूर्व ही जब उसे मालूम पडता है कि कैलाश और जयन्ती आपस मे परिचित है तभी से उसे जयन्ती के चरित्र पर सन्देह होने लगता है। वह सोचता है जयन्ती के जिस गाने को मैने चोरो की तरह अपने कमरे मे छिपकर सुना उसे वह अवश्य ही कैलाश के सामने निस्सकोच भाव से गा चुकी है। तभी तो कैलाश ने कहा था कि वह गाती भी बहुत अच्छा है।'[1] परिस्थितिवश नदकिशोर के मन का यह सन्देह धीरे-धीरे कम हो जाता है और वह जयन्ती से विवाह कर लेता है।

किन्तु विवाहोपरान्त जब एक दिन अचानक कैलाश उनके घर आकर कुछ दिन के लिए ठहरता है तो नदकिशोर जयन्ती के सहज-मधुर व्यवहार को भी शकालु दृष्टि से देखता है। वह सोचता है 'आज अचानक खास तौर से मेवे ही क्यो निकाले गए?'[2] जयन्ती कैलाश की ओर देखती है तो वह अर्थ निकालता है 'उसमे सकोच था, भय था, कौतूहल था, पर घृणा नही।'[3] जब उसको कैलाश के ही मुँह से यह मालूम पडता है कि वह जयती को बचपन से जानता है और उसने जयती को अग्रेजी पढाई है, गाना सिखाया है, तब

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'सन्यासी' : (पृष्ठ ३१२)
२. वही : (पृष्ठ ३९४)
३. वही : (पृष्ठ ३९२)

तो उसके मन का सदेह बल पकड लेता है। जयती के मुँह मे सुने हुए गानो को कैलाश के मुँह से सुनने पर तथा कैलाश के गाते समय जयती के भाव-परिवर्तन को देखकर वह अन्दर ही अन्दर भभक उठता है। इसी सन्देह के बीच वह एक दिन एकान्त मे कैलाश और जयन्ती को एक दूसरे के अत्यन्त निकट खडे होकर कानाफूसी करते देखता है[1] तब उसके भीतर का दबा तूफान अकस्मात् फूट पडता है और वह कैलाश को धक्का देकर बाहर निकाल देता है।

यह सच है कि जयती कैलाश को प्रेम करती थी किन्तु विवाहोपरान्त वह सदैव कर्तव्यनिष्ठ रहने की चेष्टा करती है। वह कहती भी है 'आपसे विवाह होने पर मैंने अपने को आपके जीवन की सच्ची सगिनी बनाने का निश्चय कर लिया था। इस निश्चय को चरितार्थ करने मे मै कोई बात उठा न रखती और आपके सुख दुख की साक्षी बनकर अपने कर्तव्य का पालन सच्चाई से करती।'[2] किन्तु नदकिशोर की शकालु प्रवृत्ति के कारण उसे पलभर भी चैन नही मिलता। जोशी जी मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार है। अत नन्दकिशोर के इस अह के मूल मे वे उसके ही चरित्र की वर्जनाओ, स्वार्थ प्रवृत्ति और अहभाव को स्थापित पाते है। जयन्ती से विवाह होने के पूर्व स्वय नदकिशोर भी शान्ति से प्रेम करता था, उसके साथ रह भी चुका था। इसलिए वह जयन्ती के आचरण मे भी अपने मन की छिपी भावनाओ का ही प्रतिबिम्ब देखता है। नन्ही-नन्ही-सी नगण्य बाते उसके मन मे सदेह को जन्म देती हैं। उसका अह और पत्नी पर एकाधिपत्य की तीव्र-भावना उसके दाम्पत्य-जीवन मे कटुता का समावेश कर देती है। जयन्ती के जीवन मे घुटन तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। इसी घुटन के बीच जब नदकिशोर सदेह के कारण कैलाश को अपमानित करके घर से निकाल देता है तो एक ओर जयन्ती के आत्मसम्मान को चोट पहुँचती है तो दूसरी ओर उसे मर्मान्तिक पीडा होती है। वह सब ओर से निरुपाय होकर आत्महत्या कर लेती है।

कुछ और उपन्यासकारो ने इस समस्या के चित्रण मे आदर्श और यथार्थ के मिश्रण से काम लिया है। प्रभाव की दृष्टि से ये उपन्यास उतने सफल नही है पर पाठक के मन मे समस्या का महत्व अवश्य बैठ जाता है। 'सस्मरण' की चित्रा रजन की पत्नी होने पर भी अपने पूर्व-सखा केशव के प्रति अनुरक्त है। पुरुष-सुलभ प्रकृति के कारण रजन चित्रा के चरित्र पर सदेह करता है। प्रेम और सदेह के इस दुहरे ताप मे चित्रा तिल-तिल कर मिट जाती है। यही दशा 'प्रेम समाधि' की मिस क्लैबर्ट की होती है जो रौबर्ट से विवाह के बाद भी अपने प्रेमी महेन्द्र को नही भूल पाती। 'शोले' मे शोभी और बरन के प्रेम के बीच जब विवाह की अभेद्य दीवार खडी हो जाती है तो दोनो का ही जीवन त्रास और अतृप्ति की कहानी बन जाता है। शोभी विक्षिप्तावस्था को प्राप्त होती है और बरन केन्द्र-च्युत होकर अपने जीवन को बिखेरकर नष्ट कर देता है।

---

१. इलाचन्द्र जोशी 'संन्यासी' : (पृष्ठ ४०४)

२. वही : (पृष्ठ ४१३)

इस प्रकार हम देखते है कि उपन्यासकारो ने यद्यपि नारी के पूर्वाकर्षण की समस्या को जानने-पहचानने का प्रयत्न किया है, पर उसे मनमाने ढग से प्रस्तुत कर समस्या का सामना करने से और उसका समाधान खोजने से बचना चाहा है। इन उपन्यासो मे शशि के अतिरिक्त और एक भी ऐसी नारी चित्रित नही की गई है जो अपने प्रेम के प्रति सच्ची होने के कारण समाज की लाछना-प्रताडना सहने को तत्पर हो। शिक्षित एव प्रकट रूप से समर्थ नारी का भी सामाजिक रूढियो के प्रति यह साहसहीन समर्पण मन मे करुणा का सचार करता है, पर समस्या का कोई समाधान नही देता। हमे इस प्रकार के चित्रण से इस स्वाभाविक प्रश्न का कोई सतोषजनक उत्तर नही मिलता कि प्रेमानुरक्त नारी अन्यत्र विवाह के प्रति विद्रोह क्यो नही करती।

इस प्रकार विवाह से पूर्व किशोरावस्था मे बँधी प्रेम ग्रथि के कारण नारी को आगे चलकर जो कष्ट भोगना पडता है, वह प्रेम-विवाह को मान्यता प्रदान करने के लिए सबसे बडा तर्क है। प्रेम के सहज आकर्षण और विवाह-बधन के नियमो मे जब-जब टकराहट होती है, नारी का मन और जीवन दानो चकनाचूर हो जाते है।

प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासकारो ने पत्नी के पूर्वाकर्षण की भाति पति के पूर्वाकर्षण की समस्या का चित्रण नही किया है। समाज मे पति के पूर्वाकर्षण की समस्या उतनी प्रबल थी भी नही। इसके कई कारण है। एक तो पुरुष सदा से ही नारी की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र रहा है, इसलिए वह मनोनुकूल नारी से विवाह करने की क्षमता रखता है। दूसरे, यदि किसी कारण यह सभव न भी हो, तो वह अविवाहित रहकर जीवन व्यतीत कर सकता है। विवाह की अनिवार्यता उसके लिए लागू नही होती। इसके अतिरिक्त यह प्रकृतिगत सत्य है कि पुरुष के प्रेम मे नारी के प्रेम जैसी अनन्यता नही होती। जीवन और साहित्य दोनो मे यह देखा जाता है कि पूर्वाकर्षण मे बँधी नारी तो अपने ऊपर आरोपित विवाह के उपरान्त उत्साहहीन और निराश दिन काटकर मृत्यु की घडियाँ गिनती रहती है, पर पुरुष अन्यत्र विवाह करके भी सुख से जीवन बिता लेता है, और उसका पूर्व-प्रेम धीरे धीरे बुझ जाता है। इसलिए पुरुष के पूर्वाकर्षण की समस्या तभी उत्पन्न होती है जब किसी कारण से दम्पति के सुखी जीवन मे पति की पूर्व-प्रेयसी का पुन प्रवेश होता है। इस असाधारण स्थिति मे पति का ध्यान दाम्पत्य-जीवन के कर्तव्यो से हटकर प्रेयसी की ओर उन्मुख हो जाता है और वह धीरे-धीरे अपनी पत्नी की उपेक्षा करने लगता है। यह उपेक्षा किस प्रकार प्रारम्भ होती है, कैसे पत्नी के मन मे पति के चरित्र के प्रति सदेह उत्पन्न होता है तथा कैसे उनका दाम्पत्य-जीवन नीरस और कटु होता जाता है इसका मार्मिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण हमे केवल एक उपन्यास इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' मे मिलता है जहाँ इन्द्रमोहन निरजना के प्रति अपने पूर्वाकर्षण के कारण अपने दाम्पत्य-जीवन को कटु से कटुतर बनाता हुआ अपनी पत्नी शीला की हत्या तक कर डालता है।

पति का पूर्वाकर्षण

किन्तु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के सिद्धान्तो का अनुसरण करने की झोक मे लेखक ने शीला के चरित्र को जो स्वरूप दिया है वह साधारण भारतीय नारी जीवन की यथार्थता से पूरी तरह मेल नही खाता। शीला निरजना के प्रति अपने पति का प्रेमाग्रह देखकर भी निरजना से कोई द्वेष या ईर्ष्या का अनुभव नही करती।[1] उल्टे उसकी प्रसन्नता के लिए बडे से बडा त्याग करने को तैयार हो जाती है[2] यहाँ तक कि पति द्वारा दिया गया विष भी वह सहर्ष स्वीकार कर लेती है।

नारी का विवाहेतर आकर्षण

विवाहेतर आकर्षण की समस्या भी पूर्वाकर्षण की भाँति ही विषम है। प्रेमचन्द युग के उपन्यासो मे अधिकतर पुरुष के ही विवाहेतर आकर्षण का चित्रण मिलता है। किन्तु प्रेमचन्दोत्तर काल मे नारी के व्यक्तित्व के विकास के फलस्वरूप इस युग के उपन्यासकारो ने पति-पत्नी दोनो के मन को भटकते हुए बताया है। विवाहोपरान्त पति-पत्नी के इस भटकाव से दाम्पत्य-जीवन मे अशान्ति और कटुता का समावेश हो जाता है। नारी के विवाहेतर आकर्षण की समस्या का सकेत सर्वप्रथम जैनेन्द्र ने 'सुनीता' (१९३६) मे किया था। किन्तु आदर्शवादी होने के कारण जैनेन्द्र ने इसका घर-बाहर की समस्या के रूप मे रखा और नारी के पर-पुरुष-आकर्षण का पति-परायणता का कवच पहनाकर यथार्थ के आघात से बचा लिया। इसलिए हरिप्रसन्न के प्रति सुनीता का आकर्षण दाम्पत्य-जीवन मे व्याघात नही बनता। 'सुनीता' के अतिरिक्त भगवतीप्रसाद बाजपेयी के 'पिपासा' (१९३७), सर्वदानद वर्मा के 'प्रश्न' (१९३८) और 'नरमेध' (१९४१) और यशपाल के 'देशद्रोही' (१९४३) मे भी नारी के विवाहेतर आकर्षण की समस्या उठाई गई है।

'सुनीता' का सम्बन्ध रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखित 'घरे बाहिरे' से जोडा गया है। दोनो की समस्या एक है जिसको स्वय जैनेन्द्र ने भी स्वीकार किया है।[3] फिर भी दोनो के स्वरूप

---

१. 'पर मै प्रकृति के किस विचित्र नियम से प्रेरित होकर निरजना के प्रति एक मार्मिक मोह का अनुभव करती थी, मै नही जानती।'
इलाचन्द्र जोशी : 'पर्दे की रानी' (पृष्ठ १५८)

२. 'कभी कभी मुझे ऐसा लगता था कि निरंजना की केवल एक अदनी-सी इच्छा पर म आन्तरिक मन से अपना सब कुछ न्योछावर कर सकती हूँ—अपना सारा वैभव, अपनी सम्पूर्ण सामाजिक सत्ता, अपना धर्म, यहाँ तक कि स्वयं अपने पति को उसके अर्पण कर सकती हूँ।'
वही : (पृष्ठ १५९)

३. 'बेशक जो 'घर बाहर' में है वही सुनीता मे भी है. . . वही समस्या है। अनजाने ऐसा नही हो गया है, जान बूझकर ऐसा हुआ है। घर-बाहर की समस्या रवि बाबू की

मे बहुत अन्तर है जिसकी ओर जैनेन्द्र ने सकेत भी किया है। सुनीता की पति-परायणता ही उसे हरिप्रसन्न के प्रति और भी स्नेहशील होने का बल देती है। वह प्रारम्भ से ही अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक है और कही भी गृहिणी धर्म से च्युत नही होती। ऐसा चित्रण रवीन्द्र के 'घरे बाहिरे' मे नही हुआ है।

सुनीता के पति श्रीकान्त के मित्र हरिप्रसन्न के घर मे आने के मुख्यत दो कारण है। पहला यह कि श्रीकान्त और सुनीता का दाम्पत्य-जीवन एक-सा होकर नीरस हो चला था। वहाँ एक अवसाद आ बैठा था और वे दोनो ही यह सोचते थे कि यदि इस घर को बाहर की दुनिया का सम्पर्क मिले तो सम्भवत. नए रस की सृष्टि हो सके। दूसरा कारण यह था कि हरिप्रसन्न श्रीकान्त का घनिष्ठ मित्र होने के कारण श्रीकान्त चाहता था—कि वह अपने मिथ्या अह भाव को तोडकर आत्म-दमन का मार्ग त्यागकर स्वाभाविक जीवन बिताने की ओर प्रवृत्त हो। पहला उद्देश्य तो हरिप्रसन्न के घर मे आने से ही सिद्ध हो जाता है किन्तु दूसरे उद्देश्य साधन के लिए श्रीकान्त अपनी पत्नी सुनीता को निमित्त बनाता है।

हरिप्रसन्न के जीवन को उपयोगी बनाने की ओर प्रवृत्त होने मे सुनीता को तीन दिशाओं से प्रेरणा मिलती है। (१) नर-नारी का सहज आकर्षण (२) आतिथ्य-धर्म, (३) पति-परायणता। इन तीन तत्वो के समावेश से सुनीता का चरित्र गूढ, जटिल और रहस्यात्मक बन गया है और प्राचीन सस्कार ओर नवीन वैयक्तिक प्रवृत्ति के मिश्रण ने चरित्रो मे अस्पष्टता ला दी है।

हरिप्रसन्न का व्यक्तित्व अहभाव से ग्रस्त है। वह नारी जाति से दूर रहने मे विश्वास करता है। ऐसे असाधारण, अव्यावहारिक पुरुष के अह को खडित करने मे सलग्न होना नारी का अव्यक्त आकर्षण ही कहा जायेगा। किन्तु पति-परायणा और एकान्त समर्पिता सुनीता का व्यवहार इतना सयत है कि उसके अचेतन मन का यह भाव प्रकट नही होता। सम्भवत स्वय सुनीता को अपने मन की इस गाँठ का पता नही है। उसके मन का द्वन्द्व इस प्रवृत्ति को कही-कही झलक मात्र देता है। वह मीरा के पति-विमुख जीवन की सगति पर विचार करती हुई अपने मन से प्रश्न करती है "अरे क्यो? अरे क्यो? पति ही तो परम श्रेय है। उन्हे छोड, उनसे विमुख और किसी ओर ही उन्मुख होने पर मीरा लाछिता क्यो नही है?' वह अपने से झगडकर चाहती है,—मीरा को खडिता और लाछिता

समस्या किन्तु तभी तो बनी, जब कि वह जगत की समस्या है। उसे उस रूप में रवि बाबू से पहले भी लिया गया, उन्होंने भी लिया और पीछे भी लोग लेंगे। जग की केन्द्रीय समस्या को व्यक्ति हृदय की परिभाषा मे रखकर जब भी देखा और सुलझाया जायेगा, तब उसका वही रूप रहेगा।'

जैनेन्द्रकुमार : 'आलोचक के प्रति' : 'हंस' (वर्ष ६, अंक ११, अगस्त १९३६, पृष्ठ ९२)

ठहरा दे।"[1] पति-परायणा सुनीता मीरा की विवाहेतर रति को किसी प्रकार उचित नही ठहरा पाती, चाहे उसका आधार प्रभु-भक्ति ही क्यो न हो!

सुनीता मे गृहिणी-धर्म निबाहने की स्वाभाविक क्षमता है। जब हरिप्रसन्न उसे बार-बार 'भाभी' कहकर सबोधन करता है तो वह उस सबोधन को सहज रूप मे स्वीकार करती है। इस सम्बन्ध के माध्यम से वह अपने को हरिप्रसन्न से बडा मानकर उस पर अपना अधिकार और उसके भविष्य के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझती है। श्रीकान्त की भाँति वह भी यह मानती है कि हरिप्रसन्न को सही रास्ते पर लाना, उसके जीवन को स्वाभाविक बनाना उसका कर्तव्य है। इसीलिए वह उससे अपनी छोटी बहिन सत्या को पढाने का बार-बार हठ करती है। सत्या के साथ हरिप्रसन्न का विवाह कर देने की भी कामना उसकी है। हरिप्रसन्न जब उससे सौ रुपये की माँग करता है तो वह कारण जाने बिना देने मे इन्कार करती है। पर इस इन्कार मे औपचारिकता नही, आत्मीयता है। वह कहती है 'हाँ भाभी हूँ, इसी से इन्कार करती हूँ। भिखारी को नही तो कब मुझसे इन्कार किया जा सका है!'[2] उसके दृढ चरित्र को देखकर स्वय हरिप्रसन्न भी चकित है।

यही नही, सुनीता नारी के शाश्वत् कर्तव्य की व्याख्या करती हुई हरिप्रसन्न से कहती है 'जब तक वह (पुरुष) सामने भागता है, हम पीछे-पीछे है। जब वह पीठ की ओर भागना चाहे, तब हम सामने हो आती है। हममे पार होकर वह नही जा सकेगा। स्त्री यह न सहेगी कि पुरुष उसके आगे मार्ग स्पष्ट न करता जाय। पुरुष इस दायित्व से भागना चाहेगा तो पीछे स्त्री मे गिरफ्तार होकर फिर उसे आगे-आगे चलना होगा। पुरुषो के इस अधिकार के आगे स्त्री कृतज्ञ है, किन्तु स्त्री का भी यही अधिकार है कि पुरुष को पदच्युत न होने दे।'[3]

'इन दोनो से भी बडी सुनीता के चरित्र की विशेषता यह है कि वह पति-परायण है। अपने मित्र हरिप्रसन्न की खोज मे श्रीकान्त की विकलता से सुनीता उनकी मैत्री की घनिष्ठता का अनुमान कर लेती है। यही कारण है कि जब हरिप्रसन्न अचानक घर मे आ जाता है तो सुनीता भी उसे इस प्रकार ग्रहण करती है मानो हरिप्रसन्न वर्षो का परिचित हो। पति के अखण्ड विश्वास और सत् प्रेरणा के कारण हरिप्रसन्न के साथ उसका व्यवहार सयत होते हुए भी उन्मुक्त और निर्भय है। किन्तु जब श्रीकान्त सुनीता और हरिप्रसन्न को घर मे अकेला छोडकर लाहौर जाने लगता है और सुनीता के ऊपर हरिप्रसन्न को

---

१. जैनेन्द्र : 'सुनीता' : (पृष्ठ ५८)
   वही : (पृष्ठ १०२)
२ 'यह नारी अपनी बात कहती हुई और औरो की बात अनसुनी करती हुई चली जायगी, ऐसी यह कोन है? सच कौन है?'
   वही : (पृष्ठ १०४)
३. जैनेन्द्र : 'सुनीता' (पृष्ठ ५८)

घर मे ठीक प्रकार रोक रखने का उत्तरदायित्व छोडता है[१] तो सुनीता विचित्र धर्म-सकट मे पड जाती है। पर पुरुष के साथ घर मे अकेले रहने की कल्पना से ही जैसे उसका जी कॉप उठता है। पति उस पर इतना बडा उत्तरदायित्व सौंप रहे है, यह देखकर उसका मन भर उठता है, वह पति के प्रेम मे अपने आपको डुबो देना चाहती है। अकेले रहने पर कठिन स्थिति की कल्पना करके वह अपने दाम्पत्य प्रेम की गाँठ को और अधिक दृढ कर लेना चाहती है, जिससे उसके पैर लडखडाने न लगे। वह दाम्पत्य प्रेम को इन पार्थिव सामीप्य से ऊँचा मानती है। अपने दोनो हाथ पसारकर अपने सम्पूर्ण मन से वह पति से भिक्षा माँगती है कि उसे चाहे जैसी भयकर परिस्थिति से गुजरना पडे, वे उस पर विश्वास सदैव रखे, उसे न टूटने दे। श्रीकान्त के यह कहने पर भी कि 'मै तो तुम्हारा हूँ।' वह सतुष्ट नही होती, वह यह सुनना चाहती है कि पति कहे कि 'तुम मेरी हो।'[२] जब श्रीकान्त ये शब्द कह देता है तो उसे लगता है जैसे उसके पति-धर्म की शृखला अटूट हो गई है, वह सतुष्ट हो जाती है।

इस अनन्य पति-प्रेम के बल पर, पति का विश्वास पाकर ही वह हरिप्रसन्न के साथ अकेली रहना स्वीकार करती है। श्रीकान्त के चले जाने के बाद जब हरिप्रसन्न जाना चाहता है तो वह उसे हर प्रकार से रोकने की चेष्टा करती है। वह उससे तर्क करती है, अपनत्व देती है, किन्तु ऐसा लगता है कि इन सब कार्यो के मूल मे पति की आज्ञा ही उसे यत्रवत् घुमा रही है। श्रीकान्त की आज्ञा का ध्यान उसे बराबर रहता है। श्रीकान्त हरिप्रसन्न को सुमार्ग पर लाने के लिए इतना व्यग्र है कि वह उसके लिए स्वय भी टूटने को प्रस्तुत है। वह एक ओर हरिप्रसन्न से कहता है 'हरि घबडाना नही, हम टूटे तो टूटे पर तुम मत झुकना, निर्मम रहना, बढते रहना, तथा मेरे पीछे अपनी भाभी को जरा भी कम अपनी न समझना'[३] तो दूसरी ओर वह लाहौर से सुनीता को पत्र मे लिखता है 'तुमसे कहता हूँ कि उसकी किसी बात पर बिगडना मत। सुनीता, तुम मुझे जानती हो कि मै तुम्हे गलत नही समझ सकता। तब तुमसे मै चाहता हूँ इन कुछ दिनो के लिए मेरे खयाल को अपने से तुम बिल्कुल दूर कर देना। सच पूछो तो इसी के लिए मै यह अतिरिक्त दिन बिता रहा हूँ।'[४]

श्रीकान्त के इस पत्र मे स्पष्ट सकेत है कि वह हरिप्रसन्न को हर प्रकार से सतुष्ट करे, अपनी इच्छा को हरिप्रसन्न की इच्छा के भरोसे छोड दे। श्रीकान्त बार-बार यह भी आदेश देता रहा है कि हरिप्रसन्न की वैराग्य वृत्ति को यदि सुनीता किसी भी प्रकार कम

---

१. 'अब यह तुम्हारे ऊपर रहा कि हरिप्रसन्न यहीं रहे और ठीक रहे।'
जैनेन्द्र : 'सुनीता' : (पृष्ठ १२१)
२. वही : (पृष्ठ १२२-१२३)
३. वही : (पृष्ठ १२९)
४. वही : (पृष्ठ १३५)

कर सके तो अत्यन्त शुभ होगा। अत श्रीकान्त के इस सकेत से सुनीता की नैतिक मान्यताओ को धक्का लगता है, उसके मन मे द्वन्द्व होने लगता है। उसे बुरा भी लगता है कि पति ही अपनी पत्नी को कैसी बाते लिख रहे है 'मुझे दूर ही मानो, मुझे भूल जाओ। पति के प्रतिनिधि इस पत्र को क्या सुनीता स्वीकार करके उससे दूर ही चली जाय ? उसे भूल ही जाय ?'[१]

इसीलिए जब एक दिन हरिप्रसन्न सुनीता से क्रातिकारी सदस्यो से मिलने के लिए रात मे साथ चलने के लिए कहता है तो सुनीता के मन मे द्विधा होने लगती है। वह घर की चहारदीवारी मे, पति की छत्रछाया के नीचे रहने की अभ्यस्त थी। गृहिणी-सुलभ मर्यादा और परम्परागत सस्कारो के प्रभाव के कारण हरिप्रसन्न के साथ जाने के लिए उसका मन गवाही नही देता। किन्तु पति का प्रबल आदेश उसे असमजस मे डाल देता है। इस विषम स्थिति मे वह मन-ही-मन पति से प्रश्न करती है, 'मुझे बताओ, इस तुम्हारी चिट्ठी का क्या यही आशय मै पाऊँ कि मुझे स्वय कुछ नही कहना है, नियति के बहाव मे बहते ही चलना है, धर्म-अधर्म बिसार देना है।'[२] सम्भवत सुनीता अपने जीवन मे इतनी किकर्तव्यविमूढ कभी नही हुई थी। वह इन क्षणो मे अपने पति का बारबार स्मरण करती है। वह अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को पति के चरणो मे अर्पित कर[३] अपने प्रेम और विश्वास द्वारा उस ऊँचाई तक पहुँचना चाहती है जहाँ वह अपने पति से अभिन्नता का अनुभव कर सके। इस अटूट प्रेम और विश्वास के कारण लोक-दृष्टि मे अनैतिक लगनेवाले उसके कार्य भी नैतिकता की सीमा मे आ जाते है। फिर भी परम्परागत मान्यताओ के विरुद्ध चलने मे भारतीय नारी का मन सहज ही प्रस्तुत नही होता। सुनीता का मन पग-पग पर परिस्थिति से निकल भागना चाहता है। वह कहती है 'सोच देखिए, हरि बाबू। कहेगे, तो चलूँगी। क्यो न चलूँगी ? आपका कहा टालूँगी नही। लेकिन, क्या यह जरूरी है ?'[४] सुनीता इसी मानसिक द्वन्द्व के कारण पहले तो जाने से इन्कार कर देती है किन्तु जब हरिप्रसन्न घर से चले जाने का भाव दिखाता है तो वह विवश हो जाती है। पति की आज्ञा का स्मरण कर वह उससे पति के लौट आने तक रुकने की विनती करती है। फिर वह यत्रवत्-सी कहती है 'आप क्यो जाते है ? आप मत जावे। मै चलूँगी साथ।'[५] यह कहने के बाद ही जैसे घर की दीवारे उसे हाथ पसारकर बाँध लेना चाहती है। वह करुण-भाव

---

१. जैनेन्द्र : 'सुनीता' (पृष्ठ १४४)
२. वही : (पृष्ठ १४४)
३. 'मानो इस समय श्रीकान्त के प्रति वह अपने को सर्वशः बहा देना चाहती है कि बहती-बहती उनके चरणो को पखारने वह उनमे पहुँच जाय।'
वही (पृष्ठ १४४)
४. जैनेन्द्र 'सुनीता' : (पृष्ठ १५२)
५. वही : (पृष्ठ १५५)

से दया की भीख माँगती-सी कहती है लेकिन सवेरे मुझे वापिस आ जाना चाहिए।[१]

हरिप्रसन्न को वचन देने के पश्चात् वह पति के पैरो से लिपट कर रो लेना चाहती है। किन्तु पति वहाँ उपस्थित नही है। अत वह पति के चित्र से ही पुन अटूट विश्वास की भिक्षा माँगती है।

सुनीता का मन रात मे पर-पुरुष के साथ बाहर जाने के लिए अनुमति नही देता इसी कारण वह करुण हो उठती है और उसकी यह अवस्था अन्त तक बनी रहती है। अपने आचरण से जैसे उसने अपना मन बरबस खीचकर अलग कर लिया है। वह हरिप्रसन्न की कामना और पति के आदेश का पालन करने के लिए निष्प्राण व्यक्ति की भाँति जाती है। अपने प्रति हरिप्रसन्न की चरम आसक्ति के क्षणों मे तो वह और भी करुण बनकर सामने आती है। आसक्ति के प्रति उसका समर्पण निरपेक्ष अहिसक समर्पण है। जैनेन्द्र ने इस स्थल पर कलाकार के कौशल का अदभुत परिचय दिया है।

हरिप्रसन्न के क्षणिक आवेग के प्रबल वेग के आगे सुनीता का अकुण्ठित समर्पण जितना अनिवार्य है, उतना उदात्त भी है। वह हरिप्रसन्न को गिरने से रोक देता है, और उसे जैसे हठात् नैतिकता के एक नए स्तर पर ले आता है। सुनीता मे हमे पहली बार नारी के व्यक्तित्व का ऐसा तेजोमय रूप मिलता है जो तन से विवश होने पर भी तनिक भी डिगता नही, वरन् अपनी शक्ति से हरिप्रसन्न को वासना-विमुख करने मे सफल होता है। सुनीता का समर्पण इसीलिए सत्याग्रह और अहिसक प्रतिकार का रूप ले उठता है जिसके आगे हरिप्रसन्न किकर्तव्यविमूढ होकर भाग खडा होता हे।

'सुनीता' उपन्यास की यह परिणति अपने काल मे अनत चर्चा का विषय रही है, पर इसमे सदेह नही कि इस आदर्शवादी चरित्र के माध्यम से जैनेन्द्र ने नारी के नैतिक बल और आस्थामय व्यक्तित्व का जो चित्र उपस्थित किया है वह अद्भुत है। पति के सुख के लिए सर्वस्व त्यागने की शक्ति रखने वाली सुनीता हरिप्रसन्न के चले जाने पर चिन्तित होती है, यह सोचकर कि उसका जाना श्रीकान्त को प्रिय नही लगेगा, और इसी-लिए वह श्रीकान्त को आते ही अपनी सफाई देने की चेष्टा करती है[२] पर श्रीकान्त आदर्श प्रेमी ओर पति की भाँति एक वाक्य से उसकी सारी चिन्ता दूर कर देता है 'बट अवर क्वीन कैन डू नो रॉग।'[३]

इस प्रकार हरिप्रसन्न का प्रवेश ओर उनके प्रति सुनीता का यह उन्मुक्त व्यवहार श्रीकान्त और सुनीता के दाम्पत्य-जीवन मे कटुता या अशान्ति का समावेश नही, अपितु

---

१. जैनेन्द्र : सुनीता (पृष्ठ १५५)

२. 'मै तुमसे सच कहती हूँ कि मैने उनसे यही कहा कि वे जावें नही, रुके। सच कहती हूँ मैने अपने को नही बचाया। जाने वह कहाँ गये है। मुझे डर लगता है..'
जैनेन्द्र 'सुनीता' (पृष्ठ १८७)

३. वही : (पृष्ठ १८७)

नव-रस का सचार करता है। अन्य उपन्यासो मे श्रीकान्त की भाँति ऐसा कोई आदर्शवादी पति नही मिलता—जो बाहरी पुरुष के कुठित व्यक्तित्व को सही मार्ग पर लाने के लिए अपनी पत्नी को माध्यम बनाता हो और उसको उसके प्रति उन्मुक्त और निर्भय आचरण करने का आदेश देता हो। वास्तव मे श्रीकान्त के रुख के कारण 'सुनीता' की मुख्य समस्या का रूप अत्यत विशिष्ट और असाधारण हो गया है। अन्य उपन्यासकारो ने दाम्पत्य-जीवन मे नारी के पर-पुरुष के प्रति आकर्षण की समस्या को सीधे और यथार्थ ढग पर ही चित्रित किया है जो पति के रोष, विरोध और असतोष का कारण बनता है, और वैवाहिक जीवन को बिखेर देता है। भगवतीप्रसाद बाजपेयी ने 'पिपासा' मे, सर्वदानद वर्मा ने 'नरमेध' मे, यशपाल ने 'दादा कामरेड' और 'देश द्रोही' मे किसी-न-किसी प्रसगवश ऐसे पति का चित्रण किया है जो परपुरुष के प्रति पत्नी के आकर्षण को सहन नही कर पाता और अन्त मे उसका दाम्पत्य-जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है या उसमे कटुता का समावेश हो जाता है।

'पिपासा' मे लेखक ने शुरू मे शकुन्तला को अपने दाम्पत्य-जीवन से सुखी और सतुष्ट दिखाया है। किन्तु जब उसके पति नरेन्द्र के मित्र कवि कमलनयन का उसके घर मे आगमन होता है तो कमलनयन के अत्यधिक सवेदनशील मन और अभावमय जीवन को देखकर शकुन्तला के मन मे दया का सचार होता है। धीरे-धीरे यही दया की भावना प्रेम मे परिणत हो जाती है। अपने सहज सस्कारो के कारण प्रारम्भ मे शकुन्तला भी नारी के विवाहेतर आकर्षण को पाप समझती है इसलिए वह अपने इस भाव के प्रति सतर्क रहने की चेष्टा करती है। परन्तु एक दिन पति की अनुपस्थिति मे क्षणिक आवेग के कारण वह कमलनयन के प्रति समर्पण कर बैठती है। तभी अचानक नरेन्द्र घर आता है और उनको इस प्रकार आलिगनबद्ध देखकर चुपचाप लौट जाता है। शकुन्तला को यह ज्ञात नही है कि उसके पति को इस घटना का पता है इसलिए वह आवेश का क्षण बीत जाने पर फिर प्रकृतिस्थ हो जाती है और कमलनयन के स्पर्श की बात को भूल जाने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार पति-पत्नी के बीच मे दुराव और अविश्वास की दीवार खडी हो जाती है। यहाँ तक कि नरेन्द्र एक दिन शकुन्तला से स्पष्ट शब्दो मे पूछता है, 'उसके हृदय मे कमल के लिए अधिक आदर है या मेरे लिए।' शकुन्तला पति के इस प्रश्न का कोई उत्तर नही दे पाती, उल्टे पति के प्रकट सदेह एव अविश्वास से उसे मार्मिक पीडा होती है। अन्त मे इसी असह्य वेदना से बीमार होकर वह मृत्यु की शरण लेती है।

इस प्रकार शकुन्तला जैसी सदाशया पत्नी के जीवन की विडम्बना का चित्रण कर लेखक हमारे समक्ष एक अत्यत गभीर प्रश्न खडा कर देता है। क्या विवाहिता नारी का अन्य पुरुष के प्रति प्रेम पाप है ? क्या पत्नी का यही धर्म है कि वह तन-मन से सदैव पति पर ही न्यौछावर होती रहे ? उसके मन मे किसी अन्य पुरुष के प्रति क्षण भर का भी कोई कोमल भाव न आये ?

आगे चलकर अपने पात्रो के मनोभावो द्वारा वाजपेयी ने इस प्रश्न पर जो प्रकाश

डाला है उससे वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते दीखते हैं कि विवाह भी नर-नारी के मन पर कोई प्रतिबन्ध नही लगा सकता। यही कारण है कि कमलनयन एक ओर शकुन्तला की मृत्यु के लिए विवाह-प्रथा को दोषी ठहराता है जो नारी को पति की जड सम्पत्ति का रूप देना चाहता है और दूसरी ओर पुरुष की उस स्वार्थ भावना की निंदा करता है जो नारी के व्यक्तित्व पर सदा एकाधिपत्य चाहती है। स्वय शकुन्तला भी अपने क्षणिक आवेग को अपना पतन नही मानती। वह कहती है, 'लेकिन क्या मै तुमसे कहूँ कि उसे पतन नही मानती, कभी मान ही नही सकती ? वह तो नारी के तृषित मन का एक क्षणिक आमोद था। उसके बाद मै फिर ज्यो-की-त्यो हो गई थी और तब से आज तक पूर्ववत् हूँ।'[1] मरने के पहले शकुन्तला कमलनयन के नाम जो पत्र लिखकर छोड जाती है, उसमे भी यही विदित होता है कि मरते दम तक वह नारी अपने क्षणिक आवेग को पाप नही मानती, वह पुरुष के ही समान नारी के भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व की माँग करती है। वह लिखती है 'मै जीवन के मृदुल झकोरो मे यदि कभी किसी कवि की अन्तरात्मा के साथ खेलती हूँ तो तुम उसमे कलुष खोजने बैठते हो। नारी की स्वतन्त्र सत्ता के साथ तुम्हारा यह कैसा न्याय है ? क्या ससार मे कोई ऐसा भी पुरुष हो सकता है जिसने किसी एक स्त्री को छोड-कर दूसरी स्त्री की ओर कभी आँख उठाकर न देखा हो।'

इस प्रकार यद्यपि वाजपेयी जी ने विवाह के बाद भी प्रेम-स्वातन्त्र्य का समर्थन किया है तथापि यह प्रश्न बच रहता है कि पति या पत्नी किसी का भी विवाहेतर आकर्षण समाज मे किस प्रकार मान्य हो सकता है ? ऐसे आकर्षण के फलस्वरूप दाम्पत्य-जीवन मे कटुता का समावेश तो अनिवार्य ही है। हाँ, यदि पति-पत्नी सच्चे मन से एक दूसरे के प्रति समर्पित हों, तो क्षणिक आवेश मे की गई भूल को कदाचित् वे क्षमा कर सके। फिर भी उसका समर्थन तो किसी भी नैतिक सिद्धान्त पर नही किया जा सकता।

सर्वदानन्द वर्मा के 'नरमेध' मे जब देवेन्द्र की पत्नी उर्मिला अनूप को प्रेम करती है तो दाम्पत्य-जीवन मे इसी विश्वास ओर प्रेम की कमी के कारण उनका सम्बन्ध टूट जाता है। देवेन्द्र उर्मिला को स्वय स्वतन्त्र कर देता है। वह मानता है कि पत्नी तभी तक पति की निजी सम्पत्ति की भाँति है जब तक वह आर्थिक रूप से उस पर अवलम्बित है। स्वावलम्बिनी नारी कभी पति का अनुशासन स्वीकार नही करेगी। इस दृष्टिकोण के कारण देवेन्द्र यही चाहता है कि उसकी पत्नी उससे अलग रहकर स्वतन्त्र रूप से जीवन यापन करे।

यशपाल के उपन्यासो मे भी इस समस्या के कई पहलू मिलते है। उनके 'दादा काम-रेड' (१९४१) मे एक दिन रात मे अचानक क्रातिकारी हरीश पुलिस से अपने प्राणो की रक्षा के लिए यशोदा के घर मे प्रवेश करता है, ओर उससे शरण माँगता है। यशोदा पति को जगाकर उनकी अनुमति लेना चाहती है, पर हरीश मना कर देता है। यशोदा नारी-

---

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'पिपासा' (पृष्ठ १९४)

सुलभ सहानुभति के कारण उसे रात भर के लिए टिक जाने देती है। बाद मे जब उसके पति अमरनाथ को पता चलता है कि उसकी पत्नी हरीश से पूर्व परिचिता होने पर भी उससे इस बात को छिपाती रही है, तो वह उसके चरित्र पर सदेह करने लगता है। यदि यशोदा पहले ही हरीश के सम्बन्ध मे सब बाते अपने पति को बता देती तो बहुत सम्भव था कि अमरनाथ के मन मे उसके चरित्र के प्रति कोई सदेह न होता। किन्तु हरीश के क्रान्तिकारी होने और उसके पकडे जाने के भय के कारण यशोदा पति से यह सत्य छिपा लेती है। इसी गोपनीयता के कारण पति का सदेह उत्तरोत्तर बढता जाता है। वह मन की अशान्ति से उद्विग्न रहने लगता है और दोनो के सम्बन्धो मे स्पष्ट अन्तर आ जाता है। अपने चरित्र पर पति के सदेह के कारण यदि यशोदा चुप और उदास रहती है, तो पति सोचते है, आठ बरस तक मैने उसका विश्वास किया। आखिर हरीश से क्या उसका एक ही दिन का परिचय है? तब फिर वह उसकी याद मे इतनी उदास क्यो रहती है। मै आठ वर्ष मे कुछ न हुआ और वह एक ही दिन मे इतना हो गया? अपनी ही आँखो के सामने वे अपने-आपको अपमानित और निकृष्ट जीव अनुभव करते। जिस मनुष्य को स्त्री उसे निकम्मा समझे उस मनुष्य का जीवन भी क्या? कभी यशोदा को दण्ड देने की भावना उनके मन मे आती। उसे उसके मायके भेज दे और कभी न बुलाये। या घर मे निकाल दे? दूसरे आदमियो से दोस्ती करने का मजा उसे मिल जाय। . वे सोचते स्त्री स्वभाव से ही चचल होती है। यशोदा तो कभी चचल दिखाई नही दी परन्तु स्त्री का क्या विश्वास? स्त्री पतन और अनाचार का मूल है, उसका कभी विश्वास नही करना चाहिये।[1]

पत्नी के तनिक से असाधारण आचरण मे पति का अविश्वास कैसा विकट रूप धारण कर लेता है, अमरनाथ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। किन्तु आज की शिक्षिता पत्नी पति के चरणो पर गिरकर गिडगिडाकर क्षमा नही माँगती प्रत्युत कभी-कभी उसमे पति के प्रति चुनौती की भावना भी जाग्रत हो जाती है। जब वह पति के कार्यो मे दखल नही देती, कही भी जाने पर उसके चरित्र पर सदेह नही करती तो फिर पति ही उसके चरित्र पर क्यो अविश्वास करता है? वह सोचती है 'सदेह आखिर क्यो? मैंने क्या किया है? किस बात पर सन्देह? घटों छत की ओर देख-देख वह सोचती—यह मेरा अपमान क्यो कर रहे है—मुझ पर ज्यादती क्यो कर रहे है? आखिर मैने किया क्या है? यही न कि एक आदमी से मेरे परिचय का इन्हे पता लगा? मैंने इन्हे यह नही बताया कि मैने काग्रेस मे काम करने की बातचीत की है? . यह आठ बरस से काग्रेस का काम कर रहे है? मैने तो कभी इनसे नही पूछा कि वे क्या और क्यो कर रहे है? इतनी-सी बात पर सन्देह? केवल इसलिए न कि मै स्त्री हूँ। मानो स्त्री 'सदेह' के काम के सिवा और कुछ कर ही नही सकती।'[2]

---

१. यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ १४६)

२. यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ १४४)

यशोदा अपने मन का यही भाव अपने पति के सम्मुख भी प्रकट करती है 'स्त्रियो पर पुरुषों को सदा ही अविश्वास रहता है। यदि आप समझते है। स्त्रियाँ इस विश्वास के योग्य नही कि वे घर के बाहर निकल सके तो घर मे ही उनका क्या विश्वास है यदि आपको मुझ पर विश्वास नही तो कहिए ।'[1] यशोदा की सच्ची बात अमरनाथ की आधिपत्य भावना, अह और सम्मान पर प्रहार करती है। उसकी बात का उसके पास कोई उत्तर नही है। वह अपनी अधिकार भावना का उपयोग कर केवल यही कर सकता है कि यशोदा का बाहर निकलना बन्द कर दे। और यही करता भी है।

यशपाल के दूसरे उपन्यास 'देशद्रोही' (१९४३) मे पति-पत्नी के व्यक्तित्वो मे सामजस्य न होने के कारण यह समस्या पनपती है। चन्दा का दाम्पत्य-जीवन असतोषमय था। यही कारण है कि जब उसे डा० खन्ना से स्नेह और आदर मिलता है तो वह सहज ही उसकी ओर झुकती है। उसे डा० खन्ना के साथ चाय पीने मे माधुर्य की अनुभूति होती है।[2] थोडे ही दिनो मे वह उसके इतने निकट आ जाती है कि उसे अपने लिए डा० खन्ना का 'आप' सम्बोधन भी प्रिय नही लगता,[3] और डा० खन्ना के यह कहने पर कि 'पुरुष से तुम कहलाने की इच्छा का अर्थ है, वह समीप आये।'[4] उसके मन मे किसी प्रकार की विरति उत्पन्न नही होती, उल्टे वह स्वय भी 'तुम' सम्बोधन' करने की चेष्टा करने लगती है। उसके प्रति चन्दा की आत्मीयता और सामीप्य की इच्छा इतनी प्रबल है कि डा० खन्ना उसकी गोद मे सिर रखकर सोने की इच्छा बडी आसानी से व्यक्त कर देता है। विवाहित नारी के सम्मुख किसी पर-पुरुष की यह इच्छा अनुचित ओर अनैतिक है पर चन्दा को डा० खन्ना की इस इच्छा-पूर्ति करने मे कोई अनौचित्य दिखाई नही देता, क्योंकि उसका भ्रम है कि वह डा० खन्ना को उसी प्रकार प्रेम करती है जैसे माँ बच्चे को करती है।

डा० खन्ना के प्रति चन्दा का यह आकर्षण उसके पति राजाराम की दृष्टि से छिपा नही रहता। अपनी अनुपस्थिति मे डा० खन्ना का चन्दा से मिलना उसे अच्छा नही लगता। राजनैतिक तर्क-वितर्को मे भी जब चन्दा डा० खन्ना की बात का समर्थन करती है अथवा उससे हँसकर बोलती है तो उसका सन्देह और भी प्रबल हो उठता है। वह सोचता है 'प्रत्येक बात मे खन्ना का ही पक्ष-समर्थन करने का अर्थ क्या है? खन्ना मेरे बाहर रहने पर आकर यहाँ घटों जाने क्या-क्या बाते किया करता है? और वह भी चाहती है, खन्ना

---

१. यशपाल: 'दादा कामरेड' (पृष्ठ १५६)

२. 'खन्ना के साथ बैठकर पिया जाने वाला चाय का प्रत्येक घूँट कितना मधुर था। इस माधुर्य की अनुभूति जिह्वा से नहीं मस्तिष्क और हृदय में हो रही थी।'
यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ २२८)

३. 'आप मुझे 'आप-आप' क्यो पुकारते हैं? अच्छा नहीं लगता।'
वही : (पृष्ठ २४८)

४. यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ २५०)

ही से हर समय बात करना।'[१] राजाराम के मन मे प्रतिहिंसा की भावना यहाँ तक बढ जाती है कि वह स्पष्ट कह उठता है "खन्ना जी चले गये तो फिर खाने की क्या फिक्र थी ! फिक्र तो उनकी ही करनी चाहिए ! वे बडे आदमी है, कप्तान साहब थे, अब लीडर है, बडे विद्वान् है। हम तो बेवकूफ है ? मरे या जिये ? हमारा क्या है ? वे बगैर खाना खाये चले गये, इस बात का बडा दु ख है। खैर दोपहर मे तो बैठकर साथ-साथ खाया ही था। उसी समय बुला लिया करो। उन्हे ही कर लो। हम तो बेवकूफ है, छोटे आदमी है, कुछ समझते ही नही। हमसे क्या लेना है ? हम अपने कही और जा रहेगे।'

चन्दा गम्भीर हो गई 'क्या कह रहे हो तुम ?'

'उल्टे हमे ही धमकाती हो ? हम ऐसे बच्चे नही कि तिरिया-चरित्तर न समझते हो। जो तुम्हारी राज ने किया, तुम्हारी यमुना ने किया तुम भला उनसे किस बात मे कम हो ? तुम्हे खन्ना पसन्द है, उसका बहुत खयाल है। उसी के जा रहो। ऐसे छिपे-छिपे कबतक चलेगा ?[२]

चन्दा पति की यह प्रतारणा सहन न कर सकी। उसने स्थिर दृष्टि से पति की ओर देखकर पूछा 'तुम्हे मुझ पर सदेह है ? तुम मुझे विश्वासघातिनी समझते हो ? इतने वर्ष मे तुमने यही देखा ?"[३] पति इसका कोई सतोषजनक उत्तर नही दे पाता। घोर अपमान और लाछना से पीडित होकर वह आत्महत्या करने के लिए कमरे की खिडकी से कूद पडती है किंतु राजाराम और डा० खन्ना के उपचार के कारण बच जाती है। इतना होने पर भी चन्दा डा० खन्ना से अपने-आपको दूर नही रखना चाहती। इसका मुख्य आधार यही है कि खन्ना के प्रति अपने व्यवहार को वह अनुचित नही मानती। वह स्वास्थ्य लाभ करने पर डा० खन्ना से कहती है 'पर तुम्हे मेरे सिर की कसम है। अगर मुझे जीते देखना चाहते हो तो हमारे यहाँ आते रहना। न आने का अर्थ होगा, पापी न होते हुए भी पापी बन जाना।'[४] और डा० खन्ना के प्रति उसका सम्बन्ध वैसा ही बना रहता है जिसके कारण उसका दाम्पत्य-जीवन अधिकाधिक कटु होता जाता है। राजाराम की अनुपस्थिति मे क्षत-विक्षत डा० खन्ना को गिरफ्तारी से बचाने के लिए वह अपने खर्च से उसे रानीखेत और रानीखेत से रगोडा ले जाती है। राजाराम के आत्माभिमान को पत्नी की इस स्वच्छन्दता से भारी ठेस पहुँचती है। वह उल्टे पॉव चन्दा को ढूँढने निकल पडता है और जब चन्दा रगोडे के रास्ते मे मिलती है तब उग्र स्वर मे पूछता है, "किससे पूछ के आईं तुम ?' आवेश मे उनका हाथ चल गया। गाल पर जोर से पडे थप्पड से चन्दा पत्थरो पर गिर पडी। .खूब जोर से दो लाते उन्होने भूमि पर गिर पडी चन्दा के

१. यशपाल : 'देशद्रोही' : (पृष्ठ २७१)
२. वही : (पृष्ठ २८४)
३. वही : (पृष्ठ २८५)
४. वही : (पृष्ठ २९५)

मारी। चन्दा अवाक् और निश्चल थी। 'किससे पूछ के आई तू ?' —उन्होंने दो दफे दोहराया—'और चोरी करो। खूब आजादी लो, चार दिन की गैरहाजिरी मे ही समझ लिया, हम मर गये।'"[1] राजाराम घायल खन्ना को वही छोडकर चन्दा को घर ले आता है। इस प्रकार यह प्रसग समाप्त होता है।

चन्दा के चरित्र द्वारा लेखक ने नारी स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। एक बार खन्ना चन्दा से कहता है 'तो ऐसे घर से ही क्या जिसमे तुम्हारा अपना व्यक्तित्व कुछ भी नही ? जिस घर मे तुम्हारी इच्छा का मूल्य नही, वह घर तुम्हारा तो न हुआ ? तुम घर की एक वस्तु मात्र हो।'[2] इसी प्रकार की बात स्वय चन्दा भी सोचती है। इस प्रश्न को लेकर वह कई बार पति से झगड भी चुकी है, परन्तु फिर भी इस समस्या का कोई समाधान नही मिलता कि वैवाहिक जीवन मे पति-पत्नी को निजी आचरण मे कितनी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। विवाह के पश्चात् पति-पत्नी दोनो का यह कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे आपस मे प्रेम-व्यवहार करते हुए सम्मिलित रूप से अपने दाम्पत्य-जीवन को सुखी बनाये। ऐसा न करके यदि उनमे से एक भी अपनी स्वतन्त्र इच्छा का पालन करना चाहता है तो उनके दाम्पत्य-जीवन का विघटन अवश्यभावी है।

पुरुष के विवाहेतर आकर्षण के भी अनेक उदाहरण हमे आधुनिक उपन्यासो मे मिलते है। 'अश्क' के 'गिरती दीवारे' मे चन्दा का पति चेतन नीला के प्रति, यशपाल के 'मनुष्य के रूप' मे बैरिस्टर जगदीशसहाय सोमा के प्रति, भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'निमत्रण' मे रेणु का पति गिरधारी मालती के प्रति, कचनलता सब्बरवाल के 'त्रिवेणी' मे चन्दर का पति सुधीर एक अन्य धनी लडकी के प्रति, सर्वदानद वर्मा के 'सस्मरण' मे प्रतिभा का पति सजनी एक अन्य युवती के प्रति और 'नरमेध' मे सावित्री का पति अनूप अपने मित्र देवेन्द्र की पत्नी उर्मिला के प्रति आकर्षित दिखाये गये है। श्रीनाथसिह के 'उलझन' मे भी तीन बेमेल दम्पतियो का चित्रण है जगतनारायण और मानवती, भ्रमर और चम्पा, सेठ धर्मदास और शीला। सभी अपने विवाह से ऊबकर पराई पत्तल का भात अच्छा समझते है।

पुरुष का विवाहेतर आकर्षण

यद्यपि यह स्वभावगत सत्य है कि पुरुष का प्रेम नारी की अपेक्षा कम एकाग्र होता है, फिर भी वह अपनी पत्नी की उपेक्षा करके अन्य नारी की ओर अधिकतर तभी आकर्षित होता है, जब उसे पत्नी से तीव्र असतोष हो। इस असतोष का कारण पत्नी की शारीरिक कुरूपता भी हो सकती है, और मानसिक असमानता भी।

'गिरती दीवारे' मे चेतन अपनी पत्नी चन्दा को प्यार नही कर पाता, इसके दो ही कारण है। एक तो चन्दा सुन्दर नही है और दूसरे चेतन जिस प्रकार की आधुनिक नारी

---

१. यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ ३७७)
२. वही ; (पृष्ठ ३१६)

को पत्नी के रूप मे चाहता था, चन्दा वैसी न होकर सरल प्रकृति की अबोध नारी है। इसी कारण चेतन विवाह के क्षण से ही अपनी साली नीला की ओर आकर्षित होता है, जो चन्दा से अधिक सुन्दर भी है और सुसस्कृत भी।

'मनुष्य के रूप' मे मनोरमा का भाई बैरिस्टर जगदीशसहाय अपनी पत्नी मिसेज सरोला को प्रेम नही कर सका। इसका भी यही कारण था कि उनकी पत्नी इतनी स्थूल-काया थी कि उसको अपने साथ ले जाने मे जगदीशसहाय लज्जा का अनुभव करते थे। दूसरे वे स्वय तो इग्लैण्ड से शिक्षा प्राप्त करके लौटे थे और पाश्चात्य ढग पर शान-शौकत से रहना चाहते थे परन्तु उनकी पत्नी को यह सब पसन्द न था। वह पुरानी स्त्रियो की ही भाँति रहना चाहती थी। यहाँ तक कि मिसेज सरोला को चाय की जगह दूध पीने की और कुर्सी पर ऊँचे पैर करके बैठने की आदत होने के कारण वह पति के साथ चाय पीना भी पसन्द नही करती थी।[1] दाम्पत्य जीवन से इस असामजस्य के कारण जगदीशसहाय का ध्यान सोमा की ओर आकर्षित होता है, जो उनकी पत्नी से अधिक सुन्दर भी है और सुसस्कृत भी। वे अपनी पत्नी की तुलना सोमा के साथ करते हुए सोचते है, 'किस मुसीबत के साथ मेरी शादी कर दी। उसे साथ लेकर कभी भली सोसायटी मे भी नही जा सकता। स्त्री है या मासपिण्ड। सोमा होती तो वह अच्छी-से-अच्छी महफिल मे रानी जान पडती।'[2] इसी प्रकार 'निमत्रण' मे गिरधारी अपनी पत्नी रेणु को इसीलिए एकान्त प्रेम नही कर पाता कि उसे अपनी पत्नी मे व्यक्तित्व का वह विकास नही मिलता जो मालती मे दीखता है।

पति के इस पर-नारी-आकर्षण से पत्नी का समस्त जीवन दुखी और त्रस्त हो जाता है। इस युग के अधिकाश उपन्यासकारो ने पुरुष के विवाहेतर प्रेमाकर्षण के कारण पत्नी के उत्साहहीन और दुखी जीवन का चित्रण किया है। 'निमत्रण' की रेणु, 'त्रिवेणी' की चन्दर और 'नरमेव' की सावित्री ऐसा ही दुखी जीवन व्यतीत करती है। किन्तु पति से ऐसी घोर उपेक्षा और यत्रणा पाकर भी वे अपने परम्परागत सस्कारो के कारण उससे विमुख नही होती। 'निमत्रण' की रेणु तो पति की प्रसन्नता के लिए बकिमचन्द्र चटर्जी के 'विष वृक्ष' की सूर्य्यमुखी की भाँति पति की प्रेयसी मालती से ही अनुरोध करती है कि वह उसके पति के साथ विवाह कर ले। 'मै हार मानती हूँ। वे कभी स्वीकार नही

---

१. **मिसेज सरोला के लिए साहब के साथ चाय पर बैठना न रुचिकर था, न सुविधाजनक। उन्हे चाय का कसैला स्वाद ही न सुहाता था। कभी जुकाम हो जाने पर दवाई के तौर पर ही वे दूध में चाय डाल पीती थीं। अपने फैलते जाते शरीर मे से खुश्की और कमजोरी का उपाय करने के लिए उन्हें चाय की अपेक्षा दूध और लस्सी ही अधिक पसन्द थी। इसके अतिरिक्त, कुर्सी पर सिमिटकर, लटककर बैठने में उन्हे असुविधा भी होती।'**
यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ १५८)

२. **यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ १८४)**

करेगे किन्तु तुम्हे कितना चाहते है। तुम उनकी दशा देख रही हो, कितने दुर्बल हो गये है . वे तुमसे हँसे, बोले, घूमें! तुम्हारे साथ चाहे जिस तरह रहे मुझे कभी कोई आपत्ति न होगी।'[१]

इसी प्रकार चन्दर, और प्रतिभा इतनी पति-परायणा चित्रित हुई है कि वे पति के पर-स्त्री-प्रेम को देखकर भी कुछ नही कहती। समानता और स्वतन्त्रता के इस युग मे नारी का ऐसा चित्रण कुछ अस्वाभाविक लगता है, तथापि उससे साधारण भारतीय नारी की भावनाओ का परिचय अवश्य मिलता है। केवल 'सस्मरण' की प्रतिभा के चरित्र मे ही लेखक ने आधुनिक नारी के विरोध और विद्रोह का चित्र उपस्थित किया है। पति-गृह मे अपनी शैया पर अन्य युवती को देखकर वह उसी क्षण अपने माथे का सिन्दूर अपने कामुक पति के पैरों से जबरदस्ती पोछ देती है।

इस प्रकार प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासों मे पुरुष के विवाहेतर प्रेमाकर्षण के कारण पत्नी की दो प्रतिक्रियाये दिखाई गई है। वह या तो दुखी और हताश होकर भी पति के प्रति समर्पित रहती है या साहसपूर्वक स्वय पति के रास्ते से हटकर अपने आत्म-सम्मान का परिचय देती है। दोनो ही अवस्थाओ मे दाम्पत्य-जीवन का सुख नष्ट हो जाता है।

वास्तव मे पुरुष के विवाहेतर आकर्षण की समस्या का एक-मात्र हल यही है कि पत्नी चेष्टापूर्वक पति के समान अपने व्यक्तित्व का विकास करे और पति उसके इस विकास मे सहायता करे। दो विकसित व्यक्तित्वो का प्रेम ही स्थायी और सुखद होता है। किन्तु समस्या के इस पहलू पर इस युग के किसी लेखक का ध्यान नही गया है। केवल 'अश्क' ने अपने उपन्यास 'गिरती दीवारे' मे इसकी एक झलक दी है। चेतन अपनी पत्नी चन्दा के अशिक्षित, अविकसित व्यक्तित्व से असतुष्ट है इसलिए वह सहज ही नीला के प्रति आकर्षित होता है। किन्तु वह यह भी समझता है कि पत्नी के अविकसित व्यक्तित्व से असतुष्ट होकर पर-नारी के प्रति झुकने से समस्या का हल नही होगा। वरन् उसका सही हल यही है कि पत्नी को विकास करने मे सहायता दी जाय। इसीलिए वह चन्दा को पढाना शुरू करता है।

आधुनिक समाज मे शिक्षित और समर्थ नारी भी पुरुष द्वारा किस प्रकार शोषित होती है, तथा उसके फलस्वरूप उसकी मानसिक स्थिति कैसी हो जाती है इस काल के उपन्यासों मे इसका भी यथेष्ट चित्रण हुआ है।

पुरुष द्वारा नारी का शोषण

इस शोषण का मुख्य कारण यही है कि पुरुष अब भी अहकार और प्रभुत्व की अपनी परम्परागत प्रवृत्ति से मुक्त नही हो पाया है। साथ ही नारी नवीन विचारो की दीक्षा लेकर भी अपने प्राचीन सस्कारो से मुक्त नही हो पाई है।

---

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'निमंत्रण' (पृष्ठ ३०५)

सर्वप्रथम जैनेन्द्र ने 'कल्याणी' (१९४०) मे इस समस्या का चित्रण किया है। कल्याणी का पति डा० असरानी अपने मन को आधुनिक बनाये बिना अपनी पत्नी कल्याणी को आधुनिक बनाना चाहता है। वह इस बात का तो इच्छुक है कि उसकी पत्नी शिक्षिता हो, धनोपार्जन करे, फैशन से रहे किन्तु वह उसके व्यक्तित्व पर, उसके शील-विवेक पर विश्वास नही कर पाता। यही आज के पुरुष-समाज की समस्या है। आज का पुरुष प्रत्यक्ष मे आधुनिक है, पर नारी के प्रति उसकी भावना मे परम्परागत सस्कार वर्तमान है।

पुरुष द्वारा नारी के शोषण के मूल मे नारी के सस्कारो का भी हाथ है। उसके सस्कार उसे प्राचीन आदर्शों की ओर ले जाते है और वह बहुत-कुछ मौन रूप से स्वीकार भी कर लेती है, यद्यपि नवीन चेतना उसे स्वतन्त्रता की ओर प्रेरित करती रहती है। नर और नारी के इस द्वन्द्व के कारण आज के जीवन मे घोर असामजस्य दिखाई देता है। यही असामजस्य कल्याणी के जीवन मे है जिसके कारण वह तिल-तिल कर घुल-घुलकर मरती है। कल्याणी की समस्या आधुनिक युग की जटिलता का मार्मिक चित्र है।

कल्याणी के सम्मुख एक ओर विलायती ठाट-बाट, पाश्चात्य शिक्षा-सस्कृति, नारी स्वातन्त्र्य एव उसकी आर्थिक समस्याएँ है तो दूसरी ओर भारतीय गार्हस्थ्य के प्राचीन आदर्श। इन दोनो मे से वह किसी एक को अपनाना चाहती है। किन्तु उसके जीवन मे यह सम्भव नही हो पाता जिसके कारण उसका जीवन अशान्तिपूर्ण बन जाता है। वह विलायत से डाक्टरी का अध्ययन करके लौटी है किन्तु उसे अनुभव होता है कि उसके पति सतुष्ट नही है। इसलिए वह अपने पति डा० असरानी से कहती है 'मै आपके मन की गृहलक्ष्मी बनकर स्वय भी रहना चाहती हूँ। पर वह तभी रह सकती हूँ जब डाक्टरनी न रहूँ। डाक्टर होकर अन्त पुर की शोभा मुझसे बहुत न बढेगी। उस हालत मे हर किसी के सामने मुँह उघाडे मिलना और बोलना होता है दोनो मे से कोई एक मुझे चुनकर दे दो। पातिव्रत्य या डाक्टरी। मैं सेवा मे परायण हो जाऊँ, या डाक्टर की कमाई कर के दूँ। दोनो साथ होना कठिन है। पैर दो नावों पर रहेगे तो हालत डगमग रहेगी और जो मेरे ही चुनने की बात हो तो मैं गृहिणी हो रहूँगी, डाक्टर नही बनना चाहती।'[१]

इस प्रकार कल्याणी स्वय गृह-कार्य को ही चुनती है। पर कुछ दिनो बाद वह अनुभव करती है कि उनके दवाखाने की स्थिति बहुत गिर गई है। पति भी उसके गृहदेवी बनने से प्रसन्न नही है। वे चाहते है कि वह डाक्टरी का कार्य पुन आरम्भ कर दे। अत वह फिर डाक्टरी मे जुट जाती है और धनोपार्जन करती है। किन्तु इस स्थिति मे भी डा० असरानी सतुष्ट नही हो पाते। वे अपनी पद-प्रतिष्ठा और अर्थ-लाभ के लिए अपनी पत्नी के सहयोग की अपेक्षा तो करते है किन्तु उसे तनिक भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नही देना चाहते। आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने पर भी पत्नी को पति की इच्छाओ का दास बनना

---

१. जैनेन्द्र : 'कल्याणी' (पृष्ठ ४७-४८)

पडता है। जो नारी शिक्षित है, आर्थिक रूप से स्वतन्त्र है, उसकी आत्मा पुरुष की इस प्रभुत्व-कामना को स्वीकार नही कर पाती, चाहे वह सस्कारवश उसके विरोध मे कुछ कह न सके। कल्याणी की यही मूल समस्या है।

कल्याणी पति की इच्छानुसार सारे कार्य करती है। वह डाक्टरी करती है, पति की प्रसन्नता के लिए अपनी इच्छा के विरुद्ध प्रीमियर के स्वागत की तैयारी करती है, पति से पिटने पर भी पति की अवहेलना नही करती, उल्टे 'पति उसे बहुत चाहते है' कहकर उनकी प्रशसा ही करती रहती है। किन्तु स्वार्थ मे अन्धे डा० असरानी के मन मे अपनी पत्नी के प्रति बराबर सदेह बना रहता है। पति की इच्छा का विरोध करना कल्याणी की प्रवृत्ति नही है और न कदाचित् उसमे इसकी शक्ति ही है। वह समर्पण को ही नारी-जीवन की सिद्धि मानती है। फिर भी उसके त्रस्त मन की छिपी वेदना कही-न-कही झलक ही जाती है। बहुधा दाम्पत्य-जीवन की विसगति के लिए समाज पत्नी को ही दोषी ठहराता है। इस प्रकार का अपवाद सुनकर कल्याणी का मन व्यग्य कर ही उठता है, 'स्त्री निर्दोष हो सकती है? पहला दोष तो यही है कि वह स्त्री है।'[1]

ऐसी स्थिति मे कल्याणी का अतृप्त जीवन पुरुष के प्रति घृणा और प्रेम दोनो भावो का सृजन करता है। वह राय साहब, भटनागर, प्रीमियर, देवलालीकर, वकील सभी के प्रति आकर्षित होती जान पडती है किन्तु किसी से भी उसे वह मुक्त प्रतिदान नही मिलता जिसको पाकर वह उबर सकती। और क्योकि उसमे इतनी क्षमता है कि वह अपने पति की स्वार्थ-भावना और प्रेम-प्रदर्शन के मिथ्या आडम्बर की वास्तविकता को पहचान सके, अत उनको भी वह अपना मन नही दे पाती। पुरुष-वर्ग की इस स्वार्थ-लोलुपता के कारण उसके मन मे पुरुष जाति के प्रति एक घृणा का भाव भर जाता है।[2] यद्यपि घृणा का यह भाव अन्तर्धारा की भाँति उसके मन मे सदा वर्तमान है, फिर भी उसमे पुरुष के प्रति स्वाभाविक आकर्षण भी है ही। बुद्धिवती होने के कारण वह इसे स्वीकारने मे भी नही हिचकती।[3] घृणा और आकर्षण की ये दो विरोधी धाराएँ उसके जीवन को झझालोडित कर देती है।

कल्याणी और डा० असरानी के दाम्पत्य-जीवन मे सामजस्य नही है इसका एक कारण दोनो मे अहभाव की प्रबलता भी है। डा० असरानी सोचते है कि उन्होने कल्याणी

---

१. जनेन्द्र : 'कल्याणी' (पृष्ठ २३-२४)

२. 'एक वह है जो बड़ी हिम्मत दिखाकर मुझे छोडकर चले गये हैं। एक ये है जिन्हे मैं पक्का जानती हूँ कि इन्होंने स्त्री की हत्या की है। एक आप है जो किसी को कुछ सहारा नहीं देते।' वही : (पृष्ठ १४१)

३. अपने सम्बन्ध में अफ़वाहो को सुनकर कल्याणी कहती है :

'सुन पड़ते हैं न ? . . . मै ही नही, तब कौन कह सकता है कि वे सब ग़लत है। फावडा बनाने के लिए भी सुई तो चाहिए ही। बेबात भला कोई बात चलती है।' वही : (पृष्ठ २०)

से विवाह करके उसका उद्धार किया है, इसलिए अपने स्वार्थ-साधन के निमित्त वे कल्याणी से चाहे जो कुछ करवा सकते है। पर कल्याणी का मन इसे स्वीकार नही कर पाता। अह के कारण दोनो मे से कोई भी अपना मन समर्पित नही कर पाता। व्यावहारिक जीवन मे कल्याणी अपने पति की प्रसन्नता के लिए सब कुछ करती है। वह कहती है 'मेरा ध्यान उनसे दूर नही।'[1] यदि उसके करने मे कुछ कमी है तो वह उसको भी जानना चाहती है 'कोई मुझे बताये कि मै अपने को कहाँ बचाती हूँ।'[2] पति चाहे तो वह डाक्टरी करके उनके पास पैसो का स्तूप खडा कर दे, या चाहे तो परम्परानुकूल गृहिणी की भाँति अन्त पुर की शोभा बढाये। पर यह सब वह केवल कर्तव्य-भावना से ही करती है। उसमे उसे सच्चा आनन्द नही मिलता। इसी लिए वह जैसे लाचारी की स्थिति मे यत्रवत् सारे कार्य करती है। आन्तरिक ऐक्य के अभाव मे डा० असरानी की इच्छाएँ कल्याणी की इच्छाएँ नही बन पाती। कल्याणी के मन का कुछ भाग अवश्य असतुष्ट रह जाता है।[3] दोनो के बीच मे जो मिथ्या अहकार आ गया है उसी के कारण उनके जीवन मे इतना द्वन्द्व है, बेचैनी है। उनका अन्त करण एक दूसरे की सचाई पर विश्वास नही कर पाता। इसीसे उनमे प्रेम का अभाव रहता है। 'प्रेम का दूसरा नाम है विश्वास।'[4] कल्याणी किसी से भी एकान्त निश्छल प्रेम न पाकर अकेलेपन का अनुभव करती है। अकेला प्राणी कैसे जिए ?

हारकर वह अपने अवचेतन की अतृप्त कामना को भगवद्भक्ति की ओर प्रवृत्त कर देती है। किन्तु डा० असरानी जब उसके इस कार्य की भी आलोचना करते है तो उसके सयम का बाँध टूट जाता है। 'तुम साफ-साफ कह क्यो नही देते कि तुम क्या चाहते हो ? मुझे तिल-तिल कर बेचना चाहते हो, सो वह हो तो रहा है। आखिरी साँस तक मेरी बिक जायेगी, तब भी मै इन्कार नही करूँगी।'[5] और अन्त मे वह तिल-तिल करके ही मिट जाती है।

इस उपन्यास के सम्बन्ध मे एक प्रश्न यह उठता है कि जब कल्याणी अपने दाम्पत्य-जीवन से इतनी त्रस्त है तो वह तलाक देकर अलग क्यो नही हो जाती ? शिक्षिता और आर्थिक रूप से समर्थ होने के कारण वह बडी आसानी से स्वतन्त्र जीवन-यापन कर सकती थी। किन्तु नारी के सस्कार उसे इस पथ पर नही जाने देते। सस्कार उसके मन को इतनी गहराई से पकडे है कि वह पति के विरोध मे सोचना भी नही चाहती। वह बार-बार यही कहती है कि मेरे पति मुझे बहुत चाहते हैं, मै ही दोषी हूँ। वह सोचती है कि आधुनिक सभ्यता के ही कारण उसके जीवन मे इतना असतोष है। अग्रेजी पढी-लिखी होने

---

१. जैनेन्द्र : 'कल्याणी' (पृष्ठ १५४)
२. वही : (पृष्ठ १५४)
३. वही : (पृष्ठ १५४)
४. वही : (पृष्ठ १९०)
५. वही : (पृष्ठ ६३)

और डाक्टर होने के कारण उसे बाहर के व्यक्तियो से बात करनी पडती है, इसीको वह शास्त्रो मे वर्जित शीलवन्ती नारियो की मर्यादा के विरुद्ध मानती है। वह अपनी अशान्ति का सारा दोष आधुनिक सभ्यता पर थोपकर प्राचीन भारतीय आदर्शो की सराहना करती है और 'भारती तपोवन' की स्थापना कर शान्ति पाने की चेष्टा करती है। किन्तु उसके मन की अशान्ति पूर्ववत् ही रहती है।

इस प्रकार लेखक ने 'कल्याणी' मे पुरुष की मध्ययुगीन आधिपत्य की भावना, उसकी मिथ्या आधुनिकता और उसकी कामनाओ के जाल मे वदिनी शोषिता नारी की समस्या का बडा प्रभावपूर्ण चित्रण किया है। डा० असरानी और कल्याणी चरित्र-विशेष से भी अधिक प्रतीक बन जाते है, और उनके माध्यम से आधुनिक समाज के खोखलेपन का उद्घाटन होता है। परन्तु अपने गाधीवादी आदर्शो के प्रति आस्था रखने के कारण लेखक ने 'कल्याणी' का अन्त नारी के आत्म-पीडन और बलिदान मे किया है, विद्रोह मे नही। यो, कल्याणी की करुणा और भी मर्मस्पर्शिनी एव प्रभावोत्पादक बन जाती है।

ऐसा अहिसक आत्म-पीडन इलाचन्द्र जोशी के पात्रो मे नही है। उनके उपन्यासो मे पुरुष के अन्याय और अहकार पर निर्मम एव प्रकट प्रहार किया गया है। 'विवेचना' मे उन्होने स्पष्ट शब्दों मे पुरुष को शोषक और नारी को शोषित बताया है।[१] साधारणत पुरुष का अह नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की एक झलक भी देखना पसन्द नही करता। किन्तु अब नारी अपनी स्थिति की वास्तविकता से अनजान नही है। वह व्यक्ति और समाज के अत्याचारो का सामना करने के योग्य शक्ति जुटाने मे लगी है। जब वह समर्थ और सशक्त बन जायेगी तभी शोषण की इस समस्या का हल हो सकेगा।

'मुक्ति पथ' मे इलाचन्द्र जोशी ने विजय के चरित्र के माध्यम से पति द्वारा पत्नी के शोषण पर दृष्टिपात किया है। विजय अपनी योजनानुसार ऐसी लडकी से विवाह करता है जो धनी पिता की एक-मात्र सतान है। उससे विवाह करने मे उसका उद्देश्य यही था कि उसे दहेज के रूप मे बहुत-सा धन मिल जाय, और बाद मे एक दिन अपने श्वसुर की सम्पत्ति का स्वामी हो सके।

विवाह हो जाने पर वह इस स्वार्थ-पूर्ति के लिए अपनी पत्नी कान्ति को पीडित करने लगता है। वह पहले तो अपने व्यापार की आवश्यकता के बहाने झूठ बोलकर उसके सारे गहने हडपना चाहता है। फिर उसे खर्च मे बचत करने के बहाने यह पट्टी पढाता है कि वे दोनो उसके पिता के ही यहाँ क्यों न रहे। किन्तु कान्ति इतनी अबोध नही है। पति की अर्थ-लोलुपता उसकी सहज नारी-दृष्टि से छिप नही पाती। जब विजय 'सेफ वाल्ट' मे रखने का बहाना बनाकर उसके गहने लेना चाहता है तो वह दृढ स्वर मे कहती है 'मैं

---

१. दृष्टव्य : अध्याय चौथा (पृष्ठ ११९२)

गहने अपनी ही तिजोरी मे सुरक्षित रखूँगी। जब जो गहना पसन्द आयेगा तब उसे पहनूँगी। बैंक मे सुरक्षित रखने से वे मेरे किसी काम न आ सकेंगे।'[१]

इसी तरह पति के घर-जमाई बनने की बात भी उसे पसन्द नही आती। उसका मत है कि वह 'अपने पिता और विमाता के तत्वावधान मे पति के साथ स्वच्छद वातावरण का अनुभव नही कर सकती। उसे दिन भर के एकाकीपन की एकरसता का जीवन पसन्द है, पर मायके का बद्ध वातावरण वह किसी भी हालत मे पसद नही कर पाती।'[२]

इस प्रकार कान्ति की जागरूकता के कारण विजय की चाले तो व्यर्थ हो जाती है, पर उसकी इस मनोवृत्ति से उनका दाम्पत्य-जीवन अत्यत कटु और निराशापूर्ण बन जाता है। अपनी योजना को विफल होते देखकर विजय के मन मे 'अपनी पत्नी के प्रति प्रचड हिंसात्मक विद्वेष-भावना घर कर जाती है।'[३] यहाँ तक कि अन्त मे वह उसे विष देकर मार डालता है।

यशपाल के 'मनुष्य के रूप' (१९४९) मे पुरुष द्वारा नारी के शोषण का एक अन्य रूप मिलता है। सुतलीवाला अपनी शारीरिक अक्षमता जानते हुए भी मनोरमा से विवाह करता है। वह पत्नी के सुख-सतोष की चिन्ता किये बिना केवल अपनी वासना की पूर्ति के लिए गृहस्थी जमाना चाहता है।[४] ऐसे पति को पाकर मनोरमा के मन की सारी उमगे नष्ट हो जाती है। वह उदास और अलग-अलग सी रहने लगती है। परन्तु पति की शोषण-प्रवृत्ति को यह भी सह्य नही होता। वह मनोरमा की सहज इच्छा को पाशविकता समझता है और उसको दुर्वचनो का शिकार बनाता है। 'मस्तिष्क मे पत्नी की घृणा से अपमान की अग्नि और शरीर मे औषध की उत्तेजना उसे बेचैन करती रही,'[५] लेकिन बात यही पर समाप्त नही हो जाती। सुतलीवाला अपने अर्थ-लाभ के लिए अपनी पत्नी को व्यभिचार के मार्ग पर ले जाने से भी नही हिचकता। वह सेठ बदानियाँ और मनोरमा को होटल मे अकेले छोडकर किसी काम के बहाने बाहर चला जाता है। परन्तु मनोरमा को जैसे ही अपने पति के मतव्य का भास होता है वह सदाचारिणी नारी की भाँति घर लौट आती है और अपनी मनोव्यथा प्रकट

---

१ इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' (पृष्ठ १०९)

२. वही : (पृष्ठ ११२)

३. वही : (पृष्ठ ११०)

४. 'सुतलीवाला गृहस्थी बसाये बिना गृहस्थ भोगने की चेष्टा मे शारीरिक रूप से शिथिल हो, केवल वासना और शौक के लिए बैठे थे। वे अब बुढ़ापे की बढ़ी चली आती सध्या के लिए एक घर बसाने की योजना मे थे।'
यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ १९६)

५. वही : (पृष्ठ १९७)

करती हुई कहती है . 'मै नही समझती थी, रुपये के लिए कोई आदमी इतना गिर सकता है।'[1]

इस प्रकार पति को शोषण-वृत्ति के कारण मनोरमा का दाम्पत्य-जोवन नरक-तुल्य हो जाता है। वह शिक्षिता है, साथ हो कम्युनिस्ट पार्टी मे काम करने के कारण उसमे साहस को भो कमो नही है। इसलिए वह अन्य नारियो को भाँति अपने भाग्य को दोष देकर नही बैठ जाती, वरन् तलाक द्वारा इस यत्रणा से मुक्ति प्राप्त करतो है।

आर्थिक और मनो-वैज्ञानिक विषमता

कभी-कभी वैवाहिक जोवन को विसगति के मूल मे आर्थिक ओर मनोवैज्ञानिक विपमता भो होती है। परिवार को साधन-होनता के कारण छोटो-छोटो आवश्यकताओ की पूर्ति न होने पर भो कभो-कभो पति-पत्नो दोनो के हो मन मे अपने जोवन के प्रति खीझ और असतोप उत्पन्न हो जाता है। फिर भो आश्चर्य की बात है कि इस युग के उपन्यासकार का ध्यान वैवाहिक जोवन को विसगति के अन्य कारणो पर तो गया है किन्तु इस अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ पक्ष को उसने अनदेखो हो को है। सन् १९५० के बाद प्रकाशित उपन्यासो मे (जैसे अमृतराय लिखित 'बोज' ओर डा० देवराज के 'पथ को खोज' मे) तो इस पहलू का सम्यक् चित्रण है किन्तु आलोच्य अवधि के केवल दो-एक उपन्यासो मे हो इस ओर सकेत मात्र किया गया है। नरोत्तमप्रसाद नागर के 'दिन के तारे' मे शशि और अश्क के 'गिरती दोवारे' मे चेतन के पिता प० शादोराम के दाम्पत्य-जोवन मे जो असतोष हे उसका मूल कारण आर्थिक अभाव है। इस अभाव के कारण जब उनके दाम्पत्य-जोवन मे अशान्ति का समावेश होता हैं तो पति या तो गुमसुम रहने लगता है या फिर अपनी पत्नी पर अत्याचार करने लगता है। कभो-कभो अपनो आर्थिक विषमता को भूलने के लिए वह प्रेम के स्वप्न भो देखने लगता है। पहले प्रकार का उदाहरण 'दिन के तारे' मे मिलता है जहाँ शशि अपने भावो ओर मनोविकारो मे इतना डूबा रहता है कि घर मे सदैव एक मनहूसियत-सी छाई रहतो है। दूसरे प्रकार का उदाहरण हमे 'गिरती दोवारे' मे मिलता है, जहाँ शादीराम अपने आर्थिक अभाव से उत्पन्न असतोष के कारण अपनी पत्नो पर अत्याचार करता है। तोसरे प्रकार का कोई उल्लेखनोय उदाहरण नही मिलता। इस प्रकार इस काल के उपन्यासकार आर्थिक विषमता से उत्पन्न इस महत्वपूर्ण पहलू की उपेक्षा कर गये हैं।

यह स्वाभाविक बात है कि पति अथवा पत्नी किसी का भी स्वभाव विषम हो तो उसके प्रभाव से दूसरे का भो जीवन दुखो हो जाता है। 'गिरती दीवारे' के शादीराम स्वय सच्चरित्र नही है इसीलिये वे अपनी पत्नी के चरित्र पर अकारण ही सदेह करने लगते

---

१. यशपाल : 'मनुष्य के रूप' : (पृष्ठ २२१)

है।[1] कही जाते तो 'बाहर से ताला लगा जाया करते थे।'[2] इसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी के 'सन्यासी' मे जयन्ती और नदकिशोर के दाम्पत्य-जीवन की विसगति के मुख्य कारणो मे एक यह भी है कि नदकिशोर अपनी विकृत भावनाओ का प्रतिबिम्ब जयन्ती के आचरण मे देखता है। शान्ति के साथ उसका अपना सम्बन्ध अनैतिक था, इसीलिए वह जयती के चरित्र को भी सदेह की दृष्टि से देखता है।

मनोवैज्ञानिक विषमता के एक अन्य पहलू पर ध्यान आकर्षित करते हुए उससे उत्पन्न दाम्पत्य-जीवन की विसगतियो का चित्रण इलाचन्द्र जोशी ने 'निर्वासित' मे किया है। जिस प्रकार अत्यधिक निर्धनता दाम्पत्य-जीवन मे एक प्रकार की कटुता और नीरसता का समावेश कर देती है, उसी प्रकार कभी-कभी अत्यधिक सम्पन्नता से भी दाम्पत्य-जीवन मे विसगतियाँ उत्पन्न हो जाती है। नीलिमा का विवाह एक सपन्न जमीदार से होता है। इस वर्ग मे नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की अवहेलना कर उसको विलासिता की अन्य सामग्री के समान केवल भोग्या माना जाता है। परन्तु आज की शिक्षित नारी को यह स्वीकार नही। पति की सम्पन्नता और नवीनता के आकर्षण के कारण नीलिमा के विवाह के प्रारम्भिक दिन तो सुख-चैन से कटते प्रतीत होते है किन्तु कुछ ही दिनो बाद वह अनुभव करती है कि उसके पति ठाकुर लक्ष्मणसिह के व्यवहार मे घृणा और उपेक्षा ही प्रमुख है। दिन-पर-दिन उसका यह विचार दृढ होता चला जाता है।[3] और उनका दाम्पत्य जीवन बिखरने लग जाता है। ठाकुर लक्ष्मणसिह शराब पीते है। यह नीलिमा को कतई पसन्द नही। कुछ दिन तो वह जैसे-तैसे चुप रहती है, पर अन्त मे उसका विरोध प्रकट हो जाता है। इस पर ठाकुर साहब नीलिमा को भी शराब पीने पर विवश करते है। वे शराब की बोतल और दो गिलास मँगवाकर नीलिमा से कहते है 'आज तुम्हे भी पीना होगा।'[4] नीलिमा यह सहन नही कर पाती। कहती है 'कैसी मूर्खता की बात करते हो? बहुत पीकर आये हो, इसलिए होश मे नही हो। हटाओ इस बोतल को, और चुपचाप सो जाओ।'[5] पति की आधिपत्य भावना और मानसिक विकृति पत्नी का यह विरोध सहन न कर सकी। वे क्रूर और कुटिल स्वर मे कहते है 'तुम पीने मे आपत्ति

---

१. 'जो स्वयं उतने शुद्ध चरित्र नहीं होते, दूसरों के चरित्र के प्रति जो एक तरह का संदेह-सा होता है, वह पं० शादीराम के मन में भी था।'
उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'गिरती दीवारें' (पृष्ठ १२२)
२. वही : (पृष्ठ १२३)
३. 'मेरे प्रति उनके व्यवहार में जो घृणा, उपेक्षा और तुच्छता का भाव मेरे अनजान में आ गया था और दिन-पर-दिन बढता चला जाता था।'
इलाचन्द्र जोशी : 'निर्वासित' (पृष्ठ ३९९)
४. वही : (पृष्ठ ४००)
५. वही : (पृष्ठ ४००)

क्यो करती हो ? मै जानता हूँ कि खत्रियो के यहाँ पीने की प्रथा है और उनके यहाँ की औरते भी पीती है। केवल इतना ही नही, उनके यहाँ की औरते ...'[1] ठाकुर साहब का इतना कहना था कि नीलिमा पूरी ताकत से चीख उठती है· 'खबरदार! आगे एक शब्द भी इस सम्बन्ध मे मुँह से निकालोगे तो परिणाम अच्छा नही होगा।'[2] इतने पर भी ठाकुर साहब अपनी बेहयाई से वाज नही आते। वे नीलिमा की बहिन प्रतिमा पर भी झूठा इल्जाम लगाते हुए कहते है 'तुम क्या कर लोगी ? मुझे सब बाते मालूम है। तुम्हारी बहनो को मै अच्छी तरह जानता हूँ। प्रतिमा किस तरह के लोगो के बीच मे रहकर वेश्याओ का-सा जीवन बिता रही है, इस बात का पता मुझे अच्छी तरह है। और तुम भी ...'[3] उनकी इस तरह की बातो से नीलिमा की आँखो के आगे अँधेरा छा जाता है। वह जैसे बेहोशी की-सी हालत मे 'ऐश-ट्रे' उठाकर उनकी ओर दे मारती है। और यही से दोनो ओर से खुल्लमखुल्ला सघर्ष आरम्भ हो जाता है।

इस दिन से ठाकुर साहब का स्वभाव दिन-पर-दिन उग्र होता जाता है और नीलिमा के प्रति उनके कटु विद्वेष की भावना दिन-पर-दिन बढती जाती है; जिसके फलस्वरूप नीलिमा के मन मे उसकी प्रतिक्रिया भी प्रबलता से होने लगती है। जब नीलिमा को मालूम होता है कि ठाकुरसाहब की कुचेष्टाओ के ही कारण रूपा आत्महत्या करती है और ठाकुर साहब ने 'अपने कुछ चुने हुए असामियो की लडकियो के साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित करने की लालसा से गुडो का एक ऐसा दल नियुक्त कर रखा है जो अनेक प्रकार के उपायो को काम मे लाकर, तरह-तरह के छल, बल और कौशल से उन लडकियो को भगा लाता है।'[4] तब उसका अन्त करण दु ख और असहाय क्रोध की अग्नि मे जलने लगता है। तभी एक दिन ठाकुर साहब नीलिमा की अनिच्छा की उपेक्षा करके बल-प्रयोग करते है, ओर उसके विरोध करने पर लातो से प्रहार करने लगते है। पति के इस अमानुषिक व्यवहार पर नीलिमा जैसे जड बन जाती है और अवसर मिलते ही वह उनके बधन तुडाकर भाग जाती है। इस प्रकार एक ऐसे विवाह-सम्बन्ध का अन्त विफलता मे हो जाता है, जिसमे प्रकट रूप से कोई भी दोष नही दिखाई पडता।

आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप इस काल मे नारी के व्यक्तित्व का यथेष्ट विकास हुआ है। इस शिक्षा से उसे नई दृष्टि मिली, उसका विवेक जागृत हुआ, अपनी स्थिति का ज्ञान मिला और उसका मन प्राचीन रूढियो के बधन से मुक्त होकर अपने विकास के स्वप्न देखने लगा। नारी के व्यक्तित्व के इस विकास के कारण भी इस काल मे विवाहित जीवन मे विसगति उत्पन्न होती

दो विकसित व्यक्तित्वों की टकराहट

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'निर्वासित' (पृष्ठ ४००)
२. वही : (पृष्ठ ४००)
३. वही : (पृष्ठ ४००-४०१)
४. वही : (पृष्ठ ४०४)

दिखाई गई है। शिक्षित-सस्कृत नारी पुरुष की अव-सत्ता का विरोध करने पर बाध्य हो जाती है। जब भी आधुनिक पुरुष आधुनिक नारी के इस व्यक्तित्व को अनदेखा करके उसे प्राचीन पद्धति के अनुसार हाँकने लगता है, तभी दोनो मे टकराहट अनिवार्य हो जाती है।

इस काल के अनेक उपन्यासो मे हमे इस टकराहट के दर्शन होते है। यद्यपि इसके मूल मे अन्य अनेक सामाजिक-व्यक्तिगत कारण कार्य करते मिलते है, फिर भी उसका एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि नारी अब बदल रही है, और पुरुष उसके इस परिवर्तन को स्वीकार करना नही चाहता। उदाहरण के लिए, जैनेन्द्र के उपन्यास 'कल्याणी' मे डाक्टर असरानी और मिसेज असरानी शिक्षा-दीक्षा, सामर्थ्य, उपयोगिता और सास्कृतिक स्तर—सभी दृष्टियो से समान है। पर डा० असरानी इस बात को जैसे महत्व न देकर कल्याणी को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का साधन मात्र मानता है। उधर कल्याणी हर प्रकार से पति की इच्छा-पूर्ति करने की सोचकर भी अपढ-अपरिचित नारी का-सा व्यवहार नही कर पाती। 'कल्याणी' की ट्रैजेडी दो विकसित व्यक्तित्वो की इसी टकराहट का परिणाम है। अन्तर केवल इतना ही है कि कल्याणी अपने सस्कारो मे बँधी होने के कारण खुलकर चुनौती नही देती, तिल-तिलकर गलती रहती है, और फलस्वरूप विवाह-ग्रथि के स्थान पर उसकी जीवन-ग्रथि ही टूट जाती है।

अपने इस नये व्यक्तित्व-विकास के ही कारण आधुनिक नारी पति से भी एक नये प्रकार का आचरण और विश्वास माँगती है। वह इस बात को सहन नही कर सकती कि पुरुष उसके छोटे-से-छोटे कार्य को भी सन्देह-दृष्टि से देखे, और उसे प्रति पल अपने इशारो पर नचाने की चेष्टा करे। पुरुष के इस व्यवहार मे उसे अपना अपमान और दमन दिखाई देता है। चाहे वह प्रकट विद्रोह न भी कर पाये, फिर भी वह इसे स्वीकार नही करती। फलस्वरूप विवाहित जीवन मे विसगति उत्पन्न हो जाती है और कभी-कभी उसका अन्त अत्यन्त दुखदायी होता है। इलाचन्द्र जोशी के 'सन्यासी' की जयन्ती के आत्महत्या करने का मुख्य कारण यद्यपि उसके चरित्र पर पति की सदेहात्मक दृष्टि है तथापि उसकी इस प्रतिक्रिया के मूल मे दो विकसित व्यक्तित्वो की टकराहट ही है।

जयन्ती के चरित्र मे सौष्ठव, सौन्दर्य, सकोच, विनम्रता और तेजस्विता प्रारम्भ से ही है। ये सब गुण मिलकर उसके व्यक्तित्व को शक्तिशाली बना देते है। विवाह से पूर्व नदकिशोर एक ओर जयन्ती के इस शक्तिशाली व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित है तो दूसरी ओर उसके मन मे उसको दासी बनाने की इच्छा[1] और इस शक्तिशाली व्यक्तित्व को चूर-चूर करने की प्रतिहिसापूर्ण भावना भी जागृत हो जाती है। पुरुष के मन मे नारी के गर्व को चूर करने की भावना उदित हो, यह बात नारी की नवोपलब्ध शक्ति की परिचायक है। नदकिशोर अपने असाधारण मनोभावो की विकृति का इन शब्दो मे चित्रण

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'संन्यासी' (पृष्ठ ३३३)

करता है 'मेरे मनोभावो की विकृति की इस विचित्रता पर गौर कीजिए कि जयन्ती से मै विवाह इसलिए नही करने जा रहा था कि मै अपने एकागी जीवन की अपूर्णता को पूर्ण करूँ बल्कि इसलिए कि मुझे इस तेजस्विनी नारी के स्वभाव मे एक शान्त और सयत तथापि दुर्दमनीय गर्व का जो भाव दिखाई दिया था उसे अकारण ही चूर-चूर करने की एक प्रतिहिंसापूर्ण भावना मेरे मन मे समा गई थी।'[1]

जयन्ती को नदकिशोर की इस मनोवृत्ति का आभास विवाह के कुछ दिन बाद ही हो जाता है। इसलिए वह निडर होकर कहती है 'आपके अन्तर मे छिपी हुई भावनाओ का प्रतिबिम्ब मेरी अन्तरात्मा मे प्रारम्भ से ही पडने लगा था। आपने वैवाहिक सुख और शान्ति के इरादे से मुझसे विवाह कभी नही किया, बल्कि अपने सामाजिक अधिकार के पूरे प्रयोग से मुझे कलुषित और दलित करके एक हिंसात्मक सुख प्राप्त करने का उद्देश्य आपका प्रारम्भ से ही रहा है। विवाह के पूर्व से ही आपके मन मे, जान मे या अनजान मे, मेरे चरित्र के प्रति सदेह और साथ ही एक अस्वाभाविक ईर्ष्या का भाव घर किये हुए था।'[2]

जयन्ती जैसी तेजस्विनी नारी पति के इस अहम्मन्य व्यवहार को सहन नही कर पाती। वह निरीह समर्पिता नारी की भाँति अपने-आपको ऐसे अहवादी पुरुष के चरणो मे समर्पित करने मे विश्वास नही करती। इसी अह के कारण उनके दाम्पत्य-जीवन मे इतना असामजस्य है।[3] वह कहती है, 'आपमे अभिमान तो है ही, पर अहभाव भी हद दर्जे तक है, यह मै पहले ही कह चुकी हूँ। इस अहभाव की तृप्ति के लिए आप चाहते है कि जिस स्त्री से आपका सम्बन्ध हो वह पूर्णरूप से आपकी होकर रहे, उसका कुछ भी स्वतन्त्र रूप से अपना कहने को न रहे, उसका शरीर, उसका मन, उसकी प्रत्येक वासना, प्रत्येक कामना, आपकी इच्छा की बलि हो जाय, उसके भीतर छिपी हुई कोई गुप्त-से-गुप्त प्रवृत्ति उसकी अपनी होकर न रहे, वह सब-कुछ बिना किसी असमजस के आपके पैरो तले समर्पित कर दे। सीता के युग मे पौराणिक काल मे, यह प्रकृति-विरुद्ध बात भले ही सभव रही हो, पर किसी भी वास्तविक युग मे यह सम्भव नही हो सकती।[4]

इस प्रकार नदकिशोर और जयती के विवाह का आधार ही इतना गलत था कि इसका सफल होना असभव ही कहा जायेगा। यदि इन दोनो व्यक्तियो मे समझौते की भावना होती तो शायद किसी व्यावहारिक स्तर पर उनमे कोई मेल स्थापित हो सकता, पर उनके उद्देश्यो मे और उनकी मनोवृत्ति मे इतना गहन अन्तर है कि मेल का प्रश्न ही

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'संन्यासी' : (पृष्ठ ३५२)
२. वही : (पृष्ठ ४१३)
३. वही : (पृष्ठ ३८०)
४. वही : (पृष्ठ ३८०-३८१)

नहीं उठता। जयती अपने इस दुर्भाग्य से जूझती-जूझता जब हार जाना है, तो और कोई उपाय न देखकर आत्महत्या कर लेती है।

दो विकसित व्यक्तित्वो को टकराहट का एक सुन्दर उदाहरण हमे इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ' मे भी मिलता है, जहाँ अर्थलोलुप विजय और धन को तुच्छ समझने वाली उसकी पत्नी प्रमीला मे तनिक भी मेल नहो होता। विजय अर्थ-लाभ के सामने आत्म-सम्मान, शील-सस्कार और व्यक्तिगत सुखो का तिलाजलि दे देना है। प्रमीला 'हीनता को उस स्थिति को पहुँचने मे अपने को असमर्थ पाती है।'[१] यदि कभी प्रमीला अतिथि-सत्कार करती तो विजय को वह खर्च इतना अखरता था कि उस दिन शाम को वह खाना ही नही खाता था। और 'अतिथि-सत्कार' के खर्च की थोडी-बहुत पूर्ति[२] इस प्रकार कर लेता था। स्वय तो दूसरो के यहाँ खूब दावते उडाता, चाय पीता किन्तु अपने यहाँ खिलाने-पिलाने का आयोजन उसे पसन्द नही आता था। पति की इस अर्थ-लोलुप प्रकृति से प्रमीला के आत्मसम्मान को चोट पहुँचती ओर इसी कारण बहुधा उनमे कहा-सुनी हो जाती।[३] धीरे-धीरे बात इतनी बढ जाती है कि उन दोनो का जीवन ही बिखर जाता है।

इसी उपन्यास मे एक और उदाहरण मिलता है जहाँ असमान व्यक्तित्वो के कारण उमाप्रसाद और उनकी पत्नी कृष्णा जी का मेल नहीं खाता। उनके जीवन की विसगति को लेखक इन शब्दो मे व्यक्त करता है 'जिस दिन श्रीमती जी उनसे प्रसन्न रहती, उस दिन आसानी से उनसे मुक्ति मिलना कठिन हो जाता और उनका राजनैतिक विषयों और सरकारी नीति पर गपशप और ताश के पत्तो से सम्बन्धित कार्यक्रम चौपट हो जाता। ओर जब वह अप्रसन्न रहती तब उनके 'कांशेस' को खरोच लगती कि अपनी विवाहिता पत्नी—सहधर्मिणी—का साथ वह नही दे पाते, वह गार्हस्थिक धधो मे बँधी रहती है, जब कि वह मुक्त जीवन का उपभोग कर रहे है।'[४]

सर्वदानन्द वर्मा के 'प्रश्न' मे भी असमान व्यक्तित्वो का चित्रण है जहाँ कृष्णशकर जैसे विद्वान का विवाह भोग-विलास मे पली युवती कुदन से होता है ओर फलस्वरूप उनमे मेल नही होता। इसी प्रकार 'अश्क' के 'गिरती दीवारे' मे उग्र और कर्कशा चम्पावती का अपने सीधे, सरल स्वभाव के पति रामानन्द से मेल नही बैठता।

उषादेवी मित्रा के 'जीवन की मुस्कान' (१९३९) मे पति-पत्नी के व्यक्तित्वो की टकराहट का एक और सुन्दर उदाहरण मिलता है। रूपरेखा का पति कमलेश अपनी

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' (पृष्ठ ३८८)
२. वही : (पृष्ठ ३८८)
३. वही : (पृष्ठ ३८८-३८९)
४. वही : (पृष्ठ १८५)

सोहागरात के दिन ही प्रेम की सत्ता को अस्वीकार करता है[१], जिसके कारण उसी दिन रूपरेखा की उमगे नष्ट हो जाती है और उनमे विरोध का बीज पड जाता है। रूपरेखा शिक्षिता और साहसी नारी है। उसका निश्चित मत है कि यदि पति प्रणय-दान नही देता तो वह भी समर्पिता पत्नी की भाँति प्रेम की भीख नही माँगेगी। वह सोचती है कि जो पति प्रेम के अस्तित्व को ही स्वीकार नही करता वह प्रेम क्या कर सकेगा। इसीलिए वह आत्म-सम्मान बनाये रखने के लिए कहती है 'मै आपसे किसी दिन प्रेम नही कर सकूँगी।'[२]

रूपरेखा अपने असतुष्ट दाम्पत्य-जीवन का मूल कारण पति को ही मानती है। इसलिए कभी वह पति से खीझती है, कभी क्रोध करती है और कभी प्रलाप करके चुप रह जाती है। वह अपने अतृप्त और दुखी जीवन को विस्मृत करने के लिए नौकरी करना चाहती है। किन्तु पति को यह भी मान्य नही है। तब रूपरेखा का मन एकदम प्रचण्ड हो उठता है। उस शक्तिशाली नारी के व्यक्तित्व को पति का यह आधिपत्य स्वीकार नही होता। वह पति की इस प्रवृत्ति का विरोध करती हुई कहती है: 'उन्हे वधू की स्वाधीन जीविका पसन्द नही है? पर उसके नारीत्व को व्यर्थ कर देना पसन्द है? एक शक्तिशाली नारी से दासी-वृत्ति कराना, एक प्रेममयी नारी को प्रेम से वचित कर देना और भावी माता को वन्ध्या बनाकर रखना उन्हे पसन्द है।'[३]

एक रात कमलेश रूपरेखा से सभोग की इच्छा प्रकट करता है। पति के इस प्रस्ताव को साधारण नारी सौभाग्य समझकर स्वीकार करती। किन्तु रूपरेखा का व्यक्तित्व अपमान की अग्नि मे तपकर और भी प्रखर हो गया है। वह इस प्रस्ताव को ठुकरा देती है। और ठुकराकर, गर्व का अनुभव करती है: 'हाँ मै बडी हूँ, सबसे बडी। तभी तो कल रात अनायास जो वस्तु पैर तले पहुँच गई थी, उसकी अवहेलना कर मै विजय गर्व से लौट आई। वह पति की लालसा थी? क्षण भर का मोह था, ज़रा-सी उत्तेजना थी, . . और बडी हूँ तभी न अवहेलना से त्याग भी सकी। यदि मै छोटी होती, घर की सकीर्णता के भीतर आबद्ध रहने के लिए मेरा जन्म हुआ होता, तो कल रात को एक घडी मे मेरा जीवन ही बदल जाता। और उसी हृदयहीन के पद तले लौटने लगती, जिसने मेरे जीवन के अनमोल पलो को नष्ट कर दिया है। उसी स्वार्थी, प्रेम को न मानने वाले व्यक्ति की मै किंकरी बन गई होती।'[४]

'शेखर एक जीवनी' मे भी शेखर के माँ-बाप के सम्बन्धो मे दो विकसित व्यक्तित्वो

---

१. 'वह है कोई कल्पना, भावुक की मूर्ख भावना।'
उषादेवी मित्रा : 'जीवन की मुस्कान' (पृष्ठ ६२)

२. वही : (पृष्ठ ६२)

३. वही : (पृष्ठ १३१)

४. उषादेवी मित्रा : 'जीवन की मुस्कान' (पृष्ठ १४६)

की टकराहट का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। उन दोनो मे से कोई भी दूसरे का आधिपत्य स्वीकार नही करता। फलत 'गर्जन-तर्जन, कुछ वर्षा, कभी कुछ दिन अनबोला और माँ की ओर से अनाहार—यह कोई बडी बात नही थी।'[1] किन्तु एक दिन बात इतनी बढती है कि छोटी गोलमेज के एक ओर पिता खडे थे, और उनके सामने दूसरी ओर मा थी—उनका आँचल सिर पर नही था, और छाती खोलकर खडी वे कह रही थी, 'लो मुझे मार डालो . '[2] और जब पिता दफ्तर चले जाते है तो वे भी दृढ नारी की भाँति[3] घर से निकलकर जगल मे चली जाती है।

इन दोनो प्रसगो मे यह बात उल्लेखनीय है कि इन लेखको ने पत्नी के प्रबल व्यक्तित्व के आगे पति को झुकता हुआ दिखाया है। टकराहट के बाद विच्छेद नही होता, वरन् पति पत्नी के प्रति आग्रहशील और समर्पित हो जाता है। और इस प्रकार उनका दाम्पत्य-जीवन एक स्वस्थ समझोते पर आधारित हो जाता है।

किन्तु यशपाल मे हमे समझौते की यह भावना नही मिलती। उनका निश्चित मत है कि यदि आज की शिक्षिता नारी की मनोवृत्ति पति को मनोवृत्ति से मेल नही रखती और वह समानता की अपेक्षा करती हुई स्वतन्त्र व्यक्तित्व का परिचय देती है तो एक ओर तो पति अपने सस्कारवश किसी भी अवसर पर झुकने को प्रस्तुत नही होता और दूसरी ओर पत्नी अपने विकसित व्यक्तित्व के कारण अपने मन को चाहने पर भी पति की इच्छा के अनुकूल नही ढाल पाती। फलस्वरूप दोनो मे तनाव उत्पन्न हो जाता है। तब छोटी-छोटी सरल ढग से कही गई बात भी उल्टी प्रतीत होने लगती है और दाम्पत्य-जीवन मे कटुता एव असतोष का समावेश हो जाता है।

'देशद्रोही' मे चन्दा की प्रवृत्तियाँ पति राजाराम से भिन्न थी। 'स्वाभाविक वृत्ति के प्रकट होने पर उसका व्यवहार और पसन्द पति से भिन्न जान पडती। इस वृत्ति को कुचलकर पति की इच्छा के अनुकूल बनाना जीवन का क्रम था।'[4] किन्तु विकसित व्यक्तित्व के कारण चाहने पर भी चदा अपनी प्रवृत्तियो को पति को प्रवृत्तियो से न मिला सकी। कभी राजनैतिक बहसो मे मतभेद के कारण,[5] कभी बहिन राज को लेकर,[6] कभी

१. अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १६०)
२. वही : (पृष्ठ १६०)
'खिड़की के सामने से होकर माँ निकली। शेखर ने देखा, उनकी चाल मे एक दृढ़ता है जो सदा नहीं होती, और वे सीधी, तेजी से चली जा रही है।'
३. वही : (पृष्ठ १६०)
४. यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ २८०)
५. वही : (पृष्ठ २७४)
६. वही : (पृष्ठ २३१)

समाज मे पति की इच्छानुसार आचरण न कर पाने के कारण[1] और कभी डा० खन्ना को लेकर उनमे झगडा हो जाता है।[2] पति-पत्नी दोनो मे से एक मे भी समझोते की प्रवृत्ति नही है। पति अपना आधिपत्य जमाना चाहता है, तो चन्दा इसमे अपनी हीनता समझकर, बराबरी का सम्बन्ध मानकर समय-असमय तर्क-वितर्क करने लगती है जिसके कारण पति का रोष उग्र रूप धारण कर लेता है और वह बात-बात मे चन्दा को झिडक देता है। पति से अपमानित होने पर चन्दा को असह्य वेदना होती है और वह निरुपाय होकर रोने लग जाती है जिससे राजाराम और भी चिढ जाता है 'जो बात, रोना-ही-रोना। जिन्दगी मुसीबत हो गई हमारी तो, दिन भर कोल्हू के बैल की तरह मरो। घर मे भी चैन नही '[3] उनके दाम्पत्य जीवन की ऐसी विषमता के बीच जब डा० खन्ना प्रवेश करता है तो चन्दा सहज ही उसकी ओर आकर्षित हो जाती है और उनके वैवाहिक जीवन मे असतोष और कटुता चरम सीमा पर पहुँच जाती है।

दाम्पत्य-जीवन की इन विसगतियो के कारण इस युग के उपन्यासकार के मन मे विवाह-व्यवस्था पर ही से विश्वास उठता-सा जान पडता है, किन्तु वास्तव मे यह बात सच नही है। वैवाहिक जीवन की विसगतियो का चित्रण करने मे इन उपन्यासकारो का मूल उद्देश्य विवाह-व्यवस्था का उन्मूलन नही है। इलाचन्द्र जोशी के 'प्रेत और छाया' की मजरी कहती है 'दो हृदयो का सच्चा प्रेम किसी भी हालत मे किसी भी परिस्थिति मे अपने-आप मे महत्वपूर्ण है, इस बात को कोई भी सहृदय और समझदार व्यक्ति अस्वीकार नही कर सकता। पर इस पर 'समाज की मुहर' लगने से उसकी महत्ता एक सुन्दर, शालीन और व्यवस्थित रूप धारण कर लेती है। मेरा तो यह विश्वास है कि मनुष्य ने सभ्यता और सस्कृति के विकास मे जितने भी सामाजिक नियमो का आविष्कार किया है उन सबमे विवाह की सस्था श्रेष्ठ है। मै यहाँ तक अनुमान करती हूँ कि भविष्य मे भी मानव-समाज चाहे कितना ही अधिक उन्नत और प्रगतिशील क्यो न बन जाय, किसी भी हालत मे वह विवाह-विधान को तोडने की बात नही सोच पायेगा। यह हो सकता है कि वह उसे और अधिक उन्नत और सुघड रूप देने की चेष्टा करे, पर उसे तोडेगा किसी भी हालत मे नही—चाहने पर भी नही।"[4]

विवाह-व्यवस्था में विश्वास

इसी प्रकार भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'निमत्रण' मे गिरधारी कहता है 'मै यह नही कहता कि विवाह प्रेम की आदर्श कल्पना है। किन्तु समाज के निर्माण के लिए, अब तक, विवाह से उत्तम दूसरी कोई आदर्श कल्पना भी तो स्थिर नही हुई है।"[5]

---

१. यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ ११४-११५)
२. वही : (पृष्ठ २८४)	३. वही : (पृष्ठ २१४)
४. इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' (पृष्ठ १७१-१७२)
५. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'निमंत्रण' (पृष्ठ ३०७-३०८)

इस प्रकार हम देखते है कि वैवाहिक जीवन की विसगतियो का चित्रण करने के मूल मे इन लेखको का उद्देश्य यही था कि विवाह-नियम केवल एक रूढि बनकर सामने न आये, वरन् वह सच्चे प्रेम-सम्बन्ध की परिणति बन सके और अपने वैवाहिक जीवन मे पति-पत्नी पारस्परिक श्रद्धा, त्याग और विश्वास से काम ले।

तलाक

इस युग के उपन्यासो मे वैवाहिक जीवन की विसगतियों को इतना अधिक महत्व देने का एक कारण यह भी है कि लेखक कहना चाहता है कि यदि किसी भी उपाय से दाम्पत्य-जीवन मे शान्ति और प्रेम का समावेश नही होता, पति-पत्नी दोनो का ही जीवन असतोष और कटुता के कारण नष्ट होता है तो तिल-तिल कर घुटते रहने की अपेक्षा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना ही उचित होगा।

'अचल' के 'चढती धूप' मे तारा कहती है 'एक पुरुष को लेकर वह जीवन बिताने के लिए बाध्य न की जाये। विशेष कारणो और विशेष स्थितियो मे वह उससे सम्बन्ध-विच्छेद भी कर सके।'[1] किन्तु जहाँ व्यवहार की बात उठती है वहाँ पाश्चात्य रग मे रँगी एग्लो-इण्डियन नारी के लिए तलाक करना भले ही सरल हो, नितान्त भारतीय नारी के लिए उतना सरल नही है। यही कारण है कि जहाँ धर्मवीर भारती के 'गुनाहो का देवता' की एग्लो-इण्डियन लडकी पम्मी पति को तलाक देकर अपने भाई के साथ आनन्द से रहती है वहाँ इसी उपन्यास मे सुधा दाम्पत्य-जीवन मे विषमता होने पर भी घुल-घुल कर मरती है। इसी प्रकार 'सन्यासी' की जयन्ती, 'पर्दे की रानी' की शीला, 'त्रिवेणी' की सुरभि आत्म-हत्या करती है, तो 'पिपासा' की शकुन्तला, 'शोले' की शोभी, 'प्रेम समाधि' की मिसेज क्लैबर्ट, 'सस्मरण' की चित्रा आदि अनेक नारियाँ अपने दाम्पत्य-जीवन की घुटन के कारण तिल-तिल कर मृत्यु की शरण लेती है।

यद्यपि अधिकतर उपन्यासो मे हमे इस गहन समस्या का यही आदर्शवादी रूप मिलता है, तथापि कुछ उपन्यासकारो ने इसका यथार्थवादी समाधान देने का भी साहस किया है। 'शेखर एक जीवनी' की शशि अपने पति रामेश्वर के अत्याचारो का प्रतिरोध करती है और जब वह क्रुद्ध होकर उसे घर से निकाल देता है तो वह साहसपूर्वक इस विच्छेद को स्वीकार कर लेती है। वह कहती है, 'अब वहाँ लौटना नही होगा उन्होने मुझे घर से निकाल दिया है।'[2] इस सम्बन्ध-विच्छेद का उसे दुख भी नही है क्योकि वह समझती है कि असतोष, निराश, अपमानजनक दाम्पत्य-जीवन बिताने से अकेले जीवन बिताना श्रेयस्कर है।

---

१. अंचल : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १५७)
२. अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १७४)

'नरमेध' मे भी जब देवेन्द्र देखता है कि उसकी पत्नी उसको नही उसके मित्र अनूप को प्रेम करती है तो वह स्वय ही उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर उसे स्वतन्त्र कर देता है। इसी प्रकार 'नया आदमी' मे गजानन और 'प्रश्न' मे रमेश का जैसे ही अपनी पत्नी के पर-पुरुष-प्रेम का प्रमाण मिलता है, वे दोनो ही उसका विवाह उसके प्रेमी से करवा कर उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते है।

यशपाल के 'मनुष्य के रूप' मे तलाक को बहुत महत्व दिया गया है। इसका एक कारण यह भी है कि मनोरमा का पति सुतलीवाला शारीरिक रूप से अयोग्य सिद्ध होता है। 'हिन्दू कोड बिल' स्वीकृत होने के पूर्व भारतीय सविधान मे तलाक के लिए तीन मे से एक कारण आवश्यक माना जाता था। 'या तो पति का दूसरो स्त्री से सम्बन्ध हो, या वह नपुसक हो, या पत्नी से मारपीट करता हो।'[1] मनोरमा स्वीकार करती है कि 'आखिरी बात छोडकर मेरे विचार मे तो सभी कुछ है।'[2]

आज की जागृत नारी इस विकट अवस्था को सहते रहना अपराध समझती है। कामरेड नीता को जैसे ही मनोरमा की इस वैवाहिक विसगति का पता चलता है वह दृढ स्वर मे कहती है. 'है जुल्म, असह्य जुल्म! लडकी के साथ। मनोरमा हर हालत मे तुम्हे इस झझट और गन्दगी से पल्ला छुडाना है, एकदम जब सब तथ्य सामने है।'[3] परन्तु मनोरमा के मन के प्राचीन हीन-सस्कार अभी विद्यमान है। वह न्यायालय मे जाकर सार्वजनिक रूप से इन तथ्यो का उद्‌घाटन करने मे लज्जा और सकोच का अनुभव करती है। मनोरमा की इस बात से नीता का क्रोध और भी बढ जाता है। वह कहती है: 'तो तुम्हे मुसीबत से कौन बचा सकता है? जब स्वय मुसीबत के गले चिपटी हो।'[4] नीता की दृष्टि मे यह सकोच पूजीवादी सस्कृति का पाखण्ड मात्र है। 'वह निरन्तर ज़ोर दिये जा रही थी कि मनोरमा इस गन्दगी से निकले।'[5] इन पक्तियो से नवशिक्षिता नारी-मन और साधारण नारी-मन का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

सुतलीवाला एक फिल्म अभिनेत्री पद्माडन को घर मे बसाना चाहता है इसलिए वह भी मनोरमा से मुक्ति पाना चाहता है। अत दोनो की सम्मति से वकील से दरख्वास्त बनवाकर भेज दी जाती है। जब अदालत मे एक मास बाद की तारीख पडती है—तो 'मनोरमा को अदालत जाना मौत मालूम होती थी, परन्तु मजबूरी थी। उसने यह भेद किसी पर प्रकट नही किया। वह लज्जा के मारे मरी जा रही थी।

१. यशपाल: 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ २२५)
२. वही: (पृष्ठ २२५)
३. वही: (पृष्ठ २२६)
४. वही: (पृष्ठ २२६)
५. वही: (पृष्ठ २२६)

अदालत के सामने उसे अपनी दरख्वास्त की बाते दोहरानी पडी तलाक मजूर हो गया।'[१]

तलाक के पश्चात् पति के लिए आवश्यक होता है कि वह अपनी आमदनी के अनुसार पत्नी को गुजारे के लिए तब तक कुछ रुपया दे जब तक वह दुबारा विवाह नहीं कर लेती। मनोरमा अपने आत्म-सम्मान के कारण अपने गुजारे की दरख्वास्त नही देती किन्तु अदालत स्वय ही उसे तीन सौ रुपया माहवार का गुजारा दिया जाने का फैसला करती है।[२]

यद्यपि मनोरमा इस फैसले से अपनी मुक्ति का ही अनुभव करती है, तथापि प्राचीन सस्कारो के कारण वह सकोच भी करती दिखाई देती है। परन्तु कॉमरेड नीना 'अदालत मे फैसला सुनते ही, अदालत के सामने ही मनोरमा को अत्याचार से मुक्ति पर बधाई देती है।'[३]

इस प्रकार 'मनुष्य के रूप' मे तलाक की व्यवस्था को वैवाहिक जीवन की विसगति से मुक्ति पाने का सही मार्ग माना गया है। तलाक का इतना जोरदार समर्थन और किसी हिन्दी उपन्यास मे नही मिलता। यह सच है कि हिन्दी के अनेक उपन्यासो मे पति-पत्नी के सम्बन्ध-विच्छेद की चर्चा की गई है। परन्तु उन सबमे दो बातो पर अधिक ध्यान दिया गया है। एक तो वैवाहिक जीवन मे विषमता होने पर भी नारी के कर्त्तव्य-पालन और आत्म-बलिदान को जितना महत्व दिया है, उतना सम्बन्ध-विच्छेद को नही। दूसरे जिन कुछ उपन्यासो मे सम्बन्ध-विच्छेद की चर्चा है, वहाँ भी अधिकाशत पति ही पत्नी से सम्बन्ध-विच्छेद करता पाया जाता है। यहाँ तक कि 'मनुष्य के रूप' मे भी पहले सुतलीवाला ही मनोरमा को तलाक के सम्बन्ध मे पत्र लिखता है। इसका मुख्य कारण यही विदित होता है कि अभी तक भारतीय पत्नी अपने सस्कारो से मुक्त होकर इतने साहस का सग्रह नही कर पाई है कि वह स्वय इस ओर कदम बढाये।

नारी-स्वातन्त्र्य की समस्या

प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासो मे नारी को वैयक्तिक और आर्थिक स्वतन्त्रता को जितना सबल समर्थन मिला है उतना पूर्ववर्ती उपन्यासो मे नही मिलता। नारी-स्वातन्त्र्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए 'चढती धूप' की तारा कहती है 'नारी स्वतन्त्रता से मेरा मतलब है नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व की मान्यता। उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति की सुरक्षित मर्यादा। उसे आत्मनिर्णय का अधिकार। साथ ही उसके प्रति

वैयक्तिक स्वतन्त्रता

---

१. यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ २९४)
२. वही : (पृष्ठ २९५)
३. वही : (पृष्ठ २९६)

एक उदार, आदरपूर्ण, शुचितामय, दृष्टिकोण जो अधिक स्वस्थ, सयत और मानवीय हो। उसे केवल विलास और सौन्दर्य की गुडिया न समझकर एक सवेदनशील आत्मा का दरजा दिया जाये।'[1]

आज की शिक्षिता नारी अपनी पतितावस्था और परतन्त्रता के प्रति सजग हो चुकी है। वह समझती है कि सदियो से प्रचलित पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था के कारण नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विकास नही हो सका है। तारा कहती है 'शुरू से ही समाज की व्यवस्था पुरुषो के हाथ मे रही है। उन्होने अपनी सुविधा, आधिपत्य, और निरकुशता का जारी रखने वाला विधान बनाया है।'[2] धीरे-धीरे नारी उस असमान व्यवस्था की इतनी अधिक अभ्यस्त हो गई कि वह स्वय ही नारी स्वातन्त्र्य की विरोधी बन बैठी।[3] किन्तु आज की शिक्षित-नारी जानती है कि नारी की यह स्थिति अधिक दिन तक न रह सकेगी। 'पूजीवादी व्यवस्था के साथ उसका भी दम टूटेगा।'[4] जनतत्र और समाजवाद के प्रसार के साथ-साथ समाज मे नारी को भी उसका उपयुक्त स्थान देना ही होगा, जिसमे वह अपने जीवन और व्यक्तित्व को सार्थकता के लिए समान अवसर पा सके।

यही कारण है कि इस युग के उपन्यासो मे ऐसी नारी का चित्रण विरल है जो पुरुष के कुशासन को निर्विरोध सहती चली गई हो और अपनी वैयक्तिकता का परिचय न देती हो। 'मुक्ति पथ' मे जब सुनन्दा का विवाह एक बुड्ढे से कर दिया जाता है तो वह दूसरे दिन ही वहाँ से भागकर माँ के घर लौट आती है। माँ के लाख कहने पर, डाँट-डपट और कलह करने पर भी वह वापस नही लौटती।[5] इसी प्रकार 'नई इमारत' मे जब आरती के पिता उसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध अन्यत्र करना चाहते है तो वह पितृगृह से निकलना पसन्द करती है किन्तु अपनी इच्छा की बलि देना नही। यही नही, 'मनुष्य के रूप' की शोभा और भगवतीचरण वर्मा के 'आखिरी दाँव' की चमेली अपढ-गँवार होने पर भी पारिवारिक अत्याचार को सहन नही करती और उस स्थिति से भाग निकलकर अपनी वैयक्तिकता का परिचय देती है। जहाँ तक नारी सामाजिक या पारिवारिक दमन से मुक्ति पाने के लिए अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का परिचय देती

---

१. 'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १५७)
२. वही : (पृष्ठ १२९)
३. 'अब स्त्री का दिल स्वय इतना गुलाम है कि वह औरत को मुँह खोले नहीं देख सकती। कैनीबाल नर-मास खाकर प्रसन्न होता है, उसके सामने इससे बढ़ कर सत्य ही नहीं। यही दशा स्त्री की है।'
   रांगेय राघव : 'घरौंदे' (पृष्ठ १७६)
४. 'अंचल' : 'चढती धूप' (पृष्ठ १२९)
५. इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' (पृष्ठ ८५)

है, वहाँ तक तो इस युग के सभी उपन्यासकार एकमत है। परन्तु समस्या तब विवादास्पद हो जाती है जब यह प्रश्न उठता है कि नारी अपने व्यक्तित्व का ठीक विकास किस प्रकार कर सकती है और विवाहित एव अविवाहित अवस्था मे नारी को कहाँ तक वैयक्तिक स्वतन्त्रता का उपभोग करना चाहिए।

नारी के व्यक्तित्व-विकास को महत्व देने के कारण आधुनिक काल मे विश्वविद्यालयो और महाविद्यालयो मे सहशिक्षा का प्रचलन हो गया है। रागेय राघव ने 'घरौदे' मे दिखाया है कि सहशिक्षा के कारण एक ओर नारी की वैयक्तिकता का विकास होता है दूसरी ओर उसे पुरुष को अधिक निकटता से समझने का अवसर मिलता है, दोनो के बीच की दूरी घट जाती है और उनमे शासक-शासित भाव के स्थान पर सख्यभाव का उदय होता है। इस युग के लगभग सभी उपन्यासो मे ऐसी शिक्षिता नारियो का चित्रण हुआ है जो समान स्तर पर पुरुष से प्रेम करती है। उनके साथ उठने-बैठने, घूमने-फिरने, बातचीत करने मे समान वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अनुभव करती है। इस स्तर पर नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को इस युग के लगभग सभी उपन्यासकारो का समर्थन मिला है।

किन्तु कभी-कभी जब नारी सामाजिक मान्यताओ एव आचरण की मर्यादाओ का उल्लघन करके मनमाने ढग से व्यवहार कर अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का परिचय देती है तब आज के समाज के सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है। 'घरौदे' की रानी और विधवा लवग जिस प्रकार का उच्छृखल व्यवहार करती है, तथा 'दादा कामरेड' की शैल विवाह को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विनाश मानकर[1] अविवाहित रहते हुए भी अनेक पुरुषो के ससर्ग को दोष नही मानती, तब उसके आचरण का समर्थन करना असभव हो जाता है। यद्यपि यशपाल ने इस प्रकार का जिस ढग से चित्रण किया है उससे लगता है कि वे इसमे कोई दोष नही मानते, या कम-से-कम वे इसे पूँजीवादी व्यवस्था की अनिवार्य परिणति मानते है। किन्तु ऐसा उच्छृखल आचरण न तो सिद्धान्त की कसौटी पर खरा उतर सकता है, न उसे हम युग के आदर्शों के अनुरूप मान सकते है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आवश्यक होते हुए भी कुछ सामाजिक और नैतिक सीमाओ को मानने के लिए बाध्य है। इन सीमाओ का उल्लघन करने पर वह स्वतन्त्रता अनैतिकता और अराजकता को ही जन्म दे सकती है।

हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारो मे यशपाल ने विवाहित और अविवाहित दोनो ही अवस्थाओ मे नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर विशेष बल दिया है। 'देशद्रोही' की चन्दा अपने विवाहित जीवन मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पूर्ण उपभोग न कर सकने पर क्षोभ प्रकट करती हुई डा० खन्ना से कहती है 'मै क्या करूँ ? तुम जैसे कहो मै करने को तैयार हूँ ? पर इस घर मे रहते क्या कर सकती हूँ ? . इनसे लडकर मै घर मे कैसे

---

१. यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ ३७)

रह सकती हूँ ?' चन्दा की बेबसी से खीझकर खन्ना ने कहा 'तो ऐसे घर से ही क्या जिसमे तुम्हारा अपना व्यक्तित्व कुछ भी नही ? जिस घर मे तुम्हारी इच्छा का मूल्य नही, वह घर तुम्हारा तो न हुआ ? तुम घर की एक वस्तु-मात्र हो ?'[१]

इसी प्रकार 'दादा कामरेड' की शैल विवाहिता यशोदा को सीख देती हुई कहती है 'पुरुषो के सन्देह और बेमतलब नाराजगी को बहुत परवाह करने से या तो केवल उनके जेब के रुमाल की तरह रहो, स्वय सोचना, अपने जीवन की बात करना छोड दो ! या फिर उन्हे सोचने दो अपने-आप समझ जायेंगे मैने अपने बाबत कम बाते नही सुनी तुम्हारी तरह चिन्ता करने लगती तो कभी की मर गई होती। परन्तु उसमे सचाई कितनी है, यह तो मै ही जानती हूँ अब तक स्त्रियाँ रही है मर्दो के व्यक्तिगत इस्तेमाल की चीज। यदि वे अपने व्यक्तित्व को जरा भी अलग से खडा करने की चेष्टा करेगी तो उँगली तो जरूर उठेगी। लेकिन थोडे दिन बाद नही। जरा हिम्मत करो। पुरुषो को 'सहने का अभ्यास होना चाहिये कि स्त्रियाँ भी अपना व्यक्तित्व रखती है।'[२]

इस प्रकार की सीख सैद्धातिक रूप से उचित प्रतीत होने पर भी व्यावहारिक जीवन मे ठीक नही उतरती। सफल दाम्पत्य-जीवन सघर्ष पर नही समझोते पर अवलम्बित है। उसमे अपने अधिकारो से भी अधिक अपने उत्तरदायित्व की चेतना वाछनीय है। वैवाहिक जीवन मे पति-पत्नी दोनो को समान रूप से वैयक्तिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। किन्तु आज के समाज मे देखा यह जाता है कि पुरुष जिस प्रकार की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की छूट स्वय ले लेता है वैसी छूट नारी को नही देना चाहता। इस असमान स्थिति के ही कारण यह समस्या और भी जटिल हो जाती है। यशपाल ने 'दादा कामरेड' मे तीनो वर्गो की स्त्रियो को पुरुष का गुलाम बताया है। हरीश कहता है 'एक, किसान-मजदूर श्रेणी की औरते। वे पति के बराबर ही काम करती है और पति की गुलामी करती है घाते मे। दूसरो है, सफेदपोश लोगो की औरते। ये लोग घर का वह काम करती है जिसे आठ-दस रुपये माहवार का नौकर बखूबी कर सकता है, हॉ सन्तान पैदा करने के काम को अलग रहने दीजिए। तीसरी है अमीर श्रेणी की औरतें। पुरुष के मन-बहलाव और सतान-प्रसव करने के अतिरिक्त वे कुछ नही करती। अमीर लोग इन्हे बैठा-बैठा कर अपने शौक और शान के लिए खिलाया करते है, जैसे तोता-मैना या गाद के पालतू कुत्ते को खिलाया जाता है। वह पुरुष को कृपा पर निर्भर रहती है, उसकी गुलामी करती हैं। इस समाज की स्त्रियाँ यदि छतरी और बटुआ हाथ मे लेकर मनमानी साडियाँ और जेवर खरीदने की स्वतन्त्रता पा जाती है तो अपने-आपको

१. यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ ३१६)
२. यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ १५०)

स्वतन्त्र समझती है। परन्तु यदि वे स्वतन्त्रता से अपना घर बसाना चाहे, या स्वतन्त्रता से सतान पैदा करना चाहे तो क्या ये स्वतन्त्र है ?'[१]

नारी को इस गुलामी से मुक्ति दिलाने के लिए हरीश एक समाधान भी उपस्थित करता है 'क्यो न स्त्री भी पुरुष के समान ही काम करे और ब्याह कर साथ ही रहना हो तो दोनो कमाई कर अपना निर्वाह चलाये।'[२] इस कथन का अर्थ यह हुआ कि नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता पर ही निर्भर है। इन दोनो का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध मानकर इस युग के अनेक उपन्यासकारो ने कहा है कि नारी की आर्थिक परतन्त्रता ही उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के मार्ग मे रोडा बनी हुई है। विशेषकर प्रगतिवादी समाजवादी उपन्यासकारो ने बुलन्द आवाज मे कहा कि नारी की आर्थिक परतन्त्रता के कारण ही परिवार और समाज मे उसकी स्थिति हीन है। जब तक वह आर्थिक रूप से स्वतन्त्र नही हो जाती, तब तक न तो परिवार और समाज मे उसको सम्मान मिल सकता है और न उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सकता है। भैरवप्रसाद गुप्त ने 'शोले' (१९४७) मे और रामचन्द्र तिवारी ने 'कमला' (१९४३) मे यह दिखाने की चेप्टा की है कि 'किस प्रकार आर्थिक परतन्त्रता के कारण परिवार मे नारी अनादर की पात्र वन जाती है' और जो थोडा-बहुत सम्मान उसे मिलता भी है वह उसके पति की आर्थिक अवस्था के अनुपात मे घटता-बढता रहता है। यदि किसी कारणवश उसका पति कही चला जाता है, अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है तो नारी की स्थिति एक दासी अथवा भिखारिणी की-सी रह जाती है। 'शोले' मे जब शोभी का पति घर छोडकर चला जाता है तब वही सास और ननद जो उसके पति के सामने सद्भावनापूर्ण और कोमल बनी हुई थी, अब निर्मम और कठोर होकर शोभी को भीषण यातना देती है।

आर्थिक स्वतन्त्रता

रागेय राघव ने तो इसी आर्थिक परतन्त्रता को ध्यान मे रखकर सामतयुगीन नारी की तुलना वेश्या से की है और उसके सतीत्व को ढकोसला माना है 'सामती राज्य की स्त्री एक वेश्या है। घर को बेजान चीजो की स्वामिनी, और जीवित मनुष्यो की दासी। आर्थिक परतन्त्रता से उसे बाँध दिया गया था। वह क्या जीवन है जब अपने पर नही, दूसरो पर गर्व किया जाये ? ज़िंदा रहना क्या कोई बात है ? कुत्ता जजीर से बाँधकर भूखा रखा जाये तो वह कैसा भी माँस खा सकता है। और जब उसे मालूम हो जाये कि यह माँस उसको चौकीदारी किये बिना नही मिलेगा, तो वह भूँकने के लिए भी तैयार हो जायेगा। कहो वीरसिंह, सतीत्व पूँजीवाद को बनाये रखने का ढकोसला है, रूढि भरे धर्म की एक दाई है।'[३]

---

१. यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ १२५-१२६)
२. वही : (पृष्ठ १२७)
३. रांगेय राघव : 'घरौंदे' (पृष्ठ १७७)

यही कारण है कि इस युग के उपन्यासकार ने कहा कि 'मन से किसी एक की रहते हुए भी रोटियो और केवल रोटियो के लिए उसे दूसरे का बनने पर मजबूर न किया जाये।'[१] 'जो समाज व्यवस्था मेरी इच्छा के प्रतिकूल मुझे एक खास पुरुष के साथ रहने के लिए और जीवन बिताने के लिए विवश करती है उस व्यवस्था का, उस नैतिकता का मेरे निकट क्या मूल्य है? यह मेरे व्यक्तित्व का दमन है, मेरी सत्ता का सहार है—मेरी आत्मा की अस्वीकृति है। मै ऐसी व्यवस्था को नष्ट करने मे अपना सारा बल लगाऊँगी।'[२]

इस प्रकार आलोच्यकाल के उपन्यासकारो ने, विशेषकर समाजवादी उपन्यास-कारो ने प्रचलित समाज-व्यवस्था की कसकर आलोचना की है। मार्क्स के 'अर्थशास्त्र' से प्रभावित होकर भैरवप्रसाद गुप्त ने 'शोले' मे लिखा है 'इस प्रश्न की जड मे युगो से चली आई नारी की सस्कारगत गुलामी है और उस गुलामी का ठोस कारण आर्थिक है नारी को कोमलागी, शक्तिहीन, विलास की वस्तु बना, उसे उत्पादन के क्षेत्र से अलग रखता आया है, नि शक्त बनाता आया है ताकि उसे गुलाम बनाने मे आसानी हो।'[३]

नारी की इस असमान स्थिति से मुक्ति दिलाने के लिए समाजवादी उपन्यासकारो के पास समाधान के रूप मे एक कार्यक्रम भी प्रस्तुत है 'नारियो को आर्थिक रूप से सशक्त बनाना होगा और उस समाज और उसकी व्यवस्थाओ को तोडकर एक ऐसा समाज बनाना होगा जिसमे पुरुष और नारी के बराबर अधिकार हो, जिसमे विवाह, नैतिकता, कलक और व्यभिचार की मर्यादाएँ बदल जाये, जिसमे नारी, पुरुष और बच्चे का पारस्परिक सम्बन्ध वही हो जो प्राकृत है, जो स्वाभाविक है, जिसमे कधे-से-कधा मिलाकर नारी और पुरुष विकास की ओर अग्रसर हो, जिसमे पुरुष न नारी का शोषण कर सके, न नारी पुरुष का। स्त्रियो को सामाजिक क्रान्ति द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है, जब समाज के उत्पादनो के साधनो पर व्यक्तिगत सम्पत्ति, व्यक्तिगत अधिकारो और शोषको के शासन का ही अन्त नही हो जायेगा, बल्कि स्त्रियो पर पुरुष का शासन भी सदा के लिए खत्म हो जायेगा।'[४]

नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता पर इतना बल देने के कारण इस काल के अनेक उपन्यासो मे ऐसी नारियो का चित्रण हुआ है जो आर्थिक रूप से स्वतन्त्र है। उनके अर्थोपार्जन पर न तो समाज बुरा मानता है और न उपन्यासकार। प्रत्युत इस युग के अधिकाश उपन्यास-कारो का मत है कि सामाजिक मान्यताओ के परिवर्तन के साथ-साथ आज की शिक्षित नारी स्वय ही उस ओर अग्रसर होती है। नारी का अर्थोपार्जन करना उसकी वैयक्तिक

---

१. 'अंचल' : 'चढती धूप' (पृष्ठ १५७)
२. वही : (पृष्ठ १५८)
३. भैरवप्रसाद गुप्त : 'शोले' (पृष्ठ १२३)
४. वही : (पृष्ठ १२३)

स्वतन्त्रता एव आत्म-निर्भरता का परिचायक है यद्यपि कभी-कभी नारी अर्थाभाव से मुक्ति पाने के लिए भी ऐसा करती है।

'पहाडी' लिखित 'सराय' की रेखा, इलाचन्द्र जोशी के 'सन्यासी' की शान्ति, यशपाल के 'देशद्रोही' की यमुना पढ-लिखकर अध्यापन-कार्य करती है। जैनेन्द्र के 'कल्याणी' की कल्याणी, 'प्रेत और छाया' की मजरी डाक्टर बन जाती है। 'मनुष्य के रूप' की सोमा और 'आखिरी दॉव ' की चमेली फिल्म जगत् मे काम करने लगती है। लगभग ये सभी नारियाँ आर्थिक सकट से मुक्ति पाने के लिए अर्थोपार्जन करती है। इन उदाहरणो से सिद्ध होता है कि यद्यपि इस युग के उपन्यासकार ने नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता को विशेष महत्व दिया है तथापि जीवन मे अर्थ-सकट के समय ही उसको अर्थोपार्जन करते चित्रित किया है।

पारिवारिक समस्याएँ

सम्मिलित परिवार का विघटन

प्रेमचन्दोत्तर-काल तक आते-आते सम्मिलित परिवार प्राय छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसका मूल कारण मध्यवर्गीय आर्थिक जीवन मे विषमता का समावेश है। आज के मध्यवर्गीय समाज के नौकरी पेशे-वाले अधिकाश व्यक्ति नौकरी के लिए अपने परिवार से दूर हो जाते है और अपनी पत्नी और बाल-बच्चो के साथ अलग घर बसाने को बाध्य हो जाते है। इस प्रकार सम्मिलित परिवार की जडे ही हिलने लग जाती है। इसके अतिरिक्त आज के समाज मे नर-नारी के आकर्षण-विकर्षण की समस्या भी मुख्य हो गई है। इन दोनों कारणो से प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासो मे सम्मिलित परिवार की समस्या का स्थान गौण हो गया है। किन्तु तो भी कुछ उपन्यासो मे इस समस्या का चित्रण और समाधान प्रेमचन्द-युग की ही भाँति दिया गया है। कुछ उपन्यासो मे सम्मिलित परिवार की उन समस्याओ पर भी ध्यान दिया गया है जो आधुनिक काल मे ही उत्पन्न हुई है। रामचन्द्र तिवारी ने 'कमला' (१९४३) मे तथा कुछ सीमा तक भैरवप्रसाद गुप्त ने 'शोले' (१९४७) मे सम्मिलित परिवार की समस्या का चित्रण और समाधान प्रेमचन्द की भाँति किया है तो उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'गिरती दीवारे' (१९४७) मे सम्मिलित परिवार की उन समस्याओ का चित्रण किया है जो आज के युग मे ही उत्पन्न हुई है।

'कमला' मे सम्मिलित ग्रामीण परिवार का और 'शोले' मे निम्न मध्यवर्गीय समाज का चित्रण है। इन दोनो ही वर्गों मे पुरानी पीढी आज भी प्राय सम्मिलित परिवार को अत्यन्त मुग्ध भाव से देखती है। वह न तो अपनी सस्कारगत भावनाओ से मुक्त हो पाती है और न उन आधुनिक सम्बन्धो को समझ पाती है जिनके कारण सम्मिलित परिवार मे विषमताएँ अवश्यम्भावी है। पुरानी पीढी तो यही चाहती है कि नारी चाहे पिसती रहे, घुटती रहे पर फिर भी जीर्ण-शीर्ण सम्मिलित परिवार के घेरे मे बनी रहे।

'कमला' मे कमला का पति रामानुग्रह नौकरी के लिए शहर चला जाता है और कमला को अपनी माँ और भाभी के पास गाँव मे ही छोड जाता है। यद्यपि रामानुग्रह अर्थोपार्जन करता है और घर को आर्थिक सहायता भी पहुँचाता हे, परन्तु क्योकि वह सदैव घर मे नही रहता इसलिए उसकी अनुपस्थिति मे उसकी माँ और भाभी कमला को दासी की भाँति समझती है और उसे नाना प्रकार से दु ख देती है और जब रामानुग्रह घर लौटता है तब उल्टे उससे कमला के बारे मे झूठी-सच्ची बाते लगाती है। अन्त मे इस कटुता से सबको मुक्त करने के लिए रामानुग्रह कमला को अपने साथ शहर ले जाना चाहता है। घर का कोई भी व्यक्ति इस प्रस्ताव के पक्ष मे नही है, किन्तु कमला, जिसने इस सम्मिलित परिवार के खोखलेपन ओर उसके विषाक्त वातावरण से प्रतिपल सघर्ष किया है, पति के साथ जाने की हठ ठान लेती है ओर रामानुग्रह और कोई रास्ता न पाकर उसको साथ ले जाता है। इस प्रकार पुरानी पीढी का सबसे प्यारा स्वप्न नष्ट हो जाता है। 'उनका सबसे प्यारा अन्तिम स्वप्न आज चकनाचूर हो गया था। वह दोनो भाइयो को बाँधकर एक स्थान पर न रख सकी थी।'[1]

सम्मिलित परिवार मे आज एक नई समस्या भी उत्पन्न हो गई है जिसका चित्रण उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'गिरती दीवारे' मे किया है। नई शिक्षा के प्रभाव के कारण युवक का हृदय प्रगति और सुख के जो स्वप्न देखने लगा है, साधारण मध्यवर्गीय नारी शिक्षा के अभाव मे अथवा अल्पशिक्षित होने के कारण उनसे प्राय अपरिचित रहती है। ऐसी स्थिति मे विवाह होने पर पुरुष स्वभावत नारी को अपने समकक्ष लाने की चेष्टा करता है। तब परिवार के बडे-बूढो की ओर से उसमे बाधाएँ खडी कर दी जाती है। नारी के लिए एक विचित्र धर्मसकट खडा हो जाता है। वह सास-ससुर, जिठानी की आज्ञा मान कर पुरानी परिपाटी से रहे या पति की इच्छानुसार नई प्रणाली अपनाये। दो जीवन-प्रणालियो का सघर्ष उसके जीवन मे उपस्थित हो जाता है। एक को प्रसन्न करने की चेष्टा मे दूसरे के असतुष्ट होने का भय उसे बराबर लगा रहता है। उदाहरणार्थ, चन्दा अपनी जिठानी के विचारो का आदर करने के कारण जेठ से पर्दा करती है तो चेतन को बुरा लगता है। बाद मे जब वह चेतन की बात मानकर जेठ से हँसती-बोलती है तो जिठानी को बुरा लगता है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब आज की नारी यह समझे कि जो मान्यताएँ एव आदर्श जर्जरित होकर नष्टप्राय हो रहे है, जो उसके विकास मे बाधा बन रहे है, उनको छोड देने मे ही समाज का कल्याण है।

सम्मिलित परिवार के सफल सचालन के लिए यह आवश्यक है कि उसके प्रत्येक सदस्य की सुख-सुविधा का समान रूप से ध्यान रखा जाये। परिवार की सम्पन्नता और विपन्नता दोनों मे सबको सम्मिलित भाग लेना आवश्यक है। प्राचीन काल मे परिवार का ज्येष्ठ सदस्य ही घर का मालिक होता था। वही घर के सारे प्राणियो की

---

१. रामचन्द्र तिवारी : 'कमला' (पृष्ठ २३७)

आवश्यकताओ का ध्यान रखता था। 'गोदान' मे गोबर जब होली के अवसर पर घर लौटता है तो वह माँ-बाप, बहिनो, पत्नी और पुत्र सभी के लिए उपहार लाता है। यही नही, वह उपहार लाने मे सबकी भिन्न-भिन्न रुचियो का भी ध्यान रखता है। गोबर की इस दूरदर्शिता से कुछ क्षण उस परिवार मे सुख के बीतते है यद्यपि अन्य अनिवार्य परिस्थितियाँ उस परिवार को भी भग कर ही देती है। परन्तु आज के युग मे एक तो आर्थिक कठिनाइयाँ और साथ-ही-साथ जीवन की आवश्यकताएँ दिन-प्रतिदिन बढती जाती है, दूसरी ओर आर्थिक उपार्जन के साधन पृथक् हो जाने के कारण सम्मिलित परिवार मे रहकर भी पति-पत्नी एक अलग इकाई बन गये है। आज का पति जितना अपनी पत्नी के बारे मे सोचता है, उतना घर के अन्य प्राणियों के लिए नही। दूसरी ओर पत्नी भी पति की सुख-सुविधा का ही विशेष ध्यान रखती है। नव-दम्पति की यह सहज-स्वाभाविक और वाछनीय घनिष्ठता भी परिस्थितिवश सम्मिलित परिवार मे अनेक कलहो का कारण बन जाती है।

'गिरती दीवारे' मे चेतन, उसकी पत्नी चन्दा, चेतन के बडे भाई और भाभी सब साथ-साथ लाहौर मे रहते है। चेतन चालीस रुपये की नौकरी करता है और उसके भाई डाक्टर है। चेतन का विवाह अभी-अभी हुआ है। वह अपनी पत्नी को आधुनिक रग मे रँगना चाहता है। इसलिए वह उसके लिए आठ रुपये खर्चकर स्वैटर-कोट खरीदता है। पर इस कोट को देखकर चन्दा की जिठानी ईर्ष्या से जल उठती है। वह अपने पति को खरी-खोटी सुनाती हुई कहती है: 'चदा को तो आठ रुपये के स्वैटर लेकर दिये जाये और मैं सर्दी मे ठिठरूँ ?'[1] अपने पति की कमाई का थोडा-सा भी भाग परिवार के दूसरे सदस्यो पर खर्च हो तो नारी को बुरा लगता है।

इसीसे मिलती-जुलती एक समस्या और है। सम्मिलित परिवार मे जितना भी काम होता है वह सब मिलकर करे तब तक तो ठीक है। पर यदि उसका एक भी सदस्य उनसे हाथ खीचना चाहे (चाहे ऐसा करने के लिए वह परिस्थितियो द्वारा बाध्य ही क्यो न हो, उनका ऐसा करने मे उसका और सारे परिवार का हित ही क्यो न हो) तो मनमुटाव और कलह अवश्यभावी है। चेतन की भाभी अपढ है, पर वह अपनी पत्नी को पढाना-लिखाना चाहता है। फलस्वरूप घर का काम-काज भाभी के सिर पर आ जाता है, और चन्दा का काफी समय पढने-लिखने, गाना सीखने मे लगता है। यह बात भाभी को फूटी आँख भी नही सुहाती। वह अपनी योग्यता और आवश्यकता का विचार न कर केवल ईर्ष्यावश स्वय भी चन्दा की भाँति रहना चाहती है। 'वह यदि पढती है, तो क्या मै नही पढती, वह तो पढने के बहाने खाट पर टाँगे फैलाये लेटी रहे और मै बाँदी बनी घर का सब काम करूँ।'[2]

---

१. उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'गिरती दीवारे' (पृष्ठ ३६३)
२. वही : (पृष्ठ ३५९)

रोज़-रोज़ की इस कलह से मुक्ति पाने के लिए चेतन के बडे भाई अपनी पत्नी को उसकी बुआ के यहाँ भेज देते है। इस प्रकार आधुनिक युग मे सम्मिलित परिवार की समस्याओ का यही एक यथार्थवादी समाधान मिलता है कि सम्मिलित परिवार को ही भग कर दिया जाय।

नैतिक मूल्यों में परिवर्तन की समस्या

नारी की नैतिकता के सम्बन्ध मे नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता प्रेमचन्द-युग मे ही स्वीकार हो चुकी थी। यदि परिस्थितियो से विवश होकर नारी को अनैतिक आचरण करना पडता है, तो उसका दोष नारी पर न होकर उन परिस्थितियो पर है, यह बात प्रेमचन्दकालीन अनेक उपन्यासो मे ध्वनित होती मिलती है। इसीसे सम्बद्ध यह भावना भी प्रचारित हो चुकी थी कि नैतिकता की कसौटी शारीरिक अथवा भौतिक कर्म की पवित्रता नही अपितु भावना और विचारो की पवित्रता है।

प्रेमचन्दोत्तर-काल मे इस सिद्धान्त का विशेष रूप से विकास हुआ, और नारी की नैतिकता के प्रश्न पर नए पहलुओ से विचार किया गया। अपढ और ग्रामीण नारी की स्थिति मे अब भी कोई विशेष अन्तर नही आया था, और वह अब भी पुरुष के हाथ की कठपुतली थी, पुरुष-समाज की स्वार्थपरता ही उसके जीवन को निर्धारित करती थी। अत लेखक अब भी यह मानकर चलता है कि पुरुष के जाल मे विवश होकर जब नारी अनैतिकता की राह पर जाती है, तो वह हमारी सहानुभूति की अधिकारिणी है। मन्मथ-नाथ गुप्त के उपन्यास 'दुश्चरित्र', 'अधेर नगरी' और 'अवसान' तथा नागार्जुन का उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' इसी उद्देश्य से लिखे गये है। इन उपन्यासो मे नारी-पात्र पुरुष की कामान्धता के कारण अनैतिक आचरण करने पर विवश होते दिखाये गये है, और उनके करुण चित्रण द्वारा नारी-जीवन की नई प्रतिष्ठा की आवश्यकता बताई गई है। पर अपनी मूल आत्मा मे ये उपन्यास प्रेमचन्द-युग से भिन्न नही है। और इसलिए उनका मन्तव्य भी उतना ही है जितना पूर्ववर्ती उपन्यासो मे प्रकाश पा चुका है।

पुरुष-समाज द्वारा निरूपित नारी-नैतिकता की कसौटी कितनी भ्रामक ओर अपूर्ण है, इसका सबसे प्रबल प्रकाश हमे जैनेन्द्र के उपन्यासो मे मिलता है। पुरुष नारी से जिस प्रकार के आचरण की अपेक्षा रखता है, वह अन्याय और अत्याचार की कोटि मे आता है। यह नारी का दुर्भाग्य ही है कि शिक्षित और आधुनिक पुरुष भी बहुधा इस तथ्य से अनजान है। यद्यपि जैनेन्द्र ने अपने अहिसावादी आदर्श के कारण ही नारी को इस अत्याचार को चुपचाप स्वीकार करते दिखाया है, पर उसके फलस्वरूप नारी को जो बलिदान करना पडता है, उससे नारी की पीडा पर तो प्रकाश पडता ही है, साथ ही नारी की सच्ची नैतिकता भी प्रतिष्ठित होती है। 'त्यागपत्र' की मृणाल और 'कल्याणी' की कल्याणी दोनो पतिव्रता है और भरसक अपने पति को सतुष्ट करने का प्रयत्न करती है। पर दोनो के ही जीवन का अन्त दुखद होता है।

'त्यागपत्र' मे प्रेम की नैतिकता का प्रश्न उपस्थित किया गया है । मृणाल किशोरावस्था मे ही शीला के भाई से प्रेम करती है, पर उसकी चिन्ता न करके उसका विवाह अन्यत्र कर दिया जाता है । मृणाल विरोध नही करती क्योंकि अभिभावको के आदेश का पालन समाज मे कर्तव्य माना गया है। उल्टे वह अपने पति को सम्पूर्ण मन से वरण करना चाहती है, उनसे कोई दुराव नही रखती।[१] फलत अपने पूर्व-प्रेम की कथा वह निश्छल हृदय से पति को बता देती है। इस सत्याचरण का परिणाम एकदम विपरीत होता है। वह पति की घृणा की भाजन बन जाती है और पति को छोड देने पर विवश कर दी जाती है। पति की इस कठिन आज्ञा का पालन मृणाल पातिव्रत के आधार पर ही करती है। वह प्रमोद से स्पष्ट कहती है "पति को मैने नही छोडा। उन्होने ही मुझे छोडा है। मै स्त्री-धर्म को पति-व्रत धर्म ही मानती हूँ। उसका स्वतन्त्र धर्म मै नही मानती। क्या पतिव्रता को यह चाहिए कि पति उसे नही चाहता तब भी वह अपना भार उस पर डाले रहे? वह मुझे नही देखना चाहते, यह जानकर मैने उनकी ऑखो के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया। उन्होने कहा—'मै तेरा पति नही हूँ।' तब मै किस अधिकार से अपने को उन पर डाले रहती? पतिव्रता का यह धर्म नही है।"[२]

इस प्रकार अभिभावक का आदेश-पालन करने के कारण मृणाल अपने प्रथम प्रेम मे निराश होती है, और पति के प्रति सत्याचरण करने के कारण पति-गृह से वचित हो जाती है। प्रचलित मान्यताओ के अनुसार जो कर्म नैतिक है, वे ही उसके दुख के निर्माता है। अप्रत्यक्ष रूप से जैनेन्द्र ने मृणाल के चित्रण द्वारा दो नए नैतिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है (१) नारी का विवाह प्रेम की परिणति के रूप मे ही हो। (२) पति-पत्नी के सम्बन्ध समानता पर आधारित हो।

मृणाल का परवर्ती जीवन आत्म-दान की प्रेरणा से उत्पन्न व्यवहार की बिडम्बना है। वह कोयले वाले के साथ रहने लगती है क्योकि उससे उसे सवेदना मिली है, और संवेदना का प्रतिदान देना वह अपना धर्म समझती है । पर अपने इस आचरण का परिणाम भी उसे स्पष्ट मालूम है। वह जानती है कि एक दिन कोयले वाला उससे उकता जायेगा, और यह भी कि अन्त मे कोयले वाले को अपने परिवार के पास लौट जाना चाहिये। यह सब जानकर भी वह दुखी नही है, क्योकि उसे लगता है कि यही उसका कर्तव्य है। और कोयले वाला जब उसे छोड जाता है, तो वह एक सभ्रान्त कुल मे बालको को पढाने

१. 'ब्याह के बाद मैंने बहुत सोचा, बहुत सोचा। सोचकर अन्त में यह पाया कि में छल नहीं कर सकती। छल पाप है। हुआ जो हुआ। ब्याहता को पतिव्रता होना चाहिए। सच्ची बनकर ही समर्पित हुआ जा सकता है।'
जैनेन्द्र : 'त्यागपत्र' (पृष्ठ ५३)

२. वही : (पृष्ठ ५३)

का काम स्वीकार कर लेती है। पर वहाँ से भी उसे चला जाना पडता है, और अन्त मे उसे वहाँ शरण लेनी पडती है, जहाँ समाज के परित्यक्त, घृणित जीव अपनी मृत्यु को घडियाँ गिनते रहते है।[१]

मृणाल के जीवन का यह अन्त प्रचलित समाज-व्यवस्था की नैतिक विफलता की घोषणा करता है। मृणाल तो त्याग और सत्यवृत्ति से अपना जीवन बिताना चाहती है, पर उसे घृणा और लाछना ही मिलती है। सारी प्रचलित नैतिकता आडम्बर और मिथ्या सिद्ध हो जाती है। 'त्यागपत्र' मे लेखक का असली उद्देश्य नैतिकता की इस घोर समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट करना ही है, इसका निश्चित प्रमाण है। सारी कथा प्रमोद के माध्यम से कही गई है। जो जज है—न्यायाधीश, और जो बुआ के जीवन पर विचार करता है और पाता है कि न्याय के नाम पर बुआ के साथ घोर अन्याय हुआ है। बुआ के मन की सत्यनिष्ठा, आत्म-त्याग और बलिदान की भावना प्रमोद पर प्रकट है। इसीलिए वह बुआ को पापिष्ठा कहने के स्थान पर पाप-पुण्य की कसौटी की ही परख मे लग जाता है और अन्त मे अपने पद से त्याग-पत्र दे देता है, क्योकि जिस समाज मे न्याय की कसौटी ही गलत हो, उसमे न्यायाधीश अन्यायाधीश ही बन जायेगा। 'त्यागपत्र' इस प्रकार नारी-चरित्र की नैतिकता के पुनर्मूल्याकन की अत्यन्त प्रभावोत्पादक और मर्मभेदी पुकार है।

इलाचन्द्र जोशी ने नैतिकता के प्रश्न पर एक नये पहलू से प्रकाश डाला है। परिस्थितियो की विवशता के कारण जब व्यक्ति के सामने कोई विकल्प नही बचता तब उसके बुरे-से-बुरे आचरण को भी अनैतिक कहना उचित नही है, यह बात प्रेमचन्द और उनसे भी अधिक जैनेन्द्र कहते जान पडते है। पर ये परिस्थितियाँ केवल बाहरी ही नही होती, मानसिक परिस्थितियाँ भी उतनी ही प्रबल होती है, यह स्थापना मनोविश्लेषणवादी जोशी जी ने ही की है। इसीलिए वह मानसिक विकृति अथवा कुण्ठा से उत्पन्न आचरण को अनैतिक नही मानते, क्योकि उसकी विवशता के कारण भी व्यक्ति के सामने कोई विकल्प नही होता। 'पर्दे की रानी' उपन्यास मे निरजना का चरित्र और व्यवहार ऐसी कोटि का है जो साधारणत नैतिकता की परिधि मे नही आता। इन्द्रमोहन को अपने रूप से आकर्षित करते रहना और उसके पास आने पर भी उसे दूर रखना, यह नारी-सुलभ आचरण नही है। इसी प्रकार अपनी सखी शीला के साथ इन्द्रमोहन का विवाह हो जाने पर भी वह इन्द्रमोहन के साथ ऐसा खुला और उच्छृखल व्यवहार करती रहती है जो शीला को तो बुरा लगता ही है, समाज-सम्मत नैतिकता के भी विरुद्ध है। पर निरजना के इस विचित्र और अनैतिक आचरण का मूल जोशी जी उसके सस्कारो और मान-

---

१. **'दर-दर भटकी हूँ और मैने सीखा है कि इन दुर्जन लोगों की सद्भावना के सिवा मेरी कुछ और पूँजी नहीं हो सकती।'**
जैनेन्द्र : 'त्यागपत्र' (पृष्ठ ७९)

सिक परिस्थितियो मे देखते है। वेश्या-पुत्री होने के कारण पुरुष को लुभाना उसका सस्कार है, सामाजिक अवहेलना की पात्री होने के कारण प्रतिक्रिया-स्वरूप समाज मे भद्र कहलाने वाले प्राणियो को कष्ट पहुँचाना और भटकाना उसकी मानसिक विकृति है, और अपने हीन-जन्म से उत्पन्न हीन-भावना की सतुष्टि के लिए समर्थ और सदाचारी व्यक्तियो को हीन सिद्ध कर देना उसके अवचेतन की कामना है। इस प्रकार जोशी जी निरजना के माध्यम से नारी के मनोविश्लेषण की महत्ता सिद्ध करते है। अब तक के उपन्यासकार सामाजिक परिस्थितियो को बदलने की आवश्यकता की ओर सकेत करते रहे थ। जोशी जी पहली बार यह कहते मिलते है कि नारी के आचरण को सही तौर पर समझने के लिए उसके सस्कार और मानसिक ग्रन्थियो का अध्ययन अनिवार्य है।

परन्तु समाज मे प्रचलित नैतिक-व्यवस्था पर सबसे प्रबल आघात यशपाल ने किया है। यशपाल मार्क्सवादी है और उन्होने अपने उपन्यासो को मार्क्सवादी सिद्धान्तो के प्रतिपादन का साधन बनाया है। उनका निश्चित मत है कि नैतिकता का सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से अटूट सम्बन्ध है, और इस सबन्ध मे परिवर्तन होते ही नैतिकता के मूल्यों मे परिवर्तन होना अनिवार्य है। अत वे किसी भी नैतिक नियम को शाश्वत् नही मानते। उनकी इस मतवादिता के कारण यशपाल के नारी-पात्रो का चरित्र एक विशिष्ट प्रकार का हो गया है। वे प्रायः प्रत्येक क्षेत्र मे पुरुषो से समानता का दावा करती है, पातिव्रत्य या अनन्य प्रेम को वर्गवादी स्वार्थ-भावना के रूप मे देखती है,[1] और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अथवा आत्म-सुख के लिए स्वतन्त्र रूप से किये गए अपने आचरण को अनैतिक मानने से इन्कार करती है।[2] जो समाज इसे अनैतिक मानता है, वे उस समाज को ही बदल देने मे विश्वास करती है, और भरसक अपने विश्वासो को व्यवहार मे परिणत

---

१. 'यदि स्त्री को किसी-न-किसी की बनकर ही रहना है तो उसकी स्वतन्त्रता का अर्थ ही क्या हुआ?

'जब स्त्री को एक आदमी से बँध जाना है और सामाजिक अवस्थाओ के अनुसार उसके अधीन रहना है, उस पर निर्भर करना है; उस सम्बन्ध को चाहे जो नाम दिया जाय, वह है स्त्री की गुलामी ही।'

यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ ३७)

२. शैल अपने पिता से कहती है : 'मै अपने किसी भी काम के लिए अपनी विवेक-बुद्धि के सामने लज्जित नहीं हूँ. . .मुझे पछतावा भी नहीं। यदि मै अपने आपको कलंकिनी समझती तो अपना जीवित मुख संसार को कभी न दिखाती. . .एक ही दो दिन में मै यहाँ से चली जाऊंगी। ऐसी किसी जगह, जहाँ से मेरे कार्यों के कारण आपको लज्जित न होना पड़े।'

वही : (पृष्ठ २२४)

करने का प्रयत्न करती है। ऐसे आचरण से नारी की आत्मनिर्भरता और आत्म-सम्मान की घोषणा तो हो जाती है, पर उसकी नैतिकता विवादास्पद ही रह जाती है।

यशपाल ने अपने उपन्यास 'दादा कामरेड' मे पहला प्रहार पातिव्रत-धर्म पर किया है। मार्क्सवाद का सिद्धान्त है कि पूँजीवादी व्यवस्था मे पति-पत्नी के सम्बन्ध भी स्वार्थ पर ही आश्रित होते है, सच्चे प्रेम सम्बन्ध तो केवल समाजवादी व्यवस्था मे ही स्थापित हो सकते है। इसी को चित्रित करने के उद्देश्य से मानो 'दादा कामरेड' की शैल को बहु-पुरुष-गामिनी दिखाया गया है और उसकी तेजस्विता को अक्षुण्ण रखकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि जो आचरण नारी के व्यक्तित्व को शक्ति और तेज देता है वह अनैतिक नही हो सकता।[1] इसी प्रकार उनके परवर्ती उपन्यास 'मनुष्य के रूप' की सोमा अनेक पुरुषो के ससर्ग मे आती-जाती सामाजिक उन्नति के शिखर पर पहुँचती है और यह सिद्ध कर देती है कि वर्तमान समाज की नैतिक व्यवस्था केवल एक आडम्बर है।

बहु-पुरुष-गमन के साथ अटूट रूप से जुडी हुई समस्या है अवैध सतान की। पुरुष और नारी को समानाधिकार देने के बाद भी नारी की यह एक विवशता है कि अवैध सम्बन्ध का कडवा फल उसीको चखना पडता है। युगो से नारी इस विवशता के कारण लाछन और तिरस्कार की पात्री रही है। इसलिए यशपाल नारी को उसकी इस अक्षमता से मुक्ति दिलाने के लिए नि सकोच गर्भ-निवारण की छूट देते है।[2] यही नही, अवाछित शिशु को ससार मे लाकर दु ख का भागी बनाने की अपेक्षा वह गर्भ-निरोध को ही श्रेयस्कर समझते है।[3]

---

१. **'जिस व्यक्ति में इतना साहस हो, वह कभी नीच नहीं हो सकता। ...यही तुम्हारी वीरता और आत्मसम्मान है, जहाँ इतना साहस किया है।'**
यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ ४९)

२. **'किसी भी जीव को समाप्त कर देना निर्दयता ही है। यह सोचो, फ्लोरा की सन्तान उसकी गोद में खेलेगी तो उसे जीवन में कितना उत्साह, कितनी शान्ति मिलेगी? परन्तु यह भी सोचो, यदि यह सन्तान फ्लोरा के जीवन को केवल संकटमय बना दे; और स्वयं उसके जीवन के लिए समाज में कोई स्थान न हो; तो उसे केवल घृणा और धिक्कार का पात्र बनाने के लिए संसार में लाना कितना अन्याय है? सब कुछ समाज की अवस्था पर निर्भर करता है।'**
वही : (पृष्ठ १६१-१६२)

३. **'मैं समझता हूं, मौजूदा समाज में गर्भ-निवारण (birth control) के बिना निर्वाह नहीं। ...बहुत से लोग कहते है गर्भ-निवारण-प्रकृति विरुद्ध है। मै पूछता हूं—जब प्रकृति तीव्र इच्छा उत्पन्न करती है तो उसे रोकना प्रकृति विरुद्ध है या नहीं? और जिन जीवों के लिए समाज में स्थान नही, उन्हें पैदा कर देना भी प्रकृति-विरुद्ध है या नहीं?...' वही : (पृष्ठ १६२-१६३)**

अन्य मार्क्सवादियो की भॉति यशपाल भी यह मानते है कि पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करके नई समाजवादी व्यवस्था के लिए कार्य करना इस युग के व्यक्ति का परम और एकमात्र धर्म है। व्यक्ति के सारे आचरण को वे इसी कसौटी पर कसते है और उसके कर्म की नैतिकता अथवा अनैतिकता का निर्णय भी इसी आधार पर करते है। यदि नारी के रूप से, यही नही, उसके प्रेम-प्रदर्शन से भी इस उद्देश्य की पूर्ति हो तो उसका सहारा लेने मे उन्हे कोई आपत्ति दिखाई नही देती। क्योकि जो कार्य हमे अपने उद्देश्य की पूर्ति करने मे सहायक हो वह अनैतिक कैसे हो सकता है ? और जब इतनी सीधी-सी बात 'पार्टी कामरेड' गीता की समझ मे नही आती तो उपस्थित कामरेड उसको नैतिकता के मार्क्सवादी विश्लेषण पर पूरा एक भाषण दे डालते है।[1] गीता यद्यपि फिर भी इतस्तत करती रहती है, पर साथियो के ये तर्क अन्त मे उसको भी सगत लगने लगते है।[2] और फिर गीता अपनी सुन्दरता पर लुब्ध भावरिया को दल के उद्देश्य का साधन बनाने मे बिल्कुल नही हिचकिचाती।[3]

यशपाल द्वारा की गई नैतिकता की यह व्याख्या वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त पर आधारित है, पर इसकी अपूर्णता स्वय सिद्ध है। इसी झोक का यह परिणाम है कि यशपाल के नारी-चरित्र यथार्थ जीवन से लिये गए नही लगते। अपितु सिद्धान्त-विशेष के सॉचे मे ढाले गए लगते है। दूसरे, मानव-जीवन सम्पूर्णत आर्थिक व्यवस्था पर टिका हुआ नही है, और उसका ऐसा सरलीकरण जीवन को सुलझाने की अपेक्षा नई गुत्थियों मे उलझाता है। फिर, यह भी सत्य है कि कोई भी सामूहिक सिद्धान्त व्यक्ति पर एक सीमा तक ही लागू किया जा सकता है, उस सीमा का अतिक्रमण सम्पूर्ण समाज के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

आधुनिक उपन्यास के क्षेत्र मे भी यही हुआ है। यशपाल तो अपनी सिद्धान्तशीलता के कारण प्रचलित नैतिकता की उपेक्षा करने पर भी अश्लीलता के आरोप से बच गए है पर अधकचरे सिद्धान्तवादियो के हाथ मे नैतिकता की यह व्याख्या अनैतिकता के समर्थन की सीमा तक पहुँच गई है। पातिव्रत धर्म पूंजीवादी व्यवस्था का ही अग है यह मानकर सर्वदानद वर्मा ने 'नरमेध' मे ज्योति का जो चित्रण किया है, वह व्यभिचार ही कहलायेगा। वृद्ध पति से असतोष होने पर तलाक का अधिकार मॉगना तो न्याय-सगत है, पर वृद्ध पति की अक्षमता और सम्पत्ति के सहारे नित्य नए भोग-विलास मे रत रहना शायद यशपाल का भी समर्थन न पा सके। विवाह-बधन और उसकी पवित्रता को अमान्य करना अथवा अनावश्यक ठहराना प्रगति नही, प्रतिगामिता है। बर्बर जीवन से सभ्य जीवन की ओर

---

१. यशपाल : 'पार्टी कामरेड' (पृष्ठ २९-३१)
२. वही : (पृष्ठ ३३)
३. वही : (पृष्ठ ५३-५४)

मनुष्य की यात्रा जिस सिद्धान्त के सहारे सभव हुई है, उसको तिलाजलि देकर हम बर्बरता की ही ओर जा सकते है।

नारी के राजनैतिक जीवन की समस्याएँ

प्रेमचन्द-युग मे ही नारी ने देश की स्वतन्त्रता के आन्दोलन मे भाग लेना शुरू कर दिया था। आधुनिक काल मे उसने धीरे-धीरे अपनी सामाजिक-राजनैतिक चेतना का यथेष्ट विकास किया और अब वह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के प्रति पूर्णत. सचेष्ट हो गई।

यो तो बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे ही कुछ विशिष्ट महिलाओ ने मुक्ति-सघर्ष मे भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था, यहाँ तक कि आतकवादी आन्दोलनकारियो मे भी कुछ साहसी महिलाएँ सम्मिलित थी, पर गाधी जी के नेतृत्व मे जो राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ हुआ उसने महिलाओ के जीवन पर व्यापक प्रभाव डाला। अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा और अखिल भारतीय महिला सघ के आह्वान पर महिलाओ ने राजनैतिक कार्यों मे सक्रिय योग दिया। अब राजनैतिक सघर्ष और भी तीव्र हो चला था, नारी शिक्षिता और विकसित होकर अधिकाधिक सक्रिय और समर्थ हो चली थी, साथ ही देश की मुक्ति की अनिवार्यता महिलाओं की स्थिति को भी अनुरूपित कर रही थी। इसीलिए सन् बयालीस के 'भारत छोडो' आन्दोलन मे महिला-विद्यार्थियो और युवतियो ने अभूतपूर्व ढग से भाग लिया। श्रीमती अरुणा आसफ अली और श्रीमती इन्दिरा गाँधी इसी आन्दोलन के फलस्वरूप देश की प्रमुख नेत्रियाँ बन गई। इसी समय मे जब विदेशी साम्राज्यवाद की कूटनीति के कारण भारतीय साम्यवादी दल को वैध रूप से कार्य करने की छूट मिली, तब वर्ग-सघर्ष और सामाजिक क्रान्ति की पुकार पर अनेक महिलाएँ कम्युनिस्ट पार्टी मे काम करने के लिए अग्रसर हुई। उसके बाद साम्प्रदायिक मेल के प्रयत्नो मे, देश की मुक्ति के उष.काल मे, देश-विभाजन से उत्पन्न शरणार्थी-समस्या को सुलझाने मे और नये राष्ट्र की नयी यात्रा मे महिलाओं ने प्राय पुरुषो के समान ही भाग लिया।

आधुनिक हिन्दी-उपन्यासो मे नारी के इस दिनोदिन बढते राजनैतिक योगदान को कई स्तर पर और कई पहलुओ से चित्रित किया गया है। शुरू के कुछ उपन्यासो मे अभिजात-वर्गीय महिलाओ का योगदान चित्रित किया गया है, जो वर्गीय वैभव-विलास के बीच भी देश-सेवा की प्रेरणा से या दलितो को उठाने की प्रेरणा से राजनीति के क्षेत्र मे प्रवेश करती है। यह चित्रण अधिकतर आदर्शवादी अथवा स्वप्नशील ढग पर मिलता है। बाद के उपन्यासों मे लेखक की दृष्टि अधिक यथार्थवादी होती जान पडती है, और मध्यवर्गीय महिलाओं के राजनैतिक सघर्ष का भी अकन मिल जाता है। पर इस एक बात मे ये उपन्यास मिलते है कि राजनैतिक क्षेत्र मे महिलाओं के आने से उनके, उनके परिवार के, और अन्य सम्बन्धित व्यक्तियो के सामने जो प्रश्न आ खडे होते है, उनकी अनदेखी किसी ने नही की है।

इस दृष्टि से एक तथ्य और महत्वपूर्ण है जिसका यहाँ उल्लेख करना समीचीन होगा। यद्यपि भारतीय आतकवादी आन्दोलन राष्ट्रीय चेतना के साथ ही जोर पकडने लगा था, और बीच-बीच मे उसके सदस्य अपने कारनामो से विदेशियो और देशवासियो को चौकाते रहते थे, पर प्रेमचन्द-युग तक के उपन्यासों मे न तो उस आन्दोलन का ही चित्रण मिलता है, न उसमे नारी के योग का ही। इसके कई कारण है। आतकवादियो की गतिविधि को मुख्य कथानक के रूप मे प्रस्तुत करना विदेशी शासन को ग्राह्य नही था, गाधी जी के नेतृत्व मे अहिसात्मक जन-आन्दोलन के विकास के कारण साधारणत लेखको का ध्यान उसी ओर था, और तीसर, उस आन्दोलन से जिन व्यक्तियो का घनिष्ठ परिचय था, और जो उसका चित्रण करने का साहस भी कर सकते थे और एक सीमा तक वैसा करना अपना कर्तव्य भी समझते थे, वे लगभग सन् १९३५ तक जेलो मे बन्द थे और लिखने की स्थिति मे नही थे। आतकवादी अपना कार्य अत्यन्त गोपनीय और समुदायगत प्रणाली मे करते थे, और उनके कार्यों की यह गोपनीयता एक ओर उन्हे कुछ आकर्षण प्रदान करती थी तो दूसरी ओर उनके सम्बन्ध मे अनेक झूठी-सच्ची बातो को प्रश्रय देती थी। वैसे भी, आतकवाद की मूल प्रेरणा वैज्ञानिक जन-सिद्धान्तों पर आश्रित न होकर भावावेशयुक्त प्रचण्ड व्यक्तिवाद पर आधारित थी। यह बात उसकी सफलता को असभव बनाती थी और उसमे भाग लेने वाले व्यक्तियों के मन और क्रिया-कलाप को विचित्र और असाधारण। आतकवादी युवक जहाँ आत्म-बलिदान मे दृढ़-सकल्प और साहस का परिचय देता था, वही वह अपनी अनुभवहीन स्वप्नशील गति के कारण नाना प्रकार की चारित्रिक त्रुटियो का शिकार होता था। नारी से अपरिचय के कारण वह बहुधा उसको एक विचित्र ललक से देखता था, और यौन-आकर्षण के आगे उसका मन सहज ही घुटने टेक देता था।

इस पहलू का बडा बेजोड चित्रण जैनेन्द्र के 'सुनीता' मे मिलता है। हरिप्रसन्न आतकवादी क्रान्तिकारी है, और सुनीता के पति श्रीकान्त का मित्र है। वह कुछ दिन के लिए उनके घर आकर आश्रय लेता है। उसका विचित्र व्यक्तित्व सुनीता के लिए पहले सहज कौतूहल का और फिर नारी-सुलभ सहानुभूति का विषय बन जाता है। हरिप्रसन्न शायद इसके पूर्व कभी नारी के इतने निकट सम्पर्क मे नही आया था। वह अचानक निश्चय करता है कि सुनीता ही वह देवी है जो उसके दल की नेत्री बने और उसके सदस्यो को प्रेरणा और स्फूर्ति दे।[1] सुनीता सच्चे अर्थो मे गृहिणी है, वह पहले सकुचाती है,[2] पर हरिप्रसन्न अपने तर्को से उसे हराकर अन्त मे सहमत कर लेता है।[3] दोनो पक्षों की इन प्रतिक्रियाओ से जैनेन्द्र ने नारी की वस्तु-स्थिति और आतकवादी आन्दोलन की कमजोरी पर प्रकाश डाला है। सुनीता अपने घर मे पूर्णत समर्पित होने के कारण हरिप्रसन्न के

१. जैनेन्द्र : 'सुनीता' (पृष्ठ १३१-१३२)
२. वही : (पृष्ठ १४४-१४५)
३. वही : (पृष्ठ १५३-१५४)

व्यवहार से तनिक भी कुण्ठित नही होती, पर हरिप्रसन्न भावावेश मे उससे प्रणय-निवेदन कर अपने-आपको अविश्वसनीय और अनुभवहीन सिद्ध कर देता है।[1]

अपने दैनिक जीवन मे नारी और गृहस्थी को बधन मान कर चलने वाला आतकवादी इसीलिए नारी के मोह को जीत नही पाता। जो महिलाएँ इस आन्दोलन की ओर आकृष्ट होती है वे समानता और स्वतन्त्रता के भ्रम मे यौन-उच्छृखलता का ही व्यवहार करती है। कम-से-कम साधारण जनता उनके चरित्र के सम्बन्ध मे आश्वस्त नहीं रहती। यही नही, आतकवाद क्योकि समाजवादी सिद्धान्तों का नारा लगाता रहता है, इसलिए साधारण जनता आतकवादी और साम्यवादी मे कोई विभेद नही कर पाती। 'अज्ञेय' के 'शेखर एक जीवनी' मे स्पष्ट ही शेखर आतकवादी दल से सम्पर्क रखता है, और इसी रूप मे राजनैतिक जीवन मे भाग लेता है। शशि, उसकी मौसेरी बहन, उसके प्रति बचपन से ही कोमल भाव रखती है। उसके स्नेह मे न कोई कलुष है, न स्वार्थ। पर आतकवादी शेखर का सम्पर्क शशि को दुश्चरित्रा सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जब शशि का पति उसके इस सम्पर्क को सहन नही कर पाता तो वह शशि को घर से निकाल देता है। शेखर के समझाने पर उसे जो प्रत्युत्तर सुनना पडता है वह आतकवादियो के सम्बन्ध मे साधारण जनता की भावना का प्रतिबिम्ब है।[2]

---

१. 'मै कुछ नहीं जानता। मै कुछ नहीं जानना चाहता, सुनीता, दो तीन रोज मुझे और मिलेंगे। मै कहाँ जाऊँगा, क्या करूँगा, नहीं जानता। सुनीता—

'तुम क्या चाहते हो हरि बाबू?'

'क्या चाहता हूँ? तुम पूछोगी—क्या चाहता हूँ? तो सुनो, तुमको चाहता हूँ समूची तुमको चाहता हूँ। उसके बाद—'

'तो मै तो हूँ। तुम्हारे सामने हूँ। ले क्यों नहीं लेते हो?'

हरिप्रसन्न का हाथ घूमता-घूमता सुनीता की बाहु पर रुक गया था; वही पर रुका रहा। बोल उठा, 'भाभी।'

'तुम्हें काहे की झिझक है, बोलो। मैने कभी मना किया है? तुम मरो क्यों? मै तो तुम्हारे सामने हूँ। इन्कार कब करती हूँ? लेकिन अपने को मारो मत। हरि बाबू, मरो मत, कर्म करो। मुझे चाहते हो, तो मुझे ले लो।'...

और उसने अपने चारों ओर से साड़ी हटाना शुरू कर दिया...हरिप्रसन्न ने दोनों हाथों से अपनी आँखें ढक लीं। उसके मुँह से शब्द नहीं फूट सका। सर्वथा पराभूत वह अपनी पराजय में गड़ जाने लगा। लज्जा ने उसे जमा दिया। 'भाभी-भाभी।' कहता हुआ हाथ से आँखें मीचे-मींचे उठा और मुँह फेरकर वहाँ से चल पड़ा। कहा, 'भाभी, बस। मुझे मारो मत, मारो मत।'

जैनेन्द्र : 'सुनीता' : (पृष्ठ १८०-१८१)

२. 'यही असली पाजी है, कम्युनिस्ट बना फिरता है। अभी साल की जेल काटकर आया

पति-गृह से तिरस्कृत हो कर शशि शेखर के साथ रहने लगती है और धीरे-धीरे उसके राजनैतिक कार्यो मे हाथ बॅटाना शुरू करती है।[1] पर आतकवादी जीवन एक तो यो ही अस्वाभाविक जीवन है तिस पर शेखर और शशि का सम्बन्ध उस जीवन को और भी अस्वाभाविक बनाता है। इसलिए शेखर के सारे यत्न और स्नेह के होते हुए भी शशि के मन का एक भाग उदास और अतृप्त रहता है। ऐसे समय मे जनता मे प्रचलित भ्रम के कारण शशि को एक सभा मे उपहास और तिरस्कार का शिकार बनना पडता है। शशि का अल्प राजनैतिक जीवन यही समाप्त हो जाता है। और वह शेखर को अपने प्राणो का निश्छल प्रेम देती हुई भी विफलता की ही मृत्यु पाती है। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि शशि आतकवादी जीवन मे स्वेच्छया अथवा राजनैतिक विश्वास के माध्यम से नही आई। वास्तव मे आतकवादी सिद्धान्तो मे उसकी कोई आस्था नही। इसलिए वह अपने तिरस्कार की चोट नही सह पाती और अपने प्राणो की आहुति देकर केवल अपने प्रेम को ही सिद्ध करती है।

'सुनीता' और 'शेखर एक जीवनी' मे आतकवादी आन्दोलन मे नारी की स्थिति का जो कुछ भी रूप मिलता है वह केवल प्रसगवश ही है। इन उपन्यासो की मूलवस्तु वह नही है। इस दृष्टि से यशपाल का 'दादा कामरेड' बिल्कुल भिन्न है। इस उपन्यास मे लेखक ने १९३० से १९३५ तक के भारतीय राजनैतिक जीवन को यथासम्भव सतुलित दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है। यह वह काल है जब भारत की राजनीति मे तीन विभिन्न स्वरों पर महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। एक तो आतकवादी दल अपने प्रयासों की विफलता का अनुभव करने के कारण और मार्क्सवादी सिद्धातो का परिचय पाने के कारण धीरे-धीरे साम्यवादी दल मे मिलता जा रहा थी। दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एक अस्पष्ट लक्ष्य न रहकर स्पष्ट उद्देश्य बन चुका था और उसके आर्थिक, सामाजिक पहलुओ पर ध्यान जाने लगा था, तीसरे काग्रेस के जन-आन्दोलन के फलस्वरूप राष्ट्रीय

है, भले घर में कोई घुसने नही दे; कम्युनिस्ट तो औरत को साझा माल मानते है, नास्तिक ! इनका तो काम ही है लड़कियों को बरगलाना और सुधार के नाम पर रंडियाँ बनाना। टुच्चे तो होते है, पैसा पास नही होता, सस्ता तरीका यही है। पहले बहिन, फिर कामरेड, फिर रंडी। किसी का घर बिगड़े इन्हें क्या—इन्हे तो रंडी मिलती है—भले घर की, जवान, और मुफ्त।'
'अज्ञेय' : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १७८)

१. 'वह देखता था कि शशि उसके काम मे हाथ बँटा रही है और समाज-शास्त्र का जो अध्ययन उसने बीच में छोड़ दिया था उसे आगे बढाती हुई निरन्तर पढ़ती और संकलन करती रहती है।...'

शशि भी थोड़ा-थोड़ा लिखने लगी, और मुद्रण के काम मे भी सहायता देने लगी, दो-एक बार घूमकर छिपे-छिपे पर्चों का वितरण भी कर आई।'
वहीं : (पृष्ठ २०४-२०५)

चेतना जन-साधारण तक पहुँच चुकी थी और मध्यवर्ग के जीवन मे वह एक ठोस सत्य बन-कर उतर आई थी। 'दादा कामरेड' मे इन तीनो परिवर्तनो का यथार्थवादी चित्रण है और इसीलिए नारी के राजनैतिक जीवन की भी उसमे विस्तृत विवेचना मिलती है। एक ओर उच्चवर्गीय शैल है जो हरीश के माध्यम से आतकवादियो से सहानुभति रखती है, दूसरी ओर मध्यवर्गीय यशोदा है जो शैल के माध्यम से राजनैतिक जीवन मे प्रविष्ट होती है और तीसरी ओर नैनसी है जो हरीश के लुभावने व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट होकर उसके राजनैतिक कार्य मे रुचि लेने लगती है।

मुख्य रूप से 'दादा कामरेड' मे शैलबाला का ही चित्रण है। वह शिक्षित है, उसके पिता धनी है, इसलिए वह समर्थ है और आतकवादियो से सहानुभूति होने के कारण वह उन्हे अपने यहाँ शरण देती रहती है। पुरुषो की दासता उसे स्वीकार नही, विवाह को वह बधन मानती है और क्षणिक आवेग मे तन अर्पित कर देने पर भी सकुचित नही होती। हरीश के प्रति उसका विशेष अनुराग है और इसलिए वह अन्य आतकवादियो की ईर्ष्या और भर्त्सना की पात्री बन जाती है। हरीश को ही सबसे पहले अपने आन्दोलन की भूलें मालूम होती है और वह धीरे-धीरे जन-आन्दोलन के पक्ष मे हो जाता है। उसके साथी उसे इसकी कायरता समझते है और उस पर नारी के मोह मे पड जाने का आरोप लगाते है। इस आरोप का खण्डन करते हुए हरीश जो उत्तर देता है उसमे नारी के सही राज-नैतिक सहयोग की रूप-रेखा है।[1] पर उसके साथी अपनी मिथ्या धारणा मे उस पर विश्वास नही करते। पार्टी के दादा शैलबाला से जो प्रश्नोत्तर करते है उससे यह स्पष्ट है कि वे पुरुष और नारी मे एक ही प्रकार के सम्बन्ध की सम्भावना देखते है—यौन-सम्बन्ध।[2]

---

१. 'बाकी रहा प्रेमिका बनाने के लिए लड़की को दूसरों से न मिलने देना, यह बिल्कुल बकवास है। कोई किसी से न मिलना चाहे तो मै जबरदस्ती किसी को गले नहीं बाँध सकता।...और यदि मै समझता हूँ, कोई लड़की घर छोड़ने के बजाय हमारे काम को घर पर रहकर अधिक अच्छी तरह कर सकती है तो उसे वहीं रहने दिया जाये, न कि अपने शौक के लिए उसे साथ लिये फिरा जाये। जिस लडकी का जिक्र है मै जानता हूँ, वह अपनी जगह पर ही अधिक उपयोगी हो सकती है। यदि वह वहाँ से आकर अधिक उपयोगी हो सकती तो दूसरी बात थी।'
यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ ६०)

२. "दादा ने और अधिक तीव्र स्वर मे पूछा : 'अच्छा हरीश से क्या सम्बन्ध है?'
अधिक विस्मित हो शैलबाला ने उत्तर दिया : 'क्यों? वे मेरे फ्रेण्ड (मित्र) है।'
दादा की आँखो के सुर्ख डोरे फैल गये। अपने-आपको रोकते हुए उन्होने कहा, 'फ्रेण्ड. फ्रेण्ड के क्या माइने? लड़कियों और लड़कों की फ्रेण्डशिप (मित्रता) के क्या माइने?'"
वही : (पृष्ठ ९२)

यह वही स्थिति है जिसका आभास 'सुनीता' और 'शेखर एक जीवनी' मे भी मिलता है और जो अपने जीवन मे नारी को अस्वाभाविक रूप से दूर रखने का ही परिणाम है। जिस प्रकार हरीश शैल को आवृत देखना चाहता है और देखकर तृप्ति अनुभव करता है, वह आतकवादी राजनैतिक जीवन की अस्वाभाविकता ही सिद्ध करता है।[1]

नारी के राजनीति मे प्रवेश करने से राजनैतिक जीवन मे उनके सम्बन्धो को लेकर जो उचित-अनुचित चर्चा होने लग जाती है वह अत्यन्त जटिल समस्या बन जाती है और समाज मे नारी की स्थिति विषयक एक और सकट खडा कर देती है। कभी-कभी तो यह स्थिति इतनी विषम हो जाती है कि नारी के सामने विकल्प का प्रश्न आ खडा होता है। या तो वह राजनीति से हाथ खीच ले या वह अपने परिवार से अलग रहे। यशोदा के पति स्वय काग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता है। पर यशोदा को काग्रेस का कार्य करते नही देख सकते।[2] अपनी पत्नी का बाहर आना-जाना उन्हे पसन्द नही। एक बार हरीश ने जब उनके यहा पुलिस से अपनी जान बचाने के लिए शरण ली थी, तब उसकी मुलाकात केवल यशोदा से ही हुई थी, यशोदा के पति से नही। इस घटना को यशोदा वचनबद्ध होने के कारण पति को नही बताती, यद्यपि हरीश की वीरता से वह इतनी प्रभावित है कि वह अपने बालक के लिए बन्दूक का ही खिलौना खरीदती है। बाद मे हरीश जब यशोदा से परिचित की भाँति आलाप करता है तो अमरनाथ का माथा ठनक जाता है और वह तुरन्त अपनी पत्नी के चरित्र पर सन्देह करने लगता है। और जब शैल की प्रेरणा से यशोदा पति के क्रोध की परवाह न करके राजनैतिक कार्यो मे भाग लेती रहती है तो उसका दाम्पत्य-जीवन टूटने को हो जाता है।

'दादा कामरेड' मे वर्ग-सघर्ष के उग्र होते हुए रूप का चित्रण मिल-मजदूरो की हडताल के माध्यम से किया गया है। इस हडताल मे कम्यूनिस्ट और काग्रेस दोनो दलो के सदस्य मजदूरो का नेतृत्व करते है परन्तु बाद मे केवल साम्यवादी ही मैदान मे रह जाते है। शैल के पिता उसको हडताल की हानि बताते हुए वर्ग-स्वार्थ का पाठ पढाने की चेप्टा करते हैं

---

१. 'देखो शैल, मुझे ऐसा अनुभव होता है जैसे बहुत कुछ पा लिया। एक पूर्णता-सी. . .जैसे तुम मेरी हो और मै तुम्हारा ! और इसी भरोसे में अपने बीहड़ मार्ग पर बढ़ता चला जाऊँगा। नही तो तुम्हारे सामने अपराधी होऊँगा।'
यशपाल : 'दादा कामरेड': (पृष्ठ १४०)

२. यशोदा सोचती है : 'यह मेरा अपमान क्यों कर रहे हैं, मुझ पर ज्यादती क्यों कर रहे है? . . .आखिर मैंने किया क्या है? यही न कि एक आदमी से मेरे परिचय का इन्हें पता लगा? . . .मैंने इन्हे यह नही बताया कि मैंने काग्रेस में काम करने की बाबत बातचीत की है? . . .यह आठ बरस से काग्रेस का काम कर रहे हैं। मैंने तो कभी इनसे नही पूछा कि वे क्या और क्यों कर रहे है?
वही : (पृष्ठ १४४)

और जब वह अपने पथ से विमुख नही होती तब उससे बोल-चाल ही बन्द कर देते है। इसी प्रकार जब साम्यवादी कार्यकर्ता मजदूरो के लिए सहायता की भीख माँगने निकलते है तो उन्हे कभी-कभी जो झिडकियाँ सहनी पडती है उसमे नारी का अपमान और तिरस्कार प्रमुख है।[1] इस प्रकार हम देखते है कि राजनैतिक चेतना यदि एक ओर नारी को समर्थ और स्वतन्त्र बनाती है, तो दूसरी ओर वह उसके लिए नई समस्याएँ भी उत्पन्न कर देती है।

नारी को राजनैतिक जीवन मे भाग लेने से रोकने के कई कारण हमे इन उपन्यासो मे मिलते है। एक कारण तो यह विचार है कि नारी का स्वाभाविक कार्यक्षेत्र घर है, बाहर नही। यद्यपि इसका आशिक चित्रण 'सुनीता' मे मिलता है, तथापि इसका विस्तृत और सम्यक् चित्रण 'देशद्रोही' की विधवा राज मे मिलता है, जिसे काग्रेस के कार्यों मे भाग लेने के कारण सास, जिठानी और ससुर सभी के ताने सुनने पडते है। दूसरा कारण यह है कि राजनैतिक जीवन मे भाग लेने वाली अधिकाश नारियाँ उच्छृखल हो जाती है। समानता और स्वतन्त्रता के लिए लडने वाली नारी स्वभावत अपने जीवन मे भी उन सिद्धान्तो को ढालने का प्रयत्न करती है। तब पुरुष की लोलुप वृत्ति के कारण, अधकचरे ज्ञान और अनुभवहीनता के कारण, अथवा समानता और स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे भ्रमपूर्ण धारणाओ के कारण साधारण समाज मे उसका आचरण निन्दा और आलोचना का विषय बन जाता है। यद्यपि इसमे सदेह नही कि इस आलोचना के मूल मे जन-साधारण का पिछडापन और प्राचीन सस्कार भी काम करते रहते है, फिर भी बहुधा नारी का व्यवहार भी विशेषत आतकवाद और प्रारम्भिक साम्यवाद से प्रभावित नारी का व्यवहार स्वय भी दोषी होता है। रात-बिरात घर से बाहर रहना (शशि, शैल), पुरुषो के साथ निस्सकोच सिगरेट-शराब पीना (शैल, नैनसी), यौन-सम्बन्धो को अमहत्वपूर्ण मानकर उनके विषय मे लापरवाह रहना (शैल)—ये कुछ ऐसे कार्य है जो स्वतन्त्रता अथवा समानता का भ्रम उत्पन्न करते है, पर नारी को सचमुच भोग्या की स्थिति मे ही रखते है। राजनीति मे काम करते रहने पर भी और स्वतन्त्र व्यवहार करने पर भी नारी नैतिक-चारित्रिक दृष्टि से निर्दोष रह सकती है, यह राष्ट्रीय आन्दोलन मे और परवर्ती साम्यवादी आन्दोलन मे भाग लेने वाली नारियो ने सिद्ध किया है। उसका आचरण समाज की दृष्टि मे पवित्र

---

१. 'दादा, कल मै अनारकली बाजार से गुजर रहा था, उस समय इन हड़तालियों के वालण्टियर और वे लड़कियाँ शैलबाला वग़ैरा हड़तालियों के लिए झोली में चन्दा माँग रही थीं। कुछ बदमाश उन पर कंकड़ फेक रहे थे। कुछ उन्हें जापानियो की 'एजेण्ट' कहकर तालियाँ बजा रहे थे, कोई रूसियों की एजेन्ट बताता था। एक बदमाश लड़के ने नाली से कपड़ा भिगोकर शैलबाला के सिर पर फेक दिया। एक मजदूर गाली देकर उस लडके की तरफ़ लपका। वह कम्यूनिस्ट रफ़ीक भी साथ था। मजदूर को उसने गर्दन से पकड़ लिया।'
यशपाल : 'दादा कामरेड' : (पृष्ठ २००)

रहे, यह राजनीति मे भाग लेने वाली नारी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। तीसरा कारण यह है कि देश मे विभिन्न राजनैतिक मतो के प्रसार और विभिन्न राजनैतिक दलो की स्थापना के कारण परिवार के प्रमुख की सहानुभूति इस या उस दल के साथ होती है और वह परिवार के अन्य सदस्यो को भिन्न मत या भिन्न दल से सहानुभूति रखने नही देते। 'दादा कामरेड' मे शैल के पिता, जो कांग्रेस दल के पक्ष मे है, शैल को साम्यवादी दल का कार्य करने से मना करते है। तत्कालीन समाज मे विचारो का यह संघर्ष अनेक परिवारो की अशान्ति का कारण बना है। इसका चित्रण 'दादा कामरेड' के अतिरिक्त नरोत्तम-प्रसाद नागर के 'दिन के तारे', 'अचल' के 'नई इमारत' तथा यशपाल के 'देशद्रोही' मे भी मिलता है।

सन् १९३७ मे प्रान्तीय शासन भारतीयो के हाथ मे आ गया और लगभग आठ प्रान्तो मे कांग्रेस ने मंत्रिमंडल स्थापित किये। इस घटना से देश मे कांग्रेस की शक्ति पहले से भी अधिक बढ गई। साथ ही देश की आर्थिक-सामाजिक समस्याओ को हल करने के लिए संघर्ष तीव्रतर हो गया। इसी अवधि मे अवैध साम्यवादी दल ने जन-आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करने के उद्देश्य से कांग्रेस के कार्यक्रम को स्वीकार कर अपनी जडे मजबूत करनी चाही। शैल यशोदा को क्रान्तिकारी कार्य के लिए नही, कांग्रेस के काम के लिए प्रेरणा देती है। शशि भी जिस सभा मे भाषण करती है, वह राष्ट्रीय उद्देश्यो से आयोजित की गई थी, आतंकवादी उद्देश्य से नही। साम्यवादी दल का मन्तव्य था कि कांग्रेस का नेतृत्व पूँजीवादियो के हाथ मे है, सच्चे जनवादियो के हाथ मे नही। इसलिए कांग्रेस मे सम्मिलित होकर पूँजीवादियो को ऐसी नीति अपनाने के लिए विवश करना चाहिए जो जनहित की हो। इस अवधि का चित्र जिन उपन्यासो मे मिलता है उनमे हम साम्यवादी और राष्ट्रीय दोनो दलो के सदस्यो को बहुधा एक साथ मिल-मजदूरो की हडतालो का नेतृत्व करते हुए और अन्य प्रकार से पीडित-शोषितो की दयनीय दशा पर आवाज बुलन्द करते हुए पाते है। 'दादा कामरेड' मे शैल, 'देशद्रोही' मे राज, 'अचल' के 'चढती धूप' मे तारा, 'दिन के तारे' की चन्द्रमणि मजदूरो का नेतृत्व करती मिलती है। तारा तो स्पष्ट कहती है कि उनकी लडाई केवल विदेशी नौकरशाही से ही नही, स्वदेशी पूँजीवाद से भी है।[1] स्वतन्त्रता के इस आर्थिक आधार के कारण जिस वर्ग-संघर्ष का विस्तार हुआ उसने नारी के राजनैतिक जीवन की समस्या और भी कठिन कर दी। प्रेमचन्द की सुखदा को सारे समाज का समर्थन प्राप्त था, शैल अथवा तारा को केवल एक ही भाग का। खेद है कि हिन्दी-उपन्यासों मे इस पक्ष का चित्रण विस्तार से नही किया गया।

कांग्रेस के नेतृत्व मे राष्ट्रीय आन्दोलन और साम्यवादी दल के नेतृत्व मे समाजवादी क्रान्ति का आन्दोलन सन् १९४२ तक समानान्तर पथ पर चलते है, आपस मे टकराते नही। उनकी टकराहट पहली बार 'भारत छोडो' आन्दोलन के समय होती है जब अंग्रेजो

---

१. 'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ २६६)

के दमन के कारण जन साधारण मे अभूतपूर्व विक्षोभ भर जाता है, और बचे-खुचे नेताओ के प्रकट-अप्रकट सहयोग से देश-व्यापी क्रान्ति मच जाती है। साम्यवादी दल फासिस्ट-विरोधी शक्तियो की सहायता करने के सिद्धान्त पर इस क्रान्ति मे भाग नही लेता, उलटे जनता को भी उसमे भाग लेने से रोकने का प्रयत्न करता है। विदेशी सरकार उनकी नीति से प्रसन्न होकर उनके दल को वैध घोषित कर देती है, और तब नेताओ के गिरफ्तार हो जाने के कारण साम्यवादी दल के सदस्य जनता पर अपना नेतृत्व जमाने की जी तोड चेष्टा करते है और काफी हद तक अपने इस उद्देश्य मे सफल भी होते है। सन् १९४२ से सन् १९४५ तक की अवधि मे देश की राजनैतिक चर्चा मे साम्यवादियो की आवाज सबसे ऊपर सुनाई पडती है।

इन दो विरोधी दृष्टिकोणो का प्रतिबिम्ब नारी जगत मे भी मिलता है। एक ओर 'अचल' के उपन्यास 'नई इमारत' मे हमे अगस्त क्रान्ति मे अदम्य साहस का परिचय देती हुई नारियाँ मिलती है जो जेल जाने, गोली खाने और सर्वस्व त्याग करने मे भी नही हिचकती। दूसरी ओर श्रीकृष्णदास के उपन्यास 'क्रान्तिदूत' मे नसीम आदि साम्यवादी नारियो का चित्रण भी मिलता है जो जनता को समझाती है कि अगस्त-क्रान्ति देश के हित मे नही है। यद्यपि दोनो पक्षों का वर्णन अत्यन्त यथार्थवादी है, फिर भी 'अचल' का चित्रण भावना-प्रधान है और श्रीकृष्णदास का चित्रण तर्क-प्रधान। अगस्त-क्रान्ति की सगति-असगति एक ऐसा विषय रहा है, जिस पर आज तक सब दलो मे एकमत नही हो सका है।

अगस्त-क्रान्ति की आग तो कुछ दिनो बाद ठण्डी हो जाती है, पर उसके बाद ही कई घटनाएँ तेजी से होती है। विदेशी दमन, बगाल का अकाल, और लोकप्रिय नेताओं की मुक्ति की माँग—इस अवधि की प्रमुख राजनैतिक हलचल रही है। इन सबमे साम्य-वादी दल के नर-नारी अनुपम त्याग, सेवा और साहस का परिचय देते हैं। इसके फलस्वरूप दल की शक्ति अभूतपूर्व रूप से बढ जाती है, और उसमे उच्च, मध्य एव निम्न—सभी वर्गो की नारियाँ अधिकाधिक सम्मिलित हो जाती है। दल का कार्य समाजवादी अनुशासन की प्रणाली पर चलाया जाता है और पहली बार कम्यून की स्थापना होती है, जिसमे साम्यवादी सदस्य—स्त्री और पुरुष—सम्मिलित राजनैतिक जीवन बिताते है।

इस सम्मिलित जीवन का और उससे उत्पन्न समस्याओ का चित्रण यशपाल ने 'पार्टी कामरेड' और 'मनुष्य के रूप' मे किया है। 'पार्टी कामरेड' की गीता किस प्रकार धीरे-धीरे अपना सारा समय दल के कार्य को देती है, किस प्रकार दल का छोटे-से-छोटा कार्य भी महत्वपूर्ण हो जाता है, और दल के कार्य के लिए अपने सस्कारो और पूर्वाग्रहों पर किस प्रकार उसे विजय पानी पडती है, इसका वर्णन कर लेखक ने हमारे सामने साम्यवादी नारी का यथार्थ व्यक्तित्व अकित कर दिया है। पहली बार पाठक को नारी के राजनैतिक जीवन की दैनिक समस्याओ और कठिनाइयो का परिचय मिलता है, और वह जान पाता है कि साम्यवादी दल अपने सिद्धान्तो के अनुसार अपने व्यवहार को सही रखने पर कितना

ज़ोर देता है। नगर के धनी गुण्डे भावरिया से वह पार्टी के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त करती है। पर जब उसके साथ घूमते-फिरते रहने के कारण जनता मे उसकी आलोचना होती है तो गोता से दल के नेता अनेक प्रकार के सवाल करते है, यहाँ तक कि उसको कुछ दिनो के लिए 'सस्पैण्ड' भी कर दिया जाता है।

साम्यवादी दल अपने कार्य के लिए नारी का सहयोग बराबर पाना चाहता है और जिस नारी से दल के लिए जो कार्य हो सकता है, उसे प्राप्त करने मे नही सकुचाता। यदि नारियो के अखबार बेचने से बिक्री अधिक होती है, यदि उनके चन्दा इकट्ठा करने से चन्दा अधिक इकट्ठा होता है, तो वह इसका स्वागत करता है, यदि अपढ सोना और कुछ नही कर सकती त। कम्यून को रसोई तो सँभाल सकती है, यदि तारा और लुई की शिक्षा पार्टी के कार्य मे बाधक होती है, तो शिक्षा छोड देने मे कोई हानि नही। पर व्यक्तिगत आचार-व्यवहार मे नारी को सामाजिक शील और नियमो का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। आतकवाद की समर्थक शैल और साम्यवाद की सक्रिय सदस्या नीता मे ज़मीन-आसमान का अतर है। शैल का दैनिक जीवन सुख-सुविधा का जीवन है, समाज लाख उँगली उठाये, उसे चिन्ता नही होती। इसके विपरीत नीना का जीवन कर्मठ और अनुशासित जीवन है, जिसमे भूल चूक के लिए कोई क्षमा नही है। दल मे पुरुष और नारी मुक्त और समान है।

पर यह मुक्ति ओर समानता कितने बडे अनुशासन का परिणाम है, इसका परिचय तब मिलता है जब मनोरमा को एक छोटी-सी भूल पर नोता उसको रुला लेती है।

इस प्रकार यशपाल के उपन्यासो से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि साम्यवादी दल ने राजनैतिक जीवन मे नारी को सही प्रतिष्ठा दी है, और उसकी समस्याओ को सहानुभूति से सुलझाने का प्रयास किया है। परवर्ती राजनैतिक जीवन मे साम्यवादी दल की इस व्यवस्था की स्पष्ट झलक मिलती है। शरणार्थियों की सेवा मे सभी दल की नारियो ने जिस प्रकार जुटकर कार्य किया और जिस लगन एव सेवा-भाव का परिचय दिया, वह इसीलिए सहज-सम्भव हो सका कि उस काल तक नारी राजनैतिक जीवन मे समान प्रतिष्ठा पा चुकी थी, और उसके मार्ग की बाधाएँ निरन्तर प्रयत्नों से दूर हो चुकी थी। इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ' मे नई जाग्रत नारी की कर्मठता और लगन का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। सुनदा अपने उद्देश्य की चर्चा करती हुई कहती है : 'हम लोग प्रयत्न यह करती है कि समाज के विकास के किसी भी अग से लडकियाँ वचित न रह जाये। हर तरह से स्वावलबी होना सीखे। जीवन-पथ पर अग्रसर होती हुई किसी पर आश्रित रहने को बाध्य न हो। हम लोग यहाँ सघबद्ध जीवन बिताती है। पुरुष-सघ और नारी-सघ एक-दूसरे का साथ देते हुए सपूर्ण उपनिवेश के कामो को आपस मे बाँट लेते है।'[१]

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' (पृष्ठ ३४२)

अध्याय ६

नारी के विविध पारिवारिक रूप : कर्त्तव्य और दायित्व

पति-पत्नी

परिवार-रूपी गाडी मे पति-पत्नी का स्थान पहियों के समान है। जिस प्रकार समस्त गाडी का बोझ पहियो पर निर्भर रहता है, उनके दुर्बल होने से गाडी कठिनाई से आगे चल पाती है, वह जल्दी टूट जाती है, उसी प्रकार पति-पत्नी के सम्बन्ध अच्छे न होने से, उनके अपने-अपने कर्तव्य और दायित्व का पालन न करने से परिवार न तो प्रसन्न रह सकता है, न फल-फूल सकता है, वह एक दिन टूटकर ही रहता है। इसीलिए भारतीय समाज पति-पत्नी के कर्तव्य और दायित्व के प्रति विशेष रूप से सतर्क रहता आया है।

पुरुष अधिकाशत बाहर रहता है, उसके आचरण और कार्यों का परिवार पर प्रभाव पडता अवश्य है किन्तु पत्नी की तुलना मे कम। परिवार के लिए पत्नी तो रीढ की हड्डी के समान है। उसके बिना परिवार चार दिन भी नही चल सकता। इसीलिए हमारे यहाँ पत्नी की मर्यादा, कर्तव्य और दायित्व पर पति से भी अधिक ध्यान दिया गया है।

हिन्दी-उपन्यासो मे पति को परमेश्वर मानने वाली अनेक ऐसी पत्नियो का चित्रण हुआ है जो पति के दुराचार, अत्याचार और कर्तव्यहीनता के सम्मुख भी मौन रहती है। पत्नी के इस प्रकार के चित्रण मे उसके आदर्श रूप के दर्शन भले ही होते हो किन्तु विवेक द्वारा देखे तो कह सकते है कि पत्नी इस प्रकार मौन रहकर अपने कर्तव्य और दायित्व का उचित पालन नही करती। जिस प्रकार पत्नी का मर्यादित आचरण, परिवार के सब सदस्यो को प्रसन्न रखना, घर को सुचारु रूप से सचालित करना, बच्चो की उचित देख-रेख करना उसका कर्तव्य और दायित्व माना जाता है उसी प्रकार उसका यह भी कर्तव्य हो जाता है कि वह पति के उन गभीर दोषों को अनदेखा न करे जिनसे परिवार मे विषमता उत्पन्न हो जाती है। यदि पति गलत रास्ते पर जाता है, अमर्यादित आचरण करता है तो पत्नी का यह कर्तव्य है कि वह उसे सुमार्ग पर लाये। प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों मे पत्नी के इस दायित्व पर विशेष बल दिया गया है। 'पिया' मे पत्नी के कर्तव्य निर्धारित करते हुए कहा गया है : 'उस पति के वचन टालने मे तुम्हे द्विधा न करनी चाहिए, जो कापुरुष हो, समाज मे अपना सुनाम, लज्जा ढाँकने के लिए सन्तान-वध करे, पिता होकर भी वश-नाश के लिए विषाक्त खड्ग उठावे। ऐसे पति का वचन हम टाल सकते है। यदि पति स्वार्थी

है, भूल मे है, पाप कर रहा है, तो स्त्री का कर्तव्य है उसे रोकना, अपनी मगलमयी बाँह मे उसे खीच लेना।'[१]

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' लिखित 'माँ' की सुलोचना और प्रेमचन्द लिखित 'गबन' की जालपा भी अपने-अपने पति को सुमार्ग पर लाने की चेष्टा करती है। जालपा को जब यह विदित होता है कि उसका पति रमानाथ अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिए ऐसी झूठी गवाही देने को तत्पर है जिससे अनेक निर्दोष युवको को प्राणो से हाथ धोना पडेगा तो वह पति को सुमार्ग पर लाना अपना धर्म समझती है। दाम्पत्य-जीवन सम्मिलित जीवन होता है जिसमे एक की प्रशसा-लाछना, लाभ-हानि, मान-अपमान का दूसरे पर प्रभाव पडना अनिवार्य है। इसीलिए जालपा को अपने सम्मान से भी अधिक अपने पति के सम्मान की चिन्ता है। 'हमेशा के लिए वे सबकी आँखो से गिर जायेगे, किसी को मुँह न दिखा सकेगे।'[२] इसी भावना से प्रेरित होकर वह रमानाथ को इस निंदनीय कृत्य से रोकती है। इसके लिए उसे व्यग्य का सहारा लेना पडता है और ऐसे वचनो का भी प्रयोग करना पडता है जो साधारणत पत्नी अपने पति के लिए व्यवहार मे नही लाती। इन व्यग्य-भरे शब्दों के कारण पति 'उसे चाहे दुत्कार ही क्यो न दे, उसे ठुकरा ही क्यो न दे, वह उसे अपयश के अँधेरे खड्ड मे न गिरने देगी।'[३] उसका पति अपने स्वार्थ के लिए झूठी गवाही दे, इसकी कल्पना भी उसे सहन नही है। अन्त मे वह अपने उद्देश्य मे सफल होती है। रमानाथ अपनी भूल स्वीकार करता है और अदालत मे दिया अपना बयान बदल देता है।

यद्यपि पत्नी का यह दायित्व है कि वह गलत रास्ते पर जाने वाले पति को सही रास्ते पर लाये तथापि इसके लिए उसे प्रेम का, विनय और सद्भावना का ही सहारा लेना चाहिए, तानाशाही का व्यवहार नही करना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव होता है कि वह अपनी गलतियो की खरी निन्दा या आलोचना पसन्द नही करता, पत्नी की ओर से तो और भी नही, क्योकि स्वभाव और सस्कार से वह अपने-आपको पत्नी से उच्च मानता है। इसके अतिरिक्त यदि पति को पत्नी पर श्रद्धा और विश्वास हो तब तो वह उसकी दो-चार बाते सुन भी लेता है, जैसे 'गोदान' मे होरी धनिया की अथवा 'गबन' मे रमानाथ जालपा की। किन्तु जिस पति को प्रारम्भ से ही पत्नी का प्रेम न मिला हो, वह पत्नी की आलोचना अथवा उसका दभपूर्ण व्यवहार नही सह सकता। पत्नी के ऐसे व्यवहार से लाभ की अपेक्षा हानि ही हो सकती है।

पति-पत्नी का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ और अतरग होता है कि साधारणत वे एक-दूसरे को दुखी नही देख सकते। पत्नी का दुख न देख सकने के कारण कभी-कभी पति

---

१. उषादेवी मित्रा : 'पिया' (पृष्ठ १५०)
२. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ २४२)
३. वही : (२४५)

गलत काम भी कर बैठता है। जालपा की असाधारण आभूषण-प्रियता को सतुष्ट करने की भावना से ही रमानाथ उससे झूठ बोलता है, अपनी तनख्वाह गलत बताता है और बाजार से उधार गहने लाकर उसे भेट करता है। जब उसके इस मिथ्या आचरण का भण्डाफोड होने लगता है तब उसे भाग जाना पडता है। अत रमानाथ के पलायन मे जालपा का भी हाथ है। इस घटना के माध्यम से प्रेमचन्द यह सिद्ध करना चाहते है कि पत्नी का यह कर्तव्य है कि वह अपने पति की वस्तु-स्थिति को समझकर जीवन-पथ पर अग्रसर हो, और अपनी आवश्यकताओ को पति की आमदनी के अनुसार सीमित रखे। अपने स्वार्थ के लिए उसे अनुचित काम करने पर विवश न करे। अपने इस कर्तव्य का ध्यान जालपा को पहली ठोकर खाने के बाद ही आता है। जब उसको विदित होता है कि उसी की सुख-चिंता के लिए उसका पति झूठी गवाही दे रहा है तो वह पति को यह स्पष्टत समझा देना चाहती है कि वह अब पहले-जैसी जालपा नही रही, उसे अब अपने कर्तव्य का ज्ञान हो चुका है। वह बडे जोरदार शब्दो मे कहती है कि यदि रमानाथ उसको सुखी बनाने के विचार से झूठी गवाही देना चाहता है तो यह उसकी भूल है। यदि वह झूठी गवाही देगा तो वह उसके साथ कदापि न रहेगी।[1] जालपा का यह निश्चय ही रमानाथ को सही रास्ते पर लाता है।

इसी प्रकार रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित 'कैदी की पत्नी' (१९४०) की दुलारी भी अपने स्वार्थ का त्याग कर पति के सम्मान की रक्षा करती है। उसका प्राणो से प्रिय पति देशभक्ति के अपराध मे कारागार मे बन्द है। वह अपने पुत्र और देवर के साथ उससे मिलने जाती है। पत्नी से बातचीत करने के समय सी० आई० डी० की उपस्थिति से पति को असह्य अपमान का अनुभव होता है और वह उसका प्रतिकार करने के लिए पत्नी से मिलना ही अस्वीकार कर देता है। यद्यपि दुलारी के मन मे अपने बन्दी पति से भेट करने की बहुत ही उत्कट अभिलाषा है, पर वह ऐसी परिस्थिति मे पति के सम्मान की रक्षा को ही अधिक महत्वपूर्ण समझती है, और अपनी भावनाओ को दबाकर बुझे मन से वापस लौट आती है।

पत्नी को पति की अर्धांगिनी माना गया है। वह उसके सुख दुख मे समान रूप से साझीदार बनती है। आज के समाज मे यह बात केवल पत्नी की सामाजिक स्थिति से ही सम्बन्ध रखती हो, ऐसा नही है। पति के मन को समझना और उसके मनोनुकूल अपने जीवन को ढालना भी पत्नी का कर्तव्य बन गया है। जैनेन्द्र के 'सुनीता' की सुनीता पति की मनोकामना पूरी करने के लिए अपने पातिव्रत की भी बाजी लगा देती है।

---

१. 'जाओ, शौक से जिन्दगी के सुख लूटो, मैंने तुमसे पहले ही कह दिया था और आज फिर कहती हूँ कि मेरा तुमसे कोई नाता नहीं। मैंने समझ लिया कि तुम मर गये। तुम भी समझ लो कि मैं मर गई। बस, जाओ।'
प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ २८०)

उपेन्द्रनाथ अश्क के 'गिरती दीवारें' मे चेतन की सारी चेष्टा इस ओर है कि उसकी पत्नी का मानसिक विकास हो, उसका व्यक्तित्व उसके ही समान हो। इस स्थिति मे पत्नी का भी यह दायित्व है कि वह युग की मॉग के साथ अपने स्वभाव और विचारो को बदले, तभी वह अपने दायित्व का सही निर्वाह कर सकेगी।

हिन्दी-उपन्यासो मे हमे ऐसे कई महत्वपूर्ण उदाहरण मिलते है जब पति के विचार अथवा स्वभाव को समझने की चेष्टा न करने के कारण पत्नी को पति का प्रेम नही मिल पाता और दोनो मे मनमुटाव, यहाँ तक कि कभी-कभी विच्छेद भी हो जाता है। एक-दूसरे की रुचि और स्वभाव को समझकर, और एक-दूसरे की भूल और कमजोरी के प्रति सहानुभूति रखकर ही पति-पत्नी अपना युगल-जीवन सुखी बना सकते है। उदाहरणार्थ प्रेमचन्द लिखित 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा को जब यह विदित होता है कि उसका पति पूर्णा की ओर आकर्षित है तो उसके मन मे प्रतिहिंसा की भावना जागृत हो जाती है। सम्पन्न घराने की पुत्री होने के कारण उसके मन का अहकार उसे पति से विमुख कर देता है। और जब उसका पति उससे खिचा-खिचा रहता है तो वह सोचती है कि उसने कोई अपराध नही किया फिर वह क्यो उसे मनाने जाये। यही नही, वह बात-बात मे अपने पति को झिडक भी देती है। इस प्रकार उनके दाम्पत्य-जीवन की कटुता तीव्रतर होती जाती है।

यही दशा 'कर्मभूमि' की सुखदा की है। वह प्रेम के आदान-प्रदान मे व्यवसाय-बुद्धि का परिचय देती है। पति उसे प्यार नही करते, आत्म-समर्पण नही करते तो मै ही क्यो करूँ। उसके मन मे इस तरह का भाव सदा बना रहता है। वह पति को समझने की तनिक भी चेष्टा नही करती। उधर उसके पति अमरकान्त का व्यक्तित्व भी असाधारण है। शैशवावस्था मे ही माँ की मृत्यु हो जाने के कारण, कर्कशा विमाता द्वारा प्रताड़ित होते रहने के कारण और अन्त मे सैद्धान्तिक मतभेद के फलस्वरूप पिता से अलग हो जाने के कारण उसके जीवन मे प्रेम का सदा अभाव रहा है। वह अपनी पत्नी से इन सब अभावो की पूर्ति चाहता है। वह चाहता है कि उसकी पत्नी उसका सम्मान करे, उसके क्रान्तिकारी भावो और विचारो को समझे और अपने स्वार्थ की चिन्ता किये बिना उसे निश्छल और एकान्त प्रेम दे। पर सुखदा अपने पति की इन मॉगो को न तो समझती है, न समझने की आवश्यकता ही पहचानती है। वह उसको साधारण व्यक्ति ही मान कर चलती है। पति के प्रति निष्काम आत्मसमर्पण को वह दासीत्व का चिह्न मानती है।[1] परिणाम यह होता है कि दोनो के बीच की खाई बढती ही जाती है। प्रेम का भूखा अमरकान्त पत्नी

---

१. 'उन्हें प्रेम की भूख थी, तो मुझे प्रेम की भूख कुछ कम न थी। मुझसे वह जो चाहते थे, वही मै भी उनसे चाहती थी। जो चीज वह मुझे न दे सके, वह मुझसे न पाकर वह क्यो उद्दण्ड हो गए? क्या इसीलिए कि वह पुरुष है और चाहे स्त्री को पॉव की जूती समझे, पर स्त्री का धर्म है कि वह उनके पॉव से लिपटी रहे।?'
प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ २४३)

की ओर से निराश होकर सकीना की ओर आकर्षित हो जाता है और अपने दाम्पत्य-जीवन के घोर असतोष से मुक्ति पाने के लिए घर से भाग जाता है। पर सुखदा अब भी अमरकान्त की मानसिक ग्रन्थि को नही समझ पाती और पति के इस व्यवहार को केवल अपने प्रति विश्वासघात के रूप मे ही देखती है. 'उन्होने मेरे साथ विश्वासघात किया है। ऐसे कमीने आदमी की खुशामद नही कर सकती। यदि आज मै किसी मर्द के साथ भाग जाऊँ, तो तुम समझती हो, वह मनाने जायेगे ? वह शायद मेरी गरदन काटने जाये।'[1] इसी मिथ्या अभिमान और अहभाव के कारण वह अपने कर्तव्य की अनदेखी कर पति के कर्तव्य की नाप-जोख मे ही उलझी रहती है, और इस प्रकार अपने दाम्पत्य जीवन को घोर अशान्तिमय बना देती है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' मे कुमुदिनी का चरित्र भी ऐसा ही है। वह ज्वाइट मैजिस्ट्रेट की लडकी है और अण्डर-ग्रेजुएट है। इसलिए उसमे घमण्ड चूर-चूर कर भरा हुआ है। उसका पति निर्मल विद्वान ओर सरल स्वभाव का है किन्तु कुमुदिनी उसकी प्रवृत्ति को नही समझ पाती। उसने सस्ते किस्म के उपन्यास पढे है और वह अपनी वस्तुस्थिति को भूलकर चाहती है कि उसका पति इन उपन्यासो मे चित्रित नायकों की भाँति प्रेम का प्रदर्शन करता रहे और वह मानिनी नायिका की भाँति उसके साथ व्यवहार करती रहे। इस प्रकार वह अपने अज्ञान के कारण पति के सच्चे प्रेम की उपेक्षा कर मरु-मरीचिका की ओर भागती रहती है। इस बात की तनिक भी चेष्टा नही करती कि उनकी भिन्न प्रवृत्तियो मे किसी प्रकार सामजस्य स्थापित हो। अपनी जिस ममतामयी माँ को निर्मल अपने प्राणो से भी अधिक प्यार और श्रद्धा करता है, वह उस पर भी अत्याचार करने मे नही चूकती। पति-प्रेम की इसी मिथ्या धारणा और अपनी प्रतिकूल प्रवृत्ति के कारण वह अपने दाम्पत्य-जीवन मे नितान्त कर्तव्यच्युत सिद्ध होती है। फिर भी उसे अपने दोष का ज्ञान नही होता और वह गर्विता की भाँति पति से रूठकर पितृगृह चली जाती है। फल यह होता है कि निर्मल चपला की ओर आकर्षित हो जाता है।

इन तीनो नारियो को दाम्पत्य-सुख के दर्शन तभी होते है, जब वे अपने कर्तव्य और दायित्व को समझकर दभ और प्रतिहिंसा का त्यागकर सहज प्रेम का व्यवहार करती है। सुमित्रा अपने पति को घायल देखते ही अपने मन का सारा विद्रोह ओर सारी कटुता भूल-कर उसकी सेवा मे लग जाती है और तभी वह पहली बार दाम्पत्य-सुख की झलक पाती है। सुखदा जब सकीना से मिलती है ओर सकीना उसे अमरकान्त के आन्तरिक अभावो का रहस्योद्घाटन करती हुए कहती है कि 'वह खिदमत के गुलाम है, और खिदमत से ही आप उन्हे जीत सकती है।'[2] तो सुखदा को जैसे अपनी भूल मालूम पडती है। इस दिन से वह अमरकान्त को समझने की चेष्टा शुरू करती है और अपने व्यक्तित्व को उसके विचारो

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' : (पृष्ठ १९६)
२. वही : (पृष्ठ १९५)

के अनुरूप बनाने की चेष्टा करती है। अन्त मे उसकी प्रवृत्ति मे यहाँ तक सामजस्य हो जाता है कि वह असहयोग आन्दोलन मे भाग लेकर जेल जाने मे भी आनन्द का अनुभव करती है। वही उसका अपने पति से मिलाप होता है । इस समय सुखदा को जो सच्चे आन्तरिक सुख का अनुभव होता है, वह उसे जीवन मे कभी नहीं हुआ था। 'आज वह अपने पति की अनुगामिनी थी . . .अब दोनो एक ही मार्ग के पथिक है, एक ही आदर्श के उपासक है, उनमे कोई भेद नही है, कोई वैषम्य नही है। आज पहली बार उसका अपने पति से आन्तरिक सामजस्य हुआ। जिस देवता को अमगलकारी समझ रखा था, उसी-की आज धूप-दीप से पूजा कर रही थी।'[१]

कुमुदिनी को भी अन्त मे अपनी भूल स्वीकार करनी पडता है। जब कुमुदिनी की भाभी लज्जा उसको पत्नी के कर्तव्य और पति-सेवा की महत्ता समझाती है और यह कहती है कि 'स्वामी के सामने झुकने ही मे स्त्री का गौरव है।'[२] और दूसरी ओर चपला उसे पत्र भेजकर अपने कर्तव्य के प्रति सचेत करती है तो कुमुदिनी अपनी भूल स्वीकार करती हुई सोचने लग जाती है 'चाहे जो कुछ हो, वह मुझे प्यार करते है, और प्यार करते है अपने प्राणो से भी अधिक। वास्तव मे मै अभागिनी हूँ। अभागिनी न होती, तो यहाँ आकर बाप की रोटियों पर पडी रहती ? अपने घर जाने मे कौन लज्जा, कौन भय और कौन हिचकिचाहट ? सासजी तो देखते ही फूली नही समायेगी और वह भी प्रसन्न होगे। मै जाऊँगी।'[३] पति गृह लौटने पर ही उसे दाम्पत्य-जीवन के माधुर्य और सौन्दर्य के दर्शन होते है।

इनके विपरीत 'रगभूमि' की इन्दु को अपने दाम्पत्य-जीवन मे कभी भी सुख के दर्शन नही होते, क्योंकि वह अपने स्वभाव मे न तो किंचित भी परिवर्तन करने के लिए तैयार होती है, न पति के किसी भी दोषयुक्त दीखने वाले व्यवहार को क्षमा करती है। यह एक प्रकार का दुर्भाग्य ही है कि इन्दु और उसके पति राजा महेन्द्र की मूल प्रकृति मे ही बडा विरोध है। ऐसी स्थिति मे बडे परिश्रम और सचेत प्रयत्न से ही दाम्पत्य-जीवन को सुखी बनाया जा सकता है। पर इस प्रयत्न का इन्दु मे नितान्त अभाव है। उसके विचार और उसके व्यवहार पति की अनुकूलता पाने मे असमर्थ होते है, क्योकि वह पति के मूल भावो का अनुसधान नही करती। यही कारण है कि वह जिस प्रकार सोचती है, जो काम करती है, पति के प्रतिकूल सिद्ध होता है। यहाँ तक कि कभी-कभी जब उसे कोई कार्य या निर्णय करते समय यह विश्वास होता है कि वह महेन्द्र को प्रसन्न करेगा, तब भी परिणाम सदैव दुखदायी होता है। जब इन्दु अपनी और पति की प्रसन्नता को ध्यान मे रखकर बडे प्रयत्न के बाद सोफी को अपने साथ चलने के लिए तैयार करती है तो यह भी पति को

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' : (पृष्ठ २७२)
२. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ ३२३)
३. वही : (पृष्ठ ३६३)

अनुचित लगता है। वह सेवा समिति के प्रति सहानुभूति रखना हर व्यक्ति का कर्तव्य समझकर जब समिति के कार्य मे सहयोग देती है तो भी पति को बुरा लगता है।[1] जब वह अपने और पति के सम्मान का ध्यान रखकर इन्द्रदत्त को चन्दा देती है तब भी उसका परिणाम उल्टा सिद्ध होता है।[2] और जब वह पति की प्रसन्नता के लिए अपमान सहकर भी रुपये लौटा लेने की सोचती है तब भी वह बात प्रतिकूल ही सिद्ध होती है।[3] पति-पत्नी की इतनी प्रतिकूल प्रवृत्तियो पर दृष्टिपात करके ही एक दिन महेन्द्र इन्दु से पूछता है : 'तुम क्यो बार-बार वे ही काम करती हो, जिनसे मेरी निंदा और जग-हँसाई हो, मेरी मान-प्रतिष्ठा धूल मे मिल जाये, मै किसी को मुँह दिखाने लायक न रहूँ। मै जानता हूँ, तुम जिद से ऐसा नही करती। मै यहाँ तक कह सकता हूँ, तुम मेरे आदेशानुसार चलने का प्रयास भी करती हो किन्तु फिर जो यह अपवाद हो जाता है, उसका क्या कारण है ?

---

१. इन्दु—'क्या सेवा-समितियों से सहानुभूति रखना भी आपत्तिजनक है? मै समझती हूँ, ऐसे शुभ कार्यो में भाग लेना किसी के लिए भी लज्जा या आपत्ति की बात नही हो सकती।
राजा महेन्द्र—'तुम्हारी समझ में मेरी समझ मे बड़ा अन्तर है। यदि मै बोर्ड का प्रधान न होता, यदि मै शासन का एक अंग न होता, अगर मै एक रियासत का स्वामी न होता, तो स्वच्छन्दता से प्रत्येक सार्वजनिक कार्य मे भाग लेता।'
प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' (पृष्ठ २५१-२५२) प्रथम भाग
२. इन्दु—'तो आपने चंदा भी नहीं दिया होगा ?'
महेन्द्र—'कभी कभी तुम बेसिर-पैर की बातें करती हो। चंदा कैसे देता, अपने मुँह में आप ही थप्पड़ मारता।'
इन्दु—'लेकिन मैने तो दिया है। मुझे . . .'
महेन्द्र—'अगर तुमने दिया है तो, बुरा किया है।'
इन्दु—'मुझे यह क्या मालूम था कि . . .'
महेन्द्र—'व्यर्थ बात न बनाओ। अपना नाम गुप्त रखने को कह दिया है ?'
इन्दु—नहीं, मैने कुछ नहीं कहा।'
महेन्द्र—'तो तुमसे ज्यादा बेसमझ आदमी संसार मे न होगा। . . . इस अवसर पर वह दूसरो से चंदा वसूल करने के लिए तुम्हारा नाम उछालता फिरेगा। जरा दिल में सोचो, लोग क्या समझेंगे। शोक है। अगर इस वक्त मै दीवार से सिर नही टकरा लेता, तो समझ लो कि बड़े धैर्य से काम ले रहा हूँ। तुम्हारे हाथों मुझे सदैव अपमान ही मिला, और तुम्हारा यह कार्य तो मेरे मुख पर कालिमा का वह चिह्न है, जो कभी मिट नही सकता।'
वही : (पृष्ठ १३५-१३६)
३. इन्दु—'जाती हूँ आपकी आज्ञा का पालन करने। इंद्रदत्त से रुपये वापस लूँगी।'

क्या यह बात तो नही कि पूर्व जन्म मे हम और तुम एक दूसरे के शत्रु थे, या विधाता ने मेरी अभिलाषाओ और मसूबा का सर्वनाश करने के लिए तुम्हे मेरे पल्ले बॉध दिया है ? मै बहुधा इसी विचार मे पडा रहता हूँ, पर कुछ रहस्य नही खुलता।"[1]

पत्नी के कर्तव्य के प्रसग मे एक प्रश्न और उठता है। पूर्वाकर्षण मे बँधी नारी पति को अपना एकान्त समर्पण न दे पाये, उसका मन प्रेम और विवाह की विरोधी शक्तियो की टकराहट से विभक्त हो जाये, तो उसका क्या कर्त्तव्य है ? क्या वह अपने प्रेम के प्रति सच्ची रहकर विवाहित जीवन की मर्यादाओ को तिलाजलि दे दे, अथवा, क्या वह अपने पूर्व-प्रेम को मन की कमजोरी समझकर पत्नीत्व की मर्यादा का पालन करे ?

अधिकाश उपन्यासकारो ने नारी के सच्चे प्रेम को सहानुभूति दी है। ऐसी अनेक प्रेयसियो का चित्रण हुआ है जो विवाह के बाद भी अपने प्रेमियो का ही ध्यान करती रहती है। 'चढती धूप' की ममता मोहन के प्रति अपने गहरे प्रेम के कारण अपने विवाहित जीवन मे मरी-सी, बुझी-सी रहती है। मोहन के समझाने-बुझाने पर वह अपने पति को अपना तन तो दे देती है पर उसका मन अब भी उसके वश मे नही है। इसी प्रकार 'गुनाहो का देवता' की सुधा अपने अस्तित्व के रेशे-रेशे से चन्दर को ही प्रेम करती है और जन्म-जन्मान्तर तक उसी के चरणो मे रहने की आकाक्षा करती है। अन्यत्र विवाह हो जाने पर भी उसके इस भाव मे किंचित भी परिवर्तन नही होता। 'नया आदमी' की रेवा पत्नीत्व की मर्यादाओ का उल्लघन कर अपने पूर्व-प्रेमी से गुप्त रूप से मिलती रहती है। 'शेखर एक जीवनी' मे शशि विवाहोपरान्त भी अपने को शेखर मे समर्पित मानती है।[2] उसका वैवाहिक जीवन सफल हो सके इस बात के लिए शेखर अथवा शशि तनिक भी प्रयत्नशील नही है। प्रत्युत शेखर तो उसके दाम्पत्य-जीवन मे एक चुनौती के रूप मे खडा हो जाता है। शशि के प्रति आन्तरिक अनुराग की भावना से ही वह शशि के पति रामेश्वर को अत्याचारी और अन्यायी के रूप मे देखता है। उपन्यास पढते हुए ऐसा लगता है जैसे शशि और शेखर का प्रेम ही सच्चा और सार्थक है, उसके बीच मे पडकर यह पति नामधारी व्यक्ति व्यर्थ ही उलझने खडी कर रहा है।

यद्यपि इस प्रकार के चित्रण के मूल मे उपन्यासकारो का मुख्य उद्देश्य नारी के प्रेम-विवाह का समर्थन करना और अनमेल विवाह के दुष्परिणामो पर प्रकाश डालना ही है तथापि यह बात विचारणीय है कि चाहे उसकी इच्छा के विरुद्ध ही सही, एक बार विवाह हो जाने के बाद नारी का ऐसा आचरण क्या सामाजिक अथवा नैतिक दृष्टि से उचित

महेन्द्र—'इन्दु, सच कहता हूँ, तुम मुझे पागल बना दोगी।'
प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' : (पृष्ठ १४१) प्रथम भाग

१. वही : (पृष्ठ १३७-१३८)

२. 'पर तुममें मेरा वह जीवन है, जो मै हूँ, जो मेरा मै हूँ।'
अज्ञेय : 'शेखर : 'एक जीवनी' (पृष्ठ १६६)

ठहराया जा सकता है ? अपने पूर्व-प्रेम मे लीन होकर, पति अथवा परिवार की उपेक्षा कर क्या वह अपने पत्नीत्व के कर्तव्य और दायित्व से विमुख नही होती ? उसका विवाह उसके प्रेमी से नही हुआ, इसमे निश्चित ही उसके माता-पिता अथवा समाज की प्रचलित रीति-नीति का दोष है, पर इस दोष का विष-फल उसका निरपराध पति क्यो भोगे जो उसके प्रेम और विश्वास से वचित होकर कही का भी नही रहता ?

इस विषम जाल से मुक्ति का एक ही उपाय जान पडता है कि नारी अपने व्यक्तित्व को इतना समर्थ बनाये कि विवाह-जैसी महत्वपूर्ण घटना उसकी इच्छा के विरुद्ध न हो। पर विवाह के उपरान्त अपने पत्नी-धर्म की मर्यादा और आवश्यकताओ को समझकर तदनुरूप आचरण करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। उसमे चूक करने से उसे समाज से कभी भी क्षमा अथवा सहानुभूति नही मिल सकती। विवाह की सफलता तभी सच्ची हो सकती है जब पति-पत्नी दोनो एक दूसरे के प्रति निश्छल और मुक्त हृदय से समर्पित हो। इस समर्पण मे जो भी सम्बन्ध, परिस्थिति या मान्यता रुकावट बने उसका बलपूर्वक त्याग करना पत्नी का कर्तव्य है।

सपत्नी

यद्यपि भारतीय समाज मे आदिकाल से ही एक-पत्नी-प्रथा को प्रतिष्ठा दी गई है, तथापि भारत के स्वतन्त्र होने के पूर्व तक बहु-पत्नी-प्रथा को अपराध कभी नही माना गया। इसीलिए हमारे समाज मे कभी-कभी पुरुष एकाधिक पत्नियाँ रखता आया है। सपन्न वर्ग अपने विलास के लिए और साधारण वर्ग पहली पत्नी मे कोई गभीर दोष होने पर एक पत्नी के रहते भी दुबारा विवाह कर लेता था। राजो-महाराजो के परिवार मे तो एक प्रकार से बहु-पत्नी-प्रथा ही प्रचलित थी। रामायण-काल से ही हम एक राजा की अनेक रानियो की कथा सुनते आये है। आज भी नानी की कहानी का आरम्भ प्रायः इसी प्रकार होता है 'एक राजा था, उसके सात रानियाँ थी।' मध्ययुग मे, विशेषत बगाल मे, कुलीन वरो की अल्प सख्या के कारण कभी-कभी एक-एक पुरुष दस-दस बीस-बीस नारियो से विवाह कर लेता था। प्राचीन-पथी रूढिग्रस्त परिवारो मे यह प्रथा कुछ वर्ष पूर्व तक मिलती थी। हमारा ग्रामीण समाज भी इससे मुक्त नही था।

बहु-पत्नियो की इस प्रथा ने एक नये नारी-सम्बन्ध को जन्म दिया। सपत्नी का घर मे पत्नी के ही समान स्थान और अधिकार होता है। ऐसी स्थिति मे यदि सपत्नियों का स्वभाव-व्यवहार मधुर और सहिष्णु हुआ तब तो रक्षा हो जाती है, अन्यथा घर का जीवन कलह-भूमि बन जाता है और कभी इस ओर से और कभी उस ओर से सकट छाया रहता है। और यदि कही पति उनमे से किसी एक के प्रति पक्षपात करने लगता है, तब तो अन्य सपत्नियो का जीवन आँसुओं से भीग जाता है।

हिन्दी के कुछ उपन्यासो मे सपत्नी के सम्बन्धो का चित्रण मिलता है, यद्यपि एक-पत्नी-प्रथा को मान्यता देने के कारण उपन्यासकारो ने इसे समस्या के रूप मे चित्रित नही किया

है। प्रेमचन्द के उपन्यास 'कायाकल्प' मे कुँवर विशालसिंह के तीन पत्नियाँ है—वसुमती, रोहिणी और रामप्रिया। रामप्रिया तो सहिष्णु स्वभाव की है इसलिए सदा शान्त रहती है, किन्तु वसुमती और रोहिणी मे निरन्तर कलह मचा रहता है। विशालसिंह रोहिणी के द्वार से उसे मनाकर निराश लौट रहे है कि वसुमती उन्हे अपनी ओर बुलाकर कहती है—'अभी घण्टे भर वहाँ बैठे चिकनी-चुपडी बाते करते रहे तो देर नही हुई, मै एक क्षण के लिए बुलाती हूँ तो भागे जाते हो।'[1] फिर सपत्नी के विरुद्ध भडकाती हुई कहती है 'औरतो को सिर चढाने का यही फल है। उसे तो तब चैन आये, जब घर मे अकेली वही रहे। जब देखो तब अपने भाग्य का रोया करती है, 'किस्मत फूट गई, माँ-बाप ने कुएँ मे झोक दिया, जिन्दगी खराब हो गई।' यह सब मुझसे नही सुना जाता, यही मेरा अपराध है। तुम उसके मन के नही हो, सारी जलन इसी बात की है। पूछो, तुझे कोई जबरदस्ती निकाल लाया था, या तेरे माँ-बाप की आँखे फूट गई थी। वहाँ तो यह मसूबे थे कि छोटी मुँहजोर है ही, जाते-ही-जाते राजा को अपनी मुट्ठी मे करके रानी बन बैठेगी। क्या मालूम था कि यहाँ उसका सिर कुचलने को कोई और भी बैठा हुआ है। यही बाते खोल-कर कह देती हूँ तो तिलमिला उठती है, और तुम दौडते हो मनाने। बस उसका मिजाज और आसमान पर चढ जाता है। दो दिन, चार दिन, दस दिन, रूठी पडी रहने दो, फिर देखो भीगी बिल्ली हो जाती है या नही, यह चिरतन का नियम है कि लोहे को लोहा ही काटता है। कुमानुस के साथ कुमानुस बनने ही से काम चलता है।'[2]

'गोदान' मे झिगुरीसिह की भी दो पत्नियाँ है जिनके कारण घर मे नित्य लडाई-झगडा होता रहता है। और झिगुरीसिह दोनो को प्रसन्न रखने की चेष्टा मे एक से दूसरी की निन्दा करता रहता है। उसके जीवन का यह पक्ष गाँव वालो के लिए व्यग्य-विनोद का अच्छा माध्यम बन जाता है, क्योंकि गाँव मे झिगुरीसिह के हथकण्डो के मारे सबकी नाक मे दम रहता है। होली के अवसर पर गोबर के नेतृत्व मे गाँव के लडके एक प्रहसन मे झिगुरीसिह और उसकी पत्नियो की नकल उतारते है।

इसी प्रकार अवधनारायण श्रीवास्तव के उपन्यास 'विमाता' मे विवाह को वर्षों बीत जाने पर भी सुभद्रा निसतान रहती है। उसका पति हारकर सतान की लालसा के कारण दूसरा विवाह कर लेता है। नई पत्नी का स्वभाव इतना ईर्ष्यालु और असहिष्णु है कि वह सुभद्रा से रात-दिन लडती रहती है जिसके कारण घर की शान्ति भग हो जाती है।

वास्तव मे सपत्नी का सम्बन्ध नितान्त अस्वाभाविक सम्बन्ध है। दाम्पत्य-जीवन का आधार है पति-पत्नी का एक दूसरे के प्रति एकान्त समर्पण। एकाधिक पत्नियाँ होने पर यह समर्पण किसी प्रकार सम्भव नही हो सकता।

---

१. प्रेमचन्द : 'कायाकल्प' (पृष्ठ ११०)
२. वही : (पृष्ठ ११०)

माँ—संतान

माँ का अपनी सन्तान से रक्त का सम्बन्ध होता है। इसीलिए वह स्वभावत अपनी सन्तान को अतिशय स्नेह देती है। जब से वह गर्भ धारण करती है तभी से उसकी रक्षा करना और उसका उचित ढग से लालन-पालन करना वह अपना कर्तव्य और दायित्व समझती है। वह स्वय दुख भोगकर भी उसको सुख पहुँचाने की सतत चेष्टा करती है, स्वय गीले पर सोकर उसे सूखे पर सुलाती है। उसकी प्रसन्नता और कल्याण के लिए वह बडे-से-बडा दुख उठाने को तत्पर रहती है, अवज्ञा और अपमान तक सह लेती है। हिन्दी उपन्यासकारो ने माँ की इस उदात्त भावना को विशेष रूप से सराहना की है। यशपाल के 'दिव्या' मे दिव्या अपने नवजात पुत्र शाकुल को जीवित रखने के विचार से एक द्विज-पत्नी के सद्य-जात बालक को दूध पिलाने की नौकरी करती है। किन्तु वह देखती है कि जिस पुत्र की रक्षार्थ वह यह नौकरी करती है, उसीको अत्यधिक क्लेश मिलता है। अपने बच्चे को भूखा रखकर दूसरे की सतान को स्तन-पान कराना माँ के कर्तव्य से च्युत होना है। फलस्वरूप दिव्या की मातृत्व भावना को गहन वेदना होती है। जब यह यत्रणा असह्य हो जाती है तब वह भागकर एक बौद्ध भिक्षु की शरण मे जाती है और जब वे उसको शरण नही देते तो अपने पुत्र को जीवित रखने के लिए, उसकी क्षुधा-पूर्ति के लिए वह वेश्या बनने तक का विचार करती है। जब वहाँ से भी उसे भर्त्सना मिलती है[1] तब अन्त मे और कोई उपाय न देखकर वह अपने पुत्र शाकुल को हृदय से चिपकाये यमुना के जल मे कूद पडती है जिससे उसकी मृत्यु के बाद अनाथ बालक को दर-दर की ठोकरे न खानी पडे।

अनेक हिन्दी-उपन्यासो मे ऐसा चित्रण मिलता है कि माँ किसी कारणवश अपने जीवन से दुखी होकर मृत्यु की शरण लेना चाहती है अथवा घर छोडकर चली जाने की सोचती है, किन्तु सतान के रुदन, दुख और अपने कर्तव्य का स्मरण आते ही उसे अपना यह विचार त्याग देना पडता है, और अपने दुखी जीवन को परिस्थितियो के आगे सिर झुका देना पडता है। मन्मथनाथ गुप्त के 'अवसान' की मुनिया आत्महत्या करने के लिए गगा-तट पर जाती है, किन्तु बच्चे के रुदन का स्मरण कर उसके पैर आगे नही बढते। 'गोदान' की मिसेज खन्ना अपने दाम्पत्य-जीवन से अत्यधिक दुखी होने पर भी बच्चों की असुविधा का विचार कर घर नही छोड पाती। यहाँ तक कि जब एक बार साहस कर वह घर से बाहर पैर रखती भी है तो तुरन्त अपने मातृत्व के दायित्व को अपने दुखी जीवन से भी अधिक महत्वपूर्ण मानकर पुन लौट आती है। प्रेमचन्द लिखित 'निर्मला' उपन्यास की कल्याणी भी अपने बच्चों के दुख का विचार कर गृहत्याग नही कर पाती। सियाराम-शरण गुप्त लिखित 'नारी' मे यमुना का पति और 'प्रसाद' लिखित 'तितली' मे तितली

---

१. **'माता का सम्मानित पद पाकर तू वेश्या बन समाज की शत्रु बनना चाहती है?'**
यशपाल : 'दिव्या' (पृष्ठ १२६)

का पति मधुवन घर छोडकर चले जाते है। पति की अनुपस्थिति मे इन नारियो को अनेक कष्टों का सामना करना पडता है किन्तु फिर भी मातृत्व के कर्तव्य की पूर्ति के लिए वे विरह-यत्रणा मे भी जीवित रहती है ओर अपनी सतान का लालन-पालन करती है। ये सभी माताएँ अपने बच्चो के स्नेह मे अपने अपमान और दुख को भूलने की चेष्टा करती है।

माँ का कर्तव्य है कि अपनी सन्तान के भविष्य के बारे मे प्रारम्भ से ही सोचे। बालक के विकास एव व्यक्तित्व-निर्माण का प्रतिपल ध्यान रखना माँ का कर्त्तव्य है चाहे इसके लिए उसे थोडी-बहुत कठोरता का ही सहारा क्यो न लेना पडे। प्रेमचन्द लिखित 'रग-भूमि' की जाह्नवी' अपने पुत्र विनय को एक आदर्श, वीर पुत्र के रूप मे देखना चाहती है। इसलिए वह प्रारम्भ से ही उसे कष्ट सहने का अभ्यास कराती है। 'गोदान' मे धनिया जब यह देखती है कि उसका पुत्र गोबर झुनिया को भगाकर तो ले आया है, किन्तु समाज के डर से स्वय भाग गया है तो वह एक ओर तो झुनिया को घर मे स्थान देती है, दूसरी ओर गोबर के कायरपन पर क्रुद्ध भी होती है।[1]

दूसरी ओर जो माता अपने सतान के चरित्रनिर्माण की उपेक्षा करती है, या सतान को लाड-प्यार जताकर ही अपने कर्तव्य की इति-श्री समझ लेती है, वह अपनी सतान का भविष्य अन्धकारमय बना देती है। ईश्वरीप्रसाद शर्मा लिखित 'वामा शिक्षक' मे जमना-दास की पत्नी अपनी पुत्री राधा और पार्वती के चरित्र-निर्माण की ओर तनिक भी ध्यान नही देती, जिसके कारण वे दोनो बडी होकर नितात अनुभवहीन सिद्ध होती है और उनका समस्त जीवन दुखमय व्यतीत होता है। अवधनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विमाता' मे राजेश्वर की माँ, कौशिक लिखित 'माँ' मे सावित्री, भगवतीचरण वर्मा लिखित 'पतन' मे भवानीशकर की माँ अपनी सतानो के प्रति इतना लाड-प्यार दिखाती है कि उनके दोषो को भी यह कहकर कि 'लाल अभी लडका ही है, उसमे अभी समझ कहाँ है, समझ आने पर खुद सँभल जायेगा,'[2] अनदेखा कर जाती है। उन्हे दुराचार और वेश्या-गामिता की ओर जाते देखकर भी चिन्तित नही होती, उल्टे वात्सल्य के कारण उनकी इच्छानुसार रुपया-पैसा देती रहती है। इसीका यह परिणाम होता है कि अकुशहीन पशु की भाँति वे अधे होकर अपने ही हाथो अपना जीवन नष्ट कर लेते है।

माँ की यह स्वाभाविक कामना होती है कि उसकी सतान जीवन मे निरन्तर उन्नति करे और सुख पाये। इसलिए वह बचपन से ही सतान के आचार-व्यवहार पर ध्यान देती

---

१. धनिया ने झुनिया का हाथ पकड़कर अन्दर ले जाते हुए कहा : 'कायर कहीं का। जिसकी बाँह पकड़ी, उसका निबाह करना चाहिए कि मुँह में कालिख लगाकर भाग जाना चाहिए। अब जो आये, तो घर में न बैठने दूँ।'
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १५२)

२. भगवतीचरण वर्मा : 'पतन' (पृष्ठ २३७)

है। पर एक अवस्था के बाद कभी-कभी माँ की यह स्वाभाविक चिन्ता सतान के विकास अथवा सुख मे बाधक भी बन जाती है। बीसवी शताब्दी भारतवर्ष के लिए सक्रान्ति का काल रहा है। इसमे जीवन की नई दिशाओ और नए स्तरो की खोज हुई, जिसके फलस्वरूप पुराना पीढी की अपेक्षा नई पीढी के विचार अधिक प्रगतिशील रहे। ऐसी परिस्थिति मे यदि माँ अपने लघु स्वार्थ अथवा वात्सल्य के अतिरेक मे सतान को अपनी सीमाओ मे ही बन्द रखे तो उसकी प्रगति मे रुकावट भी आ सकती है। इसीलिए उपन्यासकारो ने ऐसी माता का कई स्थलो पर चित्रण किया है जो सतान के सच्चे सुख के लिए अपने वात्सल्य की भी चिन्ता नही करती। 'अवसान' की वेश्या मुनिया अपने पुत्र के भविष्य का ध्यान रखकर उचित वातावरण मे उसके लालन-पालन की इच्छा से ही उसे अपने पास से दूर भेज देती है। अपनी सतान से यह वियोग उसे चाहे कितना ही कष्टकर क्यो न हो, वह सहने को तैयार हो जाती है। इसके विपरीत 'गोदान' की 'धनिया' यही चाहती है कि शहर मे जाकर धन कमाने की बजाय उसका बेटा गोबर गाँव मे ही रहकर अपने माता-पिता की मदद करे। यद्यपि उसके मन मे भी पुत्र की मगल-कामना ही है, पर वह यह समझने मे असमर्थ है कि गोबर का सच्चा हित कहाँ रहने मे होगा। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की परिपाटी से हटना धनिया को अवाछनीय लगता है। इसीलिए पाठक की सहानुभूति उसके साथ नही हो पाती, वह गोबर के चले जाने का ही समर्थन करता है।

माँ-बाप अपने बच्चो का विवाह करना अपना दायित्व समझते है। साथ ही वे इसे भी अपना कर्तव्य समझते है कि उनकी सतान का विवाह-सबध उनके मनोनुकूल हो। प्रेमचन्द लिखित 'निर्मला' मे कल्याणी अपनी पुत्री निर्मला के विवाह के लिए अच्छे-से-अच्छा घर-वर ढूँढने का प्रयत्न करती है किन्तु अधिक दहेज देने मे असमर्थ होने के कारण उसे निर्मला का विवाह बूढे तोताराम से करना पडता है जिससे उसके मन को अत्यधिक क्लेश होता है। 'गोदान' मे धनिया की बडी पुत्री सोना का विवाह-सम्बन्ध तो उपयुक्त परिवार मे होता है किन्तु बाद मे निर्धनता के कारण छोटी बेटी रूपा का विवाह-सम्बन्ध बूढे रामसेवक से ही करना पडता है। धनिया खिन्न वदन होकर कहती है 'उमिर तो ज्यादा है, लेकिन तुम लोगो की राय है, तो मुझे भी मजूर है। तकदीर मे जो लिखा होगा, वह तो आगे आयेगा ही।'[1]

पर कभी-कभी स्वार्थपरता या अदूरदर्शिता के कारण भी माँ अपनी सतान का विवाह-सम्बन्ध गलत जगह पर कर देती है। इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' मे नीलिमा की माँ और 'मुक्तिपथ' मे प्रमीला की माँ अपनी पुत्री का विवाह धन-वैभव की चकाचौध मे आकर ऐसे व्यक्ति से कर देती है जो लम्पट और दुराचारी है। यद्यपि माँ की इच्छा के कारण बेटी भी यह सम्बन्ध स्वीकार कर लेती है, पर बाद मे चलकर उसे दुख उठाना पडता है।

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ३६३) तेरहवाँ संस्करण १९५६

माँ की ममता जहाँ तक बन सके अपनी सतान को सामाजिक निन्दा से बचाना चाहती है। सतान भूल भी करे तो भी उसे घर पर बैठकर चाहे जितना डाँट-फटकार ले, किन्तु समाज मे उसका अपमान नही होने देती। रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित 'पतितो के देश मे' मुन्नू की माँ जब यह सुनती है कि उसके पुत्र मुन्नू का पिअरिया के साथ प्रेम-सम्बन्ध है तो उसे बहुत बुरा लगता है और उसको सामाजिक निन्दा से बचाने के लिए समझाती हुई कहती है 'आज तुझे मेरी देह छूकर शपथ खानी पडेगी। शपथ खानी होगी कि अब से पिअरिया से न बोलेगा, न उसकी परछाही छुएगा। ले मेरा हाथ शपथ खाता है या नही ?'[१]

'गोदान' मे जब गोबर झुनिया को भगाकर लाता है तो पहले तो होरी और धनिया के रोष का ठिकाना नही रहता किन्तु फिर तुरन्त ही धनिया अपने कर्तव्य का स्मरण कर झुनिया को अपने घर मे स्थान दे देती है और उसे अपनी पुत्र-वधू की भाँति ग्रहण कर लेती है। गोबर के इस कृत्य पर जब गाँव वाले नाक-भौ सिकोडते है तब वह गोबर का पक्ष लेती हुई कहती है . 'मेहरिया रख लेना पाप नही है, रखकर छोड देना पाप है।'[२] जब झुनिया के पुत्र उत्पन्न होता है तब बिरादरी की औरतो के असहयोग से तनिक भी विचलित न होकर वह स्वय ही अपनी पुत्रियो के साथ गला फाड-फाडकर सोवर गाती है। झुनिया को स्वीकार कर एक प्रकार से धनिया गोबर की भूल को समाज मे ग्राह्य बना देती है।

माँ का कर्तव्य है कि वह अपने सभी बच्चो को समान दृष्टि से देखे। धनिया अपनी सतान रूपा, सोना और यहाँ तक कि गोबर को भी समान दृष्टि से देखती है। सभी मिलकर काम करते है और जो कुछ घर मे होता है मिल-बाँटकर खाते-पहनते है। किन्तु उषा-देवी मित्रा लिखित 'पिया' मे नीलिमा और कविता की माँ ऐसी नही है। नीलिमा बाल-विधवा है, इसलिए उसकी माँ भी उसे दासी की भाँति रखती है, यहाँ तक कि उससे छोटी बहिन कविता के कपडे तक धुलवाती है। इसके विपरीत वह कविता को पढाती-लिखाती है और घर के काम से मुक्त रखती है। माँ का ऐसा हृदयहीन चित्रण बडा ही अस्वाभाविक लगता है। सभव है यथार्थ जीवन मे ऐसी माँ के भी उदाहरण मिलते हो, पर स्वाभाविक रूप से माँ की ममता विधवा-बेटी के प्रति इतनी करुण और सवेदनापूर्ण होती है कि वह उसके दुख को घटाने का ही प्रयत्न करेगी, बढाने का नही। उपन्यासकार ने ऐसा चित्रण कर माँ के मनोभावो के प्रति न्याय नही किया है।

भारतीय सस्कृति मे माँ के सहज गुणो मे क्षमा को बहुत महत्व दिया गया है। सन्तान चाहे कितनी भी बडी गलती क्यो न करे, जब वह विनत होकर अपनी गलती स्वीकार करती है और क्षमा चाहती है तो माँ का मन पिघल जाता है। 'गोदान' मे गोबर धनिया से कहनी-अनकहनी कहकर झुनिया को लेकर शहर चला जाता है तो धनिया को गोबर के व्यवहार पर क्रोध भी आता है और वेदना भी होती है। पाठक को ऐसा लगने लगता

---

१. रामवृक्ष बेनीपुरी : 'पतितों के देश में', बेनीपुरी ग्रन्थावली : (पृष्ठ ३०)
२. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १६३)

है कि अब वह गोबर को कभी क्षमा न करेगी। पर जब धनिया रूपा के विवाह के अवसर पर गोबर का स्मरण करती और आँसू गिराती है और गोबर भी शील की मूर्ति बनकर उसके सामने सिर झुकाकर खडा हो जाता है तो वह क्षण भर मे ही अपना सारा गुस्सा भूल जाती है ओर झुनिया को फिर अपने पास रख लेती है।

जिस प्रकार सतान के प्रति माँ का यह कर्त्तव्य है कि वह आजीवन अपनी सतान के हित और सुख का ध्यान रक्खे उसी प्रकार सतान का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वह माँ-बाप के सुख-दुख का ध्यान रखे, उनकी आज्ञा का पालन करे और उनकी भावनाओ को चोट न पहुँचने दे। साधारणत परिवार मे ऐसा होता भी है। बुड्ढे माँ-बाप को सहारा देना और उनको सुख-सुविधा का ध्यान रखना सभी चाहते है। 'गोदान' मे सोना के विवाह की चिन्ता मे जब धनिया घुलती रहती है तो उसको अपार कष्ट होता है। कभी वह आत्म-हत्या करने की सोचती है,[१] कभी माता-पिता को कर्ज लेते देखकर विकल हो जाती है।[२] अन्त मे और कोई उपाय न देखकर वह अपनी अतरग सखी सिलिया को समझा-बुझा कर अपने भावी ससुराल भेजती है, और अपने भावी पति से यह वचन ले लेती है कि वह बिना दहेज लिये ही उससे विवाह कर लेगा। प्रेमचन्द ने सोना की इस भावना मे माँ-बाप के प्रति सतान का आदर्श रूप उपस्थित किया है। ऐसा ही आदर्श रूप इलाचन्द्र जोशी के 'प्रेत और छाया' मे मजरी का है जो अपनी रुग्णा माँ की सेवा करने के लिए माँ से छिपकर होटल मे आगन्तुको के मन-बहलाव जैसा निन्दनीय कार्य स्वीकार कर लेती है। यही नही 'शेखर एक जीवनी' की शशि अपनी विधवा माँ की प्रसन्नता के लिए अपने आन्तरिक सुख की तिलाजलि दे देती है। यद्यपि वह विवाह नही करना चाहती ओर अपनी इस इच्छा के लिए वह समाज से टक्कर लेने को भी प्रस्तुत है तथापि माँ के प्रति वह इतनी कर्तव्यशील है कि उनके कहने पर विवाह के लिए भी सहमत हो जाती है।

लेकिन आधुनिक जीवन मे उपस्थित आर्थिक कठिनाइयाँ और वैचारिक सघर्ष कभी-कभी माता-पिता और सतान के बीच ऐसी अभेद्य दीवार खडी कर देते है कि सतान न चाहते हुए भी बडो के दुख का कारण बन जाती है। 'गोदान' मे गोबर और रामचन्द्र तिवारी लिखित 'कमला' मे रामानुग्रह आर्थिक कठिनाइयो के कारण बूढे माँ-बाप को छोडकर दूर चले जाते है। 'अचल' के 'नई इमारत' की आरती और यशपाल के 'दादा कामरेड' की शैल विचारो के सघर्ष के कारण अपने माता-पिता को छोड देने पर बाध्य हो जाती है।

---

१. 'मै एक बार उससे कह के देख लेना चाहती हूँ; अगर उसने कह दिया मेरा कोई अख्तियार नहीं है, तो क्या गोमती यहाँ से बहुत दूर है! डूब मरूँगी।'
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २७०) तेरहवाँ संस्करण, १९५६

२. वही : (पृष्ठ २७०)

कभी-कभी माता-पिता के प्रकृति-गत विभेद के कारण भी सन्तान को अलग हो जाना पडता है। प्रेमचन्द के 'रगभूमि' मे यह प्रकृति-गत विभेद ही मिसेज सेवक और सोफिया के सम्बन्धो को कटु बना देता है। मिसेज सेवक धर्मप्राण ईसाई महिला है, जो अपने परिवार के सम्मान और प्रतिष्ठा के लिए चाहती है कि सोफिया रियासत के पोलिटिकल एजेन्ट मिस्टर क्लार्क से विवाह करे। पर सोफिया उदार विचार की आदर्श-वादिनी युवती है जो विनय के उन्नत चरित्र और सेवा-भाव मे प्रभावित होकर उसी को अपना सर्वस्व मान लेती है। इसलिए न तो उसे अपनी माँ के धर्माचार-सम्बन्धी चोचले पसन्द है, न उनकी लघु स्वार्थ दृष्टि। अत दोनो मे कहा-सुनी होती रहती है।[१] मिसेज सेवक अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए ज्यो-ज्यो आग्रहशील और निष्ठुर होती जाती है,[२] त्यो-त्यो वह सोफिया की नजर मे गिरती जाती है। अन्त मे सोफिया परिवार से अलग रहने मे ही शान्ति अनुभव करती है।

'शेखर एक जीवनी' मे शेखर बचपन मे ही अपनी माँ से इतनी घृणा करने लगता है कि उनकी मृत्यु-समय भी उनके दर्शन करने नही जाता। 'गुनाहो का देवता' मे बिनती की विधवा माँ अपने सारे कष्टो का कारण अपनी बेटी को ही समझती है, और दिन-रात उसे ताने देती रहती है।[३] बिनती जितना सहती जाती है उतना ही माँ का अत्याचार बढता जाता है।[४] अन्त मे बिनती एक दिन फूट पडती है 'बहुत सुन लिया मैने। अब बर्दाश्त नही होना। तुम्हारे कोसने से अब तक नही मरी, न मरूगी। और अब मै यह सुनूँगी नही, मै साफ कह देती हूँ। उन्हे मेरी सकल अच्छी नही लगती तो जाओ तीरथ यात्रा मे अपना परलोक सुधारो। भगवान का भजन करो। समझी कि नही।'[५]

विच्छेद के इस चित्रण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि माँ और सन्तान के सम्बन्ध तभी तक मधुर रह सकते है जब तक दोनो के भाव और विचारो मे सामजस्य रहे।

---

१. प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' (पृष्ठ ४८-४९)
२. वही : (पृष्ठ १०६)
३. 'पैदा करत बखत बहुत अच्छा लग रहा, पालत बखत टे बोल गये। मर गये रह्यो तो आपन सन्तानौ अपने साथ ले जात्यौ। हमरे मूड पर ई हत्या काहे डाल गयो। ऐसी कुलच्छनी है कि पैदा होते दिन बाप को खाय गई।'
धर्मवीर भारती : 'गुनाहो का देवता' (पृष्ठ ८२-८३)
४. 'आप देख चुके हैं कि माँ का व्यवहार मुझसे कसा है ? आप यहाँ इस परिवार को देखकर समझ नहीं सकते कि मै वहाँ कैसे रहती हूँ, कैसे माँजी की बातें बरदाश्त करती हूँ। वह नरक है, मेरे लिए माँ की गोद नरक है।'
वही : (पृष्ठ ११६)
५. वही : (पृष्ठ २३३)

बहन-बहन

एक ही माँ की सन्तान होने के कारण बहनो को बचपन से ही समान वातावरण और समान सरक्षण मिलता है। इसीलिए एक ओर उनके मन मे सहज स्नेह का भाव रहता है तो दूसरी ओर बराबरी को, और कभी-कभी प्रतिद्वन्द्विता की भावना भी। हिन्दी उपन्यासो मे बहन-बहन के इस सहज स्नेह के पर्याप्त उदाहरण मिलते है। ईश्वरीप्रसाद शर्मा लिखित 'मागधो कुसुम' मे सरला और विन्दु का स्नेह, 'गोदान' मे रूपा और सोना का स्नेह, इलाचन्द्र जोशी के 'लज्जा' मे लज्जा और कला का स्नेह ऐसा ही है। साथ-साथ खेलने, उठने-बैठने से बहनो मे पारस्परिक स्नेह का विकास होता है। यो चौबीसो घण्टे साथ-साथ रहने के कारण कभो-कभी उनमे लडाई-झगडा भी होता रहता है। किंतु वे फिर भो सदा एक दूसरे का सामीप्य चाहती है। अकेले रहना उन्हे पसन्द नही होता। छोटी बहन मे यह प्रवृत्ति विशेषकर पाई जाती है। साथ ही यह भी पाया जाता है कि छोटी बहन बहुधा हर बात मे बडी बहन का अनुकरण करती है। 'गोदान' मे प्रेमचन्द ने दिखाया है कि जहाँ सोना जाती थी वहाँ रूपा अवश्य जाने को तैयार रहती थी। 'रूपा भी बहन के पीछे हो ली। जो काम सोना करे वह रूपा जरूर करेगी। सोना के विवाह की बातचीत हो रही थी, रूपा के विवाह की कोई चर्चा नही करता। इसलिए वह स्वय अपने विवाह के लिए आग्रह करती है।[1]

इस स्नेह-मिश्रित बराबरी की भावना के कारण ही बहुधा बहनो मे छोटी-मोटी बातो पर झगडा हो जाता हे। छोटी बहन से बडो बहन की तर्क-बुद्धि अधिक विकसित होने के कारण छोटी बहन को बहुधा बडी बहन से हार खानी पडती है। फलस्वरूप वह खीझ उठती है और उस खीझ को दूर करने के लिए कभी वह अपनी माँ से शिकायत करती है, कभी अनुचित शब्दों का प्रयोग कर बैठती है, कभो रोने लगती है तो कभो बल-प्रयोग भी करने लग जाती है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य का एक बहुत रोचक चित्रण 'गोदान' मे मिलता है। सोना और रूपा मे इस बात पर विवाद छिड जाता है कि झिंगुरीसिंह को छोटी ठकुराइन पहले खुद खाकर पति को खिलाती है या पति को खिलाकर तब खुद खाती है। बात बढते-बढते व्यक्तिगत आरोपो पर आ जाती है।

इसी प्रकार एक बार सोना-रूपा मे अपने-अपने नामो को लेकर झगडा हो जाता है। सोना बडी है इसलिए वह स्वय ही अपनी बात की रक्षा कर लेती है किन्तु रूपा की ओर से होरी और गोबर दोनों को ही बोलना पडता है।

बराबरी का यही भाव रूपा को बडी बहन की स्पर्द्धा करने की ओर प्रवृत्त करता है। जब गोबर शहर से लौटता है तो वह रूपा के लिए गुडिया और सोना के लिए एक जोडी चप्पल लाता है। रूपा को गुड़िया पसन्द नही आती, उसका ध्यान सोना की चप्पलो

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ३७) : तेरहवाँ संस्करण

पर ही रहता है और वह रूठ जाती है। रूपा की यह स्पर्द्धा देखकर सोना उसको और भी चिढाने लगती है. 'तू क्या करेगी चप्पल लेकर, अपनी गुडिया से खेल। हम तो तेरी गुडिया देखकर नही रोते, तू मेरी चप्पल देखकर क्यो रोती है ?'[१]

बचपन मे बहनो की यह स्पर्द्धा कुछ हद तक स्वाभाविक होती है और उनके बडे होने पर अपने-आप समाप्त भी हो जाती है। पर कभी-कभी प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण वह उलटा और भी गभीर रूप धारण कर लेती है। तब उनमे ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है, जो अशान्ति और विषमता का कारण बनती है। बहन के प्रति मन मे इस प्रकार की ईर्ष्या को स्थान देना अनुचित है, और अपने कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा का प्रमाण है।

हिन्दी-उपन्यासों मे साधारणत बडी बहन को अधिक समझदार और अधिक उदार व्यक्ति के रूप मे चित्रित किया गया है। वह अपनी छोटी बहन के प्रति सहज वात्सल्य की भावना से प्रेरित होती रहती है, और आवश्यकता पडने पर उसको सुखी बनाने के लिए स्वय कष्ट भोगने को तैयार रहती है। यही नही, जब उसे यह ज्ञात होता है कि उसकी उपस्थिति छोटी बहन के सुख मे बाधक हो रही है तब वह अपने अधिकारो का भी त्याग कर देती है। किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'स्वर्गीय कुसुम' मे, ब्रजनन्दन सहाय लिखित 'सौन्दर्योपासक' मे, तेजरानी दीक्षित के उपन्यास 'हृदय का कॉटा' मे, प्रेमचन्द लिखित 'सेवा सदन' मे और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यास 'गिरती दीवारे' मे हमे बडी बहन के चरित्र का यही रूप मिलता है।

बड़ी बहन

पर बडी बहन छोटी बहन से ईर्ष्या करती हो—ऐसा उदाहरण हमे केवल एक उपन्यास उषादेवी मित्रा के 'पिया' मे मिलता है जहॉ बडी बहन नीलिमा कविता के प्रति घृणा और ईर्ष्या का भाव रखती है। किन्तु उसका मूल कारण यही है कि विधवा होने के कारण नीलिमा को परिवार मे अपमान और अत्याचार सहना पडता है। ऐसी परिस्थिति मे जब वह अपनी छोटी बहन कविता को सुख-सुविधा पाते देखती है, तो बरबस उसका हृदय ईर्ष्यालु हो जाता है। बडी बहन होकर भी नीलिमा तो टहलनी की भॉति सारे घर की सेवा मे लगी रहती है और छोटी बहन कविता का सारा समय पढाई-लिखाई और बनाव-शृगार मे जाता है। यही नही, कभी-कभी कविता नीलिमा को खरी-खोटी भी सुना देती है। ऐसी स्थिति मे अपनी दयनीय दशा के प्रति नीलिमा का सारा दमित विद्रोह कविता की शिकायत बनकर फूट पडता है 'वह पढती है तो इससे मुझे क्या ? पढेगी तो अपने लिए। बडे घर मे ब्याह हो जायेगा, मोटर पर घूमती फिरेगी। क्यो—क्यो मै उसके कपडो को साबुन लगाऊँ, बासन माँजूँ, रोटी बनाऊँ ? किसलिए यह सब करूँ ? क्या मेरा स्वास्थ्य न बिगडेगा ? अपने को विदुषी समझती है, जरा-सी लडकी, सबके सामने मेरा अपमान करती है।'

इन कुछ प्रसंगो को छोडकर हमे सर्वत्र बहनो मे पारस्परिक सौहार्द और सहज स्नेह

---

१. प्रेमचन्द 'गोदान' (पृष्ठ २१८) :

के ही चित्र मिलते है। 'सुनीता' मे सुनीता की छोटी बहन सत्या का बडा ही अनुगत और निश्छल रूप मिलता है। जिस प्रकार सुनीता सत्या की पढाई-लिखाई और विवाह आदि की चिन्ता करती है उसी प्रकार सत्या भी अपनी बडी बहन की हित-कामना करती रहती है। जिस रात सुनीता हरिप्रसन्न के साथ आतकवादी दल मे जाती है, उसी रात उसके पति श्रीकान्त लौट आते है। सुनीता ने सत्या को बता रक्खा है कि उसके हरिप्रसन्न के साथ जाने की बात किसी पर प्रकट न हो। इसलिए सत्या जीजा जी को देखते ही बातो मे लगा लेती है, और अपनी सारी योग्यता और कौशल का प्रयोग कर श्रीकान्त को अपने घर जाने से रोकती है। यद्यपि उसका ऐसा प्रगलभ व्यवहार श्रीकान्त को भी अप्रत्याशित लगता है, फिर भी उससे सत्या का बडी बहन के प्रति अनुराग प्रमाणित होता है। इसी प्रकार 'पिया' मे कविता अपनी बडी बहन का कष्ट न समझ पाती हो, ऐसी बात नही है। वह शिक्षिता है और जानती है कि नीलिमा का सारा अपराध यही है कि वह विधवा है। पर घर मे माँ की व्यवस्था मे वह कुछ बोल नही पाती। कविता का विवाह हो जाने पर जब नीलिमा उसके पति से प्रेम करने लगती है और फलस्वरूप गर्भवती हो जाती है तब भी कविता नीलिमा के प्रति रुष्ट न होकर सहानुभूति ही प्रदर्शित करती है। वह नीलिमा का पक्ष लेकर माँ की भर्त्सना करते हुए कहती है 'उस अपढ ग्रामीण विधवा के सहारे के लिए एक हल्का-सा तिनका भी उठाकर धर दिया था उसके हाथ पर? नही, कुछ नही, मै जानती हूँ कुछ नही। और उसी विधवा से दुनिया यदि बड़े-से-बडा त्याग माँग बैठे तो वह उसे कहाँ से दे सकती है?'[१]

छोटी बहन

यद्यपि कविता के इन शब्दो मे आधुनिक शिक्षित नारी की त्याग-भावना और समाज-सुधार की प्रवृत्ति ही झलकती है, तथापि उनके मूल मे बडी बहन के प्रति जो स्नेह और यत्न छिपा हुआ है, उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। इसी स्नेह के बल पर वह नीलिमा की ईर्ष्या को भूल जाती है, और उसके प्रति सच्ची सहानुभूति प्रकट करती है।

इसी प्रकार विशेष परिस्थितियो मे बडी बहन के मातृवत् स्नेह का परिचय भी हमे कई उपन्यासो मे मिलता है। यशपाल के 'देशद्रोही' मे चन्दा अपनी छोटी बहन राज के विधवा हो जाने के कारण अत्यन्त कष्ट अनुभव करती है। और अपने पति की इच्छा न होते हुए भी उसे अपने साथ मसूरी ले जाने की जिद करती है। 'मै इसे जरूर ले जाऊँगी। जिससे पूछना होगा, पूछ लूँगी, देखा जायेगा——और फिर बहन तो मेरी है। और किसी का क्या है?' स्नेह से राज की ठोडी छू उसने पूछा—'चलेगी न तू मेरे साथ? . . . . रात मे मै तेरा सामान बँधवा दूँगी।'[२]

बड़ी बहन का मातृवत स्नेह

---

१. उषादेवी मित्रा : 'पिया' (पृष्ठ १६२)
२. यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ ७६)

बाद मे जब राज पुनर्विवाह कर लेते है, तब भी चन्दा की सहानुभूति कम नही होती। ऐसा ही मातृवत् स्नेह इलाचन्द्र जोशी के 'लज्जा' और 'निर्वासित', जैनेन्द्र के 'सुनीता' और 'अचल' के 'नई इमारत' उपन्यासो मे भी न्यूनाधिक रूप मे हमे मिलता है। जब बडी बहन और छोटी बहन की वय मे अन्तर अधिक होता है, अथवा जब छोटी बहन पर कोई विपत्ति आ पडती है तब बडी बहन प्राय माँ का-सा ही लाड-प्यार करने लगती है।

'सुनीता' मे सुनीता के अतिरिक्त सत्या की एक और बडी बहन है माधवी। "माधवी को भला कभी सत्या किसी बात के लिए पूछती है? माधवी पढी नही है, विधवा है, निष्पुत्रा है, विक्षिप्त-सी है। सो अग्रेजी के अखबार-किताब पढने वाली यह सत्या, जो माधवी के सदा ठट्ठ के ठट्ठ आभूषण पहने रहने पर उसकी खिल्ली ही उडाती रही है, वही सत्या इस माधवी से कह रही है—'जीजी, चलोगी न?' अर्द्ध विक्षिप्त उस माधवी की आँखो मे इतने पर ही आँसू भर आये। सत्या उसकी बेटी तो नही है, बहन ही है, पर उसके भी बेटी होती तो क्या वह भी ऐसे ही न बोलती? अर्ध-पगली माधवी का मन उसी अनहोनी सभावना को खीच लाया है। माधवी बोली, 'सत्या मेरी बहन, मुझे रहने दे, तू जा घूम आ।'"[1] 'नई इमारत' मे विधवा शमीम माँ की मृत्यु के बाद अपनी छोटी बहन जोहरा का लालन-पालन करती है। 'निर्वासित' मे सुषमा अपनी परित्यक्ता छोटी बहन नीलिमा को अपने घर मे शरण देकर उसके कष्ट दूर करने का प्रयत्न करती है।

यद्यपि सम्मिलित परिवार के विघटन और पृथक् परिवार की प्रतिष्ठा के साथ समाज मे पति-पत्नी के सम्बन्ध ही सर्वोपरि हो चुके है, और विवाहोपरान्त नारी का प्रमुख क्षेत्र अपना पतिगृह ही है, फिर भी छोटी बहन के प्रति उसका स्नेह-भाव कम नही हुआ है। हाँ, आधुनिक जीवन-प्रणाली मे उसका स्थान अब महत्वपूर्ण नही रहा है, और विशिष्ट परिस्थितियो मे ही वह तीव्रता से प्रकाश पाता है।

बहन-भाई

परिवार मे बहन-बहन के स्नेह से भी अधिक गहरा स्नेह बहन और भाई मे पाया जाता है। पाश्चात्य विकासवादी समाजशास्त्रियो का तो मत है कि मानव-जीवन के उष काल मे बहन-भाई मे विवाह-सम्बन्ध को भी अनुचित नही माना जाता था। इसके प्रमाण मे वे विभिन्न देशो की पौराणिक गाथाओ मे से ऐसे प्रसगो का उदाहरण उपस्थित करते है। जो हो, यह नि सदेह है कि बहन-भाई का एक दूसरे के प्रति सहज स्नेह होता है, और यौन-सम्बन्धो की वर्जना से वह और भी पवित्र एव अटूट बन गया है। मध्ययुग के जीवन मे नारी की स्थिति जब पूर्ण आश्रिता की-सी हो गई थी, तब भाई को वह अपना सरक्षक भी मानने लगी थी। रक्षा-बधन का त्यौहार आज भी इस बात का साक्षी है।

१. जैनेन्द्र : 'सुनीता' (पृष्ठ १६३)

भाई-बहन के प्रेम की इस पावन परम्परा की रक्षा हमारे लोकगीतो मे अकृत्रिम रूप से की गई है।

भाई-बहन के इस प्रेम को यद्यपि किसी भी उपन्यास मे प्रधानता नही मिली है, फिर भी यत्र-तत्र प्रसगवश उसकी झलक अवश्य मिल जाती है। साधारणत भाई के सहायक और सरक्षक रूप का ही चित्रण हमे हिन्दी उपन्यासो मे मिलता है। रत्नचन्द्र प्लीडर लिखित 'नूतन चरित्र' मे जब चित्रकला घर के अर्थाभाव के कारण नौकरी द्वारा अर्थोपार्जन करने का विचार करती है तब उसका भाई इसमे अपना अपमान मानता है। चतुरसेन शास्त्री लिखित उपन्यास 'आत्मदाह' मे विधवा कमला पुर्नविवाह के लिए सहमत नही होती। वैधव्य को वह अमिट भाग्य-विधान मानकर स्वीकार करती है। पर उसका भाई सुधीन्द्र बहन की यत्रणा नही देख पाता और इसलिए उसे समझा-बुझाकर पुर्नविवाह के लिए प्रेरित करता है। यद्यपि कमला पुर्नविवाह नही करती, फिर भी भाई की सवेदना और आश्वासन से उसे सहारा मिलता है। जयशकर 'प्रसाद' के 'तितली' मे मधुबन अपनी विधवा बडी बहन राजकुमारी की लाज बचाने के लिए अपने प्राणो की बाजी लगाकर चौबे की हत्या तक कर डालता है। भगवतीप्रसाद बाजपेयी कृत 'दो बहनें' मे मदा को छूत का ऐसा भयकर रोग है कि उसकी अपनी माँ भी उसके पास जाते डरती है। ऐसी परिस्थिति मे उसका सौतेला भाई ज्ञानप्रकाश ही रातदिन एक कर उसकी सुश्रूषा करता है। इसी प्रकार 'अचल' के 'नई इमारत' मे महमूद अपनी विधवा बहन शमीम के भरण-पोषण का सारा दायित्व अपने कधो पर ले लेता है।

भाई का यह सहारा पारिवारिक परम्परा मे इतना महत्वपूर्ण होता है कि कभी-कभी बहन अपने अल्पवयस्क असमर्थ भाई का साथ पाकर भी शक्ति का अनुभव करती है। निस्सदेह इसका मूल कारण यही है कि प्राचीन काल से हमारे समाज मे नारी आश्रिता रहती आई है। 'पार्टी कामरेड' की गीता जैसी शिक्षिता आधुनिका तक अपने छोटे भाई को अपना रक्षक मानती है 'इस कठिनाई मे वह छोटा-सा बेसमझ भाई सहसा उसका रक्षक बनकर खडा हो गया। ।'[१] 'उसने एक बाँह का सहारा अनुभव किया। वह बाँह देखने मे कितनी दुबली-पतली कमजोर हो, है तो मर्द की बाँह, वह अकेली नही है। श्यामू छोटा है तो क्या ? है तो लडका मर्द ! उसके सहारे वह खडी हो सकेगी।'[२]

पुरुष के सहारे की अपेक्षा से ही रक्षा-बधन की प्रथा का जन्म हुआ था। यद्यपि आधुनिक काल मे इसका वास्तविक महत्व धूमिल हो गया है और वह एक औपचारिकता मात्र ही रह गई है, फिर भी राखी बाँधकर बहन आज भी आश्वस्ति का अनुभव करती है, और राखी बँधवाकर भाई अपने कर्तव्य का। सेठ गोविन्ददास के उपन्यास 'इन्दुमती' मे यह प्रसग आया है। इन्दुमती जब अपने सहपाठियो के हाथ मे राखी बाँधना चाहती

---

१. यशपाल : 'पार्टी कामरेड' (पृष्ठ १०३)
२. वही : (पृष्ठ १०१)

है, तो सब उस भार से बचना चाहते है। 'यह बडी भारी जिम्मेदारी है श्रीमती जी।' केवल वजीरअली ही अपना हाथ बढाता है 'मै इस जिम्मेदारी के लिए तैयार हूँ, बहन जी, आप मुझे राखी बाँध दे।'[1] आगे चलकर वजीरअली सगे भाई के समान जीवन भर इस राखी का दायित्व निभाता है। 'नई इमारत' मे प्रतिमा महमूद को राखीबद भाई बनाकर उस पर अपना अधिकार समझने लग जाती है।[2] इन प्रसगो से यह सिद्ध है कि हमारे समाज मे राखी का बधन ऐसा पवित्र बधन था जो जाति-धर्म-गत भेदभाव को भी पार कर जाता था।

लेकिन कुछ आधुनिक उपन्यासो मे भाई-बहन के ऐसे परम्पराभुक्त चित्रण के स्थान पर उन नये सबन्धो की झलक मिलती है जो नारी के समान और समर्थ होते जाने के फल-स्वरूप विकसित हो रहे है। 'देशद्रोही' मे शिवनाथ अपनी बहन यमुना को अपने आश्रय मे रखने की अपेक्षा उसे आत्मावलम्बी और समर्थ बनाना चाहता है। उसका मत है कि यमुना को इतनी शिक्षा अवश्य लेनी चाहिये जिससे वह अपना जीवन स्वय चला सके। 'लज्जा' मे लज्जा जिस व्यक्ति से प्रेम करती है, उसका भाई राजू उससे घृणा करता है। भाई-बहन के दृष्टिकोणो का यह मौलिक विरोध उनके स्नेह को सोख लेता है, और राजू अपनी बहन के आचरण पर इतनी पीडा अनुभव करता है कि आत्महत्या कर लेता है। यद्यपि ऊपर से देखने पर यह बात बडी अस्वाभाविक लगती है, पर इसके मूल मे नारी की नई स्थिति की प्रतिष्ठा है जो भाई के आदेश-उपदेश पर अपने जीवन को ढालना आव-श्यक नही मानती।

नारी की इस नई स्थिति का चरम रूप—और कुछ मानो मे अस्वाभाविक रूप—हम 'शेखर . एक जीवनी' मे पाते है। शशि शेखर की मौसेरी बहन है, और बचपन से ही दोनों के मन अद्भुत रूप से एक दूसरे के प्रति अनुरक्त है। यह अनुराग शशि को एक तेज-स्विता प्रदान करता है, और अपनी परिस्थितियो से जूझने का साहस देता है। वह शेखर के प्रति इतनी समर्पित अनुभव करती है कि विवाह भी नही करना चाहती और जब शेखर के समझाने पर और माँ के आदेश पर विवाह कर भी लेती है, तब भी उसके मन मे आदर्श-पुरुष के रूप मे शेखर ही प्रतिष्ठित रहता है। आगे चलकर जब शशि को शेखर के कारण ही पति-गृह छोड देना पडता है, तब वह शेखर के साथ रहने लग जाती है, और अब तक के उनके आत्मिक स्नेह मे पार्थिवता का भी समावेश हो जाता है। शशि के चरित्र को हम साधारण नियमो मे बाँधकर देखे तो यह सम्बन्ध अनैतिक ही सिद्ध होगा, पर जिस प्रेम की ज्वाला मे शशि आहुति बनती है, वह सच्चा है इसमे सदेह नही। इसलिए वह यह दावा कर सकी है 'मैंने सदा उन्हे प्यार किया है, पाप मैंने कभी नही किया।'[3]

१. सेठ गोविन्ददास : 'इन्दुमती' (पृष्ठ ६८)
२. 'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ ५)
३. अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ २४२)

सास-बहू

नारी के पारिवारिक सम्बन्धो मे कदाचित सास-बहू का सम्बन्ध सबसे अधिक महत्व-पूर्ण है। सम्मिलित परिवार मे घर की सुख-शान्ति इसी सम्बन्ध पर टिकी होती है। जब तक घर मे बहू नही आती, तब तक सम्मिलित परिवार की एकता मे शायद ही कभी बाधा आती हो, चाहे उसके सदस्य कितने ही विपरीत और भिन्न स्वभाव के क्यो न हो। बहू के आते ही परिवार के जीवन मे जैसे एक नया मोड आ जाता है। यह मोड सभी सदस्यो से सौहार्द्र और समझदारी की माँग करता है, पर विशेष रूप से सास-बहू मे इन गुणो की आवश्यकता प्रमुख होती है। यदि उनमे से एक भी इन गुणो से रहित होता है तो परिवार का विघटन अनिवार्य हो जाता है। आधुनिक युग के लिए तो यह बात और भी सही है क्योकि विचारो और जीवन-दृष्टियो मे मतभेद होने के कारण सौहार्द और सहिष्णुता के सहारे ही गृहस्थी की शान्ति बनी रह सकती है।

सास-बहू मे सौहार्द की जितनी उत्कट आवश्यकता है, यथार्थ जीवन मे कदाचित उसका उतना ही अभाव मिलता है। ऐसे विरले ही घर होते है जहाँ किसी-न-किसी कारण से उनके सम्बन्धो मे कुछ-न-कुछ तनाव न हो। एक प्रकार से नारी की समस्याओ की आदि समस्या सास-बहू का कलह है। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमे नारी अपने कर्तव्य पर सबसे कम और अपने-अपने अधिकार पर सबसे अधिक ध्यान देती मिलती है।

आरम्भ से ही हिन्दी-उपन्यासो मे हमे सास-बहू के इन विग्रह-भरे सबधो का चित्रण मिलता है । इस चित्रण मे प्राय उन सभी परिस्थितियो का समावेश हो गया है जो बहू पर सास के अन्याय-अत्याचार का कारण बनती है । यद्यपि उपन्यासकारो की सहानुभूति बहू की दयनीय दशा पर ही है, पर एक-दो उदाहरण ऐसे भी है जिनमे बहू को कर्तव्य से च्युत और दोषी ठहराया गया है । इसी प्रकार एक-दो उपन्यास ऐसे भी है जिनमे सास का आदर्श मातृ-रूप चित्रित हुआ है।

चण्डिकाप्रसाद मिश्र के उपन्यास 'सुहागिनी' मे सास के प्रचड उग्र रूप का चित्रण है । जसोदा अपनी बहू सावित्री को दासी की भाँति समझती है ।[1] यही नही, वह सर्वदा इस प्रयत्न मे लगी रहती है कि बहू को अपने पति से भी कोई सहानुभूति न मिले।[2] 'हतभागिनी सावित्री गृह-बहू होने के कारण सब-कुछ सहती है, किसी से कुछ नही कहती, घर के

---

१. **'उग्र मूर्ति जसोदा इसे तरह-तरह के दुःख देती है। उसे इस बात का घमण्ड है कि मै घर की मालकिन हूँ और यह मेरी दासी।'**
चण्डिकाप्रसाद मिश्र : 'सुहागिनी' (पृष्ठ ३१)

२. **'जसोदा यह नहीं चाहती थी कि अतुल और सावित्री में परस्पर मेल हो।'**
वही : (पृष्ठ ३२)

काम-काज से छुट्टी मिलने पर चुपचाप एक कोने मे बैठ कर रोया करती है। ." किन्तु सास को उसका रोना भी सह्य नही है । वह बिगडकर कहती है 'राक्षसिन, सौ-सौ बेर कहा घर मे न रोया कर । मानती ही नही, निकल घर से । तुझे रोना ही है तो बाहर निकलकर जी भर रो ले।'[2] रमाशकर सक्सेना लिखित 'अबला' मे सास बहू को तग तो करती ही है, उसके विरुद्ध अपने पति और पुत्र के कान भी भरती रहती है । पर्दे मे रहने के कारण बहू को यह अन्याय चुप होकर सहना पडता है । इसी प्रकार 'रगभूमि' (प्रेमचद) मे कुल्सूम की दोनो विधवा सास जैनब और रकिया परिवार में अपने-आपको सर्वोपरि समझती है ओर हर प्रकार से बहू पर अत्याचार करती रहती है । स्वय विधवा होने पर भी बनी-ठनी रहती है, अच्छे-से-अच्छा खाती-पहनती है, पर सुहागिन कुल्सूम साधारण-से-साधारण सुख को भी तरस जाती है । पर वह कर कुछ भी नही सकती क्योकि उसका पति उसकी एक भी नही सुनता ।

इन उपन्यासो मे सास की सहज शासन-वृत्ति का ही चित्रण है जिसके कारण वे अकारण ही बहू को त्रास देती है । और क्योकि यह तभी तक सभव है जब तक बेटा बहू का पक्ष न ले। इसलिए वे बेटे को सदा बहू के विरुद्ध भडकाती रहती है । अपने मिथ्या दभ और स्वार्थ के कारण ऐसी सास पति-पत्नी के शुभ सम्बधों मे बाधा बनकर अपने मूल कर्तव्य से च्युत हो जाती है । इसके विपरीत रामचद्र तिवारी के उपन्यास 'कमला' मे और भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'शोले' मे ऐसी सास का चित्रण है जो अपने पुत्र के विदेश जाने पर बहू को अकेली पाकर सताने लगती है । इस चित्रण से सिद्ध होता है कि आज की सास मे बहू को सताने की साधारण प्रवृत्ति होती है ।

शासन-वृत्ति के अतिरिक्त सास के अत्याचार के और भी अनेक कारण हमे कुछ उपन्यासो मे मिलते है। लज्जाराम शर्मा मेहता लिखित 'आदर्श हिन्दू' मे प्रियम्वदा की सास उसको इसी कारण मारती-पीटती रहती है कि उसके पिता बेटी के विवाह मे वर-पक्ष की आशा के अनुकूल दहेज नही दे सके। भगवतीचरण वर्मा लिखित 'आखिरी दॉव' मे चमेली की सारी यत्रणा का कारण केवल यही है कि वह बॉझ है। प्रकृति की इस अकृपा के कारण चमेली को अपने सास-ससुर से ताने-झिडकी, डॉट फटकार और मारपीट तक सहनी पडती है।[3] राधिकारमण प्रसाद सिंह के उपन्यास 'राम रहीम' की बेला जब चौदह वर्ष की अल्प आयु मे ही विधवा हो जाती है, तब उसकी सास उसके इस दुर्भाग्य का कारण

---

१. चण्डिकाप्रसाद मिश्र : 'सुहागिनी' : (पृष्ठ ३४-३५)

२. वही : (पृष्ठ ९१)

३. 'हॉ, आज जो कुछ कहना है उसे तू जनम भर याद रक्खेगी, बॉझ कहीं की !' और यह कह कर उसने बेलन का दूसरा प्रहार किया।...'क्यो री चुड़ैल, बॉझ कही की अभी तक सो रही है ! पानी-वानी की फिक्र है ?'
भगवतीचरण वर्मा : 'आखिरी दॉव' (पृष्ठ ९-१०)

उसी को समझती है। 'इस कलमुँही रॉड ने मेरे घर को उजाड डाला।'[१] प्रेमचन्द लिखित 'वरदान' मे विरजन की भी यही दशा है। उसकी सास का यह पक्का विश्वास है कि विरजन के अशुभ पैर घर मे पडने के कारण ही उसके पति और पुत्र की मृत्यु हुई है। वह व्यग्य करती हुई कहती है 'तुम्हारे चिकने रूप ने ही मुझे ठग लिया।....मै क्या जानती थी कि तुम्हारे चरण ऐसे अशुभ है।'[२] इसी प्रकार 'मनुष्य के रूप' मे सोमा की सास की भी यही धारणा है कि सोमा के कारण ही उसके बेटे की मृत्यु हुई है 'मेरे शेर जैसे लडके को भी खा गई।'[३] 'शेखर एक जीवनी' मे रामेश्वर जब अपनी पत्नी शशि के चरित्र पर सन्देह करने के कारण उसे पीटने लगता है, तब शशि की सास उसकी रक्षा करने के बदले उलटे रामेश्वर को और पीटने के लिए उभाडती है 'देखो बेहयाई मार और एक मार '।[४]

बहू के प्रति सास के इस तर्कहीन द्वेष-भाव का ही यह परिणाम होता है कि कभी-कभी सास अपने बेटे के दोष अथवा हानि का कारण भी बहू को ही मान बैठती है। आधुनिक जीवन की नई परिस्थितियो के कारण जब बेटा माँ से अलग होने की चेष्टा करता है अथवा अपनी पत्नी की सुख-सुविधा का ख्याल रखना चाहता है, तो सास उसका सही कारण जानने का प्रयत्न न कर, अथवा सही परिस्थिति की जाँच न कर तुरन्त बहू को ही उसका दोषी ठहरा देती है। प्रभावती भटनागर कृत उपन्यास 'पराजय' मे सरला का पति राजेन्द्र सरला से प्रेम नही करता क्योकि वह लावण्य नामक एक युवती के प्रति आकृष्ट है। बेटे के इस चारित्रिक दोष की अनदेखी कर सरला की सास सरला को ही इसके लिए जिम्मेदार ठहराती है। उसका मत है 'जिसे पाकर पुत्र सुखी न हो सका, ऐसी बहू की क्या आवश्यकता है?'[५] इसी प्रकार 'गोदान' मे जब गोबर अपने माँ-बाप के रूढिग्रस्त जीवन की कठिनाइयों से झल्लाकर, और अपने पृथक परिवार की सुख-सुविधा का विचार कर माँ से दो टूक बाते करता है तब धनिया गोबर के इस परिवर्तन का असली कारण न समझकर झुनिया को ही इसका कारण मानती है। 'डाइन ने आकर उसका सोने-सा घर मिट्टी मे मिला दिया। गोबर ने तो कभी उसकी बात का जवाब भी नही दिया था। इसी रॉड ने उसे फोडा, और वहाँ ले जाकर न जाने कौन-कौन से नाच नचावेगी।'[६]

सास के इन निरतर कठोर अत्याचारो को जब बहू सहन नही कर पाती तब या तो वह आत्महत्या कर लेती है, या फिर घर छोडकर चली जाती है। 'हृदयेश' के 'मगल प्रभात' की राधा, 'मनुष्य के रूप' की सोमा और 'आखिरी दाँव' की चमेली—तीनो अपनी

---

१. राधिकारमण सिहः 'राम रहीम' (पृष्ठ ६)
२. प्रेमचन्द : 'वरदान' (पृष्ठ ११७-११८)
३. यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ ३९)
४. अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १८६)
५. प्रभावती भटनागर : 'पराजय' (पृष्ठ ५०)
६. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ३०७)

यत्रणा से मुक्ति पाने के लिए पर-पुरुष के साथ भाग जाती है । यद्यपि ऐसा करने से उन्हे और भी अनेक प्रकार के दुख सहने पडते है, किन्तु अपने घर लौटकर आने का भाव भी उनके मन मे नही जागता। बहू के प्रति सास के अन्तहीन अत्याचार की ऐसी ही दुखद परिणति होती है।

लेकिन आधुनिक युग मे परिस्थितियो के परिवर्तन से बहू की स्थिति मे भी परिवर्तन हुआ है। जिन घरो मे बेटा अर्थोपार्जन का मुख्य सहारा है, उनमे बहू को सास से दबकर नही चलना पडता। 'गबन' की जालपा अपने पति रमानाथ की डीगो पर विश्वास कर अपने-आपको अत्यन्त सम्पन्न समझती है, और सास से तनिक भी भय नही खाती, उलटे उनसे कुछ अकडकर ही बात करती है और अपने लघु स्वार्थ के लिए पति की वास्तविक आमदनी सास पर प्रकट नही होने देती। चतुरसेन शास्त्री लिखित 'आत्मदाह' मे भगवती ससुराल मे आते ही सास को बेखटके अपने मन का भाव बता देती है 'अम्मा जी, तुम मुझे क्या पढाती हो ? यहाँ माँ ने सब बतला दिया है—सास कैसे बहुओ को चाकरनी बनाकर रखती है। पर मै बाँदी नही हूँ। घर-भर का धन्धा मुझसे न होगा।'[1] वह अपने पति राजाराम को भी सास के विरुद्ध भडकाती रहती है। यही नही, 'गोदान' मे झुनिया जो पहले धनिया से शरण माँगती है और शरण पाकर धनिया की अत्यधिक कृतज्ञता अनुभव करती है,[2] गोबर के साथ शहर जाते समय धनिया को भला-बुरा कहते नही झिझकती 'कोई बच्चा नही है कि उन्हे फोड लूँगी। अपना-अपना भला-बुरा सब समझते है। आदमी इसीलिए नही जनम लेता कि सारी उम्र तपस्या करता रहे, और एक दिन खाली हाथ मर जाय। सब जिन्दगी का सुख चाहते है, सब की लालसा होती है कि हाथ मे चार पैसे हो !'[3]

इस विपरीत स्थिति का चरम रूप हमे प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यास 'विदा' मे मिलता है जिसमे कुमुदिनी सम्पन्न परिवार की पुत्री होने के कारण ससुराल मे बडी शान और ठसक से रहती है और अपनी सास शान्ता को जब-तब भला-बुरा कहती रहती है।[4] कुमुदनी का यह व्यवहार उसके पति निर्मल को पसन्द नही है और वह हारकर उसे अपने मायके भेज देता है। तो भी शान्ता आदर्श सास की भाँति[5] यही चाहती है कि 'तुम दोनो को सुखी देखूँ। क्या इस बुढापे की तुच्छ साध को तुम पूरी नही करोगे ? .

---

१. चतुरसेन शास्त्री : 'आत्मदाह' (पृष्ठ ६५)
२. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १६२) : तेरहवाँ संस्करण १९५६
३. वही : (पृष्ठ २३८)
४. 'सब तुम्हीं तो कहवाती हो और बाद में ऐसी लीपा-पोती करती हो।'
प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ ३३)
५. 'नन्हें और तुम दोनो मेरे लिए बराबर हो। वह कम और तुम अधिक।'
वही : (पृष्ठ ३३)

तुम राजा बन कर रहो और वह रानी बन कर। मुझे दासी बनकर जीवन के इने-गिने दिन काटने दो।'[१]

'विदा' मे कुमुदिनी के पाश्चात्य रग मे रँगे जीवन की आलोचना करने के उद्देश्य से ही सास का ऐसा आदर्शवादी चित्र उपस्थित किया है। पर इसके अतिरिक्त दो-एक उपन्यास और भी है जिनमे हमे सास के आदर्श रूप का दर्शन होता है। 'आत्मदाह' मे सुधीन्द्र की माँ बहू की मृत्यु पर अपना शोक प्रकट करती हुई कहती है 'उसने मेरे बेटे को प्राण और शरीर अर्पण किया। वह पराई बेटी होकर मेरे बेटे के लिए जीई और मरी, उसने मेरे बच्चो को अपने बच्चो की तरह छाती से लगाया। उसने मुझे सब चिन्ताओ से छुट्टी दी, उसे मै प्यार न करूँ।'[२]

इसी प्रकार 'गोदान' मे जब झुनिया का पिता भोला झुनिया से बुरी-भली कहता है तो वह आत्महत्या करने के लिए आगे कदम बढाती है 'लेकिन वह दो कदम भी न गयी थी कि धनिया ने दौडकर उसे पकड लिया और हिसा-भरे स्नेह से बोली—'तू कहाँ जाती है बहू, चल घर मे। यह तेरा घर है, हमारे जीते भी और हमारे मरने के पीछे भी। डूब मरे वह, जिसे अपनी सतान से वैर हो। इस भले आदमी को मुँह से ऐसी बात कहते लाज नही आती। मुझ पर धौस जमाता है नीच। ले जा, बैलो का रक्त पी '[३]

'जीवन की मुस्कान' मे भी जब रूपरेखा का पति उसकी ओर ध्यान नही देता, तो रूपरेखा की सास उसकी बडाई करती हुई बेटे से कहती है· 'ऐसी सुन्दर परी-सी बहू, लिखी-पढी, और तू उदास अलग-अलग रहेगा उससे। यदि तू उससे अच्छा बर्ताव नही करेगा तो वह रहेगी किसकी होकर?'[४]

देवरानी-जिठानी

जिस प्रकार बहन-बहन मे बराबरी का सम्बन्ध होता है उसी प्रकार देवरानी-जिठानी का सम्बन्ध भी बराबरी का होता है। एक ही माँ की सन्तान होने के कारण बहनो मे बराबरी की भावना के साथ-साथ प्रेम की भावना भी सहज रूप से विद्यमान रहती है, किन्तु देवरानी-जिठानी मे यह सौहार्द धीरे-धीरे ही विकसित हो सकता है। यदि देवरानी-जिठानी कर्तव्य-परायण है, जिठानी देवरानी को छोटी बहन की भाँति प्यार करती है और देवरानी जिठानी को बडी बहन मानकर आदर करती है, यदि दोनो एक दूसरे के सुख-दुख मे साथ देती है तब तो उनमे घनिष्ठ और अतरग मेल हो जाता है, अन्यथा

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १९)
२. चतुरसेन शास्त्री : 'आत्मदाह' (पृष्ठ ९)
३. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १६२)
४. उषादेवी मित्रा : 'जीवन की मुस्कान' (पृष्ठ ७५)

अपनी-अपनी रुचि और स्वभावगत विशेषताओं पर बल देने के कारण उनमे प्राय कलह होती रहती है जिससे परिवार की शान्ति को बडा व्याघात पहुँचता है।

'सेवासदन' मे भामी अपनी देवरानी पर इतना विश्वास करती है कि जब उसे लगता है कि उसके पुत्र सदन की शिक्षा उसके पास उचित रूप से नही हो रही है तो वह उसे अपनी देवरानी के यहाँ भेज देती है । उसकी देवरानी भी सदन को अपना ही पुत्र मानकर पूरी देख-भाल करती है। इसके विपरीत 'गोदान' मे धनिया तो जिठानी का अपना कर्तव्य भली प्रकार निबाहती है किन्तु उसकी देवरानी नही। जब वह सयुक्त परिवार की स्वामिनी थी, तब वह अपनी देवरानी की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखती थी। बेचारी अपनी देवरानियो के फटे-पुराने कपडे पहनकर दिन काटती थी। खुद चाहे भूखी सो रहती थी, लेकिन उनके लिए जलपान तक का ध्यान रखती थी। उसकी अपनी देह पर गहनो के नाम कच्चा धागा भी न था, देवरानियो के लिए दो-दो, चार-चार गहने बनवा दिये थे। इतना करने पर भी जब देवर-देवरानी उसकी निन्दा करते है और उसके साथ दुर्व्यवहार करते है तो परिवार का विच्छेद अनिवार्य हो जाता है ।

सच तो यह है कि देवरानी-जिठानी का एक साथ प्रेम-पूर्वक रहना बहुत कठिन काम है। ससुराल मे उनका समान अधिकार होता है। यदि किसी एक ओर भी इस अधिकार का अनुचित उपयोग किया जाता है तो दूसरी ओर से तुरन्त उसके प्रतिकार की प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। ईश्वरीप्रसाद शर्मा लिखित 'वामा शिक्षक' मे जिठानी जब यह देखती है कि उसका पति अधिक कमाता है, किन्तु घर-खर्च फिर भी देवरानी ही चलाती है तो उसके मन मे देवरानी के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। 'वह घर मे लडाई रखने लगी और उसने यह सोचा कि प्रथम तो मेरा मालिक पच्चीस रुपये का नौकर है, दूसरे आधा गाँव मेरे बाँटे मे अधिक आया है जो मै देवरानी से अलग रहूँगी तो उसमे मेरा बडा लाभ है। इसलिए अलग होने के लिए खुला-खुली तो न कहती पर सब बातो मे तकरार करती और देवरानी के प्रबन्ध को बुरा बतलाया करती और उसे घडी भर भी चैन नही लेने देती।'[1]

इसी प्रकार 'अश्क' लिखित 'गिरती दीवारे' मे चन्दा की जिठानी को यह बात बहुत बुरी लगती है कि उसका पति डाक्टर होने पर भी उसके लिए साज-श्रृगार की चीजे नही खरीदता और उसका देवर कुल चालीस रुपये का नौकर होने पर भी आठ-आठ रुपये अपनी पत्नी के लिए स्वेटर खरीदने मे खर्च कर देता है, उसके लिए हारमोनियम खरीदता है, उसे पढाता-लिखाता है, गाना सिखाता है। वह शिकायत करती हुई पति से कहती है 'आप तो डाक्टर है, और वह चालीस रुपये का क्लर्क । उसकी बीबी तो स्कूल मे पढे, बाजे बजाये और मै बैठी मुटर-मुटर ताका करूँ । उनको सब कुछ लेकर देने के लिए पैसे आ जाते है और मेरे लिए ... '[2]

---

१. ईश्वरीप्रसाद शर्मा : 'वामा शिक्षक' (पृष्ठ १३-१४)
२. उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'गिरती दीवारें' (पृष्ठ ३६०)

बराबरी की इसी भावना के फलस्वरूप वह भी पढने की इच्छा प्रकट करती है। अपढ होने के कारण वह पढने-लिखने को विनोद-विलास का ही एक ढग मानती है। 'वह यदि पढती है, तो क्या मै नही पढती, वह तो पढने के बहाने खाट पर टाँगे फैलाये लेटी रहे और मै बाँदी बनी घर का सब काम करूँ।'[1] दूसरी ओर चन्दा को अपनी जिठानी से यह शिकायत रहती है कि 'उसकी जिठानी चेतन (चन्दा के पति) की तरकारी मे तडका कम लगाती है और उसके दूध मे मलाई नही डालती।'[2] बराबरी की यही भावना घर मे अशान्ति उत्पन्न कर देती है। चन्दा अपने जेठ से पर्दा नही करती, यह बात पुराने सस्कारों मे पली उसकी जिठानी को अच्छी नही लगती। वह इसी प्रश्न को लेकर देवरानी, देवर यहाँ तक कि पति से भी कहा-सुनी कर बैठती है। वह एक ओर देवरानी से अपनी ज्येष्ठता का सकेत करती हुई कहती है, 'ससुर-जेठ की कुछ तो शरम होनी चाहिए बहन, आँखो का पानी क्या बिल्कुल ही मर गया।'[3] दूसरी ओर पति से मुँह बिचकाकर कहती है, 'जब वह आपके सामने बैठी 'हिं हिं करती है तो आपसे रोका नही जाता उसे?'[4] वह चाहती है कि देवरानी उसका वैसा ही आदर करे जैसे सास का किया जाता है। पर देवरानी का मन इसे स्वीकार नही करता। वह जिठानी को बडी बहन तो मान सकती है, किन्तु सास नही।

आधिपत्य की यही भावना रामचन्द्र तिवारी लिखित 'कमला' उपन्यास मे कमला की जिठानी के चरित्र मे पाई जाती है। वह अपना आधिपत्य सुरक्षित रखने के लिए देवरानी को बदनाम करना चाहती है। किन्तु जिसका पति कमाता हो, वह अपनी जिठानी का आधिपत्य स्वीकार कैसे कर सकती है? कमला अपने मन का विद्रोह प्रकट करती हुई कहती है 'जिठानी जी, घर मे मुझसे जितना काम करवाना हो, मै करने को तैयार हूँ। पर मै बाहर का काम नही करूँगी। मैं कोई मुफ्त मे घर मे नही रहती। यह जो आये दिन मनिआर्डर चला आता है और तुम चुपके से रख लेती हो, यह इसलिए नही आता कि चमारियों की भाँति चारा काटती फिरूँ। जिस ससुर का यह घर है उसकी मै भी बहू हूँ।'[5]

कमला अपनी जिठानी से यह कहने का साहस कर सकी इसकी पृष्ठभमि मे उसके पति की आर्थिक सम्पन्नता ही है। विधवा होने पर जब नारी असहाय अनुभव करती है तब वह कठोर-से-कठोर अत्याचार मौन रूप से स्वीकार कर लेती है जैसा कि 'मनुष्य के

---

१. उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'गिरती दीवारें' (पृष्ठ ३५९)
२. वही : (पृष्ठ ३५८)
३. वही : (पृष्ठ २७८)
४. वही : (२७९)
५. रामचन्द्र तिवारी : 'कमला' (पृष्ठ १९९)

रूप' की विधवा सोमा रात-दिन अपनी जिठानियो की टहल मे लगी रहती है, किन्तु जिस पत्नी की पीठ पर पति का समर्थ हाथ हो, उसका मन अत्याचारो के प्रति विद्रोह कर ही उठता है।[१]

कमला के प्रति जिठानी के इस भीषण अत्याचार का एक और कारण भी है। जिठानी नि सतान है जबकि कमला पुत्रवती है। जिठानी को यह चेतना बनी रहती है कि एक-न-एक दिन कमला का पुत्र ही घर का स्वामी होगा, और उसके सारे अधिकार छिन जायेगे। इसी प्रच्छन्न ईर्ष्या-द्वेष के कारण एक ओर वह कमला को नाना प्रकार से सताती है, दूसरी ओर कमला के पुत्र जगदीश की मृत्यु-कामना करती है। कमला के कष्ट का अन्त परिवार से पृथक हो जाने पर ही होता है। 'गिरती दीवारे' मे भी जिठानी के चले जाने के बाद ही घर मे चैन आता है।

वास्तविक बात यह है कि आधुनिक जीवन के विकास के साथ-साथ व्यक्तियो मे रुचि-वैचित्र्य और आर्थिक विभेद इतना बढ गया है कि सम्मिलित रूप मे अनुशासित और सहयोगी जीवन बिता सकना कठिन हो गया है। इसीलिए अधिकतर सम्मिलित परिवार टूट जाते है। यदि जेठ और देवर मे घनिष्ठता और सौहार्द हो तब तो कुछ दिनो जिठानी-देवरानी का साथ निभ भी सकता है, पर यदि उनमे भी विषमता हो तो देवरानी-जिठानी मे विग्रह अनिवार्य-सा ही हो जाता है। पृथक् परिवार की प्रतिष्ठा के साथ-साथ देवरानी-जिठानी के सम्बन्ध गौण और औपचारिक ही रह गये है। कभी-किसी विशेष अवसर पर उन्हे कुछ दिन तक एक साथ रहना भी पड़ता है तो वे यही सोचकर निर्वाह कर लेती है कि अन्त मे तो उन्हे अपनी-अपनी गृहस्थी ही सँभालनी है।

ननद-भौजाई

सम्मिलित परिवार मे ननद-भौजाई के सम्बन्धो मे एक विचित्र रस और माधुर्य होता है। कभी-कभी तो वह देवर-भाभी के सम्बन्धो से भी अधिक घनिष्ठ और आन्तरिक होता है। इसका कारण सभवत यह है कि ससुराल मे बहू की जो स्थिति होती है उसमे उसे ननद ही एक ऐसी सदस्य मिलती है जो प्राय उसकी समवयस्क होती है, और जिसके प्रति वह मैत्री-भाव रख सकती है। अन्य सभी सदस्यो का तो उसे केवल भय अथवा आदर ही करना पडता है। दूसरे, यदि ननद विवाहित है तो वह अपने अनुभव घर मे केवल भाभी को ही बता सकती है, अथवा यदि वह अविवाहित है, तो उसकी आकाक्षाओ के प्रति भाभी ही सहज सहानुभति दे सकती है। घर के अन्य सबन्धियो से उसका सम्बन्ध

---

१. **'सास की आँख लगी देख बड़ी और मझली दोनों बहुएं पड़ोस में पल भर बैठ आने के लिए निकल गईं। जाते-जाते बड़ी बहू अपनी कांथर और सुई-डोरा भी सोमा के सामने रख गई कि मक्का पछोर कर उसमें चार डोरे डाल दे।'**
यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ ३७)

इतना निकट होता है कि लज्जा-सकोच के कारण वह अपने अतरग-जीवन को उनसे छिपाने के लिए बाध्य होती है। इस प्रकार परिवार मे भाभी और ननद—ये दोनों ऐसी सदस्या होती है जिनको एक दूसरे की सहज ही आवश्यकता होती है। इसीलिए साधारणत ननद-भौजाई मे मित्रता, हास-परिहास और मान-मनौवल चलता रहता है। केवल रूढिग्रस्त घरो मे ही ननद-भौजाई मे द्वेष या वैमनस्य मिलता है, जहाँ माँ-बाप के प्रभाव मे बेटी भी नवागता बहू को पराया समझती है। आधुनिक युग मे जीवन-प्रणालियो के विभेदो के कारण भी कभी-कभी ननद-भाभी मे अमैत्री का भाव हो जाता है। पर यदि इन विशिष्ट परिस्थितियो को छोड दे तो ननद-भाभी मे हमे अधिकतर सख्य-भाव ही मिलता है।

ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने 'मागधी कुसुम' (१९११) मे ननद-भाभी के हास-परिहास का बडा सजीव चित्रण किया है।

'गोदान' मे भी ननद-भाभी के मधुर हास-परिहास की सुन्दर झलक मिलती है—झुनिया और उसकी ननद सोना मे।

इसी प्रकार 'नई इमारत' मे भी ननद-भाभी के हास-परिहास की अच्छी झलक मिलती है जहाँ आधुनिकता के फलस्वरूप पारस्परिक सम्बन्धो मे अधिक समानता लक्षित होती है और हास-परिहास भी उच्च स्तर का है। आरती ननद है और शीला भाभी। आरती को प्रेम करने के कारण महमूद भी शीला को भाभी कहता है। एक बार महमूद शीला को चाँदनी की बहन कहकर परिहास करता है। आरती महमूद के मजाक का सहारा पाकर बोली :

'भाभी को चाँद-सूरज-सितारे सभी छेडते है—इनके देश मे यही रिवाज है महमूद भाई। हम लोग जमीन के रहने वाले है—ये चन्द्रलोक की परी है। माहताब की चहेती है ये। तुम फिकर न करो। जब तक ये बाहर है, चाँद इन्हे बराबर घूरता रहेगा।'

भाभी—'जिस तरह महमूद तुम्हे घूरता है। बोल न अब ? बढ-बढ कर बात करती है, ज़रा-सा पुचारा पाकर।'

महमूद ने नाराजी दिखाते हुए कहा : 'भाभी ! बीसियो बार तुमसे कह चुका, आरती को मेरे मजाक मे न घसीटा करो। आरती सीधी है—कुछ बोलती नही।...... हम दोनो तुम्हारे चचल मन की थाह पा सकते है ?'

भाभी—'क्या कहने है इन मासूमो के। क्या बहकाने का तरीका निकाला है। आरती मन-ही-मन घुली जा रही होगी। क्यो न हो 'किया असीर मुझे लज्ज़ते असीरी ने' प्रेम हो तो ऐसा। भाई-भाभी, माँ-बाप, घर-द्वार, समाज और धर्म एक तरफ, महमूद एक तरफ। कल मुझसे कहती थी—'महमूद को छोड मुझे दुनिया का राज्य नही चाहिए। उनके साथ खुशी-खुशी जेल की चक्की पीसूँगी।'

आरती ने झल्लाकर कहा. 'भाभी तुम चाहती हो मै नदी मे कूद पड़ूँ। क्यो मनगढन्त झूठी बाते करती हो। मैंने तुमसे कब कहा था और क्या कहा था ?'[1]

आरती भी मौका नही चूकती। जब आरती के भाई अपनी पत्नी की परिहास-वृत्ति पर फब्तियाँ कसते है तो आरती शह पाकर कहती है 'इन्हे हर ऋतु हर महीने मे हरा सूझता है। आपको कितनी फिक्रे और उलझने है इससे इन्हे क्या मतलब ? तुम बड़ी चचल होती जा रही हो भाभी। इरादे बता दो। पूरा करने की कोशिश की जाये। क्यो तुम्हारे हौसले आधे पेट रहे।'[2]

ननद-भाभी मे इस प्रकार का स्वस्थ हास-परिहास तभी सम्भव है जब उनमे सच्चा स्नेह हो, और विचार एव भावो की समानता हो। आरती का अपनी भाभी के सम्बन्ध मे विचार है 'नवल नवेली प्यारी भाभी मिली तो जैसे दीप की बाती से बाती जुड गई—गगा-धारा मे एक मेघशून्य नीले आकाश-सी जमुना की धारा आकर मिल गई—सुख स्वप्न-सी मधुर सध्या मे आकर मन को मुग्ध करने वाली चाँदनी घुल गई।'[3] और उधर भाभी अपनी ननद के सुख-दुख को अपना ही सुख-दुख मानती है। महमूद से आरती के प्रणय को सफल बनाने के लिए वह अपनी सास-ससुर को हर तरह से समझाने की चेष्टा करती है। उनके न मानने पर और उल्टे इस अपराध के कारण आरती को घर से निर्वासित कर देने पर भाभी भी आरती के साथ जाने को प्रस्तुत हो जाती है। यद्यपि आरती नही चाहती कि उसके कारण उसकी प्यारी भाभी भी घर के लोगो की उपेक्षा-पात्र बने और दुख झेले[4] किन्तु भाभी अपनी ननद के सुख-दुख मे साथ देना अपना कर्तव्य समझकर आरती के साथ घर से निकल ही पडती है।

ऐसी ही कर्तव्यपरायणा भाभी का चित्रण हमे प्रतापनारायण लिखित 'विदा' मे मिलता है, जहाँ लज्जा अपनी ननद कुमुदिनी के दाम्पत्य-जीवन को सफल बनाना अपना कर्तव्य समझती है। इसके लिए उसे अपने अनुभव, हास-परिहास और व्यग्य का सहारा लेना पडता है।

भाभी का ऐसा ही आदर्श रूप हमे 'कर्मभूमि' की सुखदा मे दिखाई देता है। जब सुखदा को मालूम होता है कि उसकी ननद नैना का पति अत्यन्त विलासी, असभ्य और अत्याचारी है, और ससुराल मे उसे पग-पग पर अपमान और तिरस्कार सहना पडता है तब वह नैना की माँ की अनुपस्थिति मे स्वय सारा उत्तरदायित्व लेकर नैना को ससुराल जाने से रोक देती है।

---

१. 'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ २३-२४)
२. वही : (पृष्ठ ३१)
३. वही : (पृष्ठ ५८-५९)
४. 'भैया ! भाभी को मै अपने साथ नही ले जा रही। वे खुद जाना चाहे तो मै रोक भी कैसे सकती हूँ ?'
वही : (पृष्ठ १०२)

हिन्दी उपन्यासो मे जहाँ ननद-भाभी के मधुर सम्बन्धो की इतनी चर्चा मिलती है वही कुछ उपन्यासो मे उनके सम्बन्धो की विषमता पर भी प्रकाश डाला गया है। 'निर्मला' मे निर्मला की ननद रुक्मिणी निर्मला को फूटी आँख भी नही देख सकती। निर्मला उसके भाई तोताराम की दूसरी पत्नी है इसलिए वह उसको डाइन समझकर पहली पत्नी के बच्चो को उसके पास भी नही फटकने देती।[1] उलटे उन्हे निर्मला के विरुद्ध भडकाती रहती है। यही नही, उसकी यह भी चेष्टा रहती है कि उसके भाई और भाभी मे घनिष्ठता न हो सके।

'मनुष्य के रूप' की मनोरमा शिक्षित है, वह आधुनिक ढग से रहती है, इसी कारण उसकी भाभियों को वह फूटी आँख नही सुहाती।[2] जब वह एक अप्रिय घटना के कारण अपने भाई जगदीशसहाय को बचाने की चेष्टा करती है तब उसकी बडी भाभी उसके चरित्र पर लाछन लगाने से भी नही चूकती। 'बनने को तो अधेड उम्र तक कुआँरी बनती है, लेकिन दुनिया के सब चरित्रो मे दखल है। शर्म नही आती, भाई की दूती बन रही है। एक-दूसरे के कर्मो पर पर्दा डाल रहे है। जो चाहे करो ! हमारी मिट्टी क्यो खराब करते हो ?'[3]

किन्तु ननद-भाभी के ऐसे कटु सम्बन्धों की चर्चा हिन्दी-उपन्यासो मे अपवाद-स्वरूप ही मिलती है।

भाभी-देवर

यद्यपि भाभी-देवर का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध है, तथापि समय-समय पर उसमे गुणात्मक परिवर्तन होते रहे है। भारतीय समाज के आदिकाल मे देवर को कुछ हद तक पति के से अधिकार प्राप्त थे। 'द्विवर' शब्द मे भी यही ध्वनि है, जिससे 'देवर' बना है। वैदिक समाज मे इसका प्रमाण मिलता है कि पति की मृत्यु पर विधवा अपने देवर से विवाह कर लेती थी।

---

१. 'रुक्मिणी देवी लड़कों को उसके पास भी नही फटकने देती, मानो वह कोई पिशाचिनी है, जो उन्हें निगल जायेगी।'
प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ ३६)

२. 'मनोरमा के मुँह खोलते ही बड़ी और छोटी दोनो भाभियाँ बरस पड़ती। घर की लड़की के सम्मान का भी विचार उनकी जिह्वा को संयम में न रख सकता। उसकी आयु इतनी अधिक हो जाने का लाछन, उसके अकेले घूमने का लांछन। उसके बैठ-बैठ कर जाने कहाँ लम्बे-लम्बे पत्र लिखने का लांछन बड़ी भाभी और छोटी भाभी दोनों सर हिला, हाथ फैला बार-बार कहती कि किसी इज्जतदार घर मे इस उम्र की लड़की कुँवारी नही देखी।'
यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ १८९)

३ वही : (पृष्ठ १८२)

परन्तु संस्कृति के विकास के साथ भाभी-देवर का सम्बन्ध उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित हुआ। अब वे सहज मित्र के रूप मे देखे गये। भाभी-देवर का निश्छल सहज हास-परिहास और विनोद हमारे साहित्य मे अनेक रूपो मे ध्वनित हुआ है। सुख-दुख मे एक-दूसरे की सहायता करना भी उनका कर्त्तव्य माना गया।

कालातर मे इस सम्बन्ध मे फिर एक अन्तर आया। अब देवर भाभी को माता के समान ही आदर देने लगा और भाभी भी देवर को पुत्र के समान ही अपने यत्न और वात्सल्य का पात्र समझने लगी। इस प्रसग मे सीता-लक्ष्मण का सम्बन्ध आदर्श माना गया। वाल्मीकि और फिर तुलसीदास—दोनो महाकवियो ने यह दिखाया है कि लक्ष्मण अपनी भाभी सीता को माता के समान ही आदर और पूजा भाव से देखते थे।

किन्तु इस आदर्श की प्रतिष्ठा चाहे हो गई हो, यथार्थ जीवन मे परिस्थितियो और रीति-नीति के विभेदो के अनुसार देवर-भाभी के सम्बन्धो के अनेक रूप मिलते रहे, और आज भी मिलते है। आधुनिक युग मे शिक्षा और सस्कृति के द्रुत प्रचार-प्रसार से भाभी-देवर का सम्बन्ध फिर मैत्री का रूप लेने लग गया है।

पर हिन्दी-उपन्यासो मे भाभी-देवर का यह सख्य कही भी चित्रित नही मिलता। उनमे अधिकतर इस सम्बन्ध के दो परम विरोधी रूप मिलते है। कुछ उपन्यासो मे भाभी आदर्श के अनुसार देवर से माँ जैसा आचरण करती है। किन्तु कुछ उपन्यासो मे भाभी को अबला और निस्सहाय स्थिति मे पाकर देवर की कुत्सित, विकृत मनोवृत्ति का भी चित्रण मिलता है। सियारामशरण गुप्त लिखित 'गोद', चतुरसेन शास्त्री लिखित 'आत्मदाह' तथा इलाचद्र जोशी लिखित 'सन्यासी' मे हमे पहला रूप मिलता है और 'राम रहीम' और 'रतिनाथ की चाची' मे दूसरा।

'गोद' मे शोभाराम अपनी भाभी पार्वती को, और 'आत्मदाह' मे वीरेन्द्र अपनी भाभी सुधा को माता के समान समझते है, और वे भी उन्हे पुत्रवत ही मानती है। शोभाराम अपनी भाभी से कहता है

'जी छोटा क्यो करती हो भौजी ? मै तो हूँ तुम्हारा लडका। मुझे अपनी किसी माँ की याद नही है, मै तो इतना ही जानता हूँ कि भगवान ने तुम्हे ही मेरी माँ बनाया है। बसी अपने बाप को भैया कहता है, मै अपनी माँ को भौजी, बस इतना ही अन्तर है और कुछ नही।'[1]

इसी प्रकार 'सन्यासी' मे नन्दकिशोर अपनी भाभी का प्यार पाकर अपनी स्वर्गीया माँ का अभाव भी भूल जाता है।[2] भाभी भी नन्दकिशोर का पुत्रवत यत्न करती है।

---

१. सियाराम शरण गुप्त : 'गोद' (पृष्ठ ८-९)

२. 'मेरे पैदा होने के चार-पाँच मास बाद ही माँ की मृत्यु हो गई थी। इसलिए जब से मैंने तुम्हें पाया तबसे एक कितने बड़े अभाव की पूर्ति मेरे जीवन में हुई, इसकी कल्पना शायद तुम न कर सकोगी।'
इलाचन्द्र जोशी : 'संन्यासी' (पृष्ठ ३४६)

उसके बीमार पडने पर उसकी सुश्रूषा करती है,[1] उसे व्यावहारिक ज्ञान देती है[2] और माँ के समान ही उसके विवाह के लिए चिन्तित होती है।[3]

'राम रहीम' मे दिनेश अपनी भाभी बेला को और 'रतिनाथ की चाची' मे जयनाथ अपनी विधवा भाभी को निस्सहाय और अबला समझकर अपनी काम-पिपासा का शिकार बनाते है। उनके इस अनैतिक आचरण से दोनो नारियो का जीवन कलकित और दुख-पूर्ण हो जाता है।

'गोदान' मे भाभी-देवर के सम्बन्धों मे आदर्श और यथार्थ की विषमता के दर्शन होते है। धनिया अपने देवर हीरा और सोभा का छुटपन से ही माँ के समान लालन-पालन करती है और बडे चाव से उनका विवाह कराती है किन्तु बड़े होने पर वे धनिया के इस उपकार को भूल जाते है, और सम्मिलित परिवार छोडकर अलग रहने लगते है। होरी और धनिया अब भी उनके प्रति ममता ही रखते है, पर वे अपने भाई और भाभी की निन्दा करने का कोई अवसर नही चूकते। जब धनिया के घर मे गाय आती है तो हीरा ईर्ष्या से इतना पागल हो जाता है कि सारे गाँव मे यह कहकर उनकी बुराई करने लगता है कि अवश्य ही धनिया ने बँटवारे के समय रुपया दबा लिया होगा।

---

१. भाभी जी ने मेरी बीमारी में रात-दिन मेरे पास बैठकर मेरी जैसी सुश्रूषा की वह वर्णनातीत है। उनके प्रति कृतज्ञता के भाव से मेरा हृदय गद्‌गद् हो गया। बच्चों की देख-रेख, गिरस्ती के काम-काज, अपना खाना-पीना सब छोड़ कर वह केवलमात्र मेरी परिचर्या में लगी रहीं। मेरी इच्छी हुई कि उनके दोनों पाँवों के नीचे अपना सिर रखकर उनकी धूलि से अपने को पवित्र करूँ, पर केवल अपनी आँखों मे ही कृतज्ञता का भाव झलका कर मै रह गया।'
इलाचन्द्र जोशी : 'संन्यासी' : (पृष्ठ २८०)

२. 'तुम भी कभी-कभी बड़ी बेतुकी बात कह देते हो, लाल ! ऐसे लोफर से मुझे क्या काम हो सकता है ? और एक बात मै तुमसे भी कहे देती हूँ, ऐसे आदमी के साथ हेल-मेल बढ़ाना तुम्हारे लिए भी अच्छा नहीं है।'
वही : (पृष्ठ ३२७)

३. 'अगर तुम विवाह कर लो और भगवान की कृपा से तुम्हारे कोई लड़का हो जाये तो मै अपनी सब मनोकामनाओं को सिद्ध समझ लूँगी। तुम एक बार सिर्फ कह दो कि ' मै जयन्ती से विवाह को तैयार हूँ, बाक़ी सब भार, सारी जिम्मेदारी मै अपने ऊपर लेती हूँ, बोलो राजी हो ? बोलो।' यह कह कर भाभी जी अत्यन्त उत्सुकता से मेरी, ओर देखने लगीं—जैसे इसी एक प्रश्न के उत्तर पर उनके समस्त जीवन की सार्थकता अथवा व्यर्थता निर्भर करती है।'
वही : (पृष्ठ ३३९)

धनिया को जब अपने देवर की इस बात की सूचना मिलती है, तो वह असह्य क्रोध के कारण प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है। वह होरी से कहती है 'मै अभी जाकर पूछती हूँ न कि तुम्हारे बाप कितने रुपये छोड कर मरे थे। डाढीजारो के पीछे हम बरबाद हो गये, सारी जिन्दगी मिट्टी मे मिला दी, पाल-पोसकर सडा किया, और अब हम बेईमान हो गये ?'[1] फिर वह हीरा के घर जाकर जवाब तलब करने लगती है

'तू हमे देखकर क्यो जलता है ? हमे देखकर क्यो तेरी छाती फटती है ? पाल-पोस कर जवान कर दिया, यह उसका इनाम है ? हमने न पाला होता, तो आज कही भीख माँगते होते। रुख की छाँह भी न मिलती।' हीरा ने जवाब दिया 'हम किसी का कुछ नही जानते। तेरे घर मे कुत्तो की तरह एक टुकडा खाते थे और दिन भर काम करते थे। जाना ही नही कि लडकपन और जवानी कैसी होती है। दिन-दिन भर सूखा गोबर-बीना करते थे। उस पर भी तू बिना दस गाली दिये रोटी न देती थी। तेरी जैसी राच्छसिन के हाथ पडकर जिन्दगी तलख हो गई।' धनिया और भी तेज हुई 'जबान सँभाल, नही जीभ खीच लूँगी। राच्छसिन तेरी औरत होगी। तू है किस फेर मे, मूँडी-काटे, टुकडे-खोर, नमक-हराम।'

हीरा गला फाडकर बोला 'चली जा मेरे द्वार से, नही जूतों से बात करूँगा। झोटा पकडकर उखाड लूँगा। गाली देती है, डाइन। बेटे का घमण्ड हो गया है। खून '[2]

इस प्रकार आर्थिक अभाव और सामाजिक रूढियो से ग्रस्त ग्रामीण जीवन मे भाभी-देवर का-सा मधुर सबन्ध भी द्वेष और ईर्ष्या का रूप धारण कर लेता है। यही नही, धनिया को स्पष्टवादिता से हीरा इतना चिढ जाता है कि वह होरी की साध से लाई गाय को ईर्ष्या-वश विष खिला देता है।

इसी प्रकार की एक रूढि का चित्रण 'अश्क' के 'गिरती दीवारे' मे मिलता है। चम्पावती अपने अल्पवयस्क देवर से पहले तो सहज व्यवहार करती है, पर उसके बडे होते ही उससे पर्दा करने लग जाती है।[3] देवर से पर्दा करना इतना अस्वाभाविक है कि उससे स्वस्थ सबन्धो का मूल ही नष्ट हो जाता है।

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ४४)

२. वही : (पृष्ठ ४५-४६)

३. 'और मै अपने देवर तक से घूँघट निकालती हूँ, ऊँचे स्वर से बात नहीं करती।'...
'तुम्हारे जेठ ने बहुतेरा कहा, पर जब देवर सयाने हुए तो मैंने उनसे पर्दा करना शुरू कर दिया।'
उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'गिरती दीवारें' (पृष्ठ २७९-२८०)

अध्याय ७

नारी के शाश्वत रूप : देवी, माता, पत्नी, प्रेयसी

देवी

वैदिक युग से ही भारतीयो ने नारी को देवी मानकर उसके प्रति श्रद्धा अर्पित की है। नारी की देवी के रूप मे कल्पना करने के कारण ही आर्यो ने अनेक देवियो की प्रतिष्ठा की। प्रकृति के रहस्यमय और रमणीय व्यापारो को (जैसे उषा) हृदय की भावनाओ और गुणो को (जैसे धृति) और जीवन की सहायक परिस्थितियो को (जैसे लक्ष्मी) उन्होने देवी के रूप मे ग्रहण किया और अपनी समृद्धि के लिए उनकी अर्चना का विधान किया। नारी की ऐसी महती प्रतिष्ठा के कारण ही प्राचीन काल मे असाधारण गुणो से सम्पन्न नारी को देवी का पद दिया जाता था, और उसकी पूजा-अर्चना भी की जाती थी। विलक्षण सौदर्य, विलक्षण ज्ञान अथवा विलक्षण शक्ति से सम्पन्न नारी को देवी का अवतार मानकर सरल-हृदय भारतीयो ने सस्कृति के आदि युग मे नारी के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया है। सीता और पार्वती जैसे पौराणिक चरित्र इसके प्रमाण है।

मध्य-युग मे भारतीय जीवन की विशृखलता और अगति के कारण यद्यपि समाज मे नारी की स्थिति अत्यन्त हीन हो गई थी और उसके व्यक्तित्व पर नाना प्रकार के उचित-अनुचित प्रतिबन्ध लग गये थे, फिर भी नारी के प्रति श्रद्धा समाप्त नही हुई थी और असाधारण प्रतिभा से मडित नारी सहज ही देवी की प्रतिष्ठा पा लेती थी। नारी के दोषो और बधनो का मूल-स्रोत उसके यौन-सम्बन्धो को ही माना जाता था। इसलिए साधारण कन्या को देवी-तुल्य मानने का सस्कार हमारे समाज मे आज भी विद्यमान है, और विशेष पर्वो मे कन्या की पूजा का विधान भी है।

आधुनिक युग मे सस्कार और यथार्थ की यह खाई दूर होती गई है। इसलिए नारी को देवी न मानकर मानवी माना जाने लगा है, और मानवी के रूप मे उसकी सामाजिक स्थिति को पुरुष के समान ही महत्वपूर्ण बनाने के प्रयत्न होने लगे है।

हिन्दी-उपन्यासो का जन्म और विकास आधुनिक युग मे ही हुआ है, इसलिए उनमे नारी के देवी रूप की खोज अनुचित ही ठहराई जायेगी। तथापि दो उल्लेखनीय उपन्यासो मे हमे इस रूप के दर्शन होते है। पहला उपन्यास है डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित 'बाणभट्ट की आत्मकथा', जिसमे हर्षकालीन भारतीय जीवन का चित्रण है।

आत्मकथात्मक शैली मे लिखे जाने के कारण इस उपन्यास मे घटनाओ से भी अधिक

महत्व भावनाओ के वर्णन का है। लेखक ने अत्यन्त पुष्ट और समर्थ भाषा के प्रयोग से तत्कालीन जीवन के सम्बन्ध मे बाण की प्रतिक्रियाओ का विस्तृत और विशद विवरण दिया है। बरसो से निरुद्देश्य विचरता बाण जब अपने जीवन को नए सिरे से प्रारम्भ करने का निश्चय कर स्थाण्वीश्वर पहुँचता है तो अचानक उसे अपने विघटित नाट्य-मण्डल की अभिनेत्री निपुणिका मिल जाती है। निपुणिका अब रनिवास की दासी है। वह बाण को देखकर उसे अपने एक कार्य मे सलग्न करने मे सफल हो जाती है। यह कार्य है एक महिला की रक्षा, जिसे रनिवास मे उसकी इच्छा के विरुद्ध रक्खा गया है। निपुणिका उस महिला का जिस प्रकार वर्णन करती है, उसी से बाण के सरल, उदात्त और निश्छल मन मे उसके प्रति श्रद्धा और सम्भ्रम का उदय हो जाता है

'भट्ट, अब तक तुमने नारी मे जो देव-मन्दिर का आभास पाया है, वह तुम्हारे भोले मन की कल्पना थी। आज मै तुम्हे सचमुच का देव मन्दिर दिखाऊँगी। परन्तु उसके लिए तुम्हे छोटे राजकुल मे मेरी सखी बनकर प्रवेश करना होगा और कीचड मे धँसे हुए उस मन्दिर का उद्धार करना होगा'[१]

अत पुर मे पहुँचकर जब बाण उस महिला के दर्शन करता है तो उसके अलौकिक रूप और तेज से वह अभिभूत हो जाता है

'मेरे मन मे बार-बार यह प्रश्न उठता रहा कि इतनी पवित्र रूपराशि किस प्रकार इस कलुष धरित्री मे सम्भव हुई?'[२]

इस देवी-स्वरूपा महिला के उद्धार का साधन बनकर बाण निज को ही कृतार्थ अनुभव करता है, और उसकी सुरक्षा एव कुशलता के लिए अपने प्राणो पर खेल जाता है।

बाद मे बाण को ज्ञात होता है कि जिस देवी की उसने रक्षा की है वह देव-पुत्र तुवर मिलिन्द की राजकन्या है। प्रत्यत दस्युओ से अपहृत होकर वह राजकन्या चन्द्रदीधिति नाना कष्टो को पार कर मौखरिराज के अन्त पुर मे पहुँची थी। पर चद्रदीधिति वहाँ रहने मे अपना अपमान समझती थी। इसीलिए अपने उद्धार कर्ता बाण के प्रति वह कृतज्ञ है, और उसके लिए उसके मन मे आदर और अनुराग का ऐसा पवित्र भाव है जिसे सात्विक प्रेम की सज्ञा दी जा सकती है। पर बाण का सरल मन चद्रदीधिति को देवी-तुल्य श्रद्धा ही देता रहता है, यद्यपि उसके मन मे भी अनजाने उसके प्रति एक मोह समा गया है। इस उपन्यास मे आदि से अन्त तक चद्रदीधिति का चरित्र और आचरण इतना उच्च, महान, और पवित्र दिखाया गया है कि अनायास वह सबसे श्रद्धा और भक्ति पाती है। आचार्य सुगतभद्र बाण से प्रश्न करते समय उसके इस दिव्य रूप का बडा ही सुन्दर वर्णन करते है .

'क्या कहा वत्स, देवपुत्र तुवर मिलिन्द की एक मात्र कन्या चन्द्रदीधिति अभी जीवित

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (पृष्ठ २८)

२. वही : (पृष्ठ ३९-४०)

है ? वह कहाँ है वत्स ? किस अवस्था मे तुमने देखा है ? वह कुशल से तो है ? मैने सुना था, प्रत्यन्त-दस्युओ ने उसे हरण किया है। तुमने ठीक देखा है वत्स ! वह सुकुमारता की मूर्ति है, पवित्रता को उत्स है, शोभा को खानि है, शुचिता को आश्रय-भूमि है, मूर्त्तिमति भक्ति है, कान्तिमती करुणा है। अहा, वह तुवर मिलिन्द की नयन-तारा अभी जीवित है ? बताओ वत्स, मै उसे देखने को व्याकुल हूँ।'[1]

भट्टिनी चद्रदीधिति जब नौका मे मगध की ओर जाते हुए बाण को अपना पूर्ववृत्त सुनाती है, और दस्युओ के पाश मे पड जाने के कारण अपने को 'धर्षिता, अपमानिता, कलकिनी' कहती है, तो बाण अपने प्राणो के पूरे बल से उसका प्रतिवाद करता हुआ कहता है

'कौन कहता है देवि, कि आप कलकिनी सामान्य नारी है ? पार्वती के समान निर्मल अन्त करण, गगा के समान पूतकारी विचार-धारा, कैलास के समान शुभ्र चरित्र और मानसरोवर के समान सकरुण हृदय ने जिस देवी को अशेष लोक की पूजनीय बनाया है, उसे कलकिनी समझने वाला नरक-भागी होगा। ..... आश्वस्त हो देवि, तुम पवित्रता की मूर्ति हो, कल्याण की खानि हो। समग्र आर्यावर्त्त के ब्राह्मण और श्रमण, देव मन्दिर और शस्य-क्षेत्र, अनाथ और नारी पौर और जनपद जिस दिन अपने रक्षक देवपुत्र तुवर मिलिन्द की नयनतारा को पहचान लेगे, उस दिन वे मन्दिरो मे तुम्हारी मूर्तियाँ बनाकर पूजेगे।'[2]

भट्टिनी के अनुपम व्यक्तित्व का सान्निध्य पाकर बाण निरन्तर अपने को कृतज्ञ समझता है, और भट्टिनी के योग्य ही उदात्त भावो का परिचय देता है। भट्टिनी यद्यपि अनेक प्रकार से यह प्रकट करती है कि वे उसकी अनुगता है, पर बाण उनको देवी मानकर अपने-आपको उनका सेवक ही मानता है। उपन्यास के अन्त मे जब भट्टिनी निपुणिका की मृत्यु पर कातर होकर अचेतनप्राय हो जाती है, तब बाण कहता है.

'देवि, उठो ! तुम्हे कातर होना नही शोभता। नरलोक से किन्नर लोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय का सधान पाना बाकी है। अपने सेवक का उचित मार्ग प्रदर्शन करो। निपुणिका शोच्य नही है। शोच्य मै हूँ। मुझे और भी अनाथ मत बनने दो। उठो देवि, आर्यावर्त को बचाना है, म्लेच्छ देश को बचाना है, मनुष्य जाति को बचाना है। देवपुत्र नन्दिनी की यह अवशता उचित नही है।'[3]

इस प्रकार 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' मे नारी के पवित्र देवी-तुल्य रूप का बहुत ही हृदयग्राही और प्रभावशाली चित्रण हुआ है।

दूसरा उपन्यास वृन्दावनलाल वर्मा का 'विराटा की पद्मिनी' है। इसमे उत्तर-मुगल-कालीन बुदेलखण्ड के जीवन का चित्र है, और इसमे चित्रित विभिन्न चरित्रो के माध्यम से

१· हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' : (पृष्ठ ६४)

२. वही : (पृष्ठ १४१-१४२)

३. वही : (पृष्ठ ३८४)

सरल ग्रामीणो के अधविश्वास और राजसी परिवारो के घात-प्रतिघातो पर अच्छा प्रकाश पडता है। जन्म के समय ही कुमुद मे शास्त्रो मे वर्णित पद्मिनी नारी के सभी गुण विद्यमान थे, और इसीलिए भोले ग्रामीण उसे दुर्गा का अवतार मानकर पूजने लगते है। ज्यो-ज्यो कुमुद बढती जाती है उसकी चर्चा दूर-दूर तक फैलने लगती है, और नित्य ही श्रद्धालु जन उसके दर्शन करने आने लगते है। देवी के समान ही कुमुद वरदान और आशीर्वाद भी देती है, और भक्तो को उन पर अटूट विश्वास है। उसका पिता नरपति कुमुद की देख-भाल मे ही अपना सारा समय बिता देता है।

कुमुद भक्तजनो की इस श्रद्धा को सहज रूप से स्वीकार करती है। वह अपने-आपको देवी नही, देवी की पुजारिन मानती है, और मन्दिर मे दुर्गा की मूर्ति की बगल मे बैठकर दर्शन देती है। उपन्यासकार ने कुमुद मे अनुपम सौन्दर्य और तेज की प्रतिष्ठा की है, और उसके हृदय को सात्विक भावों से भरपूर दिखाया है। कुमुद स्वय अपने पुजारिन-रूप को अटल समझती है, और अपना सारा जीवन देवी के पूजन-अर्चन मे लगा देती है। जब मन्दिर नष्ट हो जाता है, तब वह बेतवा मे कूदकर अपने जीवन का अत कर देती है।

उपन्यासकार ने कुमुद की जन्म-कथा और उसमे देवीरूप की प्रतिष्ठा का वर्णन इस प्रकार किया है:

'१६-१७ वर्ष पहले नरपति सिह दाँगी के घर लड़की उत्पन्न हुई थी। जब वह गर्भ मे थी, उसकी माँ विचित्र स्वप्न देखा करती थी। लडकी के उत्पन्न होने पर पिता को ऐसा जान पडा, मानो प्रकाश-पुज ने घर मे जन्म लिया हो। उसकी माँ लडकी को जन्म देने के कुछ मास उपरात मर गई।

'नरपति दुर्गा का भक्त था, और जागते हुए भी स्वप्न-से देखा करता था। गॉववाले उसे श्रद्धा और भय की दृष्टि से देखते थे।

'वह क्या रूप-राशि थी! उस पर देवत्व के आरोप होने मे विलब न हुआ। अविश्वास करने के लिए कोई स्थान न था। गाँव के मन्दिर मे दुर्गा की जो मूर्ति थी, शिल्प की कला उसे वह रूप-रेखा नही दे पाई थी, जो इस बालिका मे सहज ही भासित होती थी। ज्यो-ज्यो उसने वय प्राप्त किया, त्यो-त्यों अग सुडौल होते गए, सौन्दर्य की विभूति बढती, निखरती गई, और गॉववाले नरपतिसिंह की उस कन्या को किसी निर्भ्रान्त सिद्धान्त की तरह स्वीकार करते गए। पहले बालिका की पूजार्चा बहुधा नरपतिसिंह के ही घर पर होती रही, पीछे बालिका द्वारा मदिर मे स्थापित मूर्ति की पूजा कराई जाने लगी।..... उस कन्या को देवी का अवतार मानते हुए न केवल गॉव के लोग ठठ-के-ठठ जमा होकर उसके घर पर या मदिर मे जाते थे, बल्कि बाहर के, दूर-दूर के लोग भी अब मानता मान-मानकर आते थे।'[1]

किन्तु उपन्यासकार ने कुमुद का चित्रण सरल, निश्छल नारी के ही रूप मे किया है।

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'विराटा की पद्मिनी' (पृष्ठ २२-२३)

लोग उसे देवी समझते है, पर वह अपने को साधारण नारी ही समझती है। जब सुरक्षा के विचार से नरपतिसिह कुमुद को लेकर पालर से विराटा चले जाते है, तब उनके पडोस मे रहने वाली गोमती भी उन्ही के साथ जाती है। अपरिचित और निर्जन स्थान मे गोमती का साथ पाकर कुमुद को साधारण नारी का-सा हर्ष होता है.

'बिना किसी प्रतिबध के गोमती को गले लगाकर बोली: 'गोमती तुम भी आ गई! अच्छा किया। भूली नही। एक से दो हुए। अच्छी तरह हो! अब जब पालर चलेगे, साथ ही चलेगे।'

यह मिलाप नरपतिसिह को भी बुरा नही लगा। देवी को—अपनी कन्या को एक घडी के लिए स्वाभाविक आनन्द मे लहराते देखकर वह बूढा पडा भी प्रसन्न हो गया। उसने सोचा: 'ऐसा मिलाप बहुधा और सबके सामने न होना चाहिए।'[१]

उपर्युक्त उद्धरण से हमे यह भी पता चलता है कि कुमुद का पिता नरपतिसिह उसके देवी-रूप की प्रतिष्ठा बनाये रखने के प्रति अत्यन्त व्यग्र और चिन्तित रहता है। इसमे उसका निपट स्वार्थ और लाभ वृत्ति झलकाकर लेखक ने मध्ययुग के अधविश्वासो का अविवेक भी सिद्ध कर दिया है। इसके विपरीत कुमुद के समय-समय पर किये गए प्रतिवादो से लेखक ने कुमुद की सरलता प्रमाणित की है

'बडी क्लात हूँ गोमती। आजकल काम के मारे जी बेचैन हो जाता है। मूर्ति से वरदान न माँगकर लोग मेरे सामने हाथ फैलाते है। यह मेरी शक्ति के बाहर है। मै तो दुर्गा से केवल प्रार्थना करती हूँ, स्वय किसी को कुछ नही दे सकती। जो इससे प्रतिकूल विश्वास करते है, वे अपने साथ अन्याय और मेरे साथ क्रूरता करते है।'[२]

कुमुद को देवी न माननेवालो की सख्या भी कम नही है। जो सम्पन्न और राजवर्ग के लोग है, वे इस जनश्रुति को कोरा ढकोसला ही मानते है। छोटी रानी और गोमती का यह सवाद इसका प्रमाण है

गोमती धीरे से बोली 'आप जो कुछ करें, मै आपके सग मे हूँ, मै भी मरना चाहती हूँ। मुझे ससार मे अब और कुछ भी देखने की इच्छा नही। कुमुद—विराटा की देवी—सुखी रहे, यही लालसा है।'

'विराटा की देवी!' रानी ने उत्तेजित होकर कहा—'दाँगी की छोकरी को देवी किसने बना दिया।'

गोमती ने भी ज़रा उत्तेजित स्वर मे उत्तर दिया: 'ससार उसे मानता है। और कोई माने या न माने, मै उसे लोकोत्तर समझती हूँ। यदि इसी समय प्रलय होने वाली हो, तो मै ईश्वर से प्रार्थना करूँगी कि कम-से-कम एक वह बची रहे।'[३]

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : विराटा की पद्मिनी' (पृष्ठ ८१)
२. वही : (पृष्ठ १०७)
३. वही : (पृष्ठ ३७२)

यही कारण है कि वृद्ध राजा नायकसिह और नवाब अलीमर्दान दोनो रूपवती कुमुद से अपने अत पुर की शोभा बढाना चाहते है। नायकसिह की तो रोगशय्या पर मृत्यु हो जाती है पर अलीमर्दान अन्त तक उसे पाने का प्रयत्न करता रहता है। उसकी यह अभिलाषा सभी पक्षो पर प्रकट है, इसीलिए विराटा की 'पद्मिनी' कुमुद सर्वग्रासी युद्ध का प्रधान लक्ष बन जाती है। विराटा का राजा सबदलसिह दाँगियो का राजा है, वह कुमुद के देवीत्व की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर उसकी रक्षा मे लगता है। उधर राजा देवीसिह और नवाब अलीमर्दान दोनो विराटा पर चढाई करते है। अन्त मे दाँगी लोग जौहर की शरण लेते है, देवी का मन्दिर तोपो से उडा दिया जाता है, और कुमुद नदी मे समा जाती है।

इसी प्रकार कुमुद की रक्षा मे राजकुमार कुजरसिह भी अपने प्राणो की आहुति दे देता है। यह कहना कठिन है कि वह कुमुद को देवी मानता है या नही। पहली बार जब वह कुमुद के दर्शन करता है, तो उसे एक अलौकिक तेज का आभास होता है। वह रूप और दृष्टि उसे भुलाये नही भूलती। बाद मे सब ओर से निराश होकर जब वह विराटा मे कुमुद के पास पहुँचता है, तो अपनी सारी आकाक्षाओ को तिलाजलि देकर कुमुद के पास रहकर देवी की रक्षा करने मे ही अपनी सार्थकता समझता है। कुमुद के प्रति उसके मन मे विचित्र आकर्षण है। वह प्रेम और भक्ति का एक अनोखा सम्मिश्रण है। कदाचित लेखक यह झलकाना चाहता है कि वह कुमुद को पाना चाहता है, पर उसके अलौकिक रूप और जन-विश्वास ने कुमुद को जो देवीत्व प्रदान किया है, उसके कारण वह प्रणय-निवेदन का साहस नही कर पाता, केवल भक्ति-मात्र ही प्रदर्शित करता है।

कुजरसिह के इस भक्ति-समर्पण को कुमुद एक ऐसी विशेष भावना से स्वीकार करती है, मानो वह भी कुजर की ओर आकृष्ट हो, पर प्रकट रूप से शान्त और दूर ही बनी रहती है। यदि उसमे नारी-सुलभ भावनाएँ है भी तो वह उन्हे व्यक्त नही करती। केवल अन्त समय मे जब वह यह जानती है अब उसे और कुजर दोनो को ही मिट जाना है तब वह कुजर के गले मे अपनी बनाई माला डालकर मानो अपने प्रेम को वाणी देती है -

'उठो चलो।' कुजरसिह ने खोह मे धँसकर कुमुद से कहा—'मुसलमान घुस आये है। हमारे सब सैनिको ने जौहर कर लिया है।'

उसने (कुमुद) अपने आँचल के छोर से जगली फूलो की गुँथी हुई एक माला निकाली, और कुजर के गले मे डाल दी। उस माला मे फूल अधखिले और सूखे थे।

कुजरसिह ने कुमुद को छाती से लगा लिया। कुमुद तुरन्त उससे अलग होकर बोली: 'यह मेरा अक्षय भाँडार लेकर जाओ। अब मेरे पास और कुछ नही।' कुमुद के आँसू आ गए। उसने उन्हे निष्ठुरता के साथ पोछ डाला। थोडी दूर पर लोगो की आहट सुनकर कुमुद ने आदेश स्वर मे कहा: 'जाओ! खडे मत रहो। मुझे मार्ग मालूम है।' फिर जाते-जाते मुडकर बोली: 'मेरा मार्ग नि शक है तुम अपना असदिग्ध करो।'"[1]

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'विराटा की पद्मिनी' (पृष्ठ ४०६-४०७)

इस प्रकार देवी मानी जाने वाली कुमुद अत तक देवी की ही भाँति निश्छल, निर्मल और निश्चल रहती है। लेखक ने बडे कौशल से उसके नारीत्व और देवीत्व दोनो का निर्वाह किया है।

विलक्षण तेजवती नारी को देवी मानकर पूजने का एक प्रसग हमे 'गोदान' मे भी मिलता है। जब धनिया के प्रचण्ड रूप को देखकर पुलिस-दरोगा खाली हाथ लोट जाता है तो भोले गाँववाले धनिया को देवी का कृपापात्र समझकर पूजने लगते है:

'महीनो तक आस-पास के इलाको मे इस काण्ड की खूब चर्चा रही। यहाँ तक कि वह अलौकिक रूप तक धारण करता जाता था—'धनिया नाम है उसका जी! भवानी का इष्ट है इसे। दरोगाजी ने ज्योही उसके आदमी के हाथ मे हथकडी डाली कि धनिया ने भवानी का सुमिरन किया। भवानी उसके सिर आ गई। फिर तो उसमे इतनी शक्ति आ गई कि उसने एक झटके मे पति की हथकडी तोड डाली और दरोगा की मूँछे पकडकर उखाड ली, फिर उसकी छाती पर चढ बैठी। दरोगा ने जब बहुत मानता की, तब जाकर उसे छोडा।' कुछ दिन तक तो लोग धनिया के दर्शनो को आते रहे। वह बात अब पुरानी पड गई थी, लेकिन गाँव मे धनिया का सम्मान बहुत बढ गया। उसमे अद्भुत साहस है और समय पडने पर वह मर्दो के भी कान काट सकती है।'[१]

माता

नारी के नाना रूपो मे सबसे अधिक महत् और गौरवशाली रूप माता का है। वेदो मे माता को पृथ्वी-स्वरूपा कहा गया है। पृथ्वी के समान ही वह सतान को धारण करती है, उसका लालन-पालन करती है, और आजीवन धैर्य एव सहिष्णुता के साथ सतान के सुख की कामना करती है। इसलिए माता के ऋण से उऋण होना असभव माना गया है।

'स्त्री के विकास की चरम सीमा उसके मातृत्व मे ही सकती है।'[२] मातृत्व नारी-जीवन की चरम सफलता है। 'नारी-जीवन की सफलता मातृत्व मे ही चरितार्थ होती है। इस बात को उस समय के सभी मनीषी मानते थे। माँ को पृथ्वी स्वरूपा और पिता से भी बडी माना है। माता के स्वभाव मे एक ओर धैर्य, त्याग, ममता, स्नेह का परम उत्कर्ष देखते थे तो दूसरी ओर उसके पुत्रवती होने को भी अनिवार्य मानते थे।'[३] पत्नी का पद पाकर नारी के व्यक्तित्व का विकास अवश्य होता है, पर उसके जीवन की सच्ची सार्थकता और पूर्णता तभी होती है जब वह माँ बनती है। सतान को जन्म देना, उसका लालन-पालन करना, अन्तिम क्षण तक उसकी रक्षा करना और आजीवन उसकी उन्नति मे योग देना—मातृत्व का यही आदर्श है, यही उसका शाश्वत रूप है। जीवन भर की साधना

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १२२-१२३): तेरहवाँ संस्करण
२. महादेवी वर्मा : 'शृखला की कडियाँ' (पृष्ठ ९६)
३. अल्तेकर : 'पोजीशन आफ विमेन इन हिन्दू सिवलाइजेशन,' अध्याय ३ (पृष्ठ ११८)

और तपस्या से माता अपने वात्सल्य को चरितार्थ करती है। एक शब्द मे, वह अपने समस्त व्यक्तित्व को अपनी सतान मे लय कर देती है।[1]

हिन्दी उपन्यासो मे माँ के इस शाश्वत रूप के सभी पक्षो का भरपूर चित्रण हुआ है। उसकी ममता, दया, क्षमा-सहिष्णुता का जैसा आदर्श रूप इन उपन्यासो मे मिलता है[2] वैसा ही आदर्श रूप अपनी सतान के प्रति उसकी हित-चिन्ता का भी। सतान चाहे अयोग्य हो, चाहे कर्तव्यच्युत हो, चाहे समाज की आँखो मे पतित और तिरस्कृत हो, माँ का वात्सल्य-भरा अंचल सदा उस पर छाया रहता है।

माता का यह अक्षय वात्सल्य कभी नही घटता, कभी नही सूखता। कठिन-से-कठिन परिस्थिति मे और बडे-से-बडे विरोध मे भी माँ अपना वात्सल्य नही भूलती। वह ससार के बाकी सारे सुखो को तिलाजलि दे सकती है, समाज और परिवार का बडे-से-बडा अत्याचार सह सकती है, पर अपनी सतान की हानि नही सह सकती। सतान का सुख उसके जीवन मे सबसे बडा मूल्य होता है। 'गोदान' मे मिसेज़ खन्ना अपने पति के अत्याचारो से तग आकर घर छोडकर चली जाती है। किन्तु एक तो वह अपनी गोदी के बालक को साथ ही ले जाती है, दूसरे जब मेहता उसे मातृत्व के महान गौरव की याद दिलाते है तो वह अपने बच्चो के सुख के लिए फिर लौट आती है। घर लौटकर आने पर जब उसके बच्चे 'अम्माँ' 'अम्माँ' पुकारते हुए दौडकर आते है और उससे लिपट जाते है तो वह अपने दाम्पत्य-जीवन का कष्ट भूल जाती है। उसके मुख पर मातृत्व की उज्ज्वल, गौरवमयी ज्योति चमक उठती है।'[3] 'देशद्रोही' मे विवाहिता चन्दा अपने असतुष्ट दाम्पत्य-जीवन से मुक्ति पाने के लिए कही चली जाना चाहती है, पर अपने अबोध शिशुओ का ध्यान उसे ऐसा करने से रोकता रहता है। अन्त मे जब वह डा० खन्ना के साथ जाना स्थिर करती है तो गोद के बालक को अपने साथ ले जाती है। 'प्रेत

माँ की वात्सल्य-भावना

---

१. **'नारी केवल माता है और उसके उपरान्त वह जो कुछ है सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बडी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है। एक शब्द में उसे लय कहूँगा—जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी।'**
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २५१)

२. **'माँ शब्द का अर्थ है दया, क्षमा और ममता। स्नेह और वात्सल्य का अन्तिम रूप है माँ।'**
प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १७)

३. **'बच्चे घर में से निकल आये और 'अम्माँ-अम्माँ!' कहते हुए माता से लिपट गए। गोबिन्दी के मुख पर मातृत्व की उज्ज्वल, गौरवमयी ज्योति चमक उठी।'**
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २५१)

और छाया' की मजरी पारसनाथ के अनेक अत्याचार चुपचाप सह लेती है किन्तु जब उसकी उपेक्षा के कारण मजरी के पुत्र की मृत्यु हो जाती है तब उसके मन मे पारसनाथ के प्रति इतनी घृणा उत्पन्न हो जाती है कि वह उसको जीवन भर क्षमा नही कर पाती।[१] उषादेवी मित्रा लिखित 'सोहिनी' की तूलिका का अबोध शिशु जब भूख से व्याकुल होकर मर जाता है, तो वह पुत्र-वियोग की असह्य वेदना के कारण पागल हो जाती है।[२] वृन्दावनलाल वर्मा के 'प्रत्यागत' मे मगल जब बहुत दिनो के बाद मुसलमानो के चगुल से छूटकर घर लौटता है तो उसकी दुखिनी माता अधीर होकर सब सुध-बुध भूलकर उससे लिपट जाती है। प्रचलित रीति के अनुसार मगल प्रायश्चित्त-विधान के उपरान्त ही घर मे प्रवेश कर सकता था। यही कारण है कि मगल के पिता, यहाँ तक कि मगल की पत्नी भी उससे दूर ही रहते है, पर माँ का वात्सल्य ऐसे ऊपरी बधनो को मानने से इन्कार कर देता है।[३]

कुछ उपन्यासो मे अत्यन्त असाधारण परिस्थितियो मे माँ के इस उत्कट वात्सल्य का अत्यन्त मार्मिक रूप उपस्थित किया गया है। यशपाल के 'दिव्या' मे निराश्रिता दिव्या को परिस्थितिवश एक द्विज-पत्नी के बालक को अपना दूध पिलाने का काम स्वीकार करना पडता है। अपने ही दूध से अपने ही बालक को वञ्चित कर दूसरे बालक की रक्षा करना एक ऐसी विडम्बना है जो माँ के मर्म को विदीर्ण कर देती है। दिव्या और कोई उपाय न देखकर द्विज-पत्नी की सतर्क दृष्टि से बचाकर अपने शिशु को अपना स्तन-पान कराने का अवसर खोजती रहती है। इस प्रसग के चित्रण मे यशपाल ने माँ के वात्सल्य की बडी ही प्रभावोत्पादक झाँकी दी है ?[४] सियारामशरण गुप्त के उपन्यास 'नारी' मे पति-परित्यक्ता जमना अपने एकमात्र पुत्र हल्ली के खो जाने से इतनी दुखी हो जाती है कि जब अजित हल्ली को खोज निकालने के लिए दिन-रात एक कर देता है तब वह कृतज्ञता से भर उठती है। अपनी इसी कृतज्ञता के कारण वह अजित का घर बसाने को भी सहमत हो जाती है।[५] विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक' लिखित 'माँ' मे सुलोचना का

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' (पृष्ठ ३१५)
२. उषादेवी मित्रा : 'सोहिनी' (पृष्ठ ९६)
३. वृन्दावनलाल वर्मा : 'प्रत्यागत' (पृष्ठ १२२)
४. यशपाल : 'दिव्या' (पृष्ठ ११८)
५. 'कहने में मुझे लज्जा नहीं है। फिर घर बसा लेने के लिए कहा था। तुम्हें मजूर हो तो फिर मेरे लिए कही जाओ, मैं न रोकूँगी।'

   . . . . . .

   'तुम मेरे हल्ली को इतना प्यार करते हो, तुम्हारे लिए मैं अपने को काट-काट कर फिकवा सकूँ, तब मेरे जी को सुख मिले।'
   सियारामशरण गुप्त : 'नारी' (पृष्ठ १०४-१०५)

पति अपनी दारुण दरिद्रता से दुखी होकर अपने पुत्र श्यामू को एक सम्पन्न परिवार मे गोद दे देना चाहता है। सुलोचना पहले तो इस प्रस्ताव से सहमत नही होती, पर फिर पति के बाध्य करने पर और श्यामू को सुखी देखने के लिए किसी प्रकार मान जाती है। पर उसका वत्सल मन फिर भी छटपटाता रहता है। 'क्या कहूँ, मेरा तो कलेजा नुचा आता है, भूखी-नगी रही, तब भी मुझे इतना दुख नही था, जितना अब है। जी चाहता है, सखिया खाकर सो रहूँ। हाय-हाय। जब मै सोचती हूँ कि मेरा पाला-पोसा चाँद-सा बच्चा मुझसे छिन गया, तब छाती फटने लगती है। आदमी मर जाता है, सबर आ जाता है, पर जीते सबर नही आ सकता।'[1] अपने विकल वात्सल्य की प्रेरणा से वह अपने पुत्र को देखने के लिए बार-बार सावित्री के पास जाती रहती है जिसने श्यामू को गोद लिया है। वहाँ थोडी देर के लिए श्यामू को अपनी गोद मे लेकर छाती से लगा लेने के लिए उसका जी तडपने लगता है। अपने कलेजे के टुकडे पर दूसरे का अधिकार देखकर वह वेदना से विह्वल हो उठती है।[2]

चतुरसेन शास्त्री के 'हृदय की परख' मे शशिकला की परिस्थिति और भी विचित्र है। जब वह कुमारी थी तभी वह माँ बन गई थी। लोकापवाद से बचने के लिए वह अपनी पुत्री सरला को त्याग देती है। सरला का लालन-पालन लोकनाथ के यहाँ होता है। इस घटना को बरसो बीत जाते है, पर माँ का मन अपनी बेटी के लिए भीतर-ही-भीतर घुमडता रहता है, उसका विफल मातृत्व सदा हाहाकार करता रहता है। अन्त मे जब वह अपने मन की यत्रणा नही सह पाती तब एक दिन सरला के पास आती है, और अपना वास्तविक परिचय देकर सरला से आग्रह करती है कि वह उसके साथ चली चले और उसे माँ कहे।[3] जब सरला उसकी बात का विश्वास नही करती[4] तो उसको इतनी गहरी वेदना होती है कि उसका प्राणान्त हो जाता है।

माँ के वात्सल्य के इन आदर्श रूपो से एकदम भिन्न, उसके यथार्थ रूप के अत्यन्त सजीव दर्शन हमे 'गोदान' की धनिया मे होते है। जीवन-निर्वाह भी जहाँ एक समस्या हो, वहाँ माँ का वात्सल्य पग-पग पर कुठित और पराजित होता रहता है, पर फिर भी वह कभी भी लुप्त नही होता, वरन् अत मे सारी निराशा और निष्फलता मे सार की भाँति वही

१. विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक' : 'माँ' (पृष्ठ ८९)
२. वही : (पृष्ठ ८२)
३. 'अपनी माता का अपमान मत करो। अपने कर्मो पर मुझे स्वय अनुताप है। फिर मै चाहे जैसी हूँ, पर तुम मेरी ही वस्तु हो। तुमने बड़ा कष्ट पाया है। अब मै तुम्हे अपने घर ले चलूँगी। वहाँ चल कर सुख से रहना।'
चतुरसेन शास्त्री : 'हृदय की परख' (पृष्ठ ४५)
४. 'देवी, सचमुच मै तुम्हारी बेटी नही हूँ। इस बात को भूल जाओ।'
वही : (पृष्ठ ४६)

शेष रह जाता है। जब गोबर लम्बी अवधि के बाद शहर से लौटकर माँ-बाप के पैर छूता है तो धनिया फूली नहीं समाती। उसका सिर अपनी छाती से लगाकर मानो अपने मातृत्व का पुरस्कार पा गई हो।[1] किन्तु जब गोबर धनिया की उपेक्षा करता है तब उसका मातृ-हृदय विदीर्ण हो जाता है। उसको अपना जीवन व्यर्थ-सा लगने लगता है। गोबर की तीक्ष्ण बाते सुनकर और उसका भाव जानकर 'धनिया सन्नाटे मे आ गई। एक ही क्षण मे उसके जीवन का मृदु स्वप्न जैसे टूट गया। अब तक वह मन मे प्रसन्न थी कि अब उसका दुःख-दरिद्र्य सब दूर हो गया। जब से गोबर घर आया, उसके मुख पर हास की एक छटा खिली रहती थी। उसकी वाणी मे मृदुता और व्यवहार मे उदारता आ गई। ये शब्द तपते हुए बालू की तरह हृदय पर पडे और चने की भाँति सारे अरमान झुलस गये। 'उसका सारा घमण्ड चूर-चूर हो गया। इतना सुन लेने के बाद अब जीवन मे क्या रस रह गया। जिस नौका पर बैठकर इस जीवन-सागर को पार करना चाहती थी, वही टूट गई तो किस सुख के लिए जिए।'[2]

इससे भी अधिक वेदना धनिया को तब होती है जब गोबर माता-पिता से लड-झगड कर अपनी पत्नी और पुत्र को साथ लेकर एक प्रकार से सम्बन्ध-विच्छेद कर शहर जाने लगता है। 'धनिया बैठी रो रही थी, जैसे कोई उसके हृदय को आरे से चीर रहा हो। उसका मातृत्व उस घर के समान हो रहा था, जिसमे आग लग गई हो और सब कुछ भस्म हो गया हो। बैठकर रोने के लिए भी स्थान न बचा हो।'[3]

अपने एकमात्र पुत्र गोबर के ऐसे निर्मम व्यवहार से धनिया का वात्सल्य कुंठित और पराजित अनुभव करता है। धनिया का हृदय इतना घायल हो जाता है कि वह अपने आत्माभिमान के कारण अपने कष्टो की असीम दुःखमय घडियो मे भी गोबर की मदद की अपेक्षा नही करती।

पर माँ का वात्सल्य अंत मे विजयी होकर ही रहता है। अपने दुःख के क्षणों मे माँ चाहे पुत्र की उपेक्षा कर भी दे किन्तु सुख के क्षणों मे उसे नही भुला सकती। रूपा के विवाह के अवसर पर धनिया द्वारा कहे गये शब्दों मे प्रेमचन्द ने माँ की समस्त ममता को बटोरकर एक पक्ति मे रख दिया है '"परदेश जाकर ऐसा भूल गया कि न चिट्ठी न पत्री। न जाने कैसे है।'" यह कहते-कहते उसकी आँखे सजल हो आई।[4] और जब गोबर पुनः अबोध शिशु की भाँति उसके सामने आकर खडा हो जाता है तो धनिया का सारा

---

१. 'उसका हृदय गर्व से उमड़ा पड़ता था। आज तो वह रानी है। इस फटे हाल में भी रानी है।'
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २६०)

२. वही : (पृष्ठ २८५)

३. वही : (पृष्ठ २८८)

४. वही : (पृष्ठ ४४७)

क्रोध क्षण भर मे विलीन हो जाता है। यहाँ तक कि इस बार वह गोबर के शहर लौटने पर झुनिया को उसके साथ नही जाने देती, अपने ही पास रख लेती है।

नारी-मन मे वात्सल्य का यह भाव इतना स्वाभाविक और प्रकृतिगत होता है कि नारी अपने ही नही, दूसरे के बालक के प्रति भी सहज स्नेह प्रदर्शित करती है। यही कारण है कि जो नारी माता नही बन पाती, वह दूसरे की सन्तान की देख-भाल करके ही अपने वात्सल्य की तुष्टि करती है और दुख या कष्ट मे पडे पराये बालक की सहायता करके अनेक नारियाँ अपने मातृत्व को सार्थक करती है। 'माँ' सम्बोधन सुनते ही नारी का वात्सल्य सहज वेग से प्रवाहित होने लगता है।

वात्सल्य के इस रूप के भी अनेक चित्र हमे हिन्दी उपन्यासो मे मिलते है। 'प्रेत और छाया' की मजरी अपने प्रेमी पारसनाथ से विमुख रहती है क्योंकि उसी के कारण मजरी को पुत्र-वियोग सहना पडता है। पर जब मजरी के डाक्टर बन जाने पर पारसनाथ और उसकी पत्नी उससे अपनी रुग्णा पुत्री का जीवन बचाने की प्रार्थना करते है,[1] तो अपनी मातृ-भावना से प्रेरित होकर वह अपना सारा पिछला प्रतिशोध भूल जाती है और उसकी पुत्री को नीरोग कर देती है।[2] विश्वनाथ वैशम्पायन के 'मातृत्व का अभिशाप' (१९५०) मे राधा नामक वेश्या मदन को अपने चगुल मे फँसाकर उसकी सारी सम्पत्ति हडप लेती है, यहाँ तक कि मदन के घर मे जीवन-निर्वाह की समस्या उठ खडी होती है। किन्तु जब मदन की पत्नी अपने पुत्र को वेश्या राधा के सामने लाकर डाल देती है[3] तो राधा के नारी-हृदय मे भी वात्सल्य का भाव भर उठता है। वह कहती है 'माँ सदा ही सन्तान के लिए अपना सर्वनाश करती आई है। यह उसके जीवन मे बहुत बडा अभिशाप है, जो सदा

---

१. 'बहन जी, मेरी बच्ची को या तो देख लीजिए, या इसे अपने पैरों से कुचल कर मार डालिये। इससे अधिक मै और कुछ नही कह सकती।'
इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' (पृष्ठ ४०८-४०९)

२. 'यह क्या करती हो! यह क्या करती हो।' कहकर डाक्टर राय (मंजरी) ने बच्ची को दोनो हाथों से उठा लिया। उनकी दोनो आँखो से आँसुओ की धारा जैसे रोके नहीं रुकना चाहती थी। उन्होने पारसनाथ की ओर एक बार अपनी सजल और साथ ही जलती हुई आँखो से देख कर कहा—'अगर तुम चाहते हो कि मै बच्ची का इलाज करूँ, तो तुम इसी क्षण यहाँ से हट कर बाहर चले जाओ।'
वही (पृष्ठ ४०९)

३. 'सतान के लालन-पालनका यह कष्ट वही जान सकती है जो माँ बनी हो। यदि तुम माँ बन चुकी हो तो बहन मुझे विश्वास है कि तुम्हे इसका भविष्य नष्ट करने का साहस नहीं हो सकता। अगर ऐसा नही है तो तुम इसके पेट पर पैर रख कर सुख से चली जाओ।'
विश्वनाथ वैशम्पायन : 'मातृत्व का अभिशाप' (पृष्ठ १५९)

बना रहेगा।'[1] और वह सम्पत्ति के दान-पत्र के टुकडे-टुकडे कर डालती है। प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' मे हरिसेवक जब लौगी को अपने घर मे रख लेता है तब लोगी उसकी मातृहीन अबोध सतान मनोरमा ओर गुरुसेवक का सहज वात्सल्य से लालन-पालन करती है। और जब हरि सेवक की मृत्यु हो जाती हे तो अपने हिस्से की समस्त सम्पत्ति गुरुसेवक के नाम कर देती है। सियारामशरण गुप्त के उपन्यास 'अन्तिम आकाक्षा' मे हरि की माँ अपने नोकर रामलाल को ओर 'गोद' मे पार्वती शोभाराम को मातृवत् स्नेह देती है। उषादेवी मित्रा के 'जीवन की मुस्कान' मे कमलेश की माँ अनाथ सविता को अपनी बेटी की ही भाँति ग्रहण करती है। प्रेमचन्द के 'गबन' मे रमानाथ जब कलकत्ते के अपरिचित नगर मे शरण-स्थल खोजता तरकारी वाली के यहाँ पहुँचता है, और उसे 'अम्मा' कहकर सम्बोधन करता है तब वह तरकारी वाली पूरी तौर से माँ के ही समान उसकी रक्षा करती है। 'गोदान' मे झुनिया जब अपरिचित नगर मे प्रसव-वेदना से कराहती नि सहाय अनुभव करती है तब चुहिया माता के समान उसकी परिचर्या करने लगती है।[2] प्रभावती भटनागर के 'पराजय' (१९३४) मे सारे परिवार की उपेक्षा और तिरस्कार से त्रस्त सरला अपने अबोध भानजे विपिन को पुत्रवत् प्रेम कर मानो अपने जीवन की सार्थकता पाती है।

अपने इसी अक्षय वात्सल्य के कारण माँ कठोर-से-कठोर कष्ट, अत्याचार और अपमान सहकर भी सन्तान-हित मे लगी रहती है। माँ के इस धीर स्वभाव के कारण ही उसे पृथ्वी के समकक्ष बताया गया है। प्रेमचन्द ने 'निर्मला' मे कल्याणी के चित्रण मे माँ की इस सहिष्णुता का चित्र उपस्थित किया है। पति से कलह हो जाने के कारण कल्याणी घर छोडकर चली जाना चाहती है, पर अपने बच्चो का ध्यान कर यह विचार त्याग देती है

माँ की सहिष्णुता

---

१. 'विश्वनाथ वैशम्पायन : 'मातृत्व का अभिशाप' (पृष्ठ १६०)

२. 'तुम बाहर जाओ गोबरधन, मै सब कर लूँगी। बखत पड़ने पर आदमी ही आदमी के काम आता है।...

वह झुनिया के पास जा बैठी और उसका सिर अपनी जाँघ पर रख कर उसका पेट सहलाती हुई बोली—'मै तो आज तुझे देखते ही समझ गई थी। सच पूछो, तो इसी धडके से आज मुझे नींद नही आई। यहाँ तेरा कौन सगा बैठा है।'

चुहिया स्नेह से उसके केश सुलझाती हुई बोली—'धीरज धर बेटी, धीरज धर। अभी छन भर में कष्ट कटा जाता है। तूने भी ऐसी चुप्पी साध ली थी। इसमें किस बात की लाज। मुझसे बता दिया होता तो मै मौलवी साहब के पास से ताबीज ला देती।'

...चुहिया रोज सवेरे आकर झुनिया के लिए हरीरा और हलवा पका जाती, और दिन में भी कई बार आकर बच्चे को उबटन मल जाती और ऊपर से दूध पिला जाती।' प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २८९) तेरहवाँ संस्करण

और अपनी यत्रणा को चुपचाप सहती रहती है। आत्मापमान और वात्सल्य के इस द्वन्द्व मे वात्सल्य ही विजयी होता है। 'कल्याणी के मन मे सकल्प-विकल्प होने लगे, पति की बाते याद आती तो मन होता घर को तिलाजलि देकर चली जाऊँ। लेकिन बच्चो का मुँह देखती तो वात्सल्य से चित्त गद्गद हो जाता। बच्चो को किस पर छोडकर जाऊँ? मेरे इन लालो को कौन पालेगा, वे किसके होकर रहेगे? कौन प्रात काल इन्हे दूध और हलवा खिलायेगा, कौन इनकी नीद सोयेगा, कौन इनकी नीद जागेगा? बेचारे कौडी के तीन हो जाएँगे। नही, प्यारो, मै छोडकर नही जाऊँगी। तुम्हारे लिए सब कुछ सह लूँगी। निरादर, अपमान, जली-कटी, खोटी-खरी, घुडकी-झिडकी सब तुम्हारे लिए सहूँगी।'[1]

प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' मे निर्मल की माँ शान्ता भी अपने पुत्र-स्नेह के लिए और उसके दाम्पत्य-जीवन को सुखी बनाने के लिए अपनी पुत्रवधू की ताडना, उपेक्षा और अवज्ञा को भी शिव के गरल-पान की भाँति पचाती रहती है। वह आदर्श माँ है जो अपने कर्तव्य और 'माँ' नाम की महत्ता को समझती है और अपनी सन्तान की सुख-चिन्ता के लिए आजीवन अपनी सहिष्णुता का परिचय देती है। अपने कर्तव्य के सम्बन्ध मे निर्मल से कहे गये उसके शब्दो मे उसके हृदय की विशालता तथा सहिष्णुता झलकती है। वह अपराधी कर्तव्य-च्युत सन्तान को भी उसके भाग्य पर छोड देने की नही सोचती। उसके मत मे ऐसी सतान के लिए तो माँ को और भी अधिक चिन्ताशील तथा सहिष्णु रहना पडता है। जिस प्रकार उँगली के गले नाखून के कारण पूरी उँगली को काट फेकना अदूरदर्शिता है उसी प्रकार अपराधी सतान का त्याग भी अनुचित है। उसको क्षमा करते रहना और निरतर उसके सुधार की चेष्टा करते रहना ही माँ का कर्तव्य है।[2]

नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' (१९४८) मे चाची के मातृ रूप मे सहिष्णुता का अत्यन्त स्वाभाविक, सजीव और मार्मिक चित्रण किया है। विधवा चाची का पुत्र उमानाथ काशी मे पढता है। चाची आठ-दस घटे प्रतिदिन सूत कातकर पच्चीस-तीस रुपये माहवार कमाती है। इस आय का अधिकाश वह अपने पुत्र के विवाह के लिए इकट्ठा करती जाती है। किन्तु जब उमानाथ अपने पिता के श्राद्ध पर घर आता है और मोहल्ले के लोगो से अपनी माँ के कलक की चर्चा सुनता है तो वह क्रुद्ध होकर माँ से बिना बोले ही लौट जाता है। बेटे के इस व्यवहार से माँ को असह्य यत्रणा होती है। वह जानती है कि उसके देवर जयनाथ के कुकृत्य के कारण सारा गाँव उसको कलकिनी समझता है, पर क्या उसका अपना बेटा भी इस अपवाद को सत्य मानकर उसे त्याग देगा? समाज सत्य की अवहेलना कर सकता है किन्तु जब उसका पुत्र भी सत्य की अनदेखी कर उसी को दोष देता है तो उसका रोम-रोम व्यथित हो उठता है। पर इस गहरे घाव को सहकर भी वह पुत्र की भावी गृहस्थी के लिए सामग्री जुटाती रहती है। बाद मे जब उमानाथ का विवाह हो

१. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ १२)
२. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १५)

जाता है तो चाची उमानाथ की सुखी गृहस्थी के सपने देख-देखकर हर्ष से गद्‌गद होती रहती है। वह बडी साध से उसके गौने का चर्चा करती है, किन्तु तब भी उमानाथ मौन रहकर उसके उत्साह पर पानी फेर देता है और उल्टे कताई का काम करने के कारण उसे जुलाहिन कह कर व्यग्य करता है। चाची के हृदय को इससे मर्मान्तिक चोट पहुँचती है। जिस बेटे के सुख के लिए उसने सारी उम्र परिश्रम करके नाना लाछना और अपमान सहन करके अपने वैधव्य के दिन बिताये, वही उसका अपमान और तिरस्कार करे? उसकी आँखो से अविरल धारा बहने लगती है। वह उसी क्षण सोचती है और निश्चय करती है, 'वह अब नही जिएगी, अवश्य मर जायेगी। इस जीवन से मृत्यु लाख गुना श्रेयस्कर है।'[1]

किन्तु उसका पुत्रप्रेम उसे इस निश्चय पर भी दृढ नही रहने देता। वह सोचती है कि यदि वह आत्महत्या करेगी तो उमानाथ को नाना प्रकार की निन्दा और आलोचना का शिकार बनना पडेगा।[2] इसलिए पुत्र-हित का ध्यान कर वह अपना विचार बदल देती है और मृत्यु से भी कठिन जीवन बिताती हुई, तिल-तिल कर मिटती हुई अपनी आदर्श सहिष्णुता का परिचय देती है।

मॉ की इस वात्सल्य-भावना का परिचय सतान की भविष्य-चिन्ता से भी मिलता है। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' मे जब सदन सिह अपने मॉ-बाप की इच्छा के विरुद्ध सुमन और शान्ता को अपने घर मे आश्रय देता है तब सदन के पिता मदन सिह तो क्रोध के कारण अपने पुत्र से विमुख हो जाते है, पर उसकी मॉ भामा से नही रहा जाता। वह उसके भविष्य की सोचकर अपने देवर पद्मसिह के पास जाती है और उससे सदन की खोज-खबर लेते रहने के लिए विनम्र आग्रह करती है। वह अपने पति से छिपाकर सदन के लिए कुछ रुपये भी देती है। यही नही, अपने पुत्र की रुचि और स्वास्थ्य का ध्यान कर वह घर की भैंस का घी और मीठे आमो की बनी चटनी भी रख देती है।[3] वह पद्मसिह से कहती है, 'समझाकर कह देना, बेटा, कोई चिन्ता मत करो। जब तक तुम्हारी मॉ जीती है, तुमको कोई कष्ट न होने पावेगा। मेरे तो वही एक अधे की लकडी है। अच्छा है तो बुरा है तो, अपना ही है। ससार की लाज से ऑखो से चाहे दूर कर दूँ लेकिन मन से थोडे ही दूर करती हूँ।'[4]

भविष्य-चिन्ता

---

१. नागार्जुन : 'रतिनाथ की चाची' (पृष्ठ १६३)

२. वही : (पृष्ठ १६५)

३. 'नहीं भैया, लेते जाओ, क्या हुआ। इस हॉड़ी में थोड़ा-बहुत घी है, यह भी भेजवा देना। बाजारू घी घर के घी को कहाँ पाता है, न वह सुगन्ध न वह स्वाद। उसे अमावट की चटनी बहुत अच्छी लगती है, मै थोड़ी-सी अमावट भी रखे देती हूँ। मीठे-मीठे आम चुन कर रस निकाला है।'
प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ ३१५)

४. वही : (पृष्ठ ३१५)

गोविन्दवल्लभ पत के 'मदारी' (१९३५) मे जब नवाब अपने पिता के डाँटने पर बाहर चले जाने की धमकी देता है तो पिता तो चुप होकर रह जाते है किन्तु उसकी माँ को चैन नही पडता। वह उसके भविष्य की सोच कर अपने पति के पैर पकडकर पुत्र को मना लाने के लिए आग्रह करती है 'तुमने उसे डाँट दिया, वह नाराज होकर चला गया। उसे बुला लाओ। मेरा बेटा, उसने कभी परदेश की सूरत भी नही देखी। तुम्हारे पैर पडती हूँ। उसे मना लाओ। उसे जितनी जल्दी क्रोध आता है, वह उतनी ही जल्दी मना भी लिया जाता है।'[1]

सतान के प्रति माँ की भविष्य-चिन्ता का एक बडा मार्मिक उदाहरण हमे मन्मथनाथ गुप्त के 'अवसान' (१९५०) मे मिलता है। मुनिया को परिस्थितिवश वेश्या बनना पडता है किन्तु वह अपने पुत्र के भविष्य के लिए कुवृत्ति छोडकर सदाचार का जीवन अपनाने की चेष्टा करती है और एक सम्भ्रान्त परिवार मे नौकरी करने लग जाती है। किन्तु जैसे ही उस परिवार को मुनिया के विगत जीवन का पता चलता है, वे उसको निकाल देते है। सब प्रकार से लज्जित, पीडित, अपमानित और निराश्रित होकर वह आत्महत्या करने के लिए गगा तक जाती है पर तभी मानो उसके कानो मे अपने अबोध शिशु का क्रदन सुनाई पडने लगता है। वह लौट पडती है और घर आकर अपने बच्चे को छाती से लगाकर कहती है 'मेरे नन्हे से बच्चे, तुम्हारे लिए जिऊँगी।'[2] यद्यपि अर्थोपार्जन के लिए उसे पुन वेश्यावृत्ति ग्रहण करनी पडती है तथापि इस दूषित वातावरण मे रहकर भी वह यह चेष्टा करती है कि उसका पुत्र उसके विनाशकारी प्रभाव से बचा रहे। इसीलिए वह पुत्र-वियोग सहकर भी उसके लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा के लिए गोकुल मे प्रबन्ध करती है। सेठ गोविन्ददास लिखित 'इन्दुमती' मे जब इन्दुमती को इस बात का ज्ञान होता है कि उसी के कारण उसके पुत्र मयक का समाज मे अपमान होता है जिससे बचने के लिए वह उससे दूर रहने की कामना करता है[3] तो वह अपने पुत्र की प्रसन्नता और उसके भविष्य-निर्माण के लिए स्वय वहाँ से हटकर विदेश चली जाती है।[4] किन्तु जाने के पहले वह मयक के उज्ज्वल भविष्य को सोचकर अपनी समस्त सम्पत्ति जिसको

---

१. गोविन्दवल्लभ पंत : 'मदारी' (पृष्ठ ४४)

२. मन्मथनाथ गुप्त : 'अवसान' (पृष्ठ १७३)

३. 'मुझे सचमुच ही माँ के पापो का प्रायश्चित करना पड़ रहा है; शायद जन्म भर करना पड़े और जब तक माँ हैं, तब तक तो सचमुच ही बहुत पड़े परिमाण में · · · किसी तरह यदि इस माँ से मेरा पिण्ड छूट सकता।
सेठ गोविन्ददास : 'इन्दुमती' (पृष्ठ ८५५)

४. 'अपने और मयंक दोनों की हित-दृष्टि से मैं हमेशा के लिए घर छोड़ रही हूँ।'
सेठ गोविन्ददास : 'इन्दुमती' (पृष्ठ ८७३)

उसने गर्भधारण करने के बाद से ही जोडना प्रारम्भ कर दिया था,[1] मयक के नाम कर जाती है।[2]

अपनी सन्तान के भविष्य का ध्यान रखते हुए ही माँ-बाप यह चेष्टा करते है कि उनकी बेटी का विवाह-सम्बन्ध ऐसे परिवार मे हो जहाँ वह प्रसन्नतापूर्वक सुख से रह सके। यदि किसी कारणवश ऐसा नही होता तो जितना दुख उनकी बेटी को होता है उससे भी अधिक दुख माँ को होता है। प्रेमचन्द के 'निर्मला' मे निर्मला की माँ कल्याणी सब ओर से निराश और विवश होकर ही निर्मला का विवाह बुड्ढे तोताराम से करती है। 'कायाकल्प' की लौंगी बुड्ढे विशालसिह के साथ मनोरमा के विवाह-सम्बन्ध का बलपूर्वक विरोध करती है।[3] 'गोद' मे किशोरी की माँ जब यह देखती है कि केवल लोकापवाद के कारण किशोरी का विवाह-सम्बन्ध उसके प्रेमी, समवयस्क, सुन्दर, सुशील शोभाराम से न होकर एक बुड्ढे से तय हो रहा है तो वह पुत्री के दुख का अनुमान कर विक्षिप्त-सी हो जाती है।[4] अन्त मे जब शोभाराम किशोरी से विवाह करने को प्रस्तुत हो जाता है तभी वह स्वस्थ होती है।

माता अपनी वात्सल्य-भावना से ही प्रेरित होकर सतान की प्रगति और

---

१. 'खास कर मयंक के पेट में आते ही तो उसने मयक के लिए किफायत कर-कर उपर्युक्त कुछ खर्च हो जाने पर भी एक-एक पैसा जोडा था और उसके बालिग होने पर लाखों रुपये की यह रकम वह उसे देने वाली थी।
सेठ गोविन्ददास : 'इन्दुमती' (पृष्ठ ८७०-८७१)

२. 'लखनऊ के एक वकील से अपनी स्थावर संपत्ति का मयंक की नाबालगी तक के लिए ट्रस्ट लिखवाया।'
वही : (पृष्ठ ८७३)

३. 'लड़की को राजा से ब्याह कर तुम्हारा मरतबा बढ़ जायगा; क्यों? धन और मरतबा संतान से भी ज्यादा प्यारा है, क्यों? लगा दो आग घर में। घोंट दो लड़की का गला। अभी मर जायगी; मगर जन्म भर के दुःख से तो छूट जायेगी। धन और मरतबा अपने पौरुष से मिलता है। लड़की बेचकर धन नहीं कमाया जाता। यह नीचों का काम है, भलेमानुसों का नही।'
प्रेमचन्द : 'कायाकल्प' (पृष्ठ १९९)

४. किशोरी की माँ अपने भाई से कहती है, 'वे (शोभाराम) बारात अपने यहाँ नहीं लाएँगे, इसलिए इसी में भला है कि तुम अपनी बहन और भानजी का गला घोंट डालो।' ...

'मुझे नहीं सुननी तुम्हारी अनोखी बातें। तुम जो ठीक समझो, करो; मै कुछ नहीं जानती।'
सियारामशरण गुप्त : 'गोद' (पृष्ठ ५९-६०)

उन्नति के उपाय खोजती रहती है।[1] उसकी सदा यही चेष्टा रहती है कि उसकी सन्तान समर्थ और सच्चरित्र बने, अपने जीवन मे यश और सफलता अर्जित करे। इसीलिए वह बचपन से ही अपनी सतान को कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान देती है, उसके आचार-व्यवहार की देखभाल करती है और अपनी सामर्थ्य भर उसको गलत रास्ते पर नही जाने देती। इसके लिए यदि उसे कष्ट उठाने पडे अथवा आत्म-त्याग भी करना पडे तो वह सहर्ष प्रस्तुत रहती है। हिन्दी उपन्यासो मे सतान के चरित्र-निर्माण मे माता के इस अमूल्य योग के अनेक उदाहरण मिलते है। ईश्वरी प्रसाद लिखित 'वामाशिक्षक' मे मथुरादास की पत्नी अपनी सतान गगा और किशोरी के चरित्र का निर्माण इतनी कुशलता से करती है कि वे अपने परवर्ती जीवन मे सुख-भोग करती है। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'माँ' की सुलोचना स्वय दु ख-दारिद्र्य मे रहकर श्यामू के भाई शम्भू को नर-रत्न बना देती है।

संतान का चरित्र-निर्माण

माता के चरित्र के इस पहलू के सबसे प्रभावपूर्ण दर्शन हमे प्रेमचन्द की 'रगभूमि' की जाह्नवी मे होते है। जाह्नवी वीर, साहसी एव सकल्पवती माँ है। वह राष्ट्रीय विचारो की महिला है। इसीलिए वह बचपन से ही अपने पुत्र विनय को इस प्रकार रखती है कि उसमे राष्ट्रोचित गुणो का विकास हो। रानी होने के कारण जाह्नवी को सहज ही राजसी सुख-भोग और ठाठ-बाट उपलब्ध है। पर विनय को वह इनसे दूर रखती है, और उसे त्याग-तपस्या का कठोर जीवन बिताने की शिक्षा देती है। उसकी इसी आदर्शवादिता के कारण सोफी और विनय एक-दूसरे से अनन्य प्रेम करने पर भी विवाह नही कर पाते। इसी का यह फल होता है कि विनय वीर, साहसी और देशप्रेमी युवक बन जाता है और समाज मे आदर एव यश प्राप्त करता है। देश-भक्ति मे जब विनय अपने प्राण भी न्योछावर कर देता है, तब उसकी प्रेमिका सोफिया असीम दु ख के कारण रोने लग जाती है, पर माता का कर्तव्य-परायण वीर-हृदय भीतर से हाहाकार करने पर भी सोफिया से यही कहता है : 'क्यो रोती हो बेटी ? विनय के लिए ? वीरो की मृत्यु पर आँसू नही बहाये जाते, उत्सव के राग गाये जाते है। मेरे पास हीरे और जवाहिर होते, तो उसकी लाश पर लुटा देती। मुझे उसके मरने का दु ख नही है। दु ख होता, अगर वह आज प्राण बचाकर भागता। यह तो मेरी चिरसंचित अभिलाषा थी, बहुत ही पुरानी, जब मैं युवती थी और वीर राजपूतो तथा राजपूतनियो के आत्म-समर्पण की कथाएँ पढा करती थी, उसी समय मेरे

---

१. 'माता-पिता को बाध्य होना चाहिए कि वे अपनी कन्याओं को अपनी-अपनी रुचि तथा शक्ति के अनुसार कला, व्यवसाय आदि की ऐसी शिक्षा पाने दें, जिससे उनकी शक्तियाँ भी विकसित हो सकें और वे इच्छा तथा आवश्यकतानुसार अन्य क्षेत्रो में काम भी कर सकें।'
महादेवी वर्मा : 'शृंखला की कड़ियाँ' (पृष्ठ ९८)

मन मे यह कामना अकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी कोई ऐसा ही पुत्र देता जो उन्ही वीरो की भाँति मृत्यु से खेलता, जो अपना जीवन देश और जाति के लिए हवन कर देता, जो अपने कुल का मुख उज्ज्वल करता। मेरी वह कामना पूरी हो गई।'[१] इस प्रकार जाह्नवी की प्रेरणा और शिक्षा अपने पुत्र को सत्पथ पर हँसते-हँसते मृत्यु का वरण करना सिखाती है।

इसी प्रकार जाह्नवी अपनी पुत्री इन्दु के जीवन की भी देखरेख बराबर करती रहती है। इन्दु और उसके पति राजा महेन्द्र के स्वभावो मे मेल नही है जिसके कारण उन दोनो मे झगडा होता रहता है। ऐसी ही एक कलह के बाद जब इन्दु अपने पति से झगडकर अपनी माँ के पास आती है तो जाह्नवी उसके प्रति कोई सहानुभूति प्रकट नही करती वरन् उसे यही समझाती है कि पति की इच्छानुसार चलना ही उसका परम धर्म है। बाद मे जब राजा महेन्द्र के कारण इन्दु के भाई विनय की मृत्यु होती है तो इन्दु को इतना दुःख होता है कि वह अपने पति का मुँह भी नही देखना चाहती, पर जाह्नवी तुरन्त उसकी भर्त्सना कर उसके कर्तव्य की याद दिलाती है —

रानी जाह्नवी ने तीव्र स्वर मे कहा—'क्या महेन्द्र को कहती है? अगर फिर मेरे सामने मुँह से ऐसी बात निकाली, तो गला घोट दूँगी। क्या तू उन्हे अपना गुलाम बनाकर रक्खेगी? तू स्त्री होकर चाहती है कि कोई मेरा हाथ न पकडे, वह पुरुष होकर क्यो न ऐसा चाहे? वह ससार को क्यो तेरे ही नेत्रो से देखे, क्या भगवान ने उन्हे आँखे नही दी? अपने हानि-लाभ का हिसाबदार तुझे क्यो बनाएँ, क्या भगवान ने उन्हे बुद्धि नही दी? तेरी समझ मे, मेरी समझ मे, यहाँ जितने प्राणी खडे है, उनकी समझ मे यह मार्ग भयकर है, हिसक जन्तुओ से भरा हुआ है। इसका बुरा मानना क्या? अगर तुझे उनकी बाते पसन्द नही आती, तो कोशिश कर कि पसद आएँ। वह तेरे पतिदेव है, तेरे लिए उनकी सेवा से उत्तम और कोई पथ नही है।'[२]

यशपाल के 'पार्टी कामरेड' मे गीता की माँ भी गीता के सही विकास के प्रति अत्यत सतर्क और सचेत रहती है। वह आधुनिक जीवन और नए विचारों से भली भाँति परिचित है, इसलिए गीता के आने-जाने पर कोई रोक-टोक नही करती। यदि पास-पड़ोस मे कभी उसे गीता के इस रूप की टीका सुननी पडती तो वह अमित विश्वास से कह देती 'भाई, एक ही हाथ की पाँच उँगलियाँ भी एक-सी नही होती। ठसके हुए बर्तन की तरह सभी की खबरदारी नही की जाती।'[३] फिर भी वह इस बात का पूरा ध्यान रखती है कि अपने राजनैतिक कार्यो की व्यस्तता मे गीता अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा न करे। शाम को दिन भर काम-काज करके घर लौट कर यदि गीता कहती कि 'भूख नही है', तो माँ का माथा ठनक जाता। वह स्नेह और कर्तव्य-मिश्रित झिडकी मे कहती. 'क्या?

---

१. प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' (पृष्ठ ३५२) २. वही : (पृष्ठ ३५४)
३. यशपाल : 'पार्टी कामरेड' (पृष्ठ ३२)

साँझ को जाडे मे फिरेगी ? कितनी बार तो कह चुकी हूँ, सुबह-साँझ की सर्दी से जरा बचा कर। लेकिन यह ता नगर नाउन है। शहर भर की परिक्रमा कर स्वराज्य का अलख जगाये विना इसे चैन कहाँ' क्या हुआ सिर मे ?'[1] कभी-कभी गीता को घर लौटने मे देर हो जाती तो माँ की मीठी झिडकी अवश्य सुननी पडती "'आ गई?' माँ का बडबडाना सुनाई दिया—'क्या ढग है, बाबा ? दोपहर मे घर से निकली और रात मे लौटी ? लडकी है कि सिपाही ? और आजकल रोज ही मारपीट चलती है।'[2] इस प्रकार वह गीता की सहृदय और उदार अभिभावक बनकर उसे अपने जीवन का विकास करने देती है। पर जब एक बार अखबारो मे गीता के चरित्र के सम्बन्ध मे झूठी-सच्ची कलक-कहानी छपती है तो माँ का प्यार-भरा हृदय घबरा उठता है। समाज मे यदि उसकी बेटी कलकिनी घोषित हो गई तो उसका सारा जीवन ही नष्ट हो जायेगा। वह आपे से बाहर हो जाती है, और गीता को घूमने-फिरने से रोक देती है, "अब अगर जीने की तरफ कदम बढाया तो पाँव काट दूँगी। मालूम होता ऐसा ही जस लायेगी तो जनमती के गले मे अँगूठा दे खत्म कर देती। क्या मालूम था छाती का दूध पिलाकर साँप पाल रही हूँ ? अभी और क्या करने को बाकी है जो बाहर जायगी ? बहुत नाम तो कर दिया अखबारो मे।' आगे माँ का गला रुँध गया और आँखो से आँसू बह गये।[3]

यद्यपि माँ अपनी सन्तान को बचपन से ही ऐसी शिक्षा देती है कि वह वयस्क होकर अपने जीवन को स्वय सफल बना सके, फिर भी वह आजीवन उसके सुख-दुख का ध्यान रखती है। यदि सतान की भूल से, चारित्रिक त्रुटि से अथवा परिस्थितियो के योग से सतान को कभी विपत्ति झेलनी पडती है, तो चाहे शेष ससार उससे रूठ जाय, पर माँ सन्तान को अवश्य ही शरण और सरक्षण देती है। 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' मे माँ के इस स्वभाव का सुन्दर परिचय मिलता है। शशि अपने पति रामेश्वर के यहाँ सुखी नही रह पाती और अन्त मे उसका पति उसे दुश्चरित्र एव असती कहकर घर से निकाल देता है। जब शशि की माँ को इस घटना का पता चलता है तो वह पुत्री की शुभकामना से उद्विग्न हो जाती है। वह उसके कष्ट मे अपने हृदय की पूरी सहानुभूति देती है। वह शेखर से कहती है : 'शशि कहती है कि मै तटस्थ रहूँ, और समाज जो दण्ड उसे दे उसे उसी को अकेली सहने दूँ। पर मैं तटस्थ कैसे रह सकती हूँ ? अपने शरीर से जिसे बना कर अपने लहू से बीस बरस तक सीचा, उसे अपने ही हाथ से काट फेकूँ, यह क्या मेरी हार नही है ? कैसे अनदेखी कर जाऊँ मै—'[4]

संतान का संरक्षण

---

१. यशपाल : 'पार्टी कामरेड' (पृष्ठ ३२) २. वही : (पृष्ठ ५५)
३. वही : (पृष्ठ ९४)
४. 'अज्ञेय' : 'शेखर एक जीवनी' (पृष्ठ १८८)

जब शशि इतने बडे अपमान के बाद भी पति के यहाँ लौटने के बारे मे इतस्तत: करती है तो माँ अत्यन्त दृढतापूर्वक कहती है 'लौटना तो अब नही है। पर पति को सर्वस्व मानने के लिए ससुराल लौटना ही एक मात्र उपाय है, यह तो मैं नही समझती। जो रास्ता पति ही बन्द कर दे, उस पर चले बिना भी धर्म निवारण किया जा सकता है।"[1]

वह शशि का झुकाव देखकर उसे शेखर के साथ रहने की अनुमति दे देती है, और ऐसी व्यवस्था कर देती है कि उसको आर्थिक अभाव का सामना न करना पडे। इसी प्रकार श्रीकृष्णदास के 'क्रांतिदूत' मे मुसलमान होते हुए भी नसीम जब हिन्दू युवक विनय से विवाह करना चाहती है तो उसके पिता के क्रोध की सीमा नही रहती। पर माँ का आश्वासन उसे अब भी प्राप्त है। वह कहती है 'कोई बात नही बेटी, बडे मियाँ नाराज है तो हुआ कर। मै तो जिन्दा हूँ, मेरी लाडली, तू घबडा मत।'[2] भगवतीप्रसाद बाजपेयी के 'प्रेम निर्वाह' मे कला अपने पति से अपमानित होकर मातृ-गृह लौट आती है। तब उसकी माँ उसे अपनी छाती से लगा कर कहती है 'अब जब तक बबुआ यहाँ आकर इस बात की माफी नही माँग जाएँगे, तब तक मै उन्हे तेरी सूरत न देखने दूँगी, बिना उनसे चिरौरी करा लिये मै किसी तरह नही मानूँगी। ··अब रो मत बिट्टो, यहाँ तुझे रोटियो की कमी थोडे ही रहेगी।[3]

पत्नी

प्रकृति ने नारी को पुरुष के पूरक रूप मे बनाया है। एक के बिना दूसरे का व्यक्तित्व अपूर्ण और अधूरा हो रहता है। विवाह इसी प्राकृतिक विधान का सामाजिक सस्कार है।

पत्नी बनकर नारी पुरुष की सहधर्मिणी और अर्द्धांगिनी बनती है, और अपने जीवन की सार्थकता पाती है। पति-पत्नी दोनों के सहयोग से ही दाम्पत्य-जीवन का सचालन होता है।

मानव-सभ्यता के आदि काल से पत्नी के धर्म और मर्यादा का महत्त्व स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार पुरुष के लिए एक पत्नी-व्रत की आवश्यकता पर जोर दिया गया है, उसी प्रकार पातिव्रत को पत्नी का परम धर्म माना गया है। वेद, पुराण और शास्त्रो मे पत्नी के पातिव्रत का नाना प्रकार से बखान किया गया है। अपनी अविचल पति-भक्ति के ही कारण सीता, सावित्री और पार्वती जैसी सती नारियाँ हमारे समाज मे श्रद्धा और सम्मान पाती रही है।

---

१. अज्ञेय: 'शेखर एक जीवनी' : (पृष्ठ १८७)
२. श्रीकृष्णदास : 'क्रान्तिदूत' (पृष्ठ २८२)
३. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'प्रेम-निर्वाह' (पृष्ठ १५२)

तन-मन-वचन से पति-परायणता पत्नी का आदर्श रूप है। वह पति की शक्ति है, गृहिणी है, अनुगता है। अपनी योग्यता, कुशलता और सेवा से दाम्पत्य-जीवन का निरन्तर सुचारु रूप से चलाना पत्नी का धर्म है। पत्नी का यह धर्म परिवार की नैतिकता और शान्ति का मेरुदण्ड है। पति चाहे एक बार भूल कर जाये या भटक जाये, पर पत्नी, अपने कर्तव्य से कभी च्युत नही होती। यही उसका सनातन आदर्श है, यही उसका शाश्वत रूप है।

भारतवर्ष के लम्बे इतिहास मे हमारे समाज मे समय-समय पर बडे-बडे परिवर्तन होते रहे है। इनके अनुसार समाज मे नारी की स्थिति मे भी उतार-चढाव आता रहा है। वैदिक युग मे नारी को प्रतिष्ठित पद प्राप्त था, गुप्त-युग तक आते-आते नारी भोग्या और अन्त पुरिका बन गई, मध्य युग मे नारी को पाप की खान और मोक्ष-साधना की बाधा भी माना गया। पर पत्नी-धर्म के इस शाश्वत-रूप मे कभी कोई परिवर्तन नही हुआ। पति से उसे चाहे समान प्रेम और आदर मिला, चाहे दासी और सेविका का-सा शासन और निरादर, पत्नी अपने सत्य-धर्म से विचलित नही हुई। सती साध्वी पतिव्रता नारी की महिमा सदा गाई जाती रही।

हिन्दी उपन्यासो मे पत्नी के इस शाश्वत रूप का विस्तृत और बहुमुखी चित्रण है। कठिन-से-कठिन परिस्थितियो मे पति के प्रति उसका अनन्य प्रेम और विश्वास अटल रहता है। वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षण सेवा और आत्म-त्याग की मूर्ति बनी अपना गृहिणी और सहधर्मिणी का रूप निभाती है। पति-प्रेम की अनन्यता के कारण वह पति का बडे-से-बडा अत्याचार चुपचाप सह लेती है, और हर प्रकार से पति की उन्नति और प्रगति की कामना करती रहती है।

पति के प्रति अनन्य प्रेम और विश्वास

नारी एक बार जिसे वरण कर लेती है, आजीवन उसी के प्रति समर्पित रहती है। विषम-से-विषम परिस्थितियो का जाल भी उसे अपने प्रेम से नही डिगा पाता। इसी प्रेम के बल पर वह पति पर अखण्ड विश्वास रखती है। यदि किसी कारणवश उसका पति उसे छोडकर चला भी जाय, अथवा किसी अन्य नारी की ओर आकर्षित हो जाय, तो भी उसके प्रेम मे कोई कमी नही आती। वह उसके लौटकर आने की प्रतीक्षा मे ही अपना सारा जीवन काट देती है। यही नही, वह पति की विमुखता के लिए भी अपने भाग्य या परिस्थितियो को ही दोषी समझती है, और पति के पुन उसकी ओर झुकने पर तुरन्त अपने प्रेम और समर्पण से उस दु खान्त प्रकरण को मिथ्या सिद्ध कर देती है।

नारी की सहज प्रवृत्ति होने के कारण यो तो पति के प्रति इस अनन्य प्रेम और विश्वास के न्यूनाधिक दर्शन हमे प्राय सभी पत्नी चरित्रो मे मिलते है परन्तु 'गबन' की जालपा, 'तितली' की तितली और 'नारी' की जमना इनमे प्रमुख है। इनमे भी 'नारी' की जमना का प्रेम और विश्वास इतना गहरा और अटूट है कि जमना एक प्रकार से भारतीय

पत्नी की प्रतीक बन गई है, जो जन्म-जन्मान्तर तक अपने पति को अपना सर्वस्व समर्पण कर अपने जीवन को कृतार्थ मानती है। जमना का पति वृन्दावन कलकत्ते चला जाता है और बहुत दिनों तक अपनी कोई खबर भी नहीं भेजता। जमना पति की अनुपस्थिति में उसकी सुखद स्मृति से अपने वियोगी प्राणों को आश्वासन देती रहती है और दिन-रात उसी के नाम की माला जपती रहती है। उसका प्रेम अटूट है, पति ने भी उसे प्रेम देकर कृतार्थ और तृप्त किया है, पति के इस प्रेम का प्रतीक हल्लो—उनका पुत्र उसके पास है, जिसको पाल-पोसकर उसे बड़ा करना है। उसके वियोगी प्राणों को जीवन के यही आधार है। उसकी दैनिक चर्या में पति के विभिन्न प्रेम-व्यापारों की स्मृतियाँ इतने घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है कि प्रतिपल उसे वृन्दावन की याद दिलाती रहती है और उसकी पलकों को भिगोती रहती है।[1] उसका सारा अस्तित्व अपने पति की, अपने पति के समाचार की प्रतीक्षा में विकल रहता है।[2] डाकिया जब हल्ली का मँगाया पचांग दे जाता है, तो वह अशिक्षित, अबोध नारी सोचती है कि पति का ही पत्र आया है। वह बहुत भारी है, पर 'छोटी में बहुत बातें आ कैसे सकती थी ?'[3] वह छपा हुआ है, पर 'मुझे चौकाने के लिए

---

१. 'वह पेड़ के नीचे जाकर खड़ी ही गई। इस पेड़ के साथ उसकी एक बहुत सुखद स्मृति है। उसकी याद से उसकी आँखों के आँसू गालों पर आकर नीचे टपाटप गिरने लगे। · · ·

उसने सोचा—आज बुधवार है ?—हाँ आज का ही दिन वह था। यही समय था, ऐसी ही चाँदनी थी। चारों ओर सुनसान भी ऐसा ही था, जगह भी यहाँ की यही थी। अधिक और जो था वह आज नहीं है। उस समय उसके सास-ससुर दोनों जीवित थे। उसके पति ने न जाने कैसा मेल मिलाया कि दोनों पति-पत्नी यहाँ अकेले पड़ गये थे। · · ·

वृन्दावन खुरपी में गड्ढा खोदने लगा और गगरी लेकर वह सींचने के लिए कुँए से पानी खींचने लगी। · · ·

एक बार खोदी हुई मिट्टी नीचे न डाल कर उसने जमना के ऊपर डाल दी। जमना ने भी अपने आँचल का छोर इस तरह फटकारा कि मिट्टी वृन्दावन के ही ऊपर पड़ी।'
सियारामशरण गुप्त : 'नारी' (पृष्ठ २६-२७)

२. 'भीतर एक कोठरी में जमना गोबर लीप रही थी। डाकिये की आवाज उसने सुनी। यही वह आवाज थी जिसे बरसों की प्रतीक्षा के बाद उसने भुला रखा था। फिर भी पहचानने में उसे देर न लगी। एक साथ मन के किसी निगूढ़ आनन्द की बुझी बत्ती उसके रोम-रोम में जाग उठी। उसका एक हाथ पानी के घड़े पर और दूसरा गोबर के ऊपर जहाँ का तहाँ रुक गया। किसी विशिष्ट पाहुने के आगमन में उसके शरीर का समस्त क्रिया-व्यापार जैसे क्षण भर के लिए अनध्याय मनाने बैठ गया हो।'
वही : (पृष्ठ ५)

३. वही : (पृष्ठ ५-६)

किसी छापेखाने मे जाकर अपनी चिट्ठी छाप लाये हो तो ?'[1] जब हल्ली आकर उसे बताता है कि वह पवाग है, चिट्ठी नही तो उसके विकल मन की कल्पना ढह जाती है, वह गुम-सुम रह जाती है।

गाँव मे अजीत विधुर है, कुछ मत्र-विद्या जानता है। शुरू-शुरू मे आकर वह खोज-खबर लेता रहता है। जमना उससे वृन्दावन के सम्बन्ध मे प्रश्न करती रहती है। पर जब वह यह सकेत करता है कि विदेश मे वृन्दावन की मृत्यु न हो गई हो, तो उसका समस्त पत्नीत्व विद्रोह कर उठता है 'फिर वैसी बात! तुम चाहते हो, सब कोई मर जाएँ, तब मै तुम्हारी बाँदी हो जाऊँगी। मै इतनी नादान नही हूँ जो कुछ न समझूँ। परन्तु तुम भी समझ लो, इस तरह बुरा ताकने से किसी का सत्यानाश नही होता।'[2]

इस प्रचण्ड निश्छलता के तेज के आगे अजीत हतप्रभ हो जाता है। स्वय जमना के मन मे कभी-कभी यह भाव उठता है कि उसके पति ने किसी दूसरी नारी से सम्बन्ध न कर लिया हो। पर ऐसा क्षण-मात्र को ही होता है। वह इसे अपने मन को मिथ्या शका समझकर उडा देती है। वृन्दावन का साथी जगराम जब कलकत्ते से लौटकर अजीत के कहने से उसके पति के सम्बन्ध मे उसे उल्टी-सीधी बाते सुनाता है, तो अपना दुर्भाग्य समझकर उसका मन तो बुझ जाता है, पर उसकी आस्था पर कोई आँच नही आती। उसके समाज मे यह दोष नही माना जाता कि वह पति के लापता हो जाने पर किसी और के घर बैठ रहे, परन्तु उसकी वह कल्पना भी नही करती। बाद मे अपने प्रिय पुत्र और एकमात्र आधार हल्ली के खो जाने पर जब अजीत उसकी खोज मे भूखा-प्यासा रात-दिन एक कर देता है, तब वह कृतज्ञता के आवेश मे उसका घर बसाने को सहमत तो हो जाती है, किन्तु प्रकृतिस्थ होते ही वह लज्जा और ग्लानि से महीनो दबी रहती है। अपनी इसी क्षणिक मानसिक दुर्बलता के लिए वह अपने भगवान से आकुल प्रार्थना करती रहती है. 'हे मेरे भगवान, वह सब क्या मैने अपने आपे मे रहकर किया था? क्या तुम जानते नही हो, उस दिन मै अपने आप न जाने कहाँ खो गई थी। मेरे मुँह से उस दिन न जानें किसने क्या कहला लिया था। अरे! मेरी रक्षा करो, तुम मेरी रक्षा करो!'[3]

अत मे वृन्दावन का पत्र आता है। दुर्भाग्य से जमना उस समय घर पर नही है। पत्र गाँव के महाजन मोतीलाल चौधरी के लडके हीरालाल के हाथ पड जाता है। वह यह पत्र अपने पिता को जाकर देता है। उसमे वृन्दावन ने लिखा है कि वह बीमार है। जमना यह सुनती है तो आनन्द और चिन्ता के मारे विकल हो जाती है 'बीमारी की ही खबर सुनकर एक क्षण के लिए उसके भीतर आनन्द की बिजली-सी दौड गई थी। बीमार ही सही, जीवित तो है। न जाने कितना और कैसा कष्ट उन्हे है। कोई दवा

१. सियारामशरण गुप्त : 'नारी' (पृष्ठ ७)
२. वही : (पृष्ठ ५२)
३. वही : (पृष्ठ १४२)

देने वाला पानी पिलाने वाला, पखा करने वाला भी वहाँ है या नही ? अरे, इस सबका पता कैसे लगे ?'[१] इसके साथ उसके मन मे इसका भी सोच कम नही है कि पति ने यह समाचार सीधे उसे क्यों न दिया। डाकिये की भूल का उसे कोई ज्ञान नही है।

महाजन मोतीलाल वृन्दावन का पता पाकर षड्यत्र रचता है। वह वृन्दावन को लिख देता है कि उसकी पत्नी ने दूसरे का घर बसा लिया है। अपने कर्ज की वसूली मे वह वृन्दावन को सदर कचहरी मे बुलवाकर उसके खेत और कुएँ की लिखा-पढी भी कर लेता है। सदर मे उसके आने की बात गाँव मे तुरन्त फैल जाती है। अबोध जमना सोचती है कि अब उसका भाग्य उदय होने वाला है। उसकी आँखो मे आनन्द के आँसू भर जाते है —

'लो, सदर मे वृन्दावन भैया आ गए है। शाम की गाडी से यहाँ आ जाएँगे।'

'आ गए है !'—जमना ने ऊपर की ओर दोनों हाथ जोडकर वही किसी के उद्देश्य से अपना मत्था टेक दिया। अजीत ने देखा कि उसकी दोनो आँखो से आँसू बहने लगे है।

अजीत का हृदय भी भर आया। उसने कहा—'भौजी, तुम जिन्दगी भर दुख मे रोती रही और आज सुख मे प्रसन्न होने के समय भी रोती हो।'[२]

पर वृन्दावन को जो समाचार मिले है, उनके कारण वह सदर से ही वापस विदेश लौट जाता है। अजीत जब सारी वस्तु-स्थिति का पता लगाकर गाँव लौटता है तो जमना का जीवन जैसे अपार अधकार से घिर जाता है। पर जमना का अनन्य प्रेम फिर भी अक्षुण्ण ही रहता है। 'चारो ओर अँधेरा ही अँधेरा। कही कुछ दीख नही पडता था। फिर भी लडके का हाथ थामकर वह आगे बढी जा रही थी। कुछ अकेले आज ही नही जा रही थी। वह चिरन्तन नारी युग-युग के अधकार मे उसे तुच्छ करके चिरकाल से इसी तरह आगे बढी जा रही है।'[३]

ऐसी ही एकान्त-निष्ठा का परिचय तितली देती है। बचपन से ही बजो (तितली) और मधुआ (मधुवन) साथ-साथ रहते है। बडे होकर उनका यह बाल-सुलभ साहचर्य प्रणय मे परिणत हो जाता है। विवाह के उपरान्त तितली आदर्श गृहिणी की भाँति अपने जीवन को सचालित करती है। इस सुखी जीवन मे अचानक एक विपत्ति आकर खडी हो जाती है। मधुवन अपनी बहन राजकुमारी के चरित्र की रक्षा के लिए विलासी और लम्पट महन्त की हत्या करने पर बाध्य होता है, और फिर कही दूर चला जाता है। बरसो उसकी खोज-खबर नही मिलती। लोगो मे उसके सम्बन्ध मे तरह-तरह के प्रवाद फैल जाते है। पर तितली का प्रेम-प्रदीप निष्कप रहता है। जब शैला उससे सहज भाव से

१. सियारामशरण गुप्त : 'नारी' (पृष्ठ १४१)
२. वही : (पृष्ठ १६०)
३. वही : (पृष्ठ १७६)

पूछती है 'तो तुम मधुवन को अब भी प्यार करती हो ?'[१] तो तितली उत्तर देते हुए कहती है 'इसका तो कोई प्रश्न ही नही है। बहन शैला ! ससार भर उनको चोर, हत्यारा और डाकू कहे, किन्तु मै जानती हूँ कि वे ऐसे नही हो सकते इसलिए मै कभी उनमे घृणा नही कर सकती। मेरे जीवन का एक-एक कोना उनके लिए, उस स्नेह के लिए सतुष्ट है। मै जानती हूँ कि वे दूसरी स्त्री को प्यार नही करते। कर भी नही सकते। कुछ दिनो तक मैना को लेकर जो प्रवाद चारो ओर फैला था, मेरा मन उस पर विश्वास नही कर सका। हाँ, मै दुखी अवश्य थी कि उन्हे क्यो लोग सदेह की दृष्टि से देखते है।'[२]

मधुबन पर तितली का यह अटूट विश्वास ही उसे जीने की प्रेरणा देता है। वह अपने कर्तव्य पथ से च्युत नही हो सकती। तितली की ननद विधवा राजकुमारी अपने जीवन से दुखी होकर मृत्यु की कामना कर सकती है, किन्तु तितली नही, क्योकि पत्नी के नाते उसका धर्म है पति की प्रतीक्षा करना और उसके अधूरे कार्य को पूरा करना। अपनी इस कर्तव्य-भावना को तितली राजकुमारी के सम्मुख इन शब्दो मे व्यक्त करती है: 'मै भी तुम्हारी सी-ही बात सोचकर छुट्टी पा जाती जीजी ! पर क्या करूँ वैसा नही कर सकती। मुझे तो उनके लौटने के दिन तक जीना पडेगा। और जो कुछ वे छोड गये उसे सँभालकर उनके आगे रख देना होगा।'[३] पति के चले जाने पर वह कर्तव्यनिष्ठ नारी घर और बच्चे दोनो को सुचारु रूप से सँभालने का दुहरा उत्तरदायित्व वहन करती है।

इस प्रकार तितली अपने पति की सम्पत्ति, उसके अधूरे सेवा-कार्य और उसके प्रतीक अपने बालक मोहन की देख-रेख मे अपना जीवन समर्पित कर देती है। जीवन की जटिलताओ एव विषम परिस्थितियो मे धैर्यपूर्वक सघर्ष करते रहना ही उसका कर्तव्य है, पलायन नहीं। वह अपने आभूषणो को बेचकर लगान का रुपया चुकाती है और बाकी रुपयो से कन्या पाठशाला के लिए दालान बनवाती है। वह बडी दृढता, लगन और विश्वास से अपना मतव्य राजकुमारी पर प्रकट करती है 'तुम देखो खेती का काम और मै पढाई करूँगी। हम लोगो को इस भीषण ससार से तब तक लडना होगा, जब तक वे लौट नही आते।'[४]

तितली अपने एकाकी जीवन के लिए जो मार्ग निश्चित करती है वह साधारण ग्रामीण नारी के लिए चाहे कुछ अस्वाभाविक जान पडे किन्तु वह अपने तेज से पत्नी के आदर्श रूप का परिचय देती है। उसको अपने प्रेम की शक्ति पर इतना अटल विश्वास है कि उसके मन मे एक क्षण के लिए भी यह सदेह उत्पन्न नही होता कि सम्भवत मधुबन न लौटे। उसका अपना पुत्र मोहन जब अपने पिता के जीवित होने के विषय मे प्रश्न करता

---

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'तितली' (पृष्ठ २६७)
२. वही : (पृष्ठ २६७)
३. वही : (पृष्ठ २३२)
४. वही : (पृष्ठ २३३)

है तब तितली अमित विश्वासभरे स्वर मे कहती है, 'हाँ बेटा, तेरे पिता जी जीवित है। मेरा सिन्दूर देखता नही ? ' और मेरा सत्य अविचल होगा तो तेरे पिताजी भी आवेगे।'[१] पति की प्रतीक्षा मे ही वह चौदह वर्ष तक अविचल, अरुक, अडिग रहकर अपने पत्नी-धर्म का पालन करती है।

उसकी इस निष्ठा मे व्याघात की भाँति शेष समाज का व्यवहार उसके आडे आता है। उसके पुत्र मोहन को लोगो की रहस्यमयी चर्चाओ से वडा कष्ट और सन्देह होता है। वह कातर होकर अपने चाचा से कहता है 'मेरे पिता। दुहाई चाचा! तुम एक सच्ची बात बताओगे ? मेरे पिता थे न! फिर स्कूल मे रामनाथ ने उस दिन क्यो कह दिया कि—चल, तेरे बाप का भी ठिकाना है।'[२]

स्वय तितली भी उद्विग्न हो जाती है 'गाँव भर मुझसे कुछ लाभ उठाता है, और मुझे भी कुछ मिलता है, किन्तु उसके भीतर एक छिपा हुआ तिरस्कार का भाव है। और है मेरा अलक्षित बहिष्कार। मै स्वय कही नही जाती, किन्तु यह क्या मेरे मन का सदेह नही है ? मुझे जीभ दबाकर लोग न जाने क्या-क्या कहते है।'[३]

समाज के इस सदेह एव अपने अबोध बालक के इस असमजस से एक क्षण को तितली के धैर्य का बाँध टूट जाता है और वह गगा की गोद मे शरण लेने चल पडती है। तभी उसके प्रेम और विश्वास का आश्रय, उसकी दीर्घ तपस्या का वाछित फल 'जीवन-युद्ध का थका हुआ सैनिक मधुबन द्वार पर खडा था।'[४] तितली के ऐसे अनन्य प्रेम का मार्मिक चित्रण कर 'प्रसाद' ने नारी की पति-निष्ठा का अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप उपस्थित किया है।

'गबन' की जालपा का चरित्र कुछ अशो मे जमना और तितली से भिन्न होते हुए भी पति के प्रति अटूट-प्रेम और विश्वास मे वह भी इन्ही के समकक्ष पहुँचता है। बचपन से आभूषणो की एक अस्वाभाविक लालसा होने के कारण जालपा अपने पति रमानाथ को दिन-रात तग करती रहती है। पति अपनी पत्नी की कामना पूरी करने के लिए पत्नी के अनजान मे ही गबन करता है, और फिर पकडे जाने के डर से भाग जाता है। दीर्घकाल तक उसका कोई पता नही चलता।

जालपा मे आभूषण-प्रियता अवश्य थी, पर वह अपने पति को उतना ही प्रेम करती थी जितना आदर्श पत्नी करती है। उसे पता होता कि उसकी लालसा का यह विषफल निकलेगा तो शायद वह गहनों का नाम भी न लेती। उसका अन्त करण निरन्तर उसे धिक्कारता रहता है कि उसी के कारण उसके पति को ये विपत्तियाँ झेलनी पड रही है।

---

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'तितली' (पृष्ठ २९३)
२. वही : (पृष्ठ २८७)
३. वही : (पृष्ठ २९०)
४. वही : (पृष्ठ २९५)

वह पश्चात्ताप के अथाह सागर मे इतनी डूब जाती है कि उस समय यदि कोई उसका जीवनदान भी चाहता तो सहर्ष दे देती। बनाव-शृगार के प्रति उसे अजीब घृणा हो जाती है और वह भोग-विलास की सामग्री समेट कर नदी मे बहा देती है। जब रतन उसे टोकती है तो वह उत्तर देती है · 'जब तक ये चीजे मेरी आँखो से दूर न हो जाएँगी, मेरा चित्त शान्त न होगा। इसी विलासिता ने मेरी यह दुर्गति की है। वह मेरी विपत्ति की गठरी है, प्रेम की स्मृति नही। प्रेम तो मेरे हृदय पर अकित है।'[१]

मन मे इतनी ग्लानि होने पर भी वह पति को निर्दोष मानती है, और उसकी ओर से उसके मन मे कभी कोई सदेह नही उठता। वह पति को सम्पूर्ण और निश्छल भाव से प्रेम करती है। इसी प्रेम के कारण वह अपने पति मे असाधारण गुण देखती रहती है।'[२] उसकी सबसे बडी कामना यही है कि जैसा प्रेम पति के लिए उसका है, वैसा ही प्रेम उसे पति से भी मिलता रहे 'मेरा स्वामी सदा मुझसे प्रेम करता रहे, उसका मन कभी न फिरे।'[३] पति के चले जाने पर जब उसकी सहेली रतन रमानाथ के सम्बन्ध मे कुछ दबे स्वर मे सदेह व्यक्त करती है, तो जालपा का स्वर विश्वास के प्रकाश से चमक उठता है 'नही रतन, मै इस पर जरा भी विश्वास नही करती। यह बुराई उनमे नही है, और चाहे जितनी बुराइयाँ हो। मुझे उन पर सदेह करने का कोई कारण नही है।'[४]

इस पर रतन हँसकर कहती है 'इस कला मे ये लोग निपुण होते है, तुम बेचारी क्या जानो।'[५]

पर जालपा का विश्वास रचमात्र भी नही काँपता। वह तुरन्त उत्तर देती है . 'अगर वे इस कला मे निपुण होते है, तो हम भी हृदय को परखने मे कम निपुण नही होती। मैं इसे नही मान सकती। अगर वे मेरे स्वामी थे, तो मै उनकी स्वामिनी थी।'[६]

पति के प्रति उसका यह विश्वास और पति की विपत्ति मे उसका अपना दोष जालपा को निष्क्रिय नही बैठने देता। वह जानती है कि रमानाथ पुलिस के भय के कारण स्वय कभी लौट कर नही आयेगा, इसीलिए वह उसे खोजने के उपाय करने लगती है। जब अन्य

---

१. प्रेमचन्द : 'गबन' (पृष्ठ १५७)

२. 'मेरी आशा थी, उससे तुम कहीं बढ़ कर निकले। मेरी तीन सहेलियाँ है। एक का भी पति ऐसा नहीं। एक एम० ए० पर सदा रोगी, दूसरा विद्वान भी है, और धनी भी; पर वेश्यागामी। तीसरा घरघुस्सू है और बिल्कुल निखट्टू।'
वही : (पृष्ठ ११३)

३. वही : (पृष्ठ १२७)

४. वही : (पृष्ठ १४९)

५. वही : (पृष्ठ १४९)

६. वही : (पृष्ठ १४९)

किसी उपाय से कोई फल नही निकलता तो उसकी उत्कट लगन उसे एक विलक्षण उपाय सुझा देती है। उसके पति को शतरज का बडा शौक है। शतरज के कुछ नक्शे ऐसे थे जो केवल उसके पति ही सुलझा सकते थे। उन्ही मे से एक नक्शा वह गुमनाम से एक समाचार पत्र मे प्रकाशित कराती है, और पाठको से उसका हल मँगवाती है। दूर कलकत्ते मे बैठा रमानाथ उसको देख ता है और बिना यह पहचाने कि उसका असली रहस्य क्या है, उसका उत्तर भेज देता है। इस प्रकार रमानाथ का पता चल जाता है।

जालपा तब एक क्षण की भी देर नही करती। वह कलकत्ते पहुँचकर रमानाथ को बताती है कि किस प्रकार उसने अपने गहने बेचकर गबन का रुपया भर दिया था, और उसके घर लौटने मे कोई भय या बाधा नही है।

अपने इस अनन्य प्रेम और निष्ठा के कारण ही पत्नी सदा अपने पति के प्रति समर्पित रहती है। वह कठिन से कठिन परिस्थितियो मे भी, विवशता की चरम सीमा मे भी पति के अतिरिक्त किसी भी अन्य पुरुष को अपने मन मे स्थान नही देती। यही कारण है कि आदि काल से भारतीय धर्म-ग्रथो मे सती और पतिव्रता नारियो की प्रशसा के गीत गाये गये है।

अटल पातिव्रत

नारी का तन चाहे किसी कारणवश कभी पराजित भी हो जाये, उसका मन सदा पति के ही नाम की माला जपता रहता है।[1] पत्नी के इस पातिव्रत का उदाहरण हमे 'सुनीता' मे मिलता है। सुनीता शिक्षित सुसस्कृत गृहिणी है जो अपने पति श्रीकान्त के प्रति पूर्णत. समर्पित है। श्रीकान्त जब अपने मित्र हरिप्रसन्न को घर मे छोड कर बाहर चला जाता है और सुनीता को यह आदेश दे जाता है कि हरिप्रसन्न की प्रसन्नता के लिए वह कुछ भी न उठा रखे,[2] तब सुनीता के सामने विकट धर्म-सकट उपस्थित हो जाता है। और जब उसे लाहौर से अपने पति का पत्र मिलता है कि वह कुछ दिनो के लिए उसे भूल कर सम्पूर्णत हरिप्रसन्न की इच्छानुसार व्यवहार करे[3] तो वह विकल हो जाती है। इस कठिन

---

१. 'कर्मभूमि' मे मुन्नी की देह को जब कुछ बर्बर अग्रेज बलात्कार द्वारा अपवित्र कर देते है, तो उसे तनी ग्लानि होती है कि पति के मना करने पर भी फिर पति के साथ रहना स्वीकार नही करती। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विजय' की मनोरमा भी इसी प्रकार की परिस्थिति मे ठीक ऐसा ही आचरण करती है।

२. 'अब यह तुम्हारे ऊपर रहा कि हरिप्रसन्न यहीं रहे और ठीक रहे।' जैनेन्द्र : 'सुनीता' (पृष्ठ १२१) दूसरा सस्करण

३. 'तुमसे कहता हूँ कि उसकी किसी बात पर बिगड़ना मत। सुनीता, तुम मुझे जानती हो कि मै तुम्हे गलत नहीं समझ सकता। तब तुमसे मै चाहता हूँ कि इन कुछ दिनों के लिए मेरे ख्याल को अपने से तुम बिल्कुल दूर कर देना। सच पूछो तो इसी के लिए मै यह अतिरिक्त दिन बिता रहा हूँ।'
वही : (पृ० १३५)

स्थिति मे वह मन ही मन पति से ही प्रश्न करती है : 'मुझे बताओ, इस तुम्हारी चिट्ठी का क्या यही आशय मैं पाऊँ कि मुझे स्वय कुछ नही रहना है, नियति के वहाव मे बहते ही चलना है, धर्म-अधर्म बिसार देना है।'[1] सम्भवत सुनीता अपने जीवन मे इतनी विवश कभी भी न हुई थी। वह इन क्षणो मे अपने पति का बार-बार स्मरण करती है। वह अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को पति के चरणो मे अर्पित कर अपने प्रेम और विश्वास द्वारा उस ऊँचाई तक पहुँचना चाहती है जहाँ वह अभिन्नता का अनुभव कर सके।

ऐसी स्थिति मे जब हरिप्रसन्न रात के समय सुनसान निर्जन मे क्रान्तिकारी दल के सदस्यो से भेंट करने के लिए सुनीता को साथ चलने के लिए कहता है, तो सुनीता टूटने को हो जाती है। वह हरिप्रसन्न का प्रत्याख्यान कैसे करे, पर जाने के लिए भी उसका मन गवाही नही देता। वह हरिप्रसन्न से तर्क करती है, और तर्क मे हार कर साथ चलने के लिए सहमत हो जाती है। पर उसके मन मे भावो का ऊहापोह चलता रहता है। वह डूबते हुए को तिनके के सहारे की भाँति हरिप्रसन्न से कहती है 'सोच देखिए, हरि बाबू! कहेगे तो चलूँगी। क्यो न चलूँगी ? आपका कहा टालूँगी नही। लेकिन क्या यह जरूरी है ?'[2] और अन्त मे जब वह साथ जाने का निश्चय कर लेती है तो उसका मन पति के पैरो से लिपट कर रोना चाहता है। पतिव्रता के सामने यह महान अग्नि-परीक्षा है। पर पति वहाँ उपस्थित नही है, इसलिए वह उनके चित्र से ही शक्ति और विश्वास की भीख माँगती है।

यहाँ से हरिप्रसन्न के जाने तक सुनीता प्राणहीन यत्र की भाँति सज्ञाशून्य और अचेत बनी रहती है। चलते-फिरते, बैठते, बात करते मानो उसका मन कही और हो। पतिप्राणा पत्नी की सहज वृत्ति के अनुसार उसका तन पति के आदेश का पालन करता है, पर उसका मन पति मे ही रमा हुआ है। जगल मे पहुँच कर सुनसान सन्नाटे मे जब हरिप्रसन्न अपना प्रणय-निवेदन करता है, तब सुनीता जैसे व्यक्ति न होकर कोई कठपुतली हो। उसका तन हरिप्रसन्न को अर्पित है, पर मन वहाँ अनुपस्थित है। फलत हरिप्रसन्न का आवेश नशे की भाँति चूर-चूर हो जाता है, और सुनीता का पातिव्रत ही उसके सतीत्व की भी रक्षा करता है। हरिप्रसन्न मे अब यह शक्ति नही कि उससे आँख मिला सके। वह बाहर से ही विदा लेकर चला जाता है।

सुनीता घर आती है तो वह हरिप्रसन्न के चले जाने पर दुखी है। वह लौटकर आये पति को सब कहानी बता कर कहती है कि अपनी सारी चेष्टा, सारे समर्पण के बावजूद हरिप्रसन्न को वह रोक नही पाई। श्रीकान्त इसका मर्म समझता है और कहता है : 'आवर क्वीन कैन डू नो रोग' और सुनीता गद्गद भाव से यही प्रार्थना करती है कि "मुझे छोड

---

१. जैनेन्द्र : 'सुनीता' (पृष्ठ १४४)
२. वही : (पृष्ठ १४४)

कर तुम न जाना। क्या विधाता ने हमे व्यर्थ ही नारी बनाया है ? इस प्रार्थना का अधिकार क्या हमे पति के निकट भी न होगा कि स्वामी से कहे 'नाथ हमे छोड कर जाना मत।' इस अधिकार से तो तुम सदा-सदा मेरे हो।"[१]

विवाह होते ही नारी के जीवन मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जाता है। वह अपने माता-पिता से दूर पति के साथ रहने लगती है। मायके का जीवन और वातावरण त्याग कर अब उसे पति की जीवन-प्रणाली और ससुराल का वातावरण अपनाना पडता है। इस प्रकार पति का जीवन और उसका जीवन अभिन्न हो जाता है। पति के सुख-दुख, आशा-निराशा, आचार-विचार और महत्वाकाक्षाओ को अपना कर ही वह सहधर्मिणी और अर्धांगिनी बनती है। उसका अनन्य प्रेम और पातिव्रत इसी अभिन्नता की कसौटी पर कसा जाता है। इसी अभिन्नता के कारण वह पति से न कोई दुराव रखती है, न पति को ही रखने देती है। जालपा को जब पता लगता है कि उसकी आभूषणो की कामना को तुष्ट करने के लिए उसका पति रमानाथ उससे वस्तुस्थिति छिपाता रहा है, तो उसे मर्मान्तिक कष्ट होता है। वह कहती है 'जो पुरुष अपनी स्त्री से परदा रखता है, मै समझती हूँ, उससे प्रेम नही करता। मै उनकी जगह पर होती, तो यो तिलाजलि देकर न भागती, अपने मन की सारी व्यथा कह सुनाती और जो कुछ करती, उनकी सलाह से करती। स्त्री और पुरुष मे दुराव कैसा ?'[२]

सुख-दुख समभागिनी

सुख-दुख मे निरन्तर साथ देने के विषय मे 'गोदान' की धनिया आदर्श पत्नी है। वह अपने पति होरी से स्वभाव मे भिन्न है। न तो उसके मन मे होरी की धर्म-भीरुता है, न सम्मिलित परिवार की भावना के प्रति वैसा लगाव ही है। वह तेजस्विनी नारी है, और स्पष्टवादिता मे अपना सानी नही रखती। होरी को उसकी यह प्रकृति उद्दण्ड लगती है, अक्सर दोनो मे कहा-सुनी भी हो जाती है। होरी क्रोध मे आकर धनिया को मार-पीट भी बैठता है। पर यह सब होते हुए भी धनिया होरी की अनुगता है। दुख मे वह होरी को सात्वना देती है, विपत्ति मे उसे धीरज बँधाती है, और परिश्रम मे उसका पूरा-पूरा हाथ बँटाती है। दरिद्र किसान होने के कारण उनकी कठिनाइयो का कोई पार नही है, और होरी अपने स्वभाव के कारण कभी-कभी कठिनाइयाँ मोल भी ले लेता है। धनिया को उसके ये कार्य अक्सर गलत लगते है, पर उनका फल-भोग करने मे वह कभी पीछे नही हटती और सर्वदा पति का हाथ बँटाती है। पति के जीवन को अभिन्न रूप से अपनाने मे धनिया आदर्श उपस्थित करती है। इसीलिए उन दोनो का प्रेम बहुत गहरा और दृढ है, और दुःख-दारिद्रय के निराश जीवन मे भी वे निश्छल परिहास से अपना हृदय हलका करते रहते है।

---

१. जैनेन्द्र: 'सुनीता' (पृष्ठ १८७)
२. प्रेमचन्द: 'ग़बन' (पृष्ठ १५६)

उपन्यास के प्रारम्भ मे ही उनके इस परिहास और जीवन-सघर्ष का परिचय उनके इस वार्तालाप से मिलता है.

"होरी ने उसकी ओर आँखे तरेरकर कहा—'क्या ससुराल जाना है, जो पाँचो पोसाक लायी है ? ससुराल मे भी तो कोई जवान साली-सलहज नही बैठी है, जिसे जा कर दिखाऊँ।'

होरी के गहरे साँवले, पिचके हुए चेहरे पर मुस्कराहट की मृदुता झलक पडी। धनिया ने लजाते हुए कहा—'ऐसे ही तो बडे सजीले जवान हो कि साली-सलहजे तुम्हे देखकर रीझ जाएँगी।'

होरी ने फटी हुई मिरजई को बडी सावधानी से तहकर के खाट पर रखते हुए कहा—'तो क्या तू समझती है, मै बूढा हो गया ? अभी तो चालीस भी नही हुए। मर्द साठे पर पाठे होते है।'

'जाकर सीसे मे मुँह देखो। तुम-जैसे मर्द साठे पर पाठे नही होते। दूध-घी अजन लगाने तक को मिलता नही, पाठे होगे। तुम्हारी दशा देख-देखकर तो मै और भी सूखी जाती हूँ कि भगवान यह बुढापा कैसे कटेगा ? किसके द्वार भीख माँगेगे ?'

होरी की क्षणिक मृदुता यथार्थ की इस आँच मे जैसे झुलस गयी। लकडी सँभालता हुआ बोला—'साठे तक पहुँचने की नौबत न आने पायेगी धनिया ! इसके पहले ही चल देगे।'

धनिया ने तिरस्कार किया—'अच्छा रहने दो, मत असुभ मुँह से निकालो। तुमसे कोई अच्छी बात भी कहे, तो लगते हो कोसने।"[१]

एक बार धनिया भरी-सभा मे होरी का अपमान करती है इसलिए दोनो मे बोलचाल बन्द हो जाती है। पर होरी के बीमार होते ही धनिया का मान चूर हो जाता है और दोनो फिर अपने दु खमय पथ के सहयात्री हो जाते है। प्रेमचन्द ने इस स्थल पर बडी मार्मिकता से काम लिया है

'एक महीने तक होरी खाट पर पडा रहा। इस बीमारी ने होरी को तो कुचल डाला ही, पर धनिया पर भी विजय पा गयी। पति जब मर रहा है, तो उससे कैसा वैर। ऐसी दशा मे तो वैरियो से भी वैर नही रहता, वह तो अपना पति है। लाख बुरा हो, पर उसी के साथ जीवन के पचीस साल कटे है, सुख किया है तो उसी के साथ, दु ख भोगा है तो उसी के साथ, अब तो चाहे वह अच्छा है या बुरा, अपना है। दाढीजार ने मुझे सब के सामने मारा, सारे गाँव के सामने मेरा पानी उतार लिया, लेकिन तब से कितना लज्जित है कि सीधे ताकता नही। खाने आता है तो सिर झुकाये खाकर उठ जाता है, डरता रहता है कि मै कुछ कह न बैठूँ।

होरी जब अच्छा हुआ तो पति-पत्नी मे मेल हो गया था।

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ६) तेरहवाँ सस्करण

एक दिन धनिया ने कहा—'तुम्हे इतना गुस्सा कैसे आ गया। मुझे तो तुम्हारे ऊपर कितना ही गुस्सा आये मगर हाथ न उठाऊँगी।'

होरी लजाता हुआ बोला—'अब उसकी चर्चा न कर धनिया। मेरे ऊपर कोई भूत सवार था। इसका मुझे कितना दुख हुआ है, वह मै ही जानता हूँ।'

'और जो मै भी उस क्रोध मे डूब मरी होती।'

'तो क्या मै रोने के लिए बैठा रहता? मेरी लहास भी तेरे साथ चिता पर जाती।'

'अच्छा चुप रहो, बेबात की बात मत बको।'[1]

कुछ दिनो बाद होरी दातादीन के खेत मे काम करते-करते निरन्तर अनाहार और असाध्य परिश्रम के कारण जब बेहोश होकर गिर पडता है, तो धनिया का विलाप और दुख देखते नही बनता।

धनिया ऊख का गट्ठा पटककर पागलो की तरह दौडी हुई होरी के पास गई, और उसका सिर अपनी जाँघ पर रखकर विलाप करने लगी—'तुम मुझे छोडकर कहाँ जाते हो? अरी सोना, दौड कर पानी ला और जाकर सोभा से कह दे दादा बेहाल है। हाय भगवान! अब मै कहाँ जाऊँ। अब किसकी होकर रहूँगी, कौन मुझे धनिया कहकर पुकारेगा।'

लाला पटेश्वरी भागे हुए आये और स्नेहभरी कठोरता से बोले—'क्या करती है धनिया, होस सँभाल! दिल इतना कच्चा कर लेगी तो कैसे काम चलेगा।'

धनिया ने पटेश्वरी के पाँव पकड लिये और रोती हुई बोली—'क्या करूँ लाला, जी नही मानता। भगवान ने सब कुछ हर लिया। मै सबर कर गयी। अब सबर नही होता। हाय रे मेरा हीरा।'

. . . .

धनिया अधीर होकर बोली—'ऐसा कभी नही हुआ था, लाला, कभी नही!'

पटेश्वरी ने पूछा—'रात कुछ खाया था?'

धनिया बोली—'हाँ रोटियाँ पकायी थी, लेकिन आजकल हमारे ऊपर जो बीत रही है, वह क्या तुमसे छिपा है? महीनो से भरपेट रोटी नसीब नही हुई। कितना समझाती हूँ, जान रख कर काम करो, लेकिन आराम तो हमारे भाग्य मे लिखा ही नही।'

सहसा होरी ने आँखे खोल दी और उडती हुई नजरो से इधर-उधर ताका।

धनिया जैसे जी उठी। विह्वल होकर उसके गले से लिपटकर बोली—'अब कैसा जी है तुम्हारा? मेरे तो परान नहो मे समा गये थे।'

होरी ने कातर स्वर मे कहा—'अच्छा हूँ। न जाने कैसा जी हो गया था।'

धनिया ने स्नेह मे डूबी भर्त्सना से कहा—'देह मे दम तो है नही, काम करते हो जान देकर। लडको का भाग था, नही तुम तो ले ही डूबे थे।'

पटेश्वरी ने हँसकर कहा—'धनिया तो रो-पीट रही थी।'

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १२३)

होरी ने आतुरता से पूछा—'सचमुच तू रोती थी धनिया ?'

धनिया ने पटेश्वरी को पीछे ढकेलकर कहा—'इन्हे बकने दो तुम। पूछो, यह क्यो कागद छोडकर घर से दौडे आये थे।'

पटेश्वरी ने चिढाया 'तुम्हे हीरा-हीरा कह कर रोती थी। अब लाज के मारे मुकरती है। छाती पीट रही थी।'

होरी ने धनिया को सजल नेत्रो से देखा—'पगली है और क्या। अब न जाने कौन-सा सुख देखने के लिए मुझे जिलाये रखना चाहती है।"

इस प्रकार धनिया प्रतिक्षण अपने पति के स्वास्थ्य और आराम का ध्यान रखती है। भीषण दारिद्र्य के कारण उसका कुछ बस तो नही चलता, फिर भी वह भरसक अपने परिश्रम और सेवा से पति का भार हल्का करना चाहती है। कदम-कदम पर हमे इसका प्रमाण मिलता रहता है

रात के बारह बज गये थे। दोनो बैठे सुतली कात रहे थे। धनिया ने कहा—'तुम्हें नीद आती हो तो जाके सो रहो। भोरे फिर तो काम करना है।'

होरी ने आसमान की ओर देखा—'चला जाऊँगा। अभी तो दस बजे होगे। तू जा सो रह।'

'मै तो दोपहर को छन-भर पौढ रहती हूँ।'

'मै भी चबेना कर के पेड के नीचे सो लेता हूँ।'

'बडी लू लगती होगी।'

'लू क्या लगेगी। अच्छी छाँह है।'

'मै डरती हूँ, कही तुम बीमार न पड जाओ।'[२]

और जब होरी कठोर परिश्रम को सह सकने मे असमर्थ होकर मरने लगता है, तब धनिया की वेदना कठिन से कठिन हृदय को भी रुला लेती है

मगर सब कुछ समझकर भी धनिया आशा की मिटती हुई छाया को पकडे हुए थी। आँखो से आँसू गिर रहे थे, मगर यत्र की भाँति दौड-दौड कर कभी आम भूनकर पना बनाती, कभी होरी की देह मे गेहूँ की भूसी की मालिश करती। क्या करे, पैसे नही हैं, नही किसी को भेजकर डाक्टर बुलाती।

हीरा ने रोते हुए कहा—'भाभी दिल कडा करो, गो-दान करा दो, दादा चले।'

और कई आवाजे आयी—'गो-दान करा दो। अब यही समय है।'

धनिया यत्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठण्डे हाथ मे रखकर सामने खडे दातादीन से बोली—'महाराज घर मे न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे है, यही इनका गो-दान है।'

---

२. प्रेमचद : 'गोदान' (पृष्ठ २१६-२१७)

१. वही : (पृष्ठ ३६८-३६९)

और पछाड खाकर गिर पडी।[१]

पति के सुख-दुःख को अपना बनाने की यही भावना हमे 'अचल' के 'नई इमारत' की शीला मे भी मिलती है। शीला का पति बलराज देशभक्त है, और देश की आजादी के लिए आन्दोलन मे सक्रिय भाग लेता है। शीला भी उसका अनुकरण करती है। वह प्रतिमा से बात करते हुए अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए कहती है—'जो तुम्हारे भैया करेंगे वह मुझे करना होगा। मैने अपने को उनकी इच्छा पर समर्पित कर रखा है। लखनऊ से ब्याह कर चली। सोचती थी कैसे गॉव मे रहूँगी। शहर के राग-रग, हास-विलास, आमोद-प्रमोद की छाया वहाँ देखने को न मिलेगी। यहाँ आकर इन्हे पाकर ऐसी रमी कि अब लखनऊ जाने की इच्छा नही होती। तुम्हारे भैया के साथ मेरा जीवन जुडा है। जैसे लहर के साथ लहर जुडी होती है। वे जो करेंगे, जहाँ जाएँगे वही तुम मुझे पाओगी।'[२]

जब शीला की ननद आरती राजनैतिक कार्यकर्ता महमूद को प्यार करने के कारण अपने पिता ठाकुर साहब के पसन्द किए लडके से शादी करने से इन्कार कर देती है तो ठाकुर साहब शीला और बलराज दोनो को समझाते है कि वे आरती पर जोर डाले। पर दोनो मे से एक भी तैयार नही होता। फलत बलराज और उसके साथ शीला दोनो को अपना घर छोडकर आ जाना पडता है। अब शीला जी खोलकर राजनैतिक कार्य मे अपने पति का साथ देती है और बयालीस के 'भारत छोडो' आन्दोलन मे जुलूस का नेतृत्व करती हुई अपने प्राणो को भी बलिदान कर देती है। उसकी शव-यात्रा मे लाखो की भीड उसकी शहादत पर आँसू बहाती है।

अपनी सहज प्रवृत्ति और व्यक्तित्व को पति के जीवन और व्यक्तित्व से अभिन्न मानने के कारण ही पत्नी पति के दोषो के प्रति सहिष्णु रहती है।[३] पति यदि दुराचारी,

पति के दोषों के प्रति सहिष्णुता

क्रोधी अथवा विश्वासघाती भी हो तो भी वह उसे बुरा-भला कहने की बजाय अपने आचरण को तदनुकूल बनाने की चेष्टा करती है। परिवार और समाज यदि उसके पति की निन्दा भी करते है तो सच्ची होने पर भी वह इस निन्दा को सुनना भी सहन नही करती। उसकी धारणा यही है कि पति चाहे जैसा भी हो, उसकी अनुगामिनी और अर्धांगिनी बने रहना ही उसका कर्तव्य है। श्रीनिवासदास

---

१. प्रेमचद : 'गोदान' (पृष्ठ ३७२)

२. 'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ ११६)

३. 'नारी में परिस्थितियों के अनुसार अपने बाह्य जीवन को ढाल लेने की जितनी सहज प्रवृत्ति है, अपने स्वभावगत गुण न छोड़ने की आन्तरिक प्रेरणा उससे कम नहीं—इसी से भारतीय नारी भारतीय पुरुष से अधिक सतर्कता के साथ अपनी विशेषताओं की रक्षा कर सकी है, पुरुष के समान अपनी व्यथा भूलने के लिए वह कादम्बिनी नहीं

कृत 'परीक्षा गुरु' मे वेश्यागामी मदनमोहन अपनी पतिव्रता पत्नी की तनिक भी चिन्ता नही करता, पर पत्नी की निष्ठा मे कोई कमी नही आती 'मदनमोहन की पतिव्रता स्त्री अपने पति पर क्रोध करना तो सीखी ही नही है। मदनमोहन उसकी दृष्टि मे एक देवता है। वह अपने ऊपर के सब दुखो को मदनमोहन की सूरत देखते ही भूल जाती है और मदनमोहन के बडे से बडे अपराधो को सदा जाना न जाना करती रहती है। मदन-मोहन कभी उसकी याद नही करता, परन्तु वह केवल मदनमोहन को देखकर जीती है।'[1] देवकीनदन खत्री के 'नरेन्द्र-मोहिनी' की रभा पति द्वारा तिरस्कृत होने पर भी अपनी सखी से कहती है 'सखी जो हो, लॅगडा, लूला, अधा, कोढी चाहे जैसा भी हो, आखिर हमारा पति हो चुका। अब मै दूसरी जगह शादी नही करने की। पण्डित लोग लाख कसम खाएँ कि इसमे कोई दोष नही मगर मै एक न सुनूँगी। ज्यादा जिद्द करेंगे तो बाप-माँ, भाई इत्यादि सभी को छोड कही चली जाऊँगी या अपनी जान ही दे दूँगी।'[2] लज्जाराम शर्मा मेहता के 'आदर्श हिन्दू' की प्रियम्वदा की भावना है 'स्त्री के लिए पति के सिवाय दूसरी गति नही। ससार मे परमेश्वर के समान कोई नही, किन्तु स्त्री का पति ही परमेश्वर है।'[3] अवधनारायण श्रीवास्तव के 'विमाता' मे सुभद्रा नि सतान होने के कारण अपने पति के सुख के लिए स्वय उसका दूसरा विवाह करवा देती है। तेजरानी दीक्षित लिखित 'हृदय का कॉटा' की प्रतिभा और चतुरसेन शास्त्री के 'हृदय की प्यास' की सुखदा के पति पर-नारी के आकर्षण मे अपना कर्तव्य भूलकर उन पर नाना प्रकार के अत्याचार करते है, पर वे चुपचाप सहती रहती है। प्रतिभा तो इतनी पति-परायण है कि पति का मार्ग निर्बाध करने के लिए अपनी पुत्री कनक को साथ लेकर घर से निकल जाती है और पुरुष वेश धारण कर प्रमोद बाबू बनकर नौकरी द्वारा जीविका चलाती है। बाद मे जब उसका व्यभिचारी पति ऐसी दुर्दशा को प्राप्त हो जाता है कि उसकी सारी सम्पत्ति बिकने की नौबत आ जाती है, तो वह पति की सम्पत्ति-रक्षा के हेतु स्वय ही उसे खरीद लेती है। सियारामशरण गुप्त के 'गोद' की पार्वती का पति जब शोभाराम और किशोरी मे विवाह-सम्बन्ध नही होने देता, तब सभी उसको दोष देने लगते है, पर पार्वती को यह निन्दा असह्य हो जाती है. 'तुम्हारे लिए उनका काम कसाईपन का हो या चाहे जो कुछ, मेरे लिए तो जो वे कहते है, वही ठीक है। बस अब इस सम्बन्ध मे

मॉगती, उल्लास के स्पन्दन के लिए लालसा का ताण्डव नहीं चाहती क्योकि दु.ख को वह जीवन की शक्ति-परीक्षा के रूप में ग्रहण कर सकती है और सुख को कर्तव्य में प्राप्त कर लेने की क्षमता रखती है।'

महादेवी वर्मा : 'शृखला की कड़ियॉ' (पृष्ठ २५-२६)

१ श्रीनिवासदास : 'परीक्षा गुरु' (पृष्ठ १५६)

२. देवकीनदन खत्री : 'नरेन्द्र मोहिनी' (पृष्ठ ३२)

३. लज्जाराम शर्मा मेहता : 'आदर्श हिन्दू' (पृष्ठ ३३) तीसरा भाग

मै और कुछ नही कहना चाहती।'[१] चतुरसेन शास्त्री के 'आत्मदाह' मे सुधीन्द्र की बहिन यह जानते हुए भी कि उसका पति डाकू और लपट है, अपनी पति-परायणता पर आँच नही आने देती। जब उसका पति डकैती के अपराध मे गिरफ्तार हो जाता है तो वह अपने आभूषण बेचकर उसकी ओर से मुकद्दमा लडती है और उसको मुक्त करा लाती है। यद्यपि उसके पति की गतिविधि मे फिर भी कोई अन्तर नही आता, फिर भी वह आजीवन उसका साथ निभाती है। 'गोदान' मे मिसेज खन्ना अपने पति के भाँति-भाँति के अत्याचार मौन होकर सहती रहती है।

मन्मथनाथ गुप्त के उपन्यास 'अवसान' मे मुनिया का चरित्र इनसे भिन्न है, यद्यपि पति के प्रति उसका रुख भी ऐसा ही है। मुनिया के पति बलखडी मे अनेक चारित्रिक दोष है जिनके कारण उसे जेल जाना पडता है। अर्थाभाव के कारण मुनिया अपने निर्वाह के लिए वेश्यावृत्ति की शरण लेने को बाध्य होती है, पर फिर भी अपने पति के प्रति उसका अगाध प्रेम ज्यो का त्यो बना रहता है। बलखण्डी जब जेल से छूटकर आता है, तब मुनिया फिर उसके साथ रहने लगती है। बलखण्डी जब मुनिया का कमाया हुआ धन शराब, जुआ और वेश्यागमन मे उडाने लगता है, तब भी मुनिया कुछ नही कहती। वह इसी को अपना सौभाग्य मानती है कि वह पति के साथ रह पाती है। इसके बाद बलखण्डी नाना प्रकार से उसे सताता है, उसके साथ विश्वासघात करता है, पर मुनिया अन्त तक उसके प्रति सच्ची बनी रहती है, और उसके अपराधो को मन मे नही लाती। बलखण्डी उसके आभूषण चुराकर भाग जाता है, उसके एकमात्र पुत्र को ईसाइयो के हाथ बेच देता है और अन्त मे मुनिया का सारा धन हडपने के लिए उसका खून कर डालता है, पर मरते समय मुनिया पुलिस को ऐसा बयान दे जाती है कि बलखण्डी निर्दोष सिद्ध होता है। यद्यपि इस उपन्यास मे बलखण्डी का चरित्र अत्यन्त अस्वाभाविक लगता है, पर मुनिया की पति-भक्ति आदर्श के ही अनुरूप है।

भटके हुए पति को सत्पथ पर लाने की सतत चेष्टा

यदि स्वभाववश अथवा विषम परिस्थितियो के कारण पति गलत रास्ते पर जाने लगता है, अथवा ऐसा आचरण करने लगता है जिसमे उसकी प्रतिष्ठा, मर्यादा और सुख के नष्ट होने की सम्भावना है, तो पत्नी प्राणपण से यह उद्योग करती है कि वह पति को ऐसा करने से विरत कर सके। इसके लिए उसे जो भी कष्ट या त्याग सहना पडे, उसे वह सहर्ष स्वीकार करती है। विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'माँ' मे सुलोचना की पुत्री चुन्नी अपने वेश्यागामी पति को सुराह पर लाने के अनेक प्रयत्न करती है। पति को हर प्रकार मे समझाती है कि उसका ऐसा आचरण नैतिकता और दाम्पत्य के विरुद्ध है। इसके लिए बडे से बडा मार्मिक

---

१. सियारामशरण गुप्त : 'गोद' (पृष्ठ ५१)

तर्क उपस्थित करती है।[1] पर पति की आदत नही सुधरती और इसका चुन्नी को इतना सताप होता है कि वह तपेदिक से ग्रस्त होकर मर जाती है। फिर भी वह यथासभव पति के दोषो को छिपाती रहती है, और अपनी माँ के बार-बार पूछने पर भी यही कहती है कि वह सुख से है।

प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' मे विद्यावती ज्ञानशकर की पत्नी है। वह सज्जन, उदार और पवित्र स्वभाव की है। ज्ञानशकर अत्यत धूर्त, लालची और कुचक्री है। इसीलिए विद्या को अपने पति के कृत्य देखकर अत्यन्त दुःख होता है। जब ज्ञानशकर द्वेष के कारण अपने भाई से सम्बन्ध-विच्छेद करने पर तुल जाता है, अपनी विधवा साली गायत्री की भूमि हडपने की योजना बनाता है और धन के लालच मे अपने एकमात्र पुत्र को उसे गोद देना चाहता है, तो विद्या को अपने पति की अनैतिकता पर गहरा मानसिक सताप होता है। वह उसे भाँति-भाँति से समझा-बुझाकर इन कुकर्मो से रोकना चाहती है, पर ज्ञानशकर अपने स्वार्थ मे अन्धा होकर उसकी प्रार्थना और परामर्श पर कोई ध्यान नही देता। फिर भी वह सती नारी ज्ञानशकर के विरुद्ध एक शब्द भी किसी से सुनना पसन्द नही करती। अपने पिता तक से प्रतिवाद कर उठती है।[2] अत मे विद्या अपने पति के पतन को देखने मे असमर्थ और उसको सुमार्ग पर लाने मे विफल होकर विष खाकर आत्म-हत्या कर लेती है।

इसके विपरीत 'गबन' की जालपा अपने पति रमानाथ को सही रास्ते पर लाने मे सफल होती है। रमानाथ की खोज करती हुई जब वह कलकत्ते पहुँचती है तो उसे पता चलता है कि उसका पति अपनी जान बचाने के भय से झूठी गवाही देने के लिए तैयार हो गया है। जालपा के मन को इससे बडी ठेस पहुँचती है। पति की निन्दा और बदनामी

---

१. 'मेरी तरह एक दिन तुम्हें यहाँ बैठना पड़े और मै ग्यारह बजे घूमकर लौटूँ तो तुम्हे पता लगे।'

'भला यह तो बताओ कि क्या तुम्हें यह बात अच्छी लगती है कि मै यहाँ अकेली पडी तड़पती रहूँ और तुम दोस्तों में बैठकर गुलछर्रे उड़ाओ।'

विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक' : 'माँ' (पृष्ठ २५९-२६०)

२ 'पिताजी, मैने सदैव आपका अदब किया है और आपकी अवज्ञा करते हुए मुझे कितना दुःख हो रहा है, वह वर्णन नहीं कर सकती, पर यह असम्भव है कि उनके विषय मे यह लाछना अपने कानों से सुनूँ। मुझे उनकी सेवा मे आज सत्रह वर्ष बीत गये, पर मैने उन्हे कभी कुवासनाओं की ओर झुकते नही देखा। जो पुरुष अपने यौवन-काल मे भी सयम से रहा हो, उसके प्रति ऐसे अनुचित सदेह कर के आप उनके साथ नहीं, गायत्री बहन के साथ भी घोर अत्याचार कर रहे है। इससे आपकी आत्मा को पाप लगता है।'

प्रमचन्द : 'प्रेमाश्रम' (पृष्ठ ३२९)

की बात सोचकर वह विकल हो जाती है। 'हमेशा के लिए वे सबकी आँखो से गिर जाएँगे, किसी को मुँह न दिखा सकेगे।'[१] इसी भाव से प्रेरित होकर वह पति से अनुरोध करती है कि वह ऐसा कार्य न करे। पर रमानाथ के मन मे पुलिस का मिथ्या भय समाया हुआ है। वह मुकद्दमे की पेशी होने पर पुलिस के सिखाने के अनुसार मुखबिरी कर देता है। तब जालपा का मन इतना आहत होता है कि वह प्रचण्ड हो जाती है। वह व्यग्य-बाण बरसाती हुई पति से कहती है 'अगर तुम सख्तियो और धमकियो से इतना दब सकते हो तो कायर हो। तुम्हे अपने को मनुष्य कहने का कोई अधिकार नही। क्या सख्तियाँ की थी, जरा सुनूँ? लोगो ने हँसते-हँसते सिर कटा लिये है, अपने बेटो को मरते देखा है, कोल्हू मे पेले जाना मजूर किया है, पर सचाई से जौ भर भी नही हटे। तुम भी तो आदमी हो, तुम क्यो धमकी मे आ गये? क्यो नही छाती खोलकर खडे हो गये कि इसे गोली का निशाना बना लो, पर मै झूठ नही बोलूँगा। क्यो नही सिर झुका दिया? देह के भीतर इसीलिए आत्मा रखी गई है कि देह उसकी रक्षा करे। इसलिए नही कि उसका सर्वनाश कर दे।'[२]

यही नही, वह यह सोचकर कि शायद उसका पति उसे सुखी बनाने के लिए धन के लालच मे पडकर ही ऐसा न कर रहा हो, वह स्पष्ट कर देती है कि उसे ऐसा जीवन किसी हालत मे स्वीकार नही है। 'जाओ, शौक से जिन्दगी के सुख लूटो, मैने तुमसे पहले ही कह दिया था और आज फिर कहती हूँ कि मेरा तुमसे कोई नाता नही। मैने समझ लिया कि तुम मर गये। तुम भी समझ लो कि मै मर गई। बस जाओ। मै औरत हूँ। अगर कोई धमकाकर मुझसे पाप कराना चाहे तो चाहे उसे मार न सकूँ, अपनी गर्दन पर छुरी चला दूँगी। क्या तुममे औरत के बराबर भी हिम्मत नही है?'[३]

जालपा पति को सन्मार्ग पर लाने के लिए ही ऐसे कठोर व्यग्य ओर भर्त्सना का प्रयोग करती है। पति-प्रेम की लौ उसके हृदय मे अब भी वैसी ही प्रज्ज्वलित है। वह जोहरा से अपने मन का धर्म-सकट बताते हुए कहती है 'जोहरा, मै बडी मुसीबत मे पडी हूँ। एक तरफ तो एक आदमी की जान और कई खानदानो की तबाही है, दूसरी तरफ अपनी तबाही है। मै चाहूँ तो आज इन सबो की जान बचा सकती हूँ। मै अदालत को ऐसा सबूत दे सकती हूँ कि फिर मुखबिर की शहादत की कोई हकीकत ही न रह जायगी, पर मुखबिर को सजा से नही बचा सकती। बहन, इस दुविधा मे मै नरक का कष्ट भोग रही हूँ। न यही होता है कि इन लोगो को मरने दूँ और न यही हो सकता है कि रमा को आग मे झोक दूँ।' यह कहकर वह रो पडी और बोली, 'बहन मै खुद मर जाऊँगी, पर उनका अनिष्ट मुझसे न होगा। न्याय पर उन्हे भेट नही कर सकती। अभी देखती हूँ, क्या

---

१ प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ २४२)
२. वही : (पृष्ठ २७९-२८०)
३. वही : (पृष्ठ २८०)

फैसला होता है। नहीं कह सकती, उस वक्त मैं क्या कर बैठूँ। शायद वहीं हाईकोर्ट में सारा किस्सा कह सुनाऊँ, शायद उसी दिन जहर खाकर सो रहूँ।"[1]

और अन्त मे जालपा की चेष्टा सफल हो जाती है। पत्नी की फटकार सुनकर रमानाथ को वस्तु-स्थिति का ज्ञान होता है, उसके मन मे साहस का सचार होता है और वह अगली पेशी मे अपना बयान बदलकर सब कुछ सच-सच कह देता है और इस प्रकार बुझती हुई लौ को जीवन-दान देता है।

प्रेमिका

'पुरुष का जीवन सघर्ष से आरम्भ होता है और स्त्री का आत्म-समर्पण से।'[2] स्त्री-पुरुष का आकर्षण एक प्राकृतिक सत्य है। इसी आकर्षण पर सृष्टि का विकास अवलम्बित है। इसीलिए आदि काल से ही नर-नारी के सम्बन्धो मे प्रेमतत्व को अनिवार्य माना गया है। विवाह की प्रथा प्रचलित होने के पूर्व पुरुष और नारी का मिलन उनके पारस्परिक प्रेम पर ही निर्भर था। बाद मे समाज की नैतिक प्रगति के फलस्वरूप जब विवाह-प्रथा का आरम्भ और विकास हुआ, तब भी विवाह के लिए दोनो पक्षो मे प्रेम के अस्तित्व को आवश्यक माना गया। ऋग्वैदिक काल मे प्रचलित 'समन' आदि प्रथाओ से विदित होता है कि सभ्यता के जन्म-काल मे युवक-युवतियो के स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने पर कोई प्रतिबन्ध न था। वे समान रूप से आमोद-प्रमोद और उत्सवो मे भाग लेते थे और अपने मनोनुकूल जीवन-सगी का चुनाव करते थे। तत्पश्चात अपने अभिभावको की अनुमति पाकर विवाह-बधन मे बँधते थे।

बाद मे यद्यपि इन प्रथाओ के दोष और त्रुटियाँ ज्ञात हो जाने पर इन्हे त्याग दिया गया, पर विवाह के लिए वर-वधू मे प्रेम-भाव बहुत दिनो तक आवश्यक माना जाता रहा। 'स्वयवर' की प्रथा जो महाभारत-काल—यहाँ तक कि बौद्ध-काल मे भी मिलती है, यही सिद्ध करती है कि नारी को अपना जीवन-साथी चुनने की पूरी स्वतन्त्रता दी जाती थी। बाद मे यद्यपि स्वयम्वर की प्रथा केवल राजन्यवर्ग मे ही सीमित रह गई थी, तथापि प्रेम-तत्व की महत्ता कभी नही घटी।

यही कारण है कि प्राचीन काल से हमारे समाज की यह मान्यता रही है कि नारी एक बार जिससे प्रेम करती है, जीवन भर उसी की हो रहती है। अपने प्रेमी से मिलन होने पर ही वह अपने जीवन को सार्थक मानती है। यदि किन्ही कारणो अथवा परि-स्थितियो से ऐसा सभव नही होता तो वह अपने जीवन को निरर्थक समझकर प्राण-त्याग तक कर देती है। इसी अनन्य और एकान्त प्रेम की प्रतिष्ठा भारतीय प्रेमिका के शाश्वत रूप मे हमे मिलती है। भारतीय प्रेमिका का आदर्श पार्वती और सावित्री है जो कठिन

---

१. प्रेमचन्द : 'गबन' (पृष्ठ ३०८)

२. महादेवी वर्मा : 'शृखला की कड़ियाँ' (पृष्ठ २९)

से कठिन बाधाओ और विघ्नो को अपने प्रेम-बल से पार कर अपने प्रेमी का सयोग प्राप्त करती है।

नारी के इस अनन्य प्रेम की पवित्रता और अलौकिकता को हिन्दी उपन्यासकार भी सहज ही श्रद्धा अर्पित करता है। वह मानता है कि नारी अपने जीवन मे केवल एक ही पुरुष को प्रेम कर सकती है, एक ही के चरणो मे श्रद्धा अर्पित कर सकती है। यदि ऐसी नारी का विवाह उसके प्रेमी के स्थान पर किसी अन्य पुरुष के साथ किया जाता है तो यह उसके साथ घोर अन्याय है, और ऐसा विवाह व्यभिचार की श्रेणी मे आ जाता है।[१] जो विवाह प्रेम मे सहायक नही, बाधक सिद्ध होता है, उस विवाह की अपेक्षा तो अविवाहित रह कर प्रेम का निर्वाह करते रहना ही श्रेयस्कर है।[२] इसीलिए हिन्दी उपन्यास-कार उस नारी की प्रेम-जनित वेदना को अत्यन्त सहानुभूति और श्रद्धा से देखता रहा है जिसे विवश होकर किसी अन्य पुरुष से विवाह करने के लिए बाध्य होना पडा है। साथ ही जिस नारी का प्रेम विवाह के उद्देश्य से नही है, या जिस नारी का प्रेम एकनिष्ठ या अटल नही है, उसकी भर्त्सना करता है। प्रेम के मार्ग मे आनेवाली कठिनाइयो और बाधाओ से जूझती हुई जो नारी अपने प्रिय के प्रति अविचल भाव से अनुरक्त रहती है, वही श्रद्धा के योग्य है, वही प्रेमिका का शाश्वत रूप है।

प्रेमचन्द के 'वरदान' (१९०६) की ब्रजरानी, 'प्रतिज्ञा' (१९०६) की प्रेमा, ब्रजनदन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' (१९१९) की मालती, राधिकारमणप्रसाद सिंह लिखित 'पुरुष और नारी' (१९४०) की सुधा, यज्ञदत्त शर्मा लिखित 'प्रेम समाधि' (१९४०) की मिस क्लैबर्ट, 'अचल' लिखित 'चढती धूप' (१९४५) की ममता, धर्मवीर भारती लिखित 'गुनाहो का देवता' (१९४९) की सुधा अपने विवाह के पूर्व ही अपना हृदय अपने-अपने प्रेमी को अर्पित कर चुकी है किन्तु पारिवारिक बधन अथवा सामाजिक रूढि के कारण उनका विवाह किसी अन्य व्यक्ति से कर दिया जाता है। फिर भी वे अपने पूर्व प्रेम को न तो दोष ही मानती है, न उसे छोडने को तैयार होती है। फलस्वरूप उनका दाम्पत्य जीवन असहनीय त्रास बन जाता है। इनमे से कुछ प्रेमिकाएँ तो मौन

---

१. रामवृक्ष बेनीपुरी : 'पतितो के देश में' (पृष्ठ ८३), बेनीपुरी ग्रंथावली

२. (अ) प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १८५)

(आ) जयशकर 'प्रसाद' : 'कंकाल' (पृष्ठ १८७)

(इ) 'प्रेम की पूर्ति विवाह से न हुई तो विवाह व्यर्थ है। प्रेम विवाह से बढ़कर है। जीवन की समस्त योजना से बढ़कर है।'
'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ ११२)

(ई) 'क्या विवाह करके ही हम लोग मिल सकते हैं? विवाह ही प्रेम की सार्थकता है? विवाह का मूल्य तो शरीर है, आत्मा का बधन प्रेम है।'
सर्वदानन्द वर्मा : 'प्रश्न' (पृष्ठ २४)

प्रतिवाद मे तिल-तिल घुलकर अपने प्राण-विसर्जन द्वारा अपने प्रेम की सच्चाई सिद्ध करती है।

'वरदान' की व्रजरानी बचपन से ही प्रताप की ओर आकर्षित है। बचपन का यह आकर्षण वय काल के साथ प्रणय मे परिणत हो जाता है। किन्तु परिस्थितिवश उसका विवाह लम्पट कमला से होता है और कुछ ही दिनो बाद व्रजरानी विधवा हो जाती है। अब भी प्रताप के प्रति व्रजरानी के अनन्य प्रेम मे कोई कमी नही आती। जब उसे ऐसा लगता है कि प्रताप ने उसको विस्मृत कर दिया है तो असहनीय दुःख के कारण वह मरणासन्न स्थिति मे पहुँच जाती है। कुछ दिन बाद जब व्रजरानी की यह भावना भ्रम सिद्ध होती है, वह पुन. स्वास्थ्य-लाभ करती है। वह अपने स्वार्थ का त्याग कर निष्काम प्रेम की प्रेरणा से अपने प्रेमी के प्रति श्रद्धा और भक्ति-भाव रखने लगती है और उसको आदर्श पथ का अनुगामी जानकर उसके रास्ते से स्वय हट जाती है।

व्रजरानी

'प्रतिज्ञा' की प्रेमा अमृतराय के प्रति अनुरक्त है। किन्तु जब अमृतराय समाज-उद्धार की प्रेरणा से यह प्रण कर लेता है कि वह किसी विधवा से ही विवाह करेगा तो वह आजीवन अविवाहित रहने की सोचती है। प्रेमा के माँ-बाप उसका विवाह दाननाथ से कर देते हैं। यद्यपि विवाहोपरान्त वह अपने पति के प्रति सदैव सच्ची रहने की चेष्टा करती है, तथापि उसका मन अमृतराय के आदर्शो की पूजा करता रहता है। वह अमृतराय के प्रति अपनी प्रेम-भावना को श्रद्धा-भावना मे परिणत कर लेती है। जब वह देखती है कि अमृतराय के प्राण संकट मे है तो वह पति की प्रसन्नता की भी उपेक्षा करके अमृतराय को चेतावनी देना अपना कर्तव्य समझती है 'उसका स्त्री-सुलभ सकोच एक क्षण के लिए लुप्त हो गया। एक बार भय हुआ कि दाननाथ को बहुत बुरा लगेगा, लेकिन उसने इस विचार को ठुकरा दिया। तेजमय गर्व से उसका मुख उद्दीप्त हो उठा—मैं किसी की लौडी नही हूँ—किसी के हाथ अपनी धारणा नही बेची है—प्रेम पति के लिए है, पर भक्ति सदा अमृतराय के साथ रहेगी।'[१]

प्रेमा

'सौन्दर्योपासक' की मालती का विवाह जब उसके प्रेमी से न होकर अन्य पुरुष से होता है तो वह तिल-तिल घुलकर मृत्यु की शरण ले लेती है। 'पुरुष और नारी' की सुधा जब देखती है कि उसका विवाह अन्यत्र हो जाने के कारण उसका प्रेमी निराश होकर शराब पीने लगता है और वह अपने प्राणो के समस्त बल से उसे चाहकर भी अपनी वैवाहिक सीमाओ के कारण उसे प्रणय-दान नही दे सकती, तो वह इस अन्तहीन त्रास से छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या कर लेती है। इसी प्रकार 'प्रेम-समाधि' की मिस क्लैबर्ट प्रेम वेदी पर अपना जीवन अर्पण कर देती है। जब उसका विवाह उसके प्रेमी महेन्द्र से न

१. प्रेमचन्द : 'प्रतिज्ञा' (पृष्ठ ८५)

होकर रौबर्ट से होता है तो वह एक क्षण भी अपने प्रेमी को नही भूल पाती और मृत्यु की शरण लेती है।

'चढती धूप' मे ममता और मोहन बचपन के अभिन्न साथी है। मोहन ममता के व्यक्तित्व को उसी प्रकार गढता-सँवारता है जैसे शिल्पी अपनी प्रतिमा को।[१] ममता मानो मोहन की ही आत्मा का प्रतिबिम्ब है। वे दोनो एक दूसरे के मन, प्राण और आत्मा मे बसे हुए है। उनके सम्बन्धो मे वासना का आवेश नही वरन् निश्छल प्रेम और सयम की गहरी भावना है। यही कारण है कि उनके सम्बन्ध सात्विक और पवित्र है। उनकी यह पवित्रता इतनी प्रकट है कि गाँव के प्रपची विरोधी तक रात के एकान्त मे उनके जमुना-किनारे घूमने पर भी उँगली नही उठा पाते।[२] ममता की एकमात्र आकाक्षा यही है कि वह जीवन भर मोहन के पास रहे--पत्नी, बहिन, दासी जिस रूप मे भी मोहन रखना चाहे। इसीलिए जब मोहन के साथ ही उसके विवाह की बात चलती है तो वह अपने को अत्यन्त सौभाग्यशालिनी समझती है।[३] किन्तु राजनैतिक क्षेत्र मे काम करने के कारण मोहन विवाह न करने का निश्चय कर उसका यह स्वप्न तोड देता है। फिर भी उसे इससे कोई तीव्र आघात नही लगता क्योकि उसका विश्वास है कि उसके मोहन भैया सदा उसी के रहेगे,[४] वह इस स्थिति मे भी मोहन की सगिनी बनी रहेगी, उसके चरणो मे स्थान पाती रहेगी। यही कारण है कि जब मोहन अपने परिवार से नाता तोडकर किसानो मे काम करने के लिए कानपुर जाना चाहता है तो वह स्वय भी साथ जाने की इच्छा प्रकट करती है।

ममता

जब ममता के पिता किसी अन्य व्यक्ति के साथ उसका विवाह-सम्बन्ध पक्का कर देते है तब वह अत्यन्त विकल और विचलित हो उठती है। वह किसी भी दशा मे विवाह नही कर सकती। वह अपने मन के रेशे-रेशे से मोहन को प्यार करती है, एक तरह से

---

१. 'उसने मम्मी (ममता) को उसी प्रकार सँवारा है जैसे शिल्पी अपनी प्रतिमा को सँवारता है।'
'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ २६)

२. वही : (पृष्ठ ३५)

३. 'ममता भीतर-भीतर उल्लास, तृप्ति, आशंका, आनन्द, भय से फूली जा रही थी। क्या परमात्मा उसको इतना बड़ा सौभाग्य दे देगा।'
वही : (पृष्ठ २७)

४. 'सच पूछो तो मै भी उनसे विवाह नहीं करना चाहती। मैने उन्हें सदैव बड़े भाई की तरह समझा, जाना है। मै सोचती हूँ बड़ा अच्छा हुआ। यदि तुम सोचती हो भैया वकील की लड़की या दुनिया में और किसी लड़की से शादी करेंगे तो तुम्हारा भ्रम है।'
वही : (पृष्ठ ७०)

वह अपने आपको मोहन की विवाहिता समझती है। और कोई उपाय न देखकर वह इससे मुक्ति पाने के लिए पत्र लिखकर मोहन को बुलाती है। मोहन के प्रति उसका प्रेम इतना एकान्त और प्रबल है कि वह समाज की तनिक भी परवाह नही करती। मोहन के आने पर वह स्पष्ट कहती है 'मैंने इधर ही अनुभव किया है कि मैं तुम्हे कितना चाहती हूँ। मैं लोक-लज्जा खोकर निकल भागूँगी। मुझे तुम न त्यागो। मै हड्डी-हड्डी-त्वचा-त्वचा-मज्जा-मज्जा तक तुम्हारी हूँ।'[1] किन्तु मोहन विवश है। जो कार्यक्षेत्र उसने अपनाया है उसमे वह विवाह-बधन की बाधा नही पाल सकता। ममता के इस विह्वल समर्पण को ठुकराता हुआ, अपने प्रेम की दुहाई देकर ही उससे कहता है· 'मेरा कल्याण और सुख इसी मे है कि मेरा विवाह तुम्हारे साथ न हो। बिना विवाह किए तुम्हे साथ रखने का दूसरा रूप नही।'[2] और अन्त मे ममता मोहन के प्रति अपनी भक्ति के कारण अपनी एकमात्र कामना को भी नष्ट हो जाने देती है। अपने प्रेम की सचाई के ही कारण वह अपने प्रेमी तक का त्याग कर देती है। अपने अनचाहे दाम्पत्य-जीवन को वह प्रेम के दण्ड-रूप मे ही स्वीकार करती है। उसका पति उसके मन मे प्रवेश तक नही पाता। एक बार मोहन की बीमारी की खबर सुनकर वह उसकी सेवा के लिए उसके पास पहुँचती है और रात भर वही रुक जाती है। मोहन को उसका इस तरह अकेले आना बुरा लगता है किन्तु ममता के प्राण मोहन के प्रति प्रेम के मार्ग मे किसी भी बाधा को स्वीकार नही करते।

अन्त मे मोहन की मृत्यु हो जाने पर वह अपने आपको विधवा समझकर अपने माथे का सिन्दूर पोछ डालती है और विक्षिप्त-सी होकर मोहन की अर्थी के पीछे दौडती है। मोहन के चले जाने पर उसकी वेदना इतनी मर्मान्तिक है कि वह उसके शव के साथ सती हो जाना चाहती है।

ममता की ही भाँति 'गुनाहो का देवता' की सुधा भी अपने सर्वान्त करण से चन्दर को प्रेम करती है, और बडी से बडी विवशता मे भी वह प्रेम त्यागने की बजाय प्राण-त्याग को ही श्रेयस्कर समझती है। उसका भोला, किशोर मन चन्दर के व्यक्तित्व मे इतना रम गया है कि अब ससार की कोई शक्ति उसकी इस अटूट लगन को नही डिगा सकती।

सुधा

चन्दर के प्रति सुधा के इस अनन्य प्रेम के कई कारण हैं। वे बचपन से ही साथ रहे है। चन्दर ने ही लाड-प्यार से बिगडी सुधा के विद्रोही रूप को शान्त किया है।[3] और सुधा

---

१. 'अचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १३९)

२. वही : (पृष्ठ १४२)

३. 'घर भर मे अल्हड पुरवाई और विद्रोही झोके की तरह तोड़-फोड़ मचाती रहने वाली सुधा, चन्दर के आँख के इशारे पर सुबह की नसीम की तरह शान्त हो जाती थी।' धर्मवीर भारती : 'गुनाहों का देवता' (पृष्ठ १८)

ने माँ-बाप से उपेक्षित चन्दर के जीवन में सरसता ला दी है 'कब और क्यो उसने चन्दर के इशारो का यह मौन अनुशासन स्वीकार कर लिया था यह उसे खुद नही मालूम था, और यह सभी कुछ इतने स्वाभाविक ढग से, इतना अपने आप होता गया था, कि दोनो मे से कोई भी इस प्रक्रिया से वाकिफ नही था, कोई भी इसके प्रति जागरूक न था, दोनो का एक दूसरे के प्रति अधिकार और आकर्षण इतना स्वाभाविक था जैसे शरद की पवित्रता या सुबह की रोशनी।'[1]

चन्दर के प्रति इस अपनत्व की भावना के बल पर ही कभी सुधा चन्दर से रूठती है, कभी उसे खिझाती है, कभी छिपकर उसे नानखताई खिलाती है[2] तो कभी चन्दर से चाय छोडकर दूध पीने का आग्रह करती है। चन्दर से बिना पूछे वह कोई काम नही कर सकती। यदि चन्दर रुष्ट हो जाता है तो जैसे उसकी रूह कॉप जाती है। वह अपने मन की छोटी-से-छोटी बात चन्दर को बता देती है। उसकी धारणा है कि उसके मन को उससे भी अधिक चन्दर जानता है यहाँ तक कि वह यह बात भी चन्दर से ही पूछती है कि उसने कभी किसी से प्रेम किया है अथवा नही। 'तो हम मन-ही-मन मे सोचते रहे कि तुम आओगे तो तुमसे पूछेगे कि हमने कभी प्यार तो नही किया हैं। क्योकि तुम्ही एक हो जिससे हमारा मन कभी कोई बात नही छिपाता, अगर कोई बात छिपाई भी होती हमसे, तो तुमसे जरूर बता देता। फिर हमने सोचा शायद कभी हमने प्यार किया हो और तुमसे बताया हो, फिर हम भूल गये हो।'[3]

सुधा का प्रेम इतना गहरा और सर्वव्यापी है कि स्वय सुधा को भी उसके अस्तित्व का ज्ञान नही है। यही कारण है कि जब सुधा अपने विवाह-सम्बन्ध की चर्चा सुनती है तो सहज भाव से दृढ स्वर मे इन्कार कर देती है। परन्तु जब उसे ज्ञात होता है कि विवाह करना न करना उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर नही है, वह चन्दर की आज्ञा है तब वह विवश हो जाती है। चन्दर उसके सामने अपनी आत्मा की उन्नति का एक ऐसा आदर्शवादी प्रश्न रख देता है कि सुधा आत्म-प्रवञ्चित होकर चन्दर की भलाई के लिए बेमन से विवाह-बधन स्वीकार कर लेती है। जिसमें चन्दर को सुख हो, उसी मे उसे सुख है।

इस धर्म-सकट के समय सुधा गहरी साँस लेकर कहती है: 'तुम जो कहोगे मै करूँगी।'[4] 'मैं मृत्यु-शैया पर भी होऊँगी तो तुम्हारे आदेश पर हँस सकती हूँ।'[5]

पर यह स्वीकृति देने के बाद से ही सुधा चन्दर से अपने वियोग की कल्पना करके सिहरने लग जाती है। उसी दिन से उसकी 'मुस्कराहट मे उल्लास लुट चुका था रेखाएँ

---

१. धर्मवीर भारती : 'गुनाहों का देवता' (पृष्ठ १८)
२. वही : (पृष्ठ ५०-५१)
३. वही : (पृष्ठ ६६)
४. वही : (पृष्ठ १३१
५. वही : (पृष्ठ १३६)

बाकी थी।[१] और जैसे-जैसे विवाह की घडी पास आती जाती है सुधा को ऐसा लगता है जैसे उसकी मृत्यु की घडी पास आ रही है। वह रो-रोकर कभी चन्दर को अपने हाथ से यह कहकर खाना खिलाती है कि 'लाओ आज अपने हाथ से खिला दूँ, कल ये हाथ पराये हो जाएँगे',[२] तो कभी कहती है, 'अरे आज तो लड लो चन्दर। आज से खतम कर देना',[३] तो कभी चन्दर के पैरो पर सिर रखकर खूब रोती है, जी भर कर।

विवाह होने पर सुधा चन्दर की स्मृति के सहारे अपनी ससुराल मे रहने की चेष्टा करती है किन्तु उसकी आत्मा निरन्तर विद्रोह करती रहती है। इसी कारण न तो उमको एक पल भी चैन मिल पाता है,[४] न वह अपने पति को ही सतुष्ट कर पाती है।[५] वह अब भी अपनी आत्मा के रेशे-रेशे से चन्दर को प्यार करती है और अपने व्यक्तित्व को चन्दर की आत्मा का ही खण्ड समझती है जो अलग होने पर भी जन्म-जन्मान्तर तक उसके चारो ओर चक्कर लगाता रहेगा। कहती है 'मै तो तुम्हारी आत्मा का एक टुकडा हूँ जो एक जन्म के लिए अलग हो गई लेकिन हमेशा चारो ओर चद्रमा की तरह चक्कर लगाती रहूँगी।'[६] प्रेम की इसी अनन्यता के कारण वह चन्दर का तिरस्कार भी सिर झुकाकर सह लेती है। यही नही, वह सोचती है कि उसी के प्रेम मे कोई कमी होने के कारण चन्दर ऊपर नही उठ सका है। वह आत्म-ग्लानि मे डूब जाती है[७] और अपने मन को और भी दृढ करने की चेष्टा करती है। किन्तु वह चदर के वियोग मे निरन्तर मछली की भाँति तडपती रहती है, और तिल-तिलकर मर जाती है।

किशोरीलाल गोस्वामी लिखित 'स्वर्गीय कुसुम' (१८८९) की कुसुम, प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' (१९२६) की मनोरमा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' (१९२८) की चपला, प्रेमचन्द लिखित 'कर्मभूमि' (१९३२) की सकीना, भगवती-प्रसाद वाजपेयी लिखित 'त्यागमयी' (१९३२) की ललिता, उषा देवी मित्रा लिखित 'जीवन की मुस्कान' (१९३९) की सविता आदि नारियाँ ऐसी प्रेमिकाएँ है जो अपने प्रेमी को अनन्य प्रेम करते हुए भी उनकी प्रतिष्ठा, उन्नति और मर्यादा का ध्यान करके

---

१. धर्मवीर भारती : 'गुनाहों का देवता' (पृष्ठ १३४)
२. वही : (पृष्ठ १६६)
३. वही : (पृष्ठ १६६)
४. 'काश कि तुम एक क्षण का भी अनुभव कर पाते कि तुमसे दूर —वहाँ, वासना की कीचड़ मे फँसी हुई मै कितनी व्याकुल, कितनी व्यथित हूँ।'
वही : (पृष्ठ ३०५)
५. 'पति को शरीर देकर भी मै संतोष न दे पाई।'
वही : (पृष्ठ २९६)
६. वही : (पृष्ठ २९४)
७. वही : (पृष्ठ २९४)

उनसे विवाह नही करती प्रत्युत उनके मार्ग से अपने आपको अलग करके अपने अपूर्व त्याग का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करती है।

'स्वर्गीय कुसुम' मे देवदासी कुसुम वसत को अपने सम्पूर्ण मन से प्रेम करती है और वसत भी अपने अन्तरतम से उसे चाहता है। दोनो गान्धर्व-विवाह भी कर लेते है।

कुसुम

किन्तु समाज मे बसत की प्रतिष्ठा का ध्यान कर कुसुम अपने इस सम्बन्ध को गुप्त ही रखती है। बाद मे बसत को सुखी बनाने की दृष्टि से वह अपनी छोटी बहिन गुलाब से उसका विवाह करा देती है, और स्वय सन्यास ग्रहण कर प्रेम की बलि हो जाती है।

'कायाकल्प' की मनोरमा चक्रधर को एकनिष्ठ प्रेम करती है किन्तु उसका प्रेम रूपाकर्षण पर आधारित न होकर चक्रधर की आदर्श-भावना पर आधारित है। प्रथम

मनोरमा

भेट मे ही चक्रधर का व्यक्तित्व उसको इतना आकर्षक लगता है कि वह उस पर श्रद्धा करने लगती है। चक्रधर की सेवा-भावना, सयम-वृत्ति और बुद्धि उस श्रद्धा-भावना के धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण करने मे सहायक होती है। इसीलिए मनोरमा का प्रेम अत्यन्त गंभीर बन जाता है। यद्यपि वह चक्रधर का सामीप्य चाहती है, उसकी उपस्थिति मे उसके व्यक्तित्व के माधुर्य का समावेश होता है, मन को सतोष मिलता है, तथापि वह सदैव विवेक और सयम से काम लेती है। जब धन के अभाव मे चक्रधर को अपने कार्य मे कठिनाई होती है तब वह नई दिशा मे सोचने को बाध्य होती है। इसलिए अपने प्रेमी की वास्तविक सहायता करने के लिए वह अपनी उत्कट प्रेम-भावना को दबाकर बूढे राजा-विशालसिंह की पाँचवी पत्नी बनने को प्रस्तुत हो जाती है, और इस प्रकार अपने प्रेम की वेदी पर अपने शारीरिक और मानसिक सुखो की बलि चढा देती है। वह चक्रधर के सम्मुख अपनी भावना को प्रकट करती हुई कहती है. 'मै हृदय मे आपकी ही उपासना करती हूँ। मेरा मन क्या चाहता है, यह मै स्वय नही जानती, अगर कुछ जानती भी हूँ तो कह नही सकती। हाँ इतना कह सकती हूँ कि जब मैने देखा कि आपकी परोपकार-कामनाएँ धन के बिना निष्फल हुई जाती है, जो कि आपके मार्ग मे सबसे बडी बाधा है, तो मैने उसी बाधा को हटाने के लिए यह बेडी अपने पैरो मे डाली।"[1]

'विदा' की चपला के चरित्र मे उसके अपूर्व त्याग, सयम और क्षमा के योग से अलौकिक स्निग्धता आ जाती है। चपला निर्मल की शिष्या है। उसके व्यक्तित्व के निर्माण मे

चपला

निर्मल का महत्त्वपूर्ण हाथ है। चपला स्वभावत निर्मल की ओर आकर्षित होती है। निर्मल का विवाह हो चुका है, इस बात की चेतना दोनो को बराबर बनी रहती है। इसलिए उनके व्यवहार में कोई उच्छृखलता या वासना प्रविष्ट नही होती। निर्मल का

---

१. प्रेमचन्द : 'कायाकल्प' (पृष्ठ २५४)

दाम्पत्य-जीवन दुखद है। इसलिए उसके व्यथित हृदय को चपला के प्रेम-पूर्ण व्यवहार से असीम सात्वना मिलती है। धीरे-धीरे वे दोनो सहज ही एक दूसरे के निकट आ जाते है। निर्मल की बीमारी मे चपला की सेवा-सुश्रूषा उनके हृदय को एक सूत्र मे बाँधने मे सहायक होती है। दो हृदयो का यह मौन-सम्मिलन दृढ से दृढतर होता जाता है। एक दिन चपला विचित्र आचरण कर बैठती है। एकान्त के मदिर वातावरण मे निर्मल को सोता जानकर वह अपने आवेश को रोकने मे असमर्थ होकर निर्मल के सूखे अधरो पर चुम्बन का पवित्र चिन्ह अकित कर देती है।[1] पर उसका यह कार्य मन की क्षणिक दुर्बलता के रूप मे ही चित्रित हुआ है। जिस व्यक्ति को वह अपने प्राणो से भी अधिक प्यार करती है, उसे इस प्रकार अकेला पाकर वह अपने आपको रोक नही पाती। अन्यथा दैनदिन जीवन मे चपला को सदैव अपने कर्तव्य और मर्यादा का ध्यान रहता है। उसका प्रेम सच्चा है, इसीलिए उसके मन मे कपट कभी नही आता। वह अपने मन की दुर्बलता को समझती है, इसलिए प्रारम्भ से ही सतर्क रहने की चेष्टा करती है। अपना कर्तव्य समझकर और अपने प्रेम-विह्वल मन को सयमित करने के लिए वह निर्मल की पत्नी कुमुदिनी को पत्र लिख-लिख कर बुला लेती है क्योकि निर्मल के प्रति प्रेम के कारण वह चाहती है कि निर्मल और कुमुदिनी अपना दाम्पत्य-जीवन सुख से व्यतीत करे। चपला का प्रेम शुद्ध और निश्छल है। उसे प्रतिदान की अपेक्षा नही है। निर्मल की-सी स्थिति में प्रतिदान की अपेक्षा से उसका प्रेम कलकित ही हो सकता है। इसीलिए वह निर्मल से कहती भी है. 'मैं जानती हूँ, इस जीवन मे मै तुम्हे नही पा सकती और न पाने का यत्न करूँगी। क्योकि तब मेरा प्रेम स्वार्थमय हो जायेगा। प्रेम मे स्वार्थ पाप का चिन्ह है।'[2]

चुम्बन के समय की उस क्षणिक दुर्बलता के पीछे उसके मन मे कुमुदिनी का अधिकार छीनने की भावना तनिक भी नही थी। फिर भी वह उस एक क्षण को रक की नि.धि के समान अपने प्राणो मे सँजोकर रखना चाहती है। उसके जीवन मे वही एक क्षण ऐसा है जिसकी स्मृति के सहारे वह अपने शेष जीवन की दीर्घ यात्रा तय कर सकती है। वह मन ही मन कहती रहती है 'ऐ प्रेम के प्रथम चुम्बन, मै तुम्हे अपने हृदय मे छिपा रखूँगी, और तुझे अपने स्मृति-मदिर मे मूर्ति बनाकर स्थापित करूँगी। यही एक चुम्बन मेरे जीवन का अवलबन होगा।'[3]

यह सब होते हुए भी उसको अपनी इस क्षणिक दुर्बलता पर ग्लानि भी होती है[4] क्योकि उसका निश्छल हृदय अपने इस कार्य को अनैतिक मानने पर बाध्य है। ऐसी भूल उससे फिर न हो जाये, इसी उद्देश्य से वह स्वय वहाँ से हट जाती है और विदेश चली जाती

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ ३५१-५३)
२. वही : (पृष्ठ ३९१) .
३. वही : (पृष्ठ ३५३)
४. वही : (पृष्ठ ४०१-४०२)

है।[1] इस प्रकार प्रेमिका के रूप मे चपला का अपूर्व त्याग, सयम और मर्यादापूर्ण आचरण आदर्श बन जाता है।

चपला की ही भॉति 'कर्मभूमि' की सकीना का अमरकान्त के प्रति आकर्षण अत्यन्त नि स्वार्थ और सात्विक है। निर्धनता की अवस्था मे भी जब अमरकान्त उसको प्रेम और सम्मान देता है तो उसका रोम-रोम जैसे कृतज्ञता से भर उठता है। 'विदा' मे चित्रित निर्मल की भाँति अमरकान्त भी विवाहित है इसलिए चपला की भॉति सकीना भी अपने कर्तव्य के प्रति सदैव सजग रहती है। उसके प्रेम मे नि स्वार्थ आत्म-समर्पण है। वह अमरकान्त को अपने सच्चे मन से इतना प्रेम करती है कि वह उसी प्रेम के बल अपनी शेष जीवन-यात्रा सुख से व्यतीत कर सकती है। वह कहती है· 'चार-पॉच बार की मुख़्तसर मुलाकातो से मुझे उन पर इतना एतबार हो गया है कि मै उम्र भर उनके नाम पर बैठी रह सकती हूँ।'[2] किन्तु सकीना का प्रेम इतना निश्छल है कि वह अपने स्वार्थ के लिए अमरकान्त का दाम्पत्य-जीवन दु खमय बनाना नही चाहती। यही कारण है कि अमरकान्त के कहने पर भी वह उसके साथ नही जाती। सकीना अपने मन का सच्चा भाव अमरकान्त की पत्नी सुखदा के सामने प्रकट करती हुई कहती है 'मै आपसे सच्चे दिल से कहती हूॅ, बहन, मेरे लिए इससे बडी खुशी की बात नही हो सकती कि आप और वह फिर मिल जाएॅ, आपस का मनमुटाव दूर हो जाये। मै उस हालत मे और भी सुखी रहूँगी। मै उनके साथ न गई, इसका यही सबब था।'[3] इस प्रकार सकीना अपने प्रेमी की प्रतिष्ठा और सच्चे सुख के लिए अपने प्रेम की बलि दे देती है।

सकीना

'जीवन की मुस्कान' की सविता और 'भिखारिणी' की जस्सो का चित्रण समान भावभूमि पर हुआ है। दोनो ही मानो केवल भावनाओ से निर्मित है। उनके प्रेम में पार्थिवता का लेश भी नही है। उनका प्रेम अटल अनुराग और अनुपम त्याग का सम्मिश्रण है। जस्सो रामनाथ को और सविता कमलेश को अपने हृदय के अन्तरतम से प्यार करती है किन्तु उसको प्रकट करने मे भी सकोच का अनुभव करती है। वे सदैव मौन ही रहती हैं। यहाँ तक कि अपने प्रेमियो से बातचीत करने मे भी सकुचाने लगती है। किन्तु उनके प्रेमियो का उनके प्रति व्यवहार अत्यन्त भिन्न है। सविता का प्रेमी कमलेश तो प्रेम की सत्ता पर ही विश्वास नही करता इसलिए उसके लिए प्रेम के प्रतिदान का कोई प्रश्न ही नही उठता। जब कमलेश का विवाह होता है तब सविता को मन ही मन असह्य वेदना होती है, पर वह अपना सारा त्रास मौन रहकर सह लेती है। यही नही,

सविता

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ ४०२-४०३).
२. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ १९५)
३. वही : (पृष्ठ १९५)

कमलेश की पत्नी के साथ भी वह सदा समुचित स्नेहपूर्ण व्यवहार करती है। अन्त मे जब कमलेश प्रेम की सत्ता स्वीकार करता है और अपनी भूल पहचान कर सविता से प्रेम की याचना करता है, तब भी सविता कमलेश की पत्नी रूपरेखा के अधिकार को छीनना अधर्म मानती है और परिस्थितियो को सुलझाने के लिए तीर्थयात्रा पर निकल जाती है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' की केट, जयशकर 'प्रसाद' लिखित 'कंकाल' (१९२९) की यमुना, विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक' लिखित 'भिखारिणी' की जस्सो, प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विकास' (१९३९) की अमीलिया आदि प्रेमिकाओ का प्रेम इतना अनन्य और अक्षय है कि अपने प्रेम का प्रतिदान न मिलने पर भी, प्रेमियो द्वारा विश्वासघात किये जाने पर भी उनकी निष्ठा मे कोई अन्तर नही आता और वे अन्त तक अपने प्रेमी के सुख और हित के लिए त्याग करती जाती है।

केट

'विदा' की केट अग्रेज महिला है। इग्लैंड मे ही मिस्टर देवदत्त वर्मा से उसका प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वे दोनो विवाह भी कर लेते है। किन्तु मिस्टर वर्मा केट के साथ विश्वासघात करते है। भारत रवाना होते समय वे जहाज से उसको समुद्र मे ढकेल देते है। अपने प्रति किये इस अक्षम्य दुर्व्यवहार के कारण केट के मन मे मिस्टर वर्मा के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना अवश्य जागृत हो जाती है किन्तु जैसे ही उसे पता लगता है[1] कि मिस्टर वर्मा अपने दुर्व्यवहार के प्रति दुखी है, उसके प्रतिशोध के विचार हवा हो जाते है: 'पुराने प्रेम ने जोश मारा। मैं सब कुछ भूल गई। मैं उनसे मिलने के लिए आतुर हो उठी। मैने अपने मन मे प्रतिज्ञा कर ली थी कि उन्हे क्षमा कर दूँगी, और फिर उनकी पत्नी बनकर प्रेम से जीवन व्यतीत करूँगी।'[1] तभी डाकू जान डिक मिस्टर वर्मा की हत्या कर डालता है। इस घटना से केट के ऊपर जैसे वज्रपात होता है। वह मिस्टर वर्मा के शव पर ही शपथ लेती है कि वह हत्यारे को अवश्य पुलिस मे देगी। अपने प्रण मे सफल होकर ही उसके मन को शान्ति मिलती है। इस प्रकार केट अपने विश्वासघाती प्रेमी के प्रति भी एकान्त निष्ठा और अनन्य प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत करती है। अन्त मे वह चपला से कहती है 'प्रेम मे प्रतिशोध नही है, वह तो एक क्षणिक आवेग था। अगर उन्होने मेरी जान लेने की कोशिश की थी, तो जीवन-रक्षा भी तो की थी। फिर उन्हे क्यो दोष दूँ। मै उन्हे प्यार करती थी और जीवन के अन्त तक करती रहूँगी।'[2]

'कंकाल' की यमुना अपने हृदय का सचित स्नेह मगल को अर्पित करती है। फल-स्वरूप अविवाहितावस्था मे ही वह गर्भवती हो जाती है। समाज की लाछना से बचने

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ ४०८)
२. वही : (पृष्ठ ४०९-४१०)

के लिए मगल तो यमुना को अकेली छोडकर चला जाता है किन्तु नारी के लिए ऐसा कोई मार्ग नही है। अपनी अनचाही सतान के प्रति भी उसका एक कर्तव्य है, जिससे वह पीछे नही हटेगी। प्रेमी से परित्यक्त होकर, समाज से लाछित, तिरस्कृत होकर भी मगल के प्रति यमुना की प्रेम-भावना बनी रहती है। वह अपने प्रेम को सच्चा मानती है और उसके लिए वह कठिन-से कठिन दु ख भी सहने को प्रस्तुत है। अपनी चाची से तिरस्कार मिलने पर यमुना जैसे अपनी सारी शक्ति बटोर कर कहती है 'मैने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी नही इकट्ठा कर लिया था, और कुछ मत्रो से कुछ लोगो की जीभ पर उसका उल्लेख नही करा लिया था। पर किया था प्रेम, चाची, यदि उसका यही पुरस्कार है तो मै उसे स्वीकार करती हूँ।'[1] जब बाद मे मगल माला से विवाह कर लेता है, तब भी वह अपने प्रेमी को कोई दोष नही देती और इस विष को भी मौन भाव से पी जाती है।

यमुना

'भिखारिणी' की जस्सो का प्रेमी रामनाथ भीरु प्रकृति का है। वह जाति-भेद के कारण जस्सो से प्रेम करते हुए भी विवाह करने का साहस नही कर पाता। इसलिए वह जस्सो से गुप्त विवाह करने का प्रस्ताव करता है। जस्सो ऐसे विवाह को अनुचित मानती है। समाज की आँखो से छिपकर किये गए विवाह का दुष्परिणाम वह अपने पिता के जीवन मे घटित होते देख चुकी है इसलिए वह कहती है: 'चुरा-छिपाकर कोई काम नही हो सकता।'[2] तब रामनाथ जस्सो को भुलाकर एक अन्य लडकी से विवाह करने को प्रस्तुत हो जाता है। किन्तु जस्सो के प्रेम मे कोई अन्तर नही आता। वह अपने प्रेमी के विवाह मे स्वय उपस्थित रहती है और अपने हाथो से उसकी वधू का शृगार करती है। इस प्रकार मानो वह अपने प्रेम को वधू के व्यक्तित्व मे लय कर देना चाहती है। अपनी समस्त अतृप्त अभिलाषाओ और कोमल भावनाओ को वह वधू के माध्यम से साकार कर लेना चाहती है। जब नव-वधू इस प्रलबित शृगार से ऊबकर कहती है, 'तूने तो मेरे प्राण ही ले लिए।'[3] तब जस्सो अपनी सारी वेदना और सचित प्रम को व्यक्त करती हुई कहती है. 'तो बदले मे अपने प्राण भी तो तुम्हे सौप रही हूँ।'[4]

जस्सो

जस्सो के प्राणो मे रामनाथ ही समाया है, और अब रामनाथ किसी और का होने वाला है। कितनी वेदना और टीस है उसके मन मे! किन्तु वह इसके लिए रामनाथ

---

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'कंकाल' (पृष्ठ २९४)
२. विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' : 'भिखारिणी' (पृष्ठ १७६)
३. वही : (पृष्ठ २११)
४. वही : (पृष्ठ २११)

को भूलकर भी दोष नही देती, और अपनी सारी सम्पत्ति दानकर आध्यात्मिक शान्ति की खोज मे निकल पडती है।

'विकास' की अमीलिया एल्फ्रेड जेकब्स नामक एक जहाजी कप्तान की सुन्दरी पुत्री है। फिजी मे भारतेन्दु के बीमार होने के अवसर पर अमीलिया ने ही उसकी सेवा-सुश्रूषा करके उसको जीवन-दान दिया है। दोनो मे प्रेम हो जाता है। अमीलिया उसे आत्म-समर्पण कर देती है। फलस्वरूप वह गर्भवती हो जाती है। कुछ दिनो बाद भारतेन्दु को भारतवर्ष आ जाना पडता है। भारतवर्ष आने पर वह एक तरह से अमीलिया को भूल जाता है। जब आभा से उसके विवाह की चर्चा चलती है तो वह कोई विरोध नही करता। जब अमीलिया को विदित होता है कि भारतेन्दु अन्यत्र विवाह कर रहा है तो वह विकल हो जाती है। वह भारतेन्दु को एक पत्र लिखती है जिसमे अपने प्रति उसके वचन का स्मरण दिलाकर वह विनती करती है कि कम से कम अपनी पत्नी के साथ वह अमीलिया जैसा व्यवहार न करे। इस उदाहरण मे हमे नारी की महन-शक्ति तथा विशाल-हृदयता का परिचय मिलता है। अमीलिया अपने प्रेमी के व्यवहार से अत्यन्त दुखी है, पर फिर भी वह अपने प्रेम के प्रति सच्ची रहकर प्रेमी की मगल कामना ही करती है।

अमीलिया

'निराला' के 'अप्सरा' (१९३१) की नर्तकी की पुत्री कनक, भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' (१९३६) की वेश्या सरोज गौर भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'पतिता की साधना' (१९३६) की वेश्या नदा के चरित्र मे प्रेमिका का वह शाश्वत रूप मिलता है जो विषाक्त वातावरण मे रहकर भी अपने प्रेमी के प्रति एकनिष्ठ रहता है। उनके अटल और अनन्य प्रेम का ही फल है कि अन्त मे उनके प्रेमी से उनका मिलन सम्भव बन जाता है।

कनक राजकुमार को प्रेम करती है। 'शकुन्तला नाटक' मे राजकुमार दुष्यन्त बनता है और शकुन्तला का अभिनय अप्सरा करती है। इस रहस्य को राजकुमार रगमच पर ही जान पाता है। अपने कल्पना-लोक की आदर्श तरुणी को अभिनेत्री के रूप मे देखकर कनक के प्रति उसके मन मे घृणा उत्पन्न हो जाती है। किन्तु कनक के प्रेम मे कोई अन्तर नही आता। यहाँ तक कि वह अपने प्रेमी क्रान्तिकारी राजकुमार को छुडाकर घर ले आती है। अन्त मे दोनो का पुर्नमिलन होता है। वे दोनो विवाह-बधन मे बँध जाते है।

कनक

'तीन वर्ष' की वेश्या सरोज रमेश के प्रति अपने उत्कट प्रेम से प्रेरित होकर चाहती है कि वह रमेश के साथ रहकर सहधर्मिणी की भाँति जीवन व्यतीत करे। वह रमेश के विश्रृखल जीवन को सयमित बनाने की भी सतत चेष्टा करती है किन्तु रमेश उसकी भावनाओ को न समझ पाता है, न आदर कर पाता है और एक दिन वह वहाँ से चला जाता है। रमेश

सरोज

के वियोग मे सरोज को पल भर भी चैन नही मिलता। वह बीमार हो जाती है। उसकी मरणासन्न स्थिति की सूचना अखबार मे छपती है जिसको पढकर रमेश लौटता है। रमेश को लौटा देखकर सरोज के मन को शान्ति मिलती है और वह अपनी समस्त सम्पत्ति रमेश के नाम करके रमेश की ही गोद मे प्राण त्याग देती है।

'पतिता की साधना' मे नदा जब बाल-वैधव्य का जीवन व्यतीत कर रही थी, तभी उसका आकर्षण हरि की ओर था। परिस्थितिवश उसे वेश्या-वृत्ति स्वीकार करनी पडती है। किन्तु इस स्थिति मे भी वह अपने प्रेमी को नही भूल पाती। यह उसकी अटल साधना और अनन्य प्रेम का ही परिणाम है कि एक दिन उसे प्रेम का प्रतिदान मिलता है और हरि और नदा साथ-साथ जीवन व्यतीत करने लगते है।

नदा

प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' (१९२६) की लौगी, 'गोदान' (१९३६) की सिलिया तथा भगवतीचरण वर्मा के 'आखिरी दाँव' की चमेली ऐसी वाग्दत्ता प्रेमिकाएँ है जो न तो प्रेमी के परवर्ती रूखे व्यवहार से खिन्न अथवा निराश होती है, और न अपने स्थायी सम्बन्ध के लिए विवाह की सामाजिक रीति को आवश्यक समझती है। एक बार जिसे प्रेमी और पति मानकर ग्रहण करती है उसके साथ वे आजीवन सुख-दु ख मे हाथ बँटाती अपने प्रेम की गहराई और सचाई सिद्ध करती है।

'कायाकल्प' मे प्रेमिका के रूप मे लौगी का चरित्र अत्यन्त प्रभावशाली है। वह ठाकुर साहब हरिसेवक सिह की विवाहिता न होने पर भी विवाहिता की भाँति रहती है। ठाकुर साहब के प्रति उसके एकनिष्ठ प्रेम का ही प्रमाण है कि वह उनकी गृहस्थी को, उनके बच्चो को अपना मानकर सुचारु रूप से सँभालती है। ठाकुर साहब भी लौगी को अपना सम्पूर्ण मन देते है। वह उनके जीवन मे इतनी घुल-मिल गई है कि वे उससे अलग रहने की कल्पना भी नही कर सकते। 'वह कभी रूठ जाती है, तो मेरे हाथ पाँव-फूल जाते हैं। मैं तो कल्पना भी नही कर सकता कि बिना उसके मैं जिन्दा कैसे रहूँगा। मै तो उससे बिना पूछे भोजन भी नही कर सकता। वह मेरे घर की लक्ष्मी है।'[1] अपने प्रति ठाकुर साहब का यह अटल प्रेम जानकर उसके मन मे शक्ति का सचार होता है और व्यक्तित्व मे दृढता आती है। जब हरिसेवक का पुत्र गुरुसेवक उसका अपमान करता है तो वह इसी प्रेम के बल पर बडे दृढ स्वर मे कहती है 'तो बच्चा सुनो, जब तक मालिक जीता है, लौगी इसी घर मे रहेगी और इसी तरह रहेगी। जब वह न रहेगा, तो जो कुछ सिर पर पडेगी, झेल लूँगी।'[2]

लौगी

लौगी के इसी अनन्य प्रेम, सेवा और नि स्वार्थ आत्म-समर्पण का ही फल है कि मृत्यु-शैया पर पडे हुए ठाकुर साहब लौगी के प्रति असीम श्रद्धा अर्पित करते हुए अपने पुत्र गुरु-

---

१. प्रेमचन्द : 'कायाकल्प' (पृष्ठ १९६)

२. वही : (पृष्ठ ६१)

सेवक से कहते है 'मैं लौंगी के हृदय पर मुग्ध हो गया। तुम्हारी माता भी तुम लोगों का लालन-पालन इतना तन्मय होकर न कर सकती थी। सच पूछो, तो यहाँ लक्ष्मी भी लौंगी के साथ ही आयी, बल्कि लक्ष्मी ही लौंगी के रूप मे आयी। लौंगी ही ने मेरे भाग्य को रचा।'[१]

'गोदान' मे ग्रामीण सिलिया यद्यपि क्षुद्र और उपेक्षित माने जाने वाले वर्ग की नारी है पर उसके अडिग प्रेम मे हमे आदर्श प्रेमिका के दर्शन होते है। वह चमार है, पर ब्राह्मण युवक मातादीन के प्रति अनुरक्त है। मातादीन से उसका प्रतिदान[२] पाकर वह आनन्द के उन्माद मे फूली रहती है[३] और मातादीन के खेत मे अनाज ओसाया करती है। तीन आदमियो के बराबर इस परिश्रम के बदले में वह केवल दो रोटियाँ पाती है, फिर भी पूर्ण सतुष्ट और प्रसन्न रहती है। वह अपने प्रेमी के प्रति पूर्णत समर्पित और कृतज्ञ है। इसीलिए वह ऐसा कोई कार्य नही करती जिससे मातादीन के धार्मिक आचार पर दोष आये। एक दिन वह मातादीन के अनाज मे से एक सेर अनाज सहुआइन को दे देती है। मातादीन को जब यह मालूम होता है तो वह लाल-लाल आँखे निकाल कर डाँटता है 'तूने अनाज क्यो दे दिया ? किससे पूछ कर दिया ? तू कौन होती है मेरा अनाज देने वाली ?'[४] सिलिया जैसे आसमान से गिरती है। वह पूछती है · 'तुम्हारी चीज मे मेरा कुछ अख्तियार नही है।'[५] जब मातादीन स्पष्ट निषेध कर देता है तो उसका ऐसी दशा हो जाती है जैसे किसी पक्षी के पर काट कर पिंजडे से निकाल दिया गया हो और वह फडफडा रहा हो। फिर भी वह मातादीन को छोडने की कल्पना भी नही करती। 'वह ब्याहता न होकर भी सस्कार मे, व्यवहार मे और मनोभावो मे ब्याहता थी और अब मातादीन चाहे उसे मारे या काटे, उसे दूसरा आश्रय नही है। दूसरा अवलम्ब नही है।'[६]

सिलिया

---

१. प्रेमचन्द : 'कायकल्प' (पृष्ठ ६१)

२. 'उसने (मातादीन ने) हाथ में जनेऊ लेकर कहा था—सिलिया, जब तक दम-में-दम है, तुझे ब्याहता की भाँति रखूँगा।'
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २६०) तेरहवाँ संस्करण, १९५६

३. 'उसके हास में, चितवन में, अंगों के विलास में हर्ष का उन्माद था, जिससे उसकी बोटी-बोटी नाचती रहती थी, सिर से पाँव तक भूसे के अणुओं मे सनी, पसीने से तर, सिर के बाल आधे खुले, वह दौड़-दौड़ कर अनाज ओसा रही थी, मानों तन-मन से कोई खेल खेल रही हो।'
वही : (पृष्ठ २५८)

४. वही : (पृष्ठ २५९)

५. वही : (पृष्ठ २५९)

६. वही : (पृष्ठ २६०)

अपनी बेटी का अपमान देखकर सिलिया के माँ-बाप घटना-स्थल पर पहुँचकर मातादीन का धर्म भ्रष्ट कर देते है और सिलिया को बलपूर्वक घर ले जाना चाहते है। किन्तु सिलिया अपने प्रेम के प्रति सच्ची रहती है—जिसको एक बार मन से वर लिया, उससे विमुख नही हो सकती। उसकी माँ उसे मारती-पीटती है, फिर भी वह अपने प्रेम से नही डिगती। वह जानती है कि सबके सामने उसका धर्म भ्रष्ट कर देने के कारण अब मातादीन भी उसे न पूछेगा पर फिर भी वह अपने निश्चय पर अटल है. 'अब तो वह भी मुझे न पूछेगा, लेकिन पूछे न पूछे, रहूँगी तो उसी के साथ। वह मुझे चाहे भूखो रखे, चाहे मार डाले, पर उसका साथ न छोडूगी। उनकी साँसत कराके छोड दूँ। मर जाऊँगी, पर हरजाई न बनूँगी। एक बार जिसने बाँह पकड ली, उसी की रहूँगी।'[१] इसीलिए वह मातादीन को समझाती है, 'जो रस्सी तुम्हारे गले मे पड गई है, उसे तुम लाख चाहो, नही छोड सकते और न मै ही तुम्हे छोडकर कही जाऊँगी। मजूरी करूँगी, भीख माँगूँगी, लेकिन तुम्हे न छोडूंगी।'[२]

इस प्रकार अपने प्रेम के कारण सिलिया न तो माँ के साथ जाती है, न मातादीन ही उसे स्वीकार करता है।[३] हारकर वह अनाथ बालिका की भाँति धनिया की शरण मे जाती है। लेकिन इस स्थिति मे भी उसके प्रेम मे कोई अन्तर नही आता। वह अटल विश्वास भरे स्वर मे कहती है 'अभी मान-मरजाद के मोह मे वह (मातादीन) चाहे मुझे छोड दे, लेकिन देख लेना, फिर दौडा आयेगा।'[४] वास्तव मे एक दिन उसके प्रेम की विजय होती है और मातादीन उसे फिर स्वीकार कर लेता है।

'आखिरी दाँव' की चमेली को भी अपने प्रेमी के साथ प्रेममय जीवन व्यतीत करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। अपने परिवार के दारुण अत्याचारो से त्राण पाने के लिए वह रामेश्वर का आश्रय लेती है। धीरे-धीरे वह रामेश्वर के प्रति इतनी अनुरक्त हो जाती है और उसके प्रति इतनी कृतज्ञता अनुभव करती है कि वह उसे एक तरह से अपना पति मानकर स्वीकार कर लेती है। बम्बई पहुँचकर अर्थोपार्जन के लिए रामेश्वर के कहने पर वह पान की दुकान खोलकर बैठने मे भी आनाकानी नही करती यद्यपि उसका मन वहाँ नही रमता और वह चाहती है कि घर मे बैठकर केवल रामेश्वर की सेवा करे।[५]

चमेली

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २६३)
२. वही : (पृष्ठ २६४)
३. "मातादीन ने पीछे फिरकर निर्मम स्वर मे कहा—'मेरे साथ मत आ। मेरा तुझसे कोई वास्ता नहीं। साँसत करवा के भी तेरा पेट नहीं भरता।'"
   वही : (पृष्ठ २६४)
४. वही : (पृष्ठ २७१)
५. 'इन दिनों वह दुकान पर बैठती थी अपनी इच्छा के विरुद्ध। वह चाहती थी कि

इसी बीच उसे मालूम पडता है कि रामेश्वर सट्टे मे चार हज़ार रुपया हार गया है, और यदि वह रुपया अगले बृहस्पतिवार तक चुका न देगा तो उसे जेल जाना पडेगा। इस समाचार से चमेली की आँखो के आगे अँधेरा छा जाता है। सकट को टालने के उपाय सोचते-सोचते रामेश्वर उसे सुझाव देता है कि यदि वह किसी फिल्म कम्पनी मे नौकरी कर ले तो समस्या हल हो सकती है। यद्यपि चमेली फिल्म के जीवन को हृदय से घृणा करती है और उसे अनैतिक मानती है, किन्तु रामेश्वर के लिए वह इसके लिए भी तैयार हो जाती है. 'अच्छी बात है, कल मै नौकरी कर लूँगी—और बृहस्पति तक अगर भगवान चाहेगा तो तुम्हारे चार हजार रुपयो का भी प्रबन्ध हो जायगा।'[१]

स्टूडियो पहुँचकर चमेली अपनी व्यवहार-कुशलता का ऐसा सुन्दर परिचय देती है कि वह अपने उद्देश्य मे सफल होती है। किन्तु वहाँ के विषाक्त वातावरण मे वह छटपटाने लगती है। अपनी सफलता के लिए उसे सेठ शिवकुमार की वासना का शिकार बनना पडता है—यह विवशता उसे विकल बनाती रहती है। अन्त मे मन की पीडा सहने मे असमर्थ होकर वह एक दिन रामेश्वर के सामने फूट पडती है 'मुझे यहाँ से और कही ले चलो, मैं यहाँ नही रहना चाहती—हाथ जोडती हूँ। मै यहाँ गिर गई हूँ—बुरी तरह गिर गई हूँ। भगवान जानता है, मैने बडी कोशिश की कि न गिरूँ लेकिन नही बच सकी। .....लेकिन....लेकिन, मेरे गिरने मे तुमने मुझे मजबूर किया—तुमने।'[२] और अन्त मे वह फिल्म-जीवन को त्याग कर ही दम लेती है।

इसी प्रकार जब रामेश्वर गोरेगाँव जाकर स्वय अपना व्यवसाय चालू करने के कारण अलग रहने की बात कहता है, तब जैसे चमेली के जीवन का आधार ही खिसकने लगता है। वह रोकर सिसकती हुई कहती है 'तुम मुझे बडे से बडा दण्ड दे लो, मै स्वीकार कर लूँगी, लेकिन तुम मुझे छोडो मत।'[३] जब रामेश्वर उसे आश्वासन देता है कि वह उसको छोड नही रहा अपितु ऐसा प्रयत्न कर रहा है कि चमेली उसीकी होकर रह सके तो उसका आन्तरिक मन खिल उठता है।[४]

रामेश्वर उससे एक बार कहे और वह दुकान छोड़ दे। वह घर मे रह कर रामेश्वर की सेवा करना चाहती थी, रामेश्वर के साथ बात करना चाहती थी, रामेश्वर के दिल मे समा जाना चाहती थी।'

भगवतीचरण वर्मा : 'आखिरी दाँव' (पृष्ठ ७४-७५)

१. वही : (पृष्ठ ९४)
२. वही : (पृष्ठ १७३)
३. वही : (पृष्ठ १८५)
४. 'अरी पागलपन की बात मत कर। मैं सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मै तुझे छोड़ नहीं रहा बल्कि यह प्रयत्न कर रहा हूँ कि तू मेरी होकर, केवल मेरी होकर रहे। तू जो गिरी इसकी जिम्मेदारी तेरी नहीं है—मेरी है।' ...

रामेश्वर के गोरेगाँव चले जाने पर भी और उसकी ओर से पूर्ण स्वतन्त्रता मिलने पर भी चमेली अपने छोटे से छोटे काम मे भी रामेश्वर की सम्मति की अपेक्षा करती है। एक गलतफहमी के कारण जब रामेश्वर उससे खिचा-खिचा रहने लगता है तो उसे ऐसा लगता है जैसे उसका अस्तित्व ही उससे छीन लिया गया हो। 'उसने उस दिन के पहले तक यह पूर्णरूप से नही जाना था कि उसका समस्त अस्तित्व रामेश्वर है—केवल रामेश्वर। उस रामेश्वर को खो देना अपने आपको खो देना है। उस रामेश्वर को एक बार फिर से पाना होगा। अगर वह रामेश्वर को नही पा सकी, तो उसके अस्तित्व को मिट जाना ही है, उस मिटने को कोई भी नही रोक सकता है, स्वय वह तक नही।'[1]

और अन्त मे जब उसे मालूम पडता है कि जुए के अपराध मे रामेश्वर को कारावास होनेवाला है तो वह उसको बचाने की चेष्टा मे अपने प्राणो की आहुति दे देती है।

प्रेमचन्द के 'रगभूमि' (१९२५) की सोफिया, उषादेवी मित्रा के 'पिया' (१९२७) की पिया, वृन्दावनलाल वर्मा के 'लगन' (१९२८) की रामा, जैनेन्द्र के 'परख' (१९३०) की कट्टो, वन्दावनलाल वर्मा के 'प्रेम की भेट' (१९३१) की सरस्वती, तथा 'कुडली-चक्र' (१९३२) की पूना, 'गोदान' (१९३६) की मालती, उषादेवी मित्रा के 'वचन का मोल' (१९३६) की कजरी, अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' (१९४१) की शशि, 'अचल' के 'नई इमारत' (१९४५) की प्रतिमा और आरती, उषा देवी मित्रा के 'सोहिनी' (१९४९) की सोहिनी ऐसी प्रेमिकाएँ है जो प्रेम के अपने आदर्श को अक्षुण्ण रखने के लिए अपने सर्वस्व की बाजी लगा देती है—यहाँ तक कि वे कभी-कभी उसके लिए अपने प्रेमी से अलग या दूर रहना भी श्रेयस्कर समझती है। लेकिन किसी भी स्थिति मे वे अपने प्रेम को आदर्श की उदात्त भूमि से नीचे नही गिरने देती। स्वय उनके प्रेमी उनके इस आदर्श प्रेम को कभी कृतज्ञता से और कभी विस्मय-विभोर होकर देखते-रहते है। ये प्रेमिकाएँ जब देखती है कि उनके प्रेम का प्रतिदान देने के कारण उनका प्रेमी आदर्श-च्युत होने को तत्पर है तब वे वियोग को ही श्रेयस्कर मानकर प्रेमी के जीवन को गिरने से बचाती है।

'रगभूमि' मे प्रेमचन्द ने सोफिया के माध्यम से प्रेमिका के मन मे उठने वाले घात-प्रतिघातो का बडा मार्मिक चित्रण किया है। सोफिया धर्मप्राण ईसाई पिता जान सेवक की पुत्री है। उसके पिता और भाई के कारण घर का वातावरण अत्यन्त सात्विक और आदर्शमय बना रहता है। बचपन से ही ऐसे वातावरण मे पलने के कारण सोफिया के हृदय मे भी सात्विक और आदर्शोन्मुख जीवन के प्रति श्रद्धा हो जाती है। इसलिए जब वह रियासत के युवराज विनयसिंह के कर्तव्यनिष्ठ देश-सेवी त्यागी जीवन का परिचय पाती है, तो

सोफिया

रामेश्वर के इस कथन से चमेली की आत्मा खिल गई।

भगवतीचरण वर्मा : 'आखिरी दॉव', (पृष्ठ १८५)

१. वही : (पृष्ठ २५९)

वह स्वभावत उसकी ओर आकृष्ट हो जाती है और धीरे-धीरे यह आकर्षण प्रबल और अटल प्रेम का रूप धारण कर लेता है।

विनयसिंह के जीवन और चरित्र के निर्माण मे उसकी माता रानी जाह्नवी का बहुत बडा हाथ है। उसने विनय को कठोर और तपस्वी जीवन बिताने की शिक्षा दी है और निरन्तर देश-सेवा मे लगे रहने की प्रेरणा दी है, वह सतर्क अनुशासक की भाँति उसकी गतिविधि पर कडी नजर रखती है और उसे अपने कर्तव्य-पथ से तनिक भी हटते देखकर भीषण रूप धारण कर लेती है। प्राचीन धार्मिक आचार-विचारो मे पगी होने के कारण वह सोफिया को अपनी पुत्रवधू बनाने मे हिचकती है, वैसे भी वह विनय को विवाह के जजाल मे फँसते नही देखना चाहती। फिर भी सोफिया उन्हे पसन्द है। पर जब भी कभी उसको कमजोरी दिखाते पाती है, उपदेश दिये बिना नही रहती।'

सोफिया की माता की एकमात्र इच्छा यह है कि उसकी बेटी सोफिया रियासत के पोलिटिकल एजेण्ट क्लार्क से विवाह कर अपने परिवार की शक्ति और प्रतिष्ठा बढाने मे सहायक हो। अपने लघु स्वार्थ के लिए वह सोफिया को क्लार्क से मेल-जोल बढ़ाने पर विवश करती रहती है और अपने उद्देश्य को पूरा करने की उतावली मे भद्दे काम भी कर बैठती है।

सोफिया का नारी-मन इन त्रिविध शक्तियो के सघर्ष की रगभूमि बन जाता है। अपने सम्पूर्ण मन से विनय को प्यार करने के कारण वह उसे पाना चाहती है, उससे विवाह कर उसकी हो जाना चाहती है, पर जाह्नवी के आदर्शों को भी मिथ्या नही करना चाहती। विनय को प्यार करने की प्रेरणा उसे विनय के आदर्शवादी जीवन से ही मिली है, इसलिए वह यह भी नही चाहती कि विनय प्रणय-विवाह मे उलझ कर अपना वास्तविक कार्य बिसार बैठे। उसके मन को त्रस्त रखने के लिए ये दो विरोधी तत्व ही कम नही है, तिस पर उसकी माँ की स्वार्थनीति उसको अलग दुःख देती रहती है।

इन तीन विरोधी शक्तियो की खीचतान मे सोफिया का चरित्र एक ओर करुण हो उठता है, तो दूसरी ओर रहस्यमय। वह कभी-कभी ऐसा आचरण कर बैठती है जिसके लिए उसके पास कोई औचित्य नही है, और जो उसके मूल चरित्र से मेल भी नही खाता। जब विनय को अपने राजनैतिक कार्य के लिए बदी बना लिया जाता है तो वह उसे मुक्त कराने के लिए क्लार्क से प्रेम का स्वाँग भरती है, और फिर विनय से कही भाग चलने का आग्रह करती है। इसी प्रकार अपने प्रबल प्रेम मे विकल होकर वह विनय को वश मे करने के लिए जडी-बूटी और मत्रो का भी प्रयोग करती है और कातर स्वर मे प्रणय निवेदन करती है 'मै रानी जी के पास जाकर रोऊँगी, उनके पैरो पर गिरूँगी और उनके मन मे तुम्हारे प्रति जो गुबार भरा हुआ है, उसे अपने आँसुओ से धो डालूँगी। मुझे दावा है कि मैं उनके पुत्र-वात्सल्य को जाग्रत कर दूँगी। मैं उनके स्वभाव से परिचित हूँ, उनका हृदय दया का आगार है। जिस वक्त मै उनके चरणो पर गिर कर कहूँगी, अम्मा,

तुम्हारा बेटा मेरा मालिक है, मेरे नाते उसे क्षमा कर दो, उस वक्त वह मुझे पैरो से ठुकराएँगी नही।'[१]

लेकिन इस प्रणय-कातर रूप के साथ ही साथ उसमे विनय को कर्तव्यपरायण और आदर्श वीर की भाँति आचरण करते देखने की भी उतनी ही प्रबल कामना है। जितना अटल उसका प्रेम है, विनय को वह उतना ही महान बनाना चाहती है। इसलिए जब भी वह विनय को अपने प्रति झुकते हुए देखती है, तत्काल सँभल कर उसे फिर कर्तव्योन्मुख कर देती है। जब उसे पता चलता है कि उसके प्रेम के कारण विनय ने अपने साथियो को त्याग कर रियासत के शासको का पक्ष लिया है, तो वह व्यग्य-वाणो से उसका सारा प्रमाद काट देती है। वह स्पष्ट शब्दो मे उसकी भर्त्सना करते हुए कहती है. 'मैने तुम्हारी प्रभुशीलता पर अपने को समर्पित नही किया था, बल्कि तुम्हारी सेवा, सहानुभूति और देशानुराग पर। मैने इसलिए तुम्हे उपास्य-देव बनाया था कि तुम्हारे जीवन का आदर्श उच्च था, तुममे प्रभु मसीह की दया, भगवान बुद्ध के विराग और लूथर की सत्यनिष्ठा की झलक थी। क्या दुखियो को सताने वाले निर्दय, स्वार्थप्रिय अधिकारियो की ससार में कमी थी। तुम्हारे आदर्श ने मुझे तुम्हारे कदमो पर झुकाया। जब मै प्राणिमात्र को स्वार्थ मे लिप्त देखते-देखते ससार से घृणा करने लगी थी, तुम्हारी निस्वार्थता ने मुझे अनुरक्त कर लिया।'[२] इसी प्रकार जब वह देखती है कि विनय उसके प्रेम मे इतना डूब गया है कि पाँडेपुर के बेदखल लोगो के न्याय-आन्दोलन मे भाग लेने से कतराता है, तो वह अपने विवाह के स्वप्न भूलकर उसे फिर कर्तव्य की ओर प्रेरित कर देती है।[३] उसके इन विरोधी आचरणो के कारण लोग उसे गलत भी समझ लेते है। विनय की बहिन इन्दु एक बार सोफ़िया के विषय में चर्चा करते हुई कहती है 'बडे धर्म-सकट मे पडी हुई है। न तुम्हे निराश करना चाहती है, न माता जी को अप्रसन्न करना चाहती है। न जाने क्यो उसे अब भी सदेह है कि माता जी उसे अपनी वधू नही बनाना चाहती। मै समझती हूँ कि यह केवल उसका भ्रम है, वह स्वय अपने मन के रहस्य नही समझती। वह स्त्री नही है, केवल एक कल्पना है, भावो और आकाक्षाओ से भरी हुई। तुम उसका रसास्वादन कर सकते हो, पर उसे अनुभव नही कर सकते, उसे प्रत्यक्ष नही देख सकते।'[४]

---

१. प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' (पृष्ठ २०१) दूसरा भाग
२. वही : (पृष्ठ ८४)
३. 'अच्छा तो में आपके सामने कह रही हूँ कि मुझे इनके यहाँ जाने में कोई आपत्ति नहीं है, बल्कि इसे मै अपने और इनके, दोनों के लिए गौरव की बात समझती हूँ। अब ईश्वर की दया और इनकी कृपा से अच्छी हो गई हूँ, और इन्हें विश्वास दिलाती हूँ कि इनके जाने से मुझे कोई कष्ट न होगा। मै स्वय दो-चार दिन में जाऊँगी।'
वही : (पृष्ठ ३३३)
४. वही : (पृष्ठ २८४)

वस्तुत सोफिया के प्राण कितने ही छटपटाएँ, वह विनय को कर्तव्य-पथ से विचलित होते नही देख सकती। फल यह होता है कि अन्त मे विनय राजनैतिक सग्राम मे अपने प्राणो की बलि दे देता है और सोफिया सच्ची और आदर्श प्रेमिका की भाँति अपने जीवन का भी अन्त कर देती है।[1] इस प्रकार सोफिया प्रेम की वेदी पर सर्वस्व का बलिदान कर अपने प्रेमी के जीवन को महान बना देती है।

'पिया' मे पिया का प्रेम भी पूर्णत आदर्श है। पिया निशीथ को प्रेम करती है जो विवाहित गृहस्थ है और कई बच्चो का पिता है। इसलिए पिया अपने प्रेम को गोपन रखती है और मन ही मन घुलती रहती है। एक बार रोग-शय्या पर अचेतावस्था मे वह अपने मन का भाव प्रकट कर बैठती है जिसका उसे बाद मे बहुत पश्चात्ताप होता है। वह अपने प्राणो के निभृत कोने मे अपने असफल प्रेम का दीपक जलाये समाज-सेवा मे अपना दु ख भूलने की चेष्टा करती है, पर उसका प्रकाश कर अपने प्रेमी के लिए समस्या खडी करना नही चाहती। एक बार पिया अपनी बीमारी की दशा मे एक सभा मे जाते हुए आँधी-पानी मे भटकती-भटकती अनजान मे निशीथ के द्वार पर लुढक पडती है। निशीथ की पत्नी मृणाल उसे देखकर ईर्ष्यावश अन्दर नही आने देती और पिया अपने प्रेमी के द्वार पर ही मृत्यु की गोद मे सो जाती है।

पिया

'लगन' मे रामा देवीसिंह को एकनिष्ठ प्रेम करती है। जब दहेज के झगडे के कारण देवीसिंह का पिता बारात लौटा कर ले जाता है तब भी उसके प्रेम मे कोई अन्तर नही आता। प्रेम की अनन्यता के साथ-साथ उसके चरित्र मे साहस और दृढता भी है। रामा का प्रेमी देवीसिंह रोज़ रात को उससे मिलने आता है। देवीसिंह को इस प्रकार छिपकर मिलने मे भय लगता है किन्तु रामा अपने एकान्त प्रेम के कारण निर्भीक होकर कहती है: 'मुझे इसका क्या भय है? मेरे देवता मेरे पास हैं। मेरा कोई क्या कर सकता है? बहुत होगा अभी आपके साथ जाने को कह देंगे, चली जाऊँगी।'[2] अन्त मे जब उसका प्रेम प्रकट हो जाता है तो वह साहसी बाला अकेली बरसात की बेतवा पारकर देवीसिंह के घर पहुँचती है और वहाँ निस्संकोच अपने को देवीसिंह की पत्नी कहकर अपना परिचय देती है। उसके

रामा

---

१. 'आपकी सोफिया आज संसार से विदा होती है। जब विनय न रहे, तो यहाँ मैं किसके लिए रहूँ। इतने दिनों तक मन को धैर्य देने की चेष्टा करती रही···किन्तु मेरा प्यारा विनय मुझे बुला रहा है। मेरे बिना उसे वहाँ एक क्षण को भी चैन नहीं है। वहीं मिलने जाती हूँ।'
प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' (पृष्ठ ४०७)

२. वृन्दावनलाल वर्मा : 'लगन' (पृष्ठ ७९)

अटल प्रेम के सम्मुख समाज भी झुक जाता है। देवीसिंह के पिता उसे बहू के रूप मे स्वीकार कर लेते है।

जैनेन्द्र के 'परख' की कट्टो तो नि.स्वार्थ समर्पित प्रेम की साकार प्रतिमूर्ति है। वह अल्हड ग्रामीण बाल-विधवा है जिसके मन मे काम-वासना का लेश भी नही है। वह अत्यन्त निश्छल और सात्विक भाव से सत्यधन को प्रेम करती है।

कट्टो

उसका मन जितना पवित्र और मुक्त है उतना ही उसका व्यवहार सयमित और सरल है। उसका प्रेम उसके मन मे कोई झिझक, कोई सकोच नही उत्पन्न करता, क्योकि वह अपने प्रेम का कोई प्रतिदान नही चाहती। वह निष्काम समर्पिता है। प्रेम उसके नारी-मन की ऐसी सहज, अकृत्रिम और स्वाभाविक क्रिया है जैसे सूर्य के दर्शन कर कमलिनी का खिलना। सारे उपन्यास मे कट्टो की यह खिलखिलाहट गूँजती रहती है।

यही कारण है कि जब सत्यधन उसकी ओर से उदासीन होकर गरिमा से विवाह करना चाहता है, तो उसे न दु ख होता है, न आश्चर्य। जिसमे उसके प्रिय को सतोष हो, उसीमे उसका सतोष है, क्योकि समर्पिता होने के बाद उसका अलग कोई व्यक्तित्व है ही कहाँ। वह सत्यधन से स्वय कहती है, 'जो कुछ भी तुम चाहते हो सबमे कट्टो की खूब राय है। कट्टो भी उसे खूब चाहती है। उसका पूरा-पूरा विश्वास रक्खो। तुम्हारी खुशी मे उसकी खुशी है। तुम्हारे सोच मे उसकी मौत है। अपने कामो में कट्टो की गिनती मत करो,—वह गिनने लायक नही है। उसकी खुशी तुममे ही शामिल है। बस। तुम ब्याह करना चाहते हो, तो कट्टो तुम्हारी सबसे पहले ब्याह चाहती है। ओ हो वह कितनी खुश होगी, खूब खूब खुश होगी। तुम कट्टो को क्या समझते हो ?—वह तुम्हारी नाखुशी लेकर जिदा रह सकेगी ? और क्या समझते हो कि वह तुम्हे समझती ही नही ? वह तुम्हे खूब समझती है। तुम जो करोगे अच्छा करोगे, और कट्टो उस अच्छे मे खूब आनन्द मनायेगी। तुम तो कट्टो के मालिक हो—फिर उसकी फिकर क्यो करते हो ? [१]

अपने इसी नि स्व, एकान्त समर्पण के कारण कट्टो को गरिमा से ईर्ष्या नही होती, प्रत्युत वह उसको सहज ही अपनी बड़ी बहिन के रूप मे स्वीकार करती है। सत्यधन के माध्यम से गरिमा भी मानो उसके प्रेम की पात्र बन जाती है। वह अपनी उस सोहाग-पिटारी[२] को जिसे वह अपनी सबसे मूल्यवान और प्यारी वस्तु समझती है, जिसके साथ

---

१. जैनेन्द्र : 'परख' (पृष्ठ ७०)

२. 'कट्टो ने तिस पर टिकुली की वह डिबिया ली, कंधा और शीशा और हाथो से वे दो लाल चूड़ियाँ निकालीं, उन्हें एक पोटली मे बाँध दिया।'
वही : (पृष्ठ ७६)

उसकी कोमल भावनाएँ सबद्ध है,[1] उसी पिटारी को वह सहर्ष गरिमा को भेट-स्वरूप भेज देती है।

इसी सात्विक और निस्वार्थ प्रेम के कारण कट्टो के लिए मिलन-विरह में कोई अन्तर नही पडता। वरन् उसका तो मत है कि मिलन मे भले ही प्रेम का अन्त हो जाये, विरह मे तो प्रेम अनिवार्य रूप से प्रतिक्षण साथ रहता है, यही कारण है कि वह सत्यघन को बाँध रखने की कल्पना नही करती। वह विरह को सच्चे प्रेम-जीवन का प्रतीक मान कर स्वीकार करती है। उसका प्रेम शारीरिक मिलन अथवा विवाह की अपेक्षा नही रखता। वह समर्पिता है क्योकि उसका मन समर्पित है। इसीलिए सत्यघन के आग्रह करने पर भी वह बिहारी से विवाह करने को तैयार नही होती। केवल उसके विवाह के मार्ग मे कोई बाधा न पडे इसी विचार से वह बिहारी के साथ सेवा-व्रत मे सहयोगिनी बनने की स्वीकृति देती है।[2] इस प्रकार भोली, निश्छल कट्टो के रूप मे हमे युग-युग-वंदित शाश्वत प्रेम की ही व्याख्या के दर्शन होते हैं।

'प्रेम की भेट' मे सरस्वती के भी चरित्र मे वर्मा जी ने प्रणय का बडा सच्चा, शाश्वत और आदर्श चित्र उपस्थित किया है। रामा के चरित्र की ही भाँति सरस्वती के चरित्र मे भी हमे साहस, शक्ति त्याग और बलिदान का अपूर्व सामजस्य मिलता है। उसका प्रेम लघु और स्वार्थमय नही वरन् उदार और कर्तव्य-परायण है। सरस्वती धीरज को प्रेम करती है किन्तु उसके अभिभावक उनके प्रेम को उचित नही मानते। यहाँ तक कि वे उन्हे मिलने-जुलने की भी छूट नही देते। धीरज ने सरस्वती को एक साडी उपहार मे दी है। इस साडी को वह बडे आग्रहपूर्वक अपने पास रखती है, यहाँ तक कि बीमार पडने पर भी उसे अपने तकिये के नीचे सहेज कर रखती है। सरस्वती के पिता कन्मोद को जब यह ज्ञात होता है तो वह क्रोध मे आकर साडी छीन कर जला डालना चाहता है। सरस्वती उस साडी को अपने से अलग नही करना चाहती, वह उसे कसकर पकड लेती है। इसी छीना-झपटी मे साडी फट जाती है और उसकी मुट्ठी मे उसका वही छोर रह जाता है जिसमे लिखा है 'प्रेम की भेट'। यद्यपि धीरज उसी घर मे रहता है, फिर भी सरस्वती को उसके दर्शन नही मिलते और अपने उत्कट प्रेम मे निराश होकर वह रुग्णा अपनी मुट्ठी मे साडी का वही छोर दबाये अपने प्राण त्याग देती है।

सरस्वती

---

१. मेरे पास शुभ से शुभ जो चीज है, जिस पर मैंने प्यारी से प्यारी भावनाएँ अर्घ्य रूप में चढ़ाई है, वही चीज में उन्हे दे रही हूँ।'
जैनेन्द्र : 'परख', (पृष्ठ ७६)

२. 'दोनों वैधव्य-यज्ञ की प्रतिज्ञा मे एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते है।'
वही : (पृष्ठ ७५)

'कुडली चक्र' मे ग्रामीण बाला पूना अजित के प्रति अनुरक्त है, पर वह प्रेम प्रकट करने मे सकोच का अनुभव करती है। जब उसे विश्वास हो जाता है कि उसका बहनोई भुजबल उससे विवाह करने पर तुला हुआ है तो वह अजित को पत्र द्वारा अपने प्रबल प्रेम और समर्पण का परिचय देती हुई बडे साहसपूर्वक उसे अपनी रक्षा के लिए बुलाती है।

पूना

वह पत्र मे लिखती है 'आप दीनो की सहायता करते है। मै बिल्कुल निस्सहाय हूँ। मेरे बहनोई भुजबल आज जबरदस्ती विवाह करके मेरा जन्म नष्ट करना चाहते है। मेरी रक्षा कीजिए। मुझे उबारिये, यदि मेरी रक्षा न की गई, तो मै आज ही अवश्य अपना प्राणान्त कर दूँगी। मै अनाथ हूँ, शरण दीजिए।'[1] और अन्त मे उसका अटल प्रेम सफल होता है। जब वह जीवन से निराश होकर मृत्यु की गोद मे सो जाना चाहती है, तभी अजित उसके पास पहुँच कर उसे जीवन दान देता है और वह उसका आश्रय पाकर सुरक्षा का अनुभव करती है 'मुझे अब कोई डर नही। माँ ने मेरा रक्षक पहुँचा दिया है।' और अजित उसको अपनी छाती से लगाये कभी न छोडने का आश्वासन देता है।

''गोदान' की मालती का व्यक्तित्व इन सब प्रेमिकाओ से सर्वथा भिन्न होते हुए भी नारी के शाश्वत रूप का बडा सच्चा चित्र उपस्थित करता है। मालती विदेशी शिक्षा प्राप्त लेडी डाक्टर है, जो उच्च वर्ग के समाज की शोभा है। 'तालुकेदारो के महलो मे उनका बहुत प्रवेश है। आप नवयुग की साक्षात् प्रतिमा है। गात कोमल, पर चपलता कूट-कूट कर भरी हुई। झिझक या सकोच का कही नाम नही, मेक-अप मे प्रवीण, बला की हाजिर-जवाब, पुरुष मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला मे निपुण. जहाँ आत्मा का स्थान है, वहाँ प्रदर्शन, जहाँ हृदय का स्थान है, वहाँ हाव-भाव, मनोद्‌गारो पर कठोर निग्रह, जिसमे इच्छा या अभि-लाषा का लोप-सा होगा।'[2]

मालती

मालती अपने इस आधुनिक परिवेश मे मानो नारी-सुलभ गुणो को भुला ही बैठी है। वह तितली की भाँति हँसती-खेलती, पुरुषो से मनोरजन करती अपना जीवन संचा-लित करती है। वाक्-पटु और विचारवान् होने के कारण उसके निकट आने का किसी को साहस भी नही होता।

तभी मालती का परिचय दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर मेहता से होता है। यह परिचय धीरे-धीरे मालती के जीवन मे कायापलट कर देता है। दोनो मे बौद्धिकता प्रधान है, इसलिए दोनो सहज ही आकर्षित होते हैं। मालती को मेहता का परोपकारी, सिद्धान्त-प्रिय व्यक्तित्व इतना अधिक प्रभावित करता है कि वह मन ही मन उन्हे श्रद्धा करने लगती

---

१. वृन्दावन लाल वर्मा : 'कुण्डली चक्र'
२. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ५८) तेरहवाँ संस्करण

है। ज्यो-ज्यो वह उनके विचारो और कार्यों के निकट आती-जाती है, त्यो-त्यो यह श्रद्धा प्रेम मे परिणत होती जाती है और वह मेहता के योग्य बनने के लिए अपनी गतिविधि मे भी परिवर्तन करने लग जाती है। शिक्षा और रहन-सहन मे आधुनिक होने पर भी वह प्रेम की अनन्यता और अमरता मे विश्वास करती है। अभी तक उसके जीवन मे कोई ऐसा उन्नत व्यक्ति आया ही न था जिसे वह आत्म-समर्पण करती। अब मेहता को पाकर वह अपना सम्पूर्ण मन उन्हे दे देती है। मेहता भी मालती के प्रति धीरे-धीरे आसक्त हो जाते है और दोनो ही विवाह-सूत्र मे बँध जाने के स्वप्न देखने लगते है।

एक दिन नदी-तट पर एकान्त मे मालती मेहता को अपना प्रेम-निवेदन करती है, और मेहता भी गद्गद् भाव से उसे स्वीकार करते है। पर यही अत्यन्त आत्मीय सभाषण के बीच मेहता ऐसी बात कह देते है कि मालती के मन मे प्रेम का जो आदर्श है वह डगमगाने लग जाता है -

"अच्छा, मान लो मै तुमसे विवाह करके कल तुमसे बेवफाई करूँ तो तुम मुझे क्या सजा दोगी ?'

मालती ने उनकी ओर चकित होकर देखा। इसका आशय उसकी समझ मे न आया। 'ऐसा प्रश्न क्यो करते हो ?'

'मेरे लिए यह बडे महत्त्व की बात है।'

'मै इसकी सम्भावना नही समझती।'

'ससार मे कुछ भी असम्भव नही है। बडे से बडा महात्मा भी एक क्षण मे पतित हो सकता है।'

'मै उसका कारण खोजूंगी और उसे दूर करूँगी।'

'मान लो मेरी आदत न छूटे।'

'फिर मैं नही जानती, क्या करूँगी। शायद विष खाकर सो रहूँ।'

'लेकिन यदि तुम मुझसे यही प्रश्न करो, तो मैं उसका दूसरा जवाब दूँगा।'

मालती ने सशक होकर पूछा—'बतलाओ।'

मेहता ने दृढता के साथ कहा—'मैं पहले तुम्हारा प्राणान्त कर दूँगा, फिर अपना।'

मालती ने ज़ोर से कहकहा मारा और सिर से पाँव तक सिहर उठी। उसकी हँसी केवल उसकी सिहरन को छिपाने का आवरण थी। मेहता ने पूछा—'तुम हँसी क्यो?'

'इसीलिए कि तुम तो ऐसे हिंसावादी नही जान पडते।'

'नही मालती, इस विषय मे मै पूरा पशु हूँ और उस पर लज्जित होने का कोई कारण नही देखता। आध्यात्मिक प्रेम और त्यागमय प्रेम और निस्वार्थ प्रेम जिसमें आदमी अपने को मिटाकर केवल प्रेमिका के लिए जीता है, उसके आनन्द से आनन्दित होता है और उसके चरणो पर अपनी आत्मा समर्पण कर देता है, मेरे लिए निरर्थक शब्द हैं प्रेम सीधी-सादी गऊ नही, खूँख्वार शेर है, जो अपने शिकार पर किसी की आँख भी नही पडने देता।'

मालती ने उनकी आँखो मे आँखें डाल कर कहा—'अगर प्रेम खूँख्वार शेर है, तो मैं

उससे दूर ही रहूँगी। मैंने तो उसे गाय ही समझ रखा था। मै प्रेम को संदेह से ऊपर समझती हूँ। वह देह की वस्तु नही, आत्मा की वस्तु है। संदेह का वहाँ जरा भी स्थान नही और हिंसा तो सदेह का ही परिणाम है। वह सम्पूर्ण आत्म-समर्पण है। उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बनकर नही; उपासक बनकर ही वरदान पा सकते हो।'[१]

'जब मेहता ने उसकी आशाओ को द्वार तक लाकर प्रेम का वह आदर्श उसके सामने रखा, जिसमे प्रेम को आत्मा और समर्पण के क्षेत्र से गिराकर भौतिक धरातल तक पहुँचा दिया गया था, जहाँ सदेह और ईर्ष्या और भोग का राज है, तब उसकी परिष्कृत बुद्धि आहत हो उठी। और मेहता से जो उसे श्रद्धा थी, उसे एक धक्का-सा लगा, मानो कोई शिष्य अपने गुरु को कोई नीच कर्म करते देख ले। उसने देखा, मेहता की प्रखर बुद्धि प्रेमत्व को पशुता की ओर खीचे लिए जाती है और उसके देवत्व की ओर से आँखें बन्द किये लेती है, और यह देखकर उसका दिल बैठ गया।'[२]

वास्तव मे आधुनिका मालती के हृदय मे आदर्श नारी का मन स्पन्दित है, यह बात मेहता को भी मालूम न थी। इस घटना के बाद दोनो का सम्बन्ध एक नया रूप ले उठा। अब मेहता मालती की ओर श्रद्धाभरे सतृष्ण नेत्रो से देखते थे और मालती उनके प्रति अटूट प्रेम भाव रखते हुए भी अधिक निकट आते डरती थी कि कही उसके प्रेम के कारण मेहता का व्यक्तित्व ओछा न हो जाये। वह अपना जीवन अधिकाधिक सेवा-कार्य मे लगाने लगी। फिर भी मेहता के प्रति उसका व्यवहार पहले जैसा ही कोमल-मधुर रहा और उनकी देखभाल भी वह बराबर करती रही। अन्त मे वे दोनो विवाह-बधन के बिना ही साथ-साथ जीवन-यात्रा करने का निश्चय करते है। इस निश्चय के पीछे जो प्रेरणा है, वह मालती के अमर, अटूट प्रेम की घोषणा है—'नही मेहता, मै महीनो से इस प्रश्न पर विचार कर रही हूँ और अन्त मे मैंने यह तय किया है कि मित्र बनकर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कही सुखकर है। तुम मुझसे प्रेम करते हो, मुझ पर विश्वास करते हो, और मुझे भरोसा है कि आज अवसर आ पडे तो तुम मेरी रक्षा प्राणो से करोगे। तुममे मैने अपना पथ-प्रदर्शक ही नही, अपना रक्षक भी पाया है। मै भी तुमसे प्रेम करती हूँ, तुम पर विश्वास करती हूँ और तुम्हारे लिए कोई ऐसा त्याग नही है, जो मै न कर सकूँ। और परमात्मा से मेरी यही विनय है कि वह जीवन-पर्यन्त मुझे इसी मार्ग पर दृढ रखे। हमारी पूर्णता के लिए, हमारी आत्मा के विकास के लिए और क्या चाहिए? अपनी छोटी-सी गृहस्थी बनाकर, अपनी आत्माओं को छोटे-से पिंजडे मे बदकरके, अपने दुख-सुख को अपने ही तक रखकर, क्या हम असीम के निकट पहुँच सकते हैं? यह तो हमारे मार्ग में बाधा ही डालेगा।'[३]

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान', (पृष्ठ ३२३-३२४)
२. वही : (पृष्ठ ३२५)
३. वही : (पृष्ठ ३५१)

'वचन का मोल' की कजरी भी आदर्श प्रेमिका का एक अलौकिक रूप उपस्थित करती है। एक ओर कजरी का मन विनय की ओर अनुरक्त है, दूसरी ओर सरोज कजरी के प्रति अनुरक्त है। जब मरणासन्न सरोज कजरी से अपने हृदय का रहस्य उद्घाटित करता है और उससे विवाह करने का निवेदन करता है तो कजरी के सामने धर्म-सकट उपस्थित हो जाता है। क्या वह अपने प्रेम के प्रति सच्ची रहकर सरोज को मर जाने दे, एक आत्मा की हत्या का पाप अपने सिर पर ले ? अथवा, क्या वह सरोज की इच्छा-पूर्ति कर अपने प्रेम को मिथ्या सिद्ध कर दे ? अत मे कजरी एक ऐसा उपाय खोज लेती है जिससे उसके प्रेम की भी रक्षा हो जाती है और सरोज को भी शिकायत का अवमर नही रह जाता। वह निश्चय करती है 'मैं क्वाँरी ही रहूँगी।' अन्त तक कजरी अपने इस वचन पर अटल रहती है और इस प्रकार अपने प्रेम को कलुषित होने से बचा लेती है। प्रेम के लिए सर्वस्व त्याग का ऐसा मार्मिक चित्र प्रेमिका के चरित्र को अलौकिक महिमा से मडित कर देता है।

कजरी

'शेखर एक जीवनी' की शशि के चरित्र मे 'अज्ञेय' ने प्रेम की तन्मयता और निष्काम समर्पण का अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है। लौकिक बधनो और वर्जनाओ को अपने उत्कट प्रेम-प्रवाह मे वहाती हुई शशि अपने प्रिय के लिए अपने जीवन को प्रेम-यज्ञ की आहुति बना डालती है। बचपन से ही शशि के मन मे अपने मौसेरे भाई शेखर के प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाता है। शेखर की विलक्षण प्रतिभा और अदम्य व्यक्तित्व के प्रति उसकी श्रद्धा निरन्तर बढती जाती है। जब शेखर क्रुद्ध होकर शशि के सिर पर लोटा मार देता है तो शशि घायल हो जाने पर भी शेखर को माता-पिता की मार से बचाने के लिए निस्सकोच झूठ बोल देती है।[1]

शशि

यद्यपि शेखर शशि का प्रेम पाने के लिए कोई प्रयत्न नही करता, तथापि शशि प्रारम्भ से ही शेखर को अपना मानती है और वय के साथ उसके इस एकान्त प्रेम का भी सहज विकास होता रहता है। यह प्रेम शशि के व्यक्तित्व को तो तेजस्विता देता ही है, शेखर के जीवन मे भी आमूल परिवर्तन ला देता है। विद्रोही, अशान्त, हठी शेखर शशि के सामीप्य मे अनोखी शान्ति का अनुभव करता है,[2] उससे प्रकाश पाता है,[3] और उसके प्रति

---

१. 'इतनी-सी बच्ची थी यह, तब तुमने नहाते हुए लोटा मार कर इसका सिर फोड दिया था, तब भी यह तुम्हे बचाने के लिए झूठ बोली थी कि अपने आप लग गया है।'
'अज्ञेय' : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १८९) दूसरा भाग

२. 'इतना शान्त तो मैं कहीं नहीं रहता जितना यहाँ।'
वही : (पृष्ठ ३२)

३. 'यही तो शशि ने कहा था, मैं अपनी उलझनों मे पड़ा रहता हूँ, आसपास की दुनिया में जो मेरा कर्तव्य है वह नहीं करता···'दुःख उसकी आत्मा को शुद्ध करता है, जो

कृतज्ञ भी होता है। यह शशि के अनन्य और प्रबल प्रेम का ही प्रभाव है कि वह शेखर जैसे आत्म-रत व्यक्ति के मन पर भी व्याप्त हो जाता है। शेखर एक पल को भी शशि को नही भुला पाता। यहाँ तक कि उसका राजनैतिक बदी जीवन भी शशि के स्मरण से सिक्त हो जाता है।

उधर शशि भी इस इतनी बडी दुनिया मे केवल शेखर को ही अपना मानती है। जब उसके सामने विवाह का प्रश्न उठाया जाता है तो वह चिन्तित हो जाती है। उसकी आत्मा मानो शेखर के ही लिए बनी है। फिर विवाह किससे और कैसा? वह अनायास ही शेखर का स्मरण करती है: 'अगर शेखर बाहर होता तो वह उसकी सहायता माँगती बातचीत को स्थगित कराने मे, पर वह जेल मे है, और—और कोई इस इतनी बडी दुनिया मे है नही जो उसका पक्ष ले।'[१] शशि शेखर को जेल के सीखचों के भीतर ही पत्र लिखकर सुझाव माँगती है। शेखर विवाह करने या न करने का दायित्व शशि पर ही छोडता है किन्तु दोनो विकल्पो मे वह शशि के साथ पूर्ण सहयोग का आश्वासन देता है।[२]

शशि इस आश्वासन से इतनी निश्चिन्त अनुभव करती है कि वह अपनी माँ की प्रसन्नता के लिए अपने प्राणो के प्रतिवाद करने पर भी विवाह के लिए सहमत हो जाती है। 'वह शेखर के प्रति दुगुनी कृतज्ञ है कि वह उसके लिए इतना करके उसके आगे भी जा रहा है, वह उसके दीपक मे स्नेह भी भर रहा है—'भविष्य क्या है, नही जानती; और मैंने जो मार्ग अपने लिए निर्धारित किया है उसमे भविष्य होने का प्रश्न भी नही है। वह इतना ज्वलित है, पर इतना मै आज तुम्हे कहती हूँ कि तुमने जो मुझे दिया वह मैं उसमे नही भूलूँगी। ···मैनें माँ से कह दिया कि मुझे इस मामले मे किसी तरह की कोई दिलचस्पी नही है, उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है।'[३]

इस प्रकार शशि इस अनचाहे विवाह को स्वीकार कर यत्र की भाँति निर्विकार रूप से

उसे दूर करने की कोशिश करता है। और किसी का नहीं।' यही तो उसने कहा था···और 'दुःख सब जगह है'—मैं उसे एक जगह—समझ रहा हूँ—अपना ही दुःख लिए फिरता हूँ···और शुद्धि दूसरे के साथ दुःखी होने में नहीं है, दूसरों के लिए दुखी होने में है।'

'अज्ञेय' : शेखर : एक जीवनी (पृष्ठ ४२)

१. वही : (पृष्ठ ६९)

२. 'और मैं तुम्हारे साथ हूँ, शशि, तुम विवाह हो जाने दो, अपने भविष्य को किसी और के भविष्य में मिला दो—तब भी मेरी सारी शक्ति तुम्हारे साथ होगी कि तुम अपने चुने हुए मार्ग में अडिग रहो; और वैसा तुम नहीं करो, एक व्यक्ति पर अपने को मिटाने की बजाय समाज के विरोध से ही टक्कर लेना चाहो, तो भी मैं तुम्हारे साथ हूँ।'

वही : (पृष्ठ ७८)

३. वही : (पृष्ठ ७७)

पति के साथ रहने लगती है, पर शेखर को वह नही भुला पाती। बीच-बीच मे पति से उसकी चर्चा करती रहती है। शेखर का स्मरण ही उसे पति-गृह में अन्यमनस्क बनाये रहता है जो उसके पति को चिन्तित कर देता है। जब जेल से छूटने के बाद शेखर उससे मिलने पहुँचता है तो भी वह सहसा अपना यह अन्यमनस्क भाव नही काट पाती। 'अरे, तुम कैसे आ गए ?' और ठिठक गई। एक मुस्कराहट भी नही—चेहरे पर किसी तरह का कोई भाव नही झलका। पर क्या उन बडी-बडी खुली आँखो का स्निग्ध विस्मय और उस प्रश्न की सहज आत्मीयता झूठी थी ?'[१]

शशि पत्नी की मर्यादा के प्रति सचेत है इसलिए वह शेखर से यथासभव दूरी का व्यवहार करने की चेष्टा करती है किन्तु फिर भी उसके मन का असंतोष और शेखर के प्रति उसका अनन्य अनुराग झलक ही पडता है। वह शेखर के जेल-जीवन के सम्वन्ध मे सब कुछ जान लेने को उत्सुक है क्योकि वह शेखर के व्यक्तित्व का कोई भाग ऐसा नही रहने देना चाहती जिससे वह अपरिचित रहे। कभी वह यह जिज्ञासा करती है कि कही शेखर जेल जाकर अन्य बदियों की भाँति व्यक्तियो पर अविश्वास तो नही करने लगा है?[२] और कभी उसके भाव-लोक की वे अतरग बाते जानना चाहती है जिनमे वह अपना स्थान समझती है।[३] यह जानकर आन्तरिक सुख का अनुभव करती है कि शेखर अब भी उसके प्रति पूर्ववत् उन्मुख है। यह भाव उसमे साहस और आत्म-विश्वास भरता है। जब शेखर कहता है कि उसकी साहित्य रचना रुकी हुई है क्योकि वह यह नही समझ पाता कि किसके लिए लिखे, तब शेखर को प्रेरित करने के लिए वह सकोच त्याग कर पूछ बैठती है 'शेखर, क्या मेरे लिए लिख सकते हो ? ' 'मैने पूछा है, क्या मेरे लिख सकते हो ? मैंने नही सोचा था कि मुँह से कहना पड़ेगा, पर कहने मे भी कोई हर्ज नही है और सुनो, तुम जितना अच्छा लिखोगे, उतना ही बाहर से क्लेश पाओगे पर भीतर से तुम्हे शान्ति मिलेगी। मैं कहूँ तो यह बडी बात लगेगी, पर तुम्हारा प्रतीक उस शान्ति का ही नही, इस क्लेश का भी साझीदार हो सकता है।'[४]

---

१. 'अज्ञेय' : शेखर : एक जीवनी (पृष्ठ १०७)

२. 'बहुत से लोग जेल जाकर खट्टे हो जाते हैं—उनका किसी पर विश्वास नहीं रहता, तुम तो वैसे नहीं हो गये ?'
वही : (पृष्ठ ११०)

३. 'पर यह तो बाहर की घटना है। तुमने अपनी बात तो कुछ कही नहीं। मैं वह भी सुनना चाहती हूँ।'
'अरे मैं···शेखर सकुचा गया। शशि से कैसे उस अन्तरग जीवन की बात कहे जिसमें शशि की ही देन इतनी बड़ी थी।'
वही : (पृष्ठ ११३)

४. वही : (पृष्ठ १२४)

इस प्रकार शेखर के आन्तरिक सुख-दुख की साझीदार बनकर शशि उसके अत्यन्त निकट आ जाती है। शेखर उसको बहन को भाँति नही, प्रेयसी की भाँति पाता है। उसके सारे स्वप्न शशि मे आकर घुल जाते है।[1] और शशि उसके प्रेम को वरदान समझ कर ग्रहण करती है। अनचाहे विवाह को स्वीकार कर उसने अपने बाह्य जीवन की आहुति दे दी है किन्तु उसका अपना जो अतरग जीवन है, वह शेखर को ही समर्पित है

'तुमने जो दिया है, उसमे लज्जा नही है। वह वरदान है, यह मै भी बिना लज्जा के देखती हूँ। वरदान मे अस्वीकार का विकल्प नही है।'

' '

'विवाहिता हूँ। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दे दिया है, अपने को, इह का सकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है, मेरा नही है, उसकी ओर से मै कुछ नही कह सकती, न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर सकती हूँ, और न कुछ दे सकती हूँ'

'अपने को मिटा देने मे मैने कजूसी नही की—खुले हाथ से दिया—होम कर दिया, और देख लिया कि सब जल गया है—धूल हो गया है। यह नही सोचा कि धोखा खाया, मैंने स्पष्ट देखा था कि यही होगा।'

'पर तुममे मेरा वह जीवन है, जो मै हूँ, जो मेरा मै हूँ।'[2]

अपने इसी अनन्य प्रेम के बल पर शशि शेखर पर अपना अधिकार समझती है, उसके जीवन मे अपने को साझीदार समझती है। जब शेखर अपने मन की अस्वस्थता के कारण द्वार से ही खिसक जाने की सोचता है तो शशि अधिकारपूर्ण स्वर मे कहती है . 'मै कहती हूँ, तुम नही जाओगे' फिर उतने ही स्थिर किन्तु सर्वथा बदले हुए स्वर मे, 'मेरी तरफ देखो शेखर—मेरी आँखो की तरफ। क्या तुम मनमानी कर सकते हो—अकेले हो?'[3] शशि के इस विश्वास के सम्मुख विद्रोही शेखर भी परास्त हो जाता है। उसका सारा विद्रोह शशि मे ही आ जाता है।

वस्तुत शेखर के प्रति शशि का प्यार उसके मन की गहराई मे उतर चुका है। उस प्यार की शक्ति को शेखर पहचानता है। इसीलिए उसके लिए वह प्यार प्रेरणा का अक्षय स्रोत और जीवन के लिए वरदान सिद्ध होता है। उस प्यार को स्वीकार कर शेखर का व्यक्तित्व और भी ऊपर उठ जाता है। शशि का ध्यान उसे निरन्तर आगे बढने की प्रेरणा देता है। और शशि की भावना तो इतनी महत् और उदात्त है कि वह शेखर को बनाने मे स्वय मिट जाती है। वह अपने व्यक्तिगत सुख-दुख की उपेक्षा कर निरन्तर शेखर के भविष्य के प्रति चिन्ताशील रहती है।

---

१. 'अज्ञेय' : शेखर : एक जीवनी (पृष्ठ १६४-१६५)
२. वही : (पृष्ठ १६६)
३. वही : (पृष्ठ १६९)

पति से अपमानित, प्रताडित और परित्यक्त होकर वह शेखर के साथ रहने लगती है। पर जब देखती है कि उसके स्वास्थ्य और निर्वाह की समस्या शेखर को चिन्तित करती है तो वह फिर से पति के पास जाकर वही नारकीय यत्रणा सहने को प्रस्तुत हो जाती है। वह कहती है--'मेरी आत्मा उसमे नही मरेगी, शेखर ! मै वहाँ भी जी लूँगी, जी सकूँगी--क्योकि तुम्हे बचाती रहूँगी--तुम्हे बढाती रहूँगी। तुमसे दूर हटती हूँ, शेखर क्योकि पगु हो गई हूँ, इसलिए नही कि प्यार का अर्थ नही जानती। और मै लौटकर इसलिए जी सकूँगी कि माँ की तरह पाल सकूँगी--तुम नही जानते--तुम नही जानते कि यह विश्वास मेरे लिए कितना आवश्यक है--अब और भी अधिक ! जीवन वह कीडे का होगा, पर नारी अग्निकीट हो सकती है, जिसके पेट मे निरन्तर आग जलती है ''[1] पर शेखर को यह स्वीकार नही है 'तुम कही जाओगी नही, और हारोगी नही, और डरोगी नही।'[2]

इसके बाद शशि अपने व्यक्तित्व को सब ओर से समेटकर शेखर मे लीन हो जाती है। अपने अन्त के इन कुछ दिनो मे वह नई स्फूर्ति और तुष्टि का अनुभव करती है और शेखर को निरन्तर प्रगति की ओर प्रेरित करती रहती है। यही कारण है कि वह शेखर को बाँधकर रखने मे विश्वास नही करती। उसका निश्चित मत है कि शशि का भविष्य तो शेखर है किन्तु शेखर का भविष्य शशि से बहुत ऊपर है। उसका प्रेम तो केवल एक माध्यम है जिसके सहारे वह अपने उज्ज्वल भविष्य की खोज कर सकेगा। मरने के पूर्व शशि शेखर के नाम जो पत्र लिखकर छोड जाती है उससे उसके इसी निःस्वार्थ भाव की झलक मिलती है।

'तुमने मुझे जो दिया, वह मैने कृतज्ञ होकर स्वीकार किया--वर मान कर, अधिकार मान कर नही, यह कल्पना मैने नही की कि मै उसे सदा के लिए बाँध रखूँगी। तुम्हारी आवश्यकता मुझे है, क्योकि मेरा खण्डित व्यक्तित्व तुम्हारे द्वारा अभिव्यजना का मार्ग पाता है--तुम्हारे द्वारा, और तुम्हारे लिए मै जो स्वप्न देखती हूँ उनके द्वारा, किन्तु मै जानती हूँ, देखती हूँ, कि तुम खण्डित नही हो, और इसलिए मेरा निश्चय है कि जहाँ तक मेरा वश है, वह मेरा प्यार नही होगा जो तुम्हे बन्दी बनाने का यत्न करेगा शेखर, मेरा तुम पर अगाध स्नेह है, पर मै चाहती हूँ कि तुम जानो कि मैने तुम्हे बाँधा नही, बाँधती नही--न अब, जब मै हूँ, और न पीछे

'तुम्हारा अपना भविष्य है, शेखर, मेरा भविष्य तुम और केवल तुम थे। उस अपने भविष्य की खोज मे यदि '[3]

'नई इमारत' की प्रतिमा का प्रेमी सन् १९४२ के स्वतन्त्रता-सग्राम मे वीरगति को

---

१. 'अज्ञेय' : शेखर : एक जीवनी (पृष्ठ २२१)

२. वही : (पृष्ठ २२२)

३. वही : (पृष्ठ २४७)

प्राप्त होता है। यद्यपि उसके मरने के पूर्व प्रतिमा का उससे क्षणिक सम्बन्ध ही हो पाया था[1] तथापि वह अपने सम्पूर्ण मन से उसे प्रेम करने लगती है। उसे अपने प्रेम पर अटल विश्वास है। वह महमूद के पूछने पर कहती है, 'वे मुझे प्यार करते थे या नही यह सोचने का अभिशाप मुझे जीवन मे नही हुआ। मै उन्हे जितना चाहती थी उतना किसी लडकी ने किसी पुरुष को आज तक न चाहा होगा।'[2] इसी अनन्य प्रेम की पृष्ठभूमि मे जब उसका प्रेमी मरने के पूर्व उसे अपने छोडे हुए अधूरे कार्य को पूरा करने का, घर-परिवार, व्यक्तिगत सुख-दुःख का मोह छोडकर देश की आजादी की लडाई मे हँसते-हँसते बलि हो जाने का आदेश देता है[3] तो प्रतिमा अपने प्रेमी की मृत्यु का भीषण आघात सहकर भी अपने प्रेमी के आदेशानुसार अपने दुर्भाग्य पर रोने-बिलखने के बजाय उसके अधूरे कार्य को पूर्ण करने मे अपना शेष जीवन अर्पित कर देती है और स्वय प्रेमी की अनुगता की भाँति देश की आज़ादी के लिए बलि हो जाती है। इस प्रकार प्रतिमा अपने प्रेम की सत्यता प्रमाणित करती हुई एक आदर्श प्रेमिका का शाश्वत उदाहरण प्रस्तुत करती है।

प्रतिमा

'नई इमारत' की दूसरी पात्री आरती भी आदर्श प्रेमिका है। उसके प्रेम की लगन समाजगत रूढियो के बधन को पार कर जाती है। वह महमूद को प्यार करती है। महमूद भी उसे चाहता है। दोनो हृदय से एक दूसरे के हो जाना चाहते है।[4] किन्तु धर्म-भेद के कारण आरती के माँ-बाप इसे स्वीकार नही करते। वे नाना प्रकार से उसे समझाते रहते है। और जब आरती अपने प्रेम पर अडिग रहती है तब क्रुद्ध होकर उसका बाहर आना-जाना तक बन्द कर देते है। परन्तु नारी का सच्चा प्रेम हार नही मानता। वह

आरती

---

१. 'केवल एक क्षण का नाता था—केवल एक चुम्बन —एक स्फूर्तिभरे आलिंगन का नाता था। केवल एक बार मैं उनकी शहीद गोद मे बैठी थी···केवल एक बार उनके प्यासे होठों की पूजा में समर्पित हुई थी। बस भैया। मेरी कहानी दो लब्जो मे पोशीदा है।'
'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ ८-९)

२. वही : (पृष्ठ १९-२०)

३. 'तू एक काम करना। घर द्वार कुटुम्ब परिवार—समस्त सुख सौख्य सृजन का मोह छोड़ कर विप्लव यज्ञ की ज्वाला जलाना···तेरा तन अब तेरा नहीं, मेरा है। मेरा आदेश है तू उसे कभी देश की आजादी की लड़ाई से बढ़कर न मानना।'
वही : (पृष्ठ १७)

४. आरती—'आप ले चलेंगे तो चलूँगी। आप जहाँ ले चलेंगे चलूँगी।'···
महमूद—'और मैं वहाँ तुम्हारी एक झलक के लिए —शबे माहताब जैसी एक-

महमूद से कहती है 'मुझे कुछ नही चाहिए। मैं तुम्हे चाहती हूँ। तुम्हे पाकर मुझे, कुछ भी पाना शेष नही रह जाता तुम्हे छोडना चाहूँ, छोड नही सकती। लगता है तुम्हे पाकर दो चार जीवन समूचे और सफल हो जाएँगे[१]

अन्त मे अपने प्रेम की पूर्ति का और कोई उपाय न देखकर, वैभव-विलास की गोद मे पली आरती सारे सुख-वैभव को तृणवत् त्यागकर अपने परिवार से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती है और पिता से साहसपूर्वक कहती है 'आप ऐसी बात न करे। आप मेरे पिता हैं—मेरे दिली जज़बातो पर रहम करे। मै किसी सरकारी नौकर से शादी न करूँगी, अगर शादी करूँगी तो महमूद के साथ। वर्ना मुझे अपने रास्ते जाने दे। आपके क्या ससार के अब रोके न रुकूँगी। मेरा नारीत्व ही स्वीकार न करेगा।'[२]

फिर भी आरती का प्रेम अन्धा नही है। वह महमूद को बराबर अपने कर्तव्य-पथ पर चलते रहने की प्रेरणा देती है। आवश्यकता पड़ने पर वह स्वय भी उसका साथ देने को तैयार है। उसे गर्व है कि महमूद देश की स्वतन्त्रता के लिए प्राणपण से उद्योग कर रहा है। वह महमूद की बहिन शमीम से कहती है, 'महमूद से कह देना मेरी चिन्ता न करे। उन्हे जो करना है—जिन्दगी और मौत की जो हलचल है उसे देखे, समझे। मै रहूँगी, उनकी रहूँगी। मेरा तन, मन आत्मा सब उनके लिए महफ़ूज़ रहेगा।'[३]

'उनसे कह देना बाजी। जीवन मे जब सब भूलने लगे, तब भी मेरी याद का अभिशाप उन्हे क्रान्ति की गति—विद्रोह की प्रलय लहरी—पराजित देश की वेदना और बिखरी प्रतिज्ञाएँ भूलने न दे। कह देना—वे जिस क्षण जहाँ चाहेगे मैं अपना अभिशप्त रूप और अनियत्रणीय यौवन—गर्म रक्त से रंजित आह्लाद और पीडा लिए पहुँच जाऊँगी। कोई ताकत मुझे उनकी पुकार पर मिट जाने से रोक नही सकती।'[४]

और अन्त मे महमूद के सुख-दुख मे साथ देने के लिए, उसकी सच्ची जीवन-सगिनी बनने के लिए वह सारी चिन्ताएँ छोडकर उसके साथ कधे से कधा मिलाकर कर्मक्षेत्र मे रत हो जाती है।

एक दूधिया चितवन के लिए—तुम्हारी एक-एक कपूरी मुस्कान के लिए—तुम्हारी चूड़ियों की एक-एक गीत-भरी झकार के लिए। मेरी ओर देखो। मेरे तरसने की सीमा है।'

'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ ३५-३६)

१. वही : (पृष्ठ ३८)
२. वही : (पृष्ठ ७८)
३. वही : (पृष्ठ ११८)
४. वही : (पृष्ठ १२०)

'सोहिनी' की सोहिनी असित को इतना उत्कट प्रेम करती है कि उसकी प्रेरणा पाकर वह अपने जीवन-क्रम को ही बदल देती है। वह स्वदेशी आन्दोलन मे भाग लेती है और अपनी समस्त धन-सम्पत्ति भी देश को अर्पित कर देती है।

सोहिनी

बाद मे उसे निर्धन और क्षयग्रस्त होकर भाँति-भाँति के अपमान और तिरस्कार सहने पडते है किन्तु वह असित को नही भूल पाती। उधर असित राजनीति से विरत होकर विदेश जाकर उन्माद-चिकित्सा का विशेषज्ञ बनकर डाक्टर के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है और रोगियो की चिकित्सा द्वारा देश-सेवा करता है। जब सोहिनी को इसका पता चलता है तो वह असित के मार्ग की बाधा बन जाने के भय से पुरुष वेश धारण कर उसके दर्शन करने जाती है। किन्तु प्रेम-जनित असावधानी के कारण असित उसे पहिचान लेता है। सोहिनी अपने मन मे असित को वर लेती है और हर प्रकार से उसकी सहायता करती है। किन्तु क्षय-रोग की रोगिणी होने के कारण वह अपने प्रेमी की भलाई के लिए अपने आपको उससे दूर रखती है। एक दिन रसायनशाला मे असित की मृत्यु हो जाती है। सोहिनी का प्रेम इतना सच्चा और अटल है कि वह सती सावित्री की भाँति असित का सिर अपनी गोद मे लेकर बैठ जाती है उन्हे पुनर्जीवित करने की आशा मे। 'मै कहती हूँ एक दिन यह उठेगे। उठना इन्हे पडेगा ही। ...क्या आज मै अपनी इच्छा-शक्ति से अपने पति के रुद्ध-प्राय हृदय की गति पूर्ण नही कर सकती हूँ ?'

अपने दोनो हाथो को असित के हृदय पर रखकर सोहिनी मुँह पर दृष्टि गडाए शान्त होकर बैठ गई। वह वैसी ही बैठी रह गई। बैठी रही। अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर पति के हृदय को गतिसम्पन्न करेगी।"[1]

१: उषादेवी मित्रा : 'सोहिनी' (अन्तिम पृष्ठ)

अध्याय ८

ऐतिहासिक उपन्यासों में नारी-चित्रण

प्रेमचन्द-पूर्व

हिन्दी के प्रारम्भिक ऐतिहासिक उपन्यासो मे यद्यपि चरित्र-चित्रण की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है, तथापि नारियो को सदाचार एव कर्तव्य-पालन की शिक्षा देने के उद्देश्य से नारी-पात्रो मे उन गुणो का समावेश किया गया है जिनको इस काल के लेखक आवश्यक एव वाछनीय समझते थे। इनमे से अधिकाश की दृष्टि आर्य सस्कृति की पुन प्रतिष्ठा और हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान पर थी, इसीलिए इस काल मे प्राचीन आर्य सती-नारियो और मध्ययुगीन वीर-बालाओ के त्याग-उत्सर्गमय जीवन का परिचय विशेष रूप से दिया गया। नारी पतिव्रता बने, सुगृहिणी बने, वीर और निर्भीक बने, इसी उद्देश्य से इस काल मे सती सावित्री, सीता, अनसूया, सुभद्रा, सीमन्तिनी, मदालसा, बेहुला, द्रौपदी, चन्द्रलेखा आदि के पौराणिक आख्यान और 'वीरागना', 'वीरबाला', 'वीर पत्नी', 'लवंगलता', 'पानीपत', 'वीरमणि', 'रानी दुर्गावती' आदि मे मध्ययुगीन वीर-बालाओ के शौर्य-वृतान्त उपन्यास के रूप मे प्रस्तुत किये गए है। इनमे से अधिकाश उपन्यासो की दृष्टि मे साम्प्रदायिक भावना का पुट है। अनेक उपन्यासो मे मुसलमानो के अत्याचार और उनके प्रतिकार की कहानी है। कही-कही लेखक इस बात के लिए अग्रेज़ो की प्रशसा तक करता पाया जाता है कि उन्होने मुसलमानो को पराभूत कर दिया है—

इन उपन्यासो मे मुख्यत नारी के तीन रूप लक्षित होते है

(१) वीरागना नारी।

(२) प्रेममयी और लज्जामयी नारी।

(३) उच्छृखल नारी।

किशोरीलाल गोस्वामी ने 'हृदयहारिणी' और 'लवगलता' द्वारा हिन्दू नारी समाज के सम्मुख ऐसी दो ललनाओ का उदाहरण उपस्थित किया जो अपने पातिव्रत एव अपने धर्म की रक्षा के निमित्त मुसलमानो के अत्याचारो का विरोध करने मे अपने प्राणो पर खेल जाती है। लवगलता अपने आपको सिराजुद्दौला के चगुल से बचाने मे सफल होती है। बलदेवप्रसाद मिश्र के 'पानीपत' मे महाराष्ट्र के वीरो की ऐतिहासिक कहानी है। इसमे नारी का सग्राम-भूमि मे अवतरित होना, गोपिकाबाई का अपने पति को भाऊ के सम्बन्ध मे ऊँच-नीच समझाना, पति को युद्ध के लिए प्रोत्साहित कर सुमज्जित करना और फिर अन्त मे स्वय सती होना चित्रित है। जब दत्ता जी की मृत्यु के अवसर पर मल्हारराव

अत्यन्त दुखी है तब गोपिकाबाई अपने पति को ललकार कर कहती है 'यदि दत्ताजी के लिए सहानुभूति है तो तलवार हाथ मे लेकर शत्रुओ का सहार करो।'[१]

इस प्रकार प्रेमचन्द-पूर्व के ऐतिहासिक उपन्यासो मे एक ओर नारी हाथ मे तलवार लेकर रणचडी बन जाती है तो दूसरी ओर प्रेममयी और लज्जामयी भी दृष्टिगोचर होती है। बलवन्तराव की पत्नी लक्ष्मीबाई पुरुष और नारी के कर्तव्यो को सुस्पष्ट करती हुई कहती है: 'वीरो के लिए सग्रामभूमि ही आनन्द-भवन है। अबला जाति का जीवन सब भाँति पुरुष के भरोसे पर है। प्रेम ही हमारा ससार समझा जाता है और उसका अधिपति स्वामी है जीवनेश्वर। मेरा लोक-परलोक तो सब तुममे ही है।'[२] 'महेन्द्र मोहिनी'[३] मे मोहिनी महेन्द्र की वीरता पर उसी प्रकार मोहित है जिस प्रकार सयोगिता पृथ्वीराज की वीरता पर मुग्ध थी। जब दुर्जनशील नाम के शराबी एव नीच व्यक्ति से मोहिनी का विवाह-सम्बन्ध पक्का हो जाता है तो वह ग्लानिवश आत्महत्या करने का तो प्रयास करती है, किन्तु लज्जा के कारण पिता से अपनी अनिच्छा प्रकट नही कर पाती। महेन्द्र के प्रति उसकी आसक्ति इतनी तीव्र है कि महेन्द्र को अपने भाई को मृत्यु का कारण जानकर भी उसके प्रेम मे किसी प्रकार की कमी नही आती, प्रत्युत कहती है 'जीवनेश! मैं आपकी दासी हूँ। आपने जो कुछ किया उसकी भागिनी मै हूँ।'[४] सती सीता की भाँति महेन्द्र के राज्य-निष्कासन के अवसर पर वह उसके साथ जाने को प्रस्तुत हो जाती है।

इन आदर्श नारियो के विपरीत इस युग के ऐतिहासिक उपन्यासो मे ऐसे भी कुछ उदाहरण मिलते है जहाँ नारी ने अपने प्रेम के साथ खिलवाड किया है। किशोरीलाल गोस्वामी लिखित 'तारा' उपन्यास मे नायिका तारा अपने कामुक प्रेमियो को छकाने और छिपकर उनकी प्रेमोक्तियो मे आनन्द लेने की जो उत्सुकता दिखाती है, वह राजपूत रमणी के आदर्शो के विपरीत पडता है। इस प्रकार के चरित्र-चित्रण पर तत्कालीन तिलिस्मी उपन्यासो का प्रभाव स्पष्ट है।

यह दुख का विषय है कि तत्कालीन बगला साहित्य मे अच्छे ऐतिहासिक उपन्यास होते हुए भी इस युग मे हिन्दी मे कोई अच्छा ऐतिहासिक उपन्यास नही लिखा गया। गोस्वामी जी आदि उपन्यासकारो ने जो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे, उनमे दो-चार ऐतिहासिक पात्रो के नामो के अतिरिक्त कुछ भी ऐतिहासिकता नही होती थी। ऐतिहासिक उपन्यासो के अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न बकिमचन्द्र और राखाल वन्द्योपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यासो के हिन्दी अनुवादो द्वारा किया गया। हिन्दी के पाठक ने इन अनुवादों का अच्छा स्वागत किया। 'दुर्गेशनन्दिनी', 'चद्रशेखर', 'देवी चौधुरानी',

---

१: बलदेवप्रसाद मिश्र : 'पानीपत' (पृष्ठ १७१)
२. वही : (पृष्ठ ३०६)
३. बालकृष्ण दामोदर शास्त्री लिखित 'महेन्द्र : मोहिनी'
४. वही : (पृष्ठ २१७)

'आनन्द मठ' आज भी लोगो को प्रिय हैं। इन उपन्यासो की भाँति हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे न तो ऐतिहासिक कल्पना एव राष्ट्र-भावना का ऊँचा आदर्श परिलक्षित होता है और न मानवीय कोमल प्रवृत्तियो का उत्कर्ष।

प्रेमचन्द-काल

प्रेमचन्द का युग हिन्दी मे उपन्यास की प्रतिष्ठा का युग है। पुष्ट कथा वस्तु, स्वाभाविक चरित्र-चित्रण और नवीन जीवन के अनुरूप आदर्शोन्मुख समाज-दर्शन इस युग को अभूतपूर्व गौरव से मडित करता है। ऐतिहासिक उपन्यासो के क्षेत्र मे यह वृन्दावनलाल वर्मा का युग है। हिन्दी साहित्य को उनके रूप मे पहली बार सच्चे ऐतिहासिक उपन्यासकार के दर्शन हुए जब उनका 'गढ कुडार' (१९२८) प्रकाशित हुआ। इसके बाद अपने अथक अध्ययन और श्लाघनीय लगन से उन्होने एक-एक कर 'विराटा की पद्मिनी' (१९३६), 'मुसाहिबजू' (१९४६), 'झाँसी की रानी' (१९४६), 'कचनार' (१९४८) और 'मृगनयनी' (१९५०) जैसे सफल ऐतिहासिक उपन्यास हमे दिये। उनकी लेखनी आज भी अविराम गति से रचना कर रही है। यद्यपि उनका कृतित्व प्रेमचन्द युग की अपेक्षा प्रेमचन्दोत्तर काल मे ही अधिक प्रकाशित हुआ है, पर सर्व-श्रेष्ठ और सर्व-प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार होने के नाते प्रेमचन्द-युग मे ही वे प्रतिष्ठित हो चुके थे। इसलिए हम उनके सभी उपन्यासो की एकत्र चर्चा करना ही उचित समझते है। वस्तुत ऐतिहासिक उपन्यासो का विचार रचना-काल से भी अधिक लेखक के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है, इसलिए हम काल-क्रम की अपेक्षा लेखक-क्रम से उनकी विवेचना करेगे।

वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे मध्य-युगीन बुदेलखण्ड का जीवन चित्रित हुआ है। 'गढ कुडार' की कथा चौदहवी शताब्दी की है और 'झाँसी की रानी' की कथा उन्नीसवी शताब्दी की। उनके उपन्यास इन्ही पाँच शताब्दियो को अपने पृष्ठो मे समेटे हुए है। यह काल बुदेलखण्ड के गौरव का भी काल रहा है और पतन का भी। बाहरी आक्रमणो का निरन्तर भय, छोटे-छोटे राज्यो की प्रतिद्वन्द्विता और कूटनीति, एव शासक-वर्ग की भोग-लिप्सा के कारण जन-जीवन त्रस्त, अनिश्चित और नैराश्यपूर्ण रहा। किन्तु बीच-बीच मे साहस, शौर्य, शक्ति, सकल्प और उदात्त भावनाओ से युक्त पुरुष और नारियो के व्यक्तित्व ने उसे यश और आशा का प्रकाश भी निरन्तर दिया है। आशा-निराशा, सत्-असत् और आदर्श एव अधम चरित्रो का यह रगीन ससार वर्मा जी की प्रभावकारी लेखनी से जीवन्त हो उठा है। यही कारण है कि उनके नारी पात्रो मे भी हम गुण-अवगुण दोनो का स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण पाते है। सामन्तीय जीवन का शायद ही कोई ऐसा पहलू हो जो वर्मा जी की सूक्ष्म दृष्टि से बचा हो। रनिवास और ऊँचे-ऊँचे महलो मे बन्द नारियो से ले कर गाँव की भोली नारियाँ, नीच कहलाने वाली जातियो की कर्मठ नारियो तक से उन्होने अपने पात्र लिए है, और प्रत्येक को उसके स्वभाव एव परिस्थिति के अनुकूल सजी-

वर्मा

बता दी है। इसी प्रकार लक्ष्मीबाई और मृगनयनी जैसी आदर्श नारियो और सुमन-मोहिनी और पिल्ली जैसी कर्तव्य-च्युत नारियो—सब को वर्मा जी ने कुशलता और उदारतापूर्वक चित्रित किया है। और यह उनकी स्वस्थ राष्ट्रीयता का ही प्रमाण है कि उन्होने राजन्य वर्ग की नारी की अपेक्षा साधारण नारी को अधिक गुणो से विभूषित किया है, केवल लक्ष्मीबाई ही इसका अपवाद है।

यद्यपि ऐतिहासिक उपन्यासो मे काल-विशेष का चित्रण ही प्रधान लक्ष्य होता है तथापि उसकी कथावस्तु के चयन और चरित्रो के विकास मे युग का प्रभाव भी अनिवार्य रूप से पडता है। वर्मा जी का बुदेलखण्ड की भूमि और परम्परा से अत्यन्त घनिष्ठ परिचय होने के कारण उनके उपन्यासो की परिधि अनायास ही निर्धारित हो गई थी, फिर भी परोक्ष रूप से उनमे युग की समस्याओ और आवश्यकताओ की झलक भी मिलती है। इस युग मे सामाजिक रूढियो से मुक्त कर नारी को समर्थ और शिक्षित बनाने की ओर लेखको का विशेष रूप से ध्यान गया था। स्वच्छन्द प्रेम, अन्तर्जातीय विवाह, राष्ट्र के लिए त्याग एव बलिदान पर लेखको की विशिष्ट दृष्टि थी। वर्मा जी के उपन्यासो मे भी हम प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इन्ही प्रवृत्तियो को पाते है। नारी-प्रेम की समस्या तो प्राय प्रत्येक उपन्यास मे मिलती है। उसके माध्यम से एक ओर वर्मा जी ने अतीत का बडा आकर्षक और रोमाण्टिक चित्र उपस्थित किया है, दूसरी ओर सामाजिक सुधार और नवीन आदर्शो की स्थापना पर भी जोर दिया है। मुक्त, निर्मल और निर्भीक प्रेम उन नारी-चरित्रो की सामान्य विशेषता है। दो-एक अपवादो को छोडकर उनकी सभी प्रेयसियाँ प्रेम के लिए कठिन-से-कठिन दु ख सहने को तैयार मिलती है, और सच्चे प्रेम के सामने कुल के मिथ्या दभ अथवा सामाजिक रूढियो को तिलाजलि देने मे नही हिचकती। उनका प्रेम उथला या अस्थायी नही , इसीलिए वह उनमे साहस, वीरता, सदाचार, त्याग और कर्तव्यपरायणता की भावना का सचार करता है।

'गढ कुडार', 'विराटा की पद्मिनी' और 'कचनार' प्रधान रूप से और 'मृगनयनी' मे भी महत्त्वपूर्ण रूप से नारी के प्रेम का चित्रण है। इनके पात्रो के माध्यम से नारी-प्रेम के प्राय सभी रूप मिल जाते है। 'गढ कुडार' की मानवती और 'कचनार' की कचनार राजकुल की प्रेमिकाएँ है तो 'विराटा की पद्मिनी' की कुमुद, 'कचनार' की कचनार और 'मृगनयनी' की लाखीरानी लोक-वर्ग की। 'गढ कुडार' की तारा को हम मध्यवर्ग की प्रेमिका कह सकते है। इनके प्रेम मे इसीलिए इनकी वर्ग-गत विशेषताओ का प्रभाव हम किसी न किसी रूप मे अवश्य पाते है। मानवती प्रेम करते हुए भी वर्णाश्रम धर्म की रूढि मे बँधी साहसहीन आचरण कर अपने जीवन को असफल बना लेती है, जब कि लाखारानी (लाखी) वर्णाश्रम धर्म की रत्ती भर परवाह न कर अपने प्रेम के प्रति दृढ रहती है, और अपना तथा अपने प्रेमी का जीवन सार्थक करती है। कलावती विवाह के क्षण से ही अपने देवर मानसिंह के प्रति आकर्षित होकर अत मे उसकी परिणीता भी बन जाती है, जब कि कुमुद अपने देवी-स्वरूप के प्रति निष्ठा रखने के कारण कुजर के प्रति

आकर्षित होते हुए भी अत तक सयम और सात्विकता का निर्वाह करती है। तारा और कचनार दोनो अनन्य प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

'गढ कुडार' और 'मृगनयनी' दोनो उपन्यासो मे जातीय दभ अथवा धार्मिक रूढि और प्रेम की टकराहट दिखाई गई है, यद्यपि परिणाम की दृष्टि से दोनो दो विरोधी छोरो पर है। 'गढ कुडार' मे तीन नारी पात्र है, और इन तीनो की भी स्थिति अलग-अलग है। पर इस एक बात मे उनमे समानता है कि इनमे से किसी का भी प्रेम-विवाह समाज और धर्म की रूढियो को स्वीकार कर लेने पर सभव नही बचता। यह असमर्थता इस सामन्तीय जीवन को एक तीव्रता प्रदान कर देती है।

बुन्देले राजा सोहनपाल की पुत्री हेमवती के रूप की ख्याति सुनकर खगार राजपुत्र नागदेव उसके दर्शन को हरिचदेल की गढी पहुँचता है। वहाँ पहुँचते ही उसे चन्देलो की ओर से मुसलमानो के विरुद्ध युद्ध छेडना पडता है। उसकी वीरता से प्रसन्न होकर हरिचदेल घायल नागदेव को अपनी गढी मे ले जाता है, और अन्त पुर मे उसकी सेवा-सुश्रूषा होने लगती है। वही उसे हेमवती की एक झलक देखने को मिलती है। वह रीझ उठता है। 'कोमल अग है, उछलती हुई बडी आँखे है, गरवीली ठोडी है, सीधी नाक है।' हेमवती के प्रति अपनी इस आसक्ति के कारण ही वह राजा सोहनपाल को कुडार ले आता है, और हेमवती के हृदय मे स्थान पाना चाहता है। जब वह और कोई उपाय न देख प्रत्यक्ष प्रणय निवेदन करता है तो हेमवती अपने जातीय अभिमान के कारण उसका तिरस्कार कर देती है 'यदि आप यहाँ से नही जाते तो मै जाती हूँ। बुन्देला-कन्या न ऐसी भाषा सुन सकती है और न सह सकती है। और खगार राजा होने पर भी बुन्देला-कन्या का अपमान करने की शक्ति नही रखता।' नागदेव इसके बाद हेमवती का अपहरण करने की भी योजना बनाता है, पर उसकी कोई युक्ति सफल नही होती।

नागदेव की बहन मानवती और अग्निदत्त की प्रेम-कथा इससे भिन्न है। अग्निदत्त और नागदेव मित्र है, अग्निदत्त ब्राह्मण है, नागदेव क्षत्रिय। दोनो मे भाईचारा है। मानवती भी अग्निदत्त के प्रति आकर्षित है। पर वर्णाश्रम धर्म का बधन आडे आ जाता है। मानवती की सगाई उसी के वर्ण के एक व्यक्ति के साथ हो जाती है। अग्निदत्त को जब यह सूचना मिलती है, तो वह पागल हो उठता है। वह मानवती के पास जाकर कही भाग जाने का प्रस्ताव करता है। पर मानवती दुर्बल है, समाज की रूढि को तोडना उसे अपने वश से बाहर की बात लगती है। अग्निदत्त को निराश लौट आना पडता है। मानवती के विवाह के दिन अग्निदत्त नारी-वेश मे मानवती के पास पहुँचता है, और उसका अपहरण करने की सोचता है। तभी वहाँ नागदेव आ जाता है और अग्निदत्त को पहचान लेता है। रहस्य प्रकट हो जाता है। नागदेव अपने कुल और जाति के दभ मे अग्निदत्त का अपमान कर उसे राज्य से निकाल देता है : 'इसी समय कुडार छोडकर किसी नरक मे जा डूब।' क्रुद्ध होकर अग्निदत्त प्रतिशोध लेने की सोचता है, और बुन्देलो से मिलकर खगारो पर आक्रमण कर देता है। भीषण रक्तपात और मार-काट मे दोनो पक्ष के अनेक व्यक्ति काम

आ जाते है। जब बुन्देले सैनिक गर्भवती मानवती को, जो प्रसव-वेदना मे कराह रही है, मार डालना चाहते है, तब अग्निदत्त को अपनी भूल मालूम पडती है। वह अपने प्रेम का स्मरण कर मानवती की रक्षा करते-करते अपने प्राण गँवा देता है।

'गढ कुण्डार' मे अग्निदत्त की बहन तारा का प्रणय-प्रसग इन दोनो से ऊँचे धरातल पर है। तारा ब्राह्मण है, दिवाकर कायस्थ, पर दोनो एक दूसरे के प्रति समान रूप से आकर्षित है। यद्यपि जातिगत रूढियो के कारण वे विवाह-बधन मे नही बँध पाते, पर उनका प्रेम अदम्य है, और वे जीवन भर एक दूसरे का साथ नही छोडते। दिवाकर का प्रेम नागदेव अथवा अग्निदत्त जैसा वासना-जनित प्रेम नही है। वह अत करण से तारा की पूजा करता है। जब सर्प के काट लेने पर तारा की जान पर बन आती है तब दिवाकर ही विष चूसकर उसकी प्राण रक्षा करता है।[1] इसी प्रकार तारा भी दिवाकर को बन्दीगृह से छुडाने मे अपने प्राणो पर खेल जाती है।[2] लेखक ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक दोनो की आत्माओ के सयोग के चित्र खीचे है। युद्ध की विभीषिका से खिन्न होकर उनके प्रेम मे विराग का समावेश होता है। वे इस सामन्तीय समाज के क्षुद्र चौखटे से निकलकर अनजानी डगर पर चल देते है। इस प्रकार तारा और दिवाकर का आदर्श प्रेम रूढि और भोले अन्धविश्वास की वेदी पर बलि हो जाता है। अपनी असमर्थता मे भी अपनी अनन्यता को अक्षुण्य रखकर वे इस प्रेम प्रसग को तीव्र बना देते है।

प्रेम का यह बलिदान कदाचित् लेखक को भी सोचने पर बाध्य कर देता है। हम कह सकते है कि दिवाकर की योग-साधना विफल नही जाती। लगभग बीस वर्ष बाद जब 'झाँसी की रानी' और 'मृगनयनी' की रचना होती है तब लेखक इस सम्बन्ध मे अपने विचारो को आत्म-मथन द्वारा और भी स्पष्ट एव तर्कयुक्त बना चुका है। इनमे दो प्रेम-प्रसग ऐसे चित्रित हुए है जहाँ रूढिवादी समाज के अधे नियमो के प्रति स्पष्ट विद्रोह मिलता है। 'झाँसी की रानी' मे उस विद्रोह की एक झलक मात्र है, क्योकि उपन्यास का मुख्य स्वरूप कुछ और ही है। पर 'मृगनयनी' मे उस विद्रोह का चरम प्रकाश है। मानो 'गढ कुडार' मे वर्मा जी ने जो समस्या उठाई थी, उसी का समाधान 'मृगनयनी' मे दे दिया है। यह भी लक्ष करने की बात है कि इस विद्रोह के आधार लोक-वर्ग के चरित्र है जो सामन्तीय व्यवस्था के प्रति कोई मोह-भाव नही रखते।

'झाँसी की रानी' मे इस विद्रोह के माध्यम नारायण शास्त्री और छोटी भगिन है। दोनो एक दूसरे पर आसक्त है। पर उनका प्रणय व्यापार समाज की आँखो से छिपा रहता है, विवाह का तो प्रश्न ही नही उठता। जब जनेऊ के सवाल को लेकर कुछ छोटी जाति के लोगो के समर्थन मे नारायण शास्त्री शास्त्रोक्तियो से अपने पक्ष की पुष्टि करने लगते है तभी कट्टरपथी उनके इस प्रणय-व्यापार का भडाफोड कर उनकी बदनामी करते

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'गढ़-कुण्डार' (पृष्ठ २९०)

२. वही : (पृष्ठ ४९८-५०१)

है। छोटी रूप मे अद्वितीय है, पद्मिनी है। ऊँची जाति के अनेक लोग उससे लुक-छिप कर काम-निवेदन करते रहते है। पर छोटी नारायण शास्त्री को अपना हृदय दे चुकी है। जब बात खुल जाती है तो एक ओर छोटी की जाति वाले उसको जाति-बाहर करना चाहते है, दूसरी ओर कट्टर पथी लोग नारायण शास्त्री की शिकायत राजा गगाधर राव से कर देते है। मामला राजसभा मे पेश होता है। नारायण शास्त्री शुरू मे तो हिचकिचाते है, पर फिर राजा के सामने साहस से अपना अपराध स्वीकार कर लेते है ताकि छोटी को कोई दण्ड न सहना पडे। इधर छोटी नारायण शास्त्री को बचाने के लिए सारा अपराध अपने सिर ले लेती है। एक दूसरे के प्रति सच्ची कामना का यह अत्यन मार्मिक उदाहरण है। अत मे राजा दोनो को देश-निकाले की सजा देता है। दोनो इसे सहर्ष स्वीकार करते है और झाँसी छोडकर चले जाते है।

यद्यपि पूरे उपन्यास मे यह छोटा-सा प्रकरण गौण और आनुषगिक ही है, तथापि वर्णाश्रम रूढियो के विरुद्ध साहमपूर्ण चुनौती उसमे झलक ही उठनी है। 'गढ कुडार' से यह एक कदम आगे है, जहाँ दोनो पात्र समाज से डरते-छिपते अवश्य है, पर अन्त मे वस्तुस्थिति का सामना करने के लिए कमर कस लेते है। सक्षेप के कारण यह प्रेम प्रमग न तो पूर्ण रूप से विकसित ही हुआ है, न उसका कोई व्यापक प्रभाव ही दिखाया गया है।

'मृगनयनी' मे यह कमी पूरी हो जाती है। मृगनयनी और अटल भाई-बहिन हैं, जाति के गूजर है, सोक नदी के किनारे राई नामक गाँव के निवासी है। दोनो युवा है और परिवार मे अन्य कोई सदस्य न होने के कारण दोनो साथ-साथ परिश्रम कर अपना जीवन-निर्वाह करते है। सिकन्दर लोदी के आक्रमण की बाढ उतर जाने पर जब गाँव फिर बस जाता है, तब एक लडकी अपनी बुढिया माँ के साथ किसी आसपास के गाँव से आकर वही बस जाती है यह लाखी है, जाति की अहीर। धीरे-धीरे निन्नी (मृगनयनी) और लाखी (लाखी रानी) मे मैत्री हो जाती है। दोनो अल्हड हैं, हँसमुख है, समवयस्क है और भावुक है।

अनायास ही लाखी और अटल मे आकर्षण उत्पन्न हो जाता है, जो धीरे-धीरे गम्भीर और सच्चे प्रेम का रूप धारण कर लेता है निन्नी लाखी को पमन्द करती है, इसलिए वह इस प्रेम को निरन्तर प्रोत्साहित करती है। लेखक ने इम प्रेम का निकास अत्यन्त कौशल से चित्रित किया है। अत्यत धीर गति से अनेक परिस्थितियो के सघटन से वह अपने उत्कर्ष तक पहुँचता है।

होते-होते गाँव वालो मे इस सम्बन्ध को लेकर कानाफसी शुरू हो जाती है। झूठी-सच्ची बाते फैलने लगती है माण्डू के सुलतान की ओर से मृगनयनी और लाखी के अपहरण के लिए नटो का दल और अश्वारोही सैनिको के आने से स्थिति और भी जटिल हो जाती है। गाँव वाले चाहते है कि ये तीनो कही और चले जाएँ तो सारे गाँव की रक्षा हो जाय। तभी ग्वालियर-राज मानसिह गाँव मे आते है, मृगनयनी पर मुग्ध होकर उससे

विवाह कर लेते है और अटल को आशा बधती है कि शायद बोधन-शास्त्री उनके विवाह के लिए तैयार हो जाएँ। पर शास्त्री किसी प्रकार राजी नही होता। अटल के तर्क करने पर स्पष्ट कह देता है कि राजा की बात और है, साधारण जन शास्त्र की व्यवस्था के विरुद्ध नही जा सकते। वह हुक्का-पानी बन्द करा देने का भी डर दिखाता है।

विरोध पाकर अटल का रूप और भी प्रखर हो जाता है। वह समाज की उपेक्षा कर स्वय ही लाखी से अपना विवाह कर लेता है।

इसी क्षण से उनका सम्मिलित प्रेम-जीवन शुरू हो जाता है, और आजीवन निष्कम्प और अकुण्ठित बना रहता है। गॉव त्यागकर वे नटो के साथ नरवर की ओर चले जाते है। वे इस रहस्य से अनभिज्ञ है कि नट लाखी को सुल्तान के पास ले जाने के लिए षड्-यत्र रच रहे है। पिल्ली अपने रूप के कुत्सित प्रदर्शन से अटल को लाखी से अलग करना चाहती है, पर अटल घृणा ही देता रहता है। लाखी को महलो के रगीन सपने देकर फुसलाया जाता है। लाखी प्रकट रूप से सहमत-सी जान पडती है पर अवसर पाकर नटो का नाश कर अपने अटल प्रेम का परिचय देती है। उसकी वीरता और सावधानी से नरवर की रक्षा होती है, और राजा मानसिह प्रसन्न होकर उन्हे अपने साथ ग्वालियर ले जाता है। मृगनयनी और लाखी का फिर मिलन होता है। अटल को राई की गढी का शासक बना दिया जाता है, और लाखी उसकी रक्षा करने मे अपने जीवन की आहुति दे देती है। लाखी का प्रेम, आत्माभिमान, साहस और शौर्य सब अलौकिक है।

पर जहाँ भी वे जाते है, अटल और लाखी का रूढि-विरोधी विवाह चर्चा और टीका का विषय बन जाता है। लाखी को इससे गहरी यत्रणा मिलती है। यद्यपि मृगनयनी के आग्रह पर मानसिह उनका विधिवत् विवाह भी करा देते है, पर फिर भी इन चर्चाओ का अन्त नही होता। लाखी की यह वेदना उसके अन्तिम शब्दो मे बडी मर्मस्पर्शी बन जाती है जब वह अपने बाद अटल से स्वजातीय विवाह कर लेने की भीख माँगती है

'यह क्या हो गया।' फफकते हुए गले से अटल ने कहा।

'कुछ नही। एक भीख माँगती हूँ। दे दो।' लाखी के टूटते स्वरो मे निकला।

अटल ने हाथ जोडे।

'छिः! यह क्या!!' लाखी के रक्त-रजित होठो मे से एक पतली-सी मुस्कान फूटकर विलीन हो गई।

अटल ने हाथ नीचे कर लिए।

और भी टूटे स्वर मे वह बोली, 'ब्याह कर लेना। अपनी जात पाँत मे '[१]

लाखी की यह चेतना जितनी स्वाभाविक है, उतनी ही स्वाभाविक समाज की निन्दा भी है। लेखक ने ऐसा चित्रण कर वर्णित युग के साथ न्याय किया है। यदि समाज उनके इस विवाह को स्वीकार करता दिखाया जाता तो वह अनैतिहासिकता का दोष ही बनता।

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'मृगनयनी' (पृष्ठ ४६६)

वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे नारी प्रेम के जो अन्य रूप मिलते हैं, उनमे इतनी प्रखरता और गहराई नही है। वे अपेक्षाकृत अधिक मधुर और अधिक पार्थिव है। 'विराटा की पद्मिनी' मे कुमुद का कुजर के प्रति आकर्षण अवश्य गहरा है, पर उसकी गहराई का कारण कोई विवाह-समस्या नही है। कुमुद के देवी-रूप के कारण ही उसमे यह गहराई आ गई है। इसकी सविस्तार चर्चा हम अन्यत्र कर चुके है। कुमुद के अतिरिक्त दो ही और उल्लेखनीय प्रेमिकाएँ है 'कचनार' की कलावती और कचनार। कचनार कलावती की दासी है, जो मायके से उसके साथ आई है, और कलावती को दीदी कहती है। कलावती का विवाह राजा दलीपसिह से हुआ है, पर अपनी अस्वस्थता के कारण विवाह के अवसर पर वे स्वय नहीं जा सके। निदान, गोडो की प्रथा के अनुसार कलावती का विवाह उनकी कटार से होता है जिसे लेकर उसका छोटा भाई मानसिंह गया था। लेखक ने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम लेकर कलावती और मानसिंह मे आकर्षण और प्रेम के विकास का चित्रण किया है। दलीपसिह की ईर्ष्या और कलावती का भय भी अत्यन्त स्वाभाविक धरातल पर प्रतिष्ठित है। मानसिंह कलावती के प्रणय मे डूब जाने के कारण ही बडे भाई को विष दे देता है, और फिर कलावती से विवाह कर लेता है। समाज की दृष्टि से इस विवाह मे कोई दोष भी नही। बाद मे जब दलीपसिह बचकर लौट आते है और फिर गद्दी पर बैठते है, तो वे सामन्तीय उदारता दिखाकर दोनो को क्षमा कर देते हैं। कलावती का प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक होते हुए भी न तो किसी आदर्श की गरिमा लिए है, न उसमे कोई व्यक्तिगत विशेषता है। शुद्ध भोग की भूमि पर प्रतिष्ठित वह सामन्तीय प्रेम का एक सामान्य उदाहरण है। फिर भी उसमे सहज सरसता अवश्य मिलती है।

कचनार का प्रेम इसके विपरीत कुछ उदात्त और आदर्शोन्मुख है। जब प्रारम्भ में राजा दलीपसिह उसकी ओर उन्मुख होते है, तो वह उनकी कामुकता का प्रतिरोध करती है। वह स्पष्ट कहती है कि विवाह किए बिना वे उसे अपनी नही बना सकेगे।

कचनार ने कहा 'बदल न जाइयेगा।'

दलीपसिह झूमकर बोला, 'कभी नही।' कचनार के नेत्रो मे तेज बढा।

उसने कहा, 'मेरे साथ भावर डालिये। मुझको अपनी पत्नी की प्रतिष्ठा दीजिए। अपनी जीवन-सहचरी बनाइये। बचन दीजिए। मै आपके चरणो मे अपना मस्तक रख दूँगी।'[१]

यद्यपि इस समय दलीपसिह उससे विवाह करने के लिए सहमत नही होते तथापि कचनार के मन मे दलीपसिह के प्रति जो आकर्षण है, वह धीरे-धीरे प्रेम का रूप ले उठता है। दलीपसिह भी ज्यो-ज्यो कलावती से खिचते जाते है त्यो-त्यो कचनार की ओर झुकते जाते है। राज-काज मे भी उसके विचार और परामर्श का आदर करते है। यही कारण

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा . 'कचनार' (पृष्ठ २४-२५)

है कि जब सागर-सेना के विरुद्ध लडने के लिए विदा लेने आते है तो वे कलावती से अधिक कचनार को सम्बोधन करते है।[1] कचनार को लगता है, मानो दलीपसिंह की आँखे मूक सम्वाद दे रही थी—"मै लौटने पर तुम्हारे साथ ब्याह करूँगा।"[2]

दलीपसिह युद्ध मे तो विजयी होता है, पर लौटते समय घोडे से गिर कर मूछित हो जाता है। उसकी यह मूर्छा टूटती नही। तीन दिन—तीन रात बाद जब उसे चेत आता है तो सबसे पहले उसके ओठो पर कचनार का ही नाम होता है। पर मानसिंह की दी हुई जडी-बूटी से वे और भी अस्वस्थ हो जाते है, और अन्त मे उनको मरा जानकर अतिम क्रिया के लिए ले जाया जाता है।

मानसिह के राजा बनने पर कचनार मे वैराग्य भाव का उदय हो जाता है, और जब मानसिह अपनी लम्पट दृष्टि उस पर डालता है तो वह गुसाईयो के अड्डे पर चली जाती है जहाँ दलीपसिंह सुमन्तपुरी के रूप मे अपने दिन बिता रहा है। कचनार को कचनपुरी नाम से पुरुषवेश मे रहना पडता है।

यहाँ से कचनार के प्रेम मे आदर्श का पुट आ जाता है। वह निश्छल भाव से दलीप-सिंह की सेवा करती है और फलस्वरूप दलीपसिह के राजा बन जाने पर उसकी रानी बन जाती है। कचनार के इस प्रेम-विकास को यद्यपि लेखक ने बहुत ही हल्के रगो से अंकित किया है, फिर भी उसमे एक विचित्र प्रभावोत्पादकता है। उसके आदर्श प्रेम के ससर्ग से दलीपसिह भी अपने कुछ सामन्तीय दोष छोड देता है। और कामुकता एव विलासिता के स्थान पर उसके जीवन मे एक गभीरता का समावेश हो जाता है।

वर्माजी के उपन्यासो मे प्रेमिकाओ के अतिरिक्त नारी के अन्य रूपो का भी यथेष्ठ चित्रण है। राजकुल की नारियो मे सामन्तीय गुण-दोष भरपूर मात्रा मे है। 'विराटा की पद्मिनी' मे वृद्ध विलासी राजा नायकसिह की बडी रानी और छोटी रानी का चरित्र यद्यपि सक्षेप मे ही है, पर सच्चा है। बडी रानी धर्म-भीरु और ईर्ष्यालु है। छोटी रानी मे दभ और साहस है। देवीसिंह जब दरबारियो के कुचक्र से राजा बन जाता है, तो छोटी रानी के प्रयत्न से दोनो मे मेल भी होता है और दोनो इस पर एक मत हो जाती है कि राजा को उतारने का सक्रिय प्रयत्न होना चाहिए। छोटी रानी मे आवश्यक चतुराई, सावधानी और कूटनीतिज्ञता है। वह वीर है, शास्त्रधारिणी है और सकल्पवती है। पर स्वार्थ मे अधी होकर वह एक ओर कुजर सिह से मदद लेती है, दूसरी ओर नवाब अलीमर्दान से। अपने विफल प्रतिशोध मे वह युद्धभूमि मे ही वीरगति को प्राप्त होती है। उसका शौर्य सराहनीय है, पर स्वार्थ नही। इसी प्रकार 'मृगनयनी' मे राजा मानसिंह की पहली आठ रानियाँ मृगनयनी के आने पर ईर्ष्या करने लगती है। उनका नेतृत्व बडी रानी सुमन-मोहिनी करती है। वह राजा से समय-समय पर व्यग्य भी करती रहती है, और मृगनयनी

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'कचनार' (पृष्ठ ९३)

२. वही : (पृष्ठ ९३)

को समाप्त करने के षडयत्र भी। पर सामन्तीय राजसी जीवन की पृष्ठभूमि मे उसका चरित्र यथार्थ और स्वाभाविक है। ऐसी ही स्वाभाविकता 'मुसाहिवजू' की पत्नी की उदारता मे और पिल्ली, नायकिन और कलावती (मृगनयनी) की अधमता मे है। ये सारे चरित्र अपने देश-काल की सीमाओ मे बधे है, और अपने अपने स्थानो पर उपन्यासो की स्वाभाविकता की वृद्धि करते है, और उनकी परिधि को आवश्यक विस्तार देते है।

'विराटा की पद्मिनी' की गोमती इन सबसे अलग है। वह लोक-वर्ग की कन्या है और इसीलिए उसमे चारित्रिक दृढता का प्रकाश मिलता है। जिस दिन देवीसिह से उसका विवाह होने वाला था, उसी दिन उसके घर के सामने लडाई-झगडा हो जाता है जिसमे देवीसिह राजा नायकसिह की प्राण-रक्षा करता है। राजा उसे अपने साथ ले जाता है। विवाह की बात पीछे पड जाती है। पर गोमती अपने को देवीसिह की परि-णीता ही मानती है, और जब वह पालर छोडकर विराटा मे कुमुद के पास शरण लेने को बाध्य होती है, तब भी उसके मन-मदिर मे देवीसिह की ही प्रतिमा प्रतिष्ठित मिलती है। बाद मे जब उसे समाचार मिलता है कि देवीसिह नायकसिह की गद्दी पर बैठ गया है, तब अपने को रानी समझकर वह उस विपन्न दशा मे भी फूली नही समाती और भाँति-भाँति के स्वप्न देखने लगती है। पर फिर भी वह बुन्देल-कन्या बिना बुलाये पति के पास जाने मे अपना अपमान मानती है। 'मै स्वय वहाँ जाऊँगी। मेरी बोटी-बोटी चाहे कोई काट डाले, परन्तु मै ऐसे तो कदापि नही जाऊँगी। मै भी इनके साथ जगल मे भजन करने को तैयार हूँ।'[1] जब देवीसिह से अचानक भेट होने पर वह जान पाती है कि वह उसको ग्रहण करने के लिए तनिक भी उत्सुक नही है तो उसका मन घृणा से भर जाता है, और वह रामदयाल के साथ जाकर देवीसिह को लज्जित करने के लिए छोटी रानी के साथ युद्ध भूमि मे उतरती है और मारी जाती है। इस प्रकार राजकुल की नारियो के विपरीत सामान्य कुल की गोमती आदर्श चारित्रिक दृढता का परिचय देती है। वर्माजी ने अवसर पाते ही लोक-चरित्र को रुढिवादी सामन्तीय चरित्रो से श्रेयस्कर चित्रित किया है।

इन सारे नारी-पात्रो के सतुलन के रूप मे वर्माजी ने दो आदर्श चरित्रो की प्रतिष्ठा की है—लक्ष्मीबाई और मृगनयनी। लक्ष्मीबाई भारत के प्रथम स्वतन्त्रता सग्राम की नेत्री और मध्ययुग की सर्वश्रेष्ठ महिला थी। वीरता, उदारता, त्याग, बलिदान और प्रेरणा की वह प्रतिमूर्ति थी। वह आदर्श शासिका है और आदर्श वीरागना। मृगनयनी आदर्श पत्नी है, आदर्श बहन है, आदर्श सहेली है और आदर्श सपत्नी है। इन दो चरित्रो के माध्यम से वर्माजी ने नारी जाति को बहुमुखी प्रगति करने का मार्ग दिखाया है। हिन्दी के समस्त ऐतिहासिक उपन्यासो मे, इसीलिए, ये दोनो बेजोड है।

आदर्श चित्रण के सचेष्ट प्रयत्न के साथ-साथ वर्माजी ने इन उपन्यासो मे ऐतिहासिक तथ्य का विशेष ध्यान रखा है। वर्षो की खोज और परिश्रम से, नाना स्रोतो से जानकारी

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'विराटा की पद्मिनी' (पृष्ठ २३६)

इकट्ठी कर वर्माजी ने इन दो नारियो की प्रतिमा गढी है। इनके चित्रण मे कल्पना से भी अवश्य कार्य लिया गया है पर उस कल्पना का यथार्थ से कही विरोध नही जान पडता।

पहले मृगनयनी को ले। ग्वालियर राज्य के राई गॉव मे वह अपने भाई अटल के साथ रहती है। सब उसे निन्नी कहते है। घर मे और कोई नही है इसलिए भाई-बहन मिलकर सारा काम करते है। निन्नी विलक्षण सुन्दरी है, वैसी ही स्वस्थ और बलिष्ठ भी। साहस और वीरता उसमे कूट-कूट कर भरी है। उसके रूप और शौर्य के कारण राई जैसा नगण्य गॉव भी सर्वत्र विख्यात हो जाता है।

राई की इस अद्वितीय नारी की प्रशसा सुनकर राजा उत्सुकतावश शिकार के लिए राई आने का वचन देता है। गॉव मे समाचार मिलने पर लाखी निन्नी को छेडती है, पर निन्नी का सहज भूमि-मोह दर्शनीय है :—

'और यह भी कहा होगा कि तुम ग्वालियर के राजा की रानी होने वाली हो।'

'होवे कोई अभागिन। राई नदी और इस खुले जगल को छोडकर मै ग्वालियर के किले मे कैद होने को जाऊँगी। बावली हुई है क्या ?'[1]

गॉव के सरल प्राकृतिक जीवन के प्रति निन्नी का यह लगाव जन्मजात है, और बीच-बीच मे लेखक हमे उसका स्मरण दिलाता चलता है। दैनिक जीवन की साधारण घटनाओ मे भी निन्नी न तो यह लगाव भूलती है, और न भाई अटल या सहेली लाखी की सुख-सुविधा का ध्यान। और राजा गाँव मे पधारते है। राजा और प्रजा का यह मिलन बडा ही भावपूर्ण है। राजा की निगाह जब मृगनयनी पर पडती है तो राजा कह उठता है 'शास्त्री जी धन्य है यह गॉव जहाँ सब गुणो से सम्पन्न मृगनयनी जैसी स्त्री है।'[2]

दूसरे दिन शिकार का आयोजन होता है। राजा के साथ निन्नी, लाखी और अटल भी शिकार के लिए जाते है। सब लोग मचान पर बैठते है। पर निन्नी-लाखी के लिए मचान की आड ही काफी है। निन्नी एक नाहर को मारती है, और एक अरने को सीग पकड कर झिझोड डालती है। राजा ने अभी तक उसका रूप देखा था, वीरता का केवल बखान सुना था। अब उसके शौर्य को प्रत्यक्ष देखकर वह मुग्ध होकर वही विवाह का प्रस्ताव करता है। निन्नी को जो असम्भव स्वप्न लग रहा था, वह सत्य हो जाता है। पर इतने अप्रत्याशित सुख के क्षण मे भी निन्नी बह नही जाती। वह राजा से वचन लेती है कि वह उसे सहधर्मिणी का पद देगा और सॉक नदी की नहर काटकर ग्वालियर तक ले जायेगा।

शीघ्र ही राजा और निन्नी का विधिवत् विवाह हो जाता है। अब वह मृगनयनी हो जाती है। पर उसका सरल मन प्रकृति की ओर ही आकर्षित है। महलो मे पहुँकर भी

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'मृगनयनी' (पृष्ठ ५५)
२. वही : (पृष्ठ १७८)

उसे अपने गाँव की, भाई की, लाखी की और अपनी गाय की याद आती रहती है। दासियो का झुण्ड देखकर वह सोचती है 'अरे, तो क्या मै थोडी देर के लिए भी अकेली न रह पाऊँगी।'[१]

रानी का पद पाकर भी मृगनयनी के हृदय की यह निश्छल सरलता ही उसे आदर्श पत्नी बनने मे सहायता देती है। अपने पति पर उसे अटूट विश्वास है। 'महाराज ने वचन दिया था कि पर्दे मे नही रहेगी। वह निभाएँगे, अवश्य निभाएँगे।' सामान्य नारियो की भाँति वह वैभव विलास की चकाचौध मे अधी नही होती, वह पढना-लिखना चाहती है, सगीत सीखना चाहती है, चित्रकला समझना चाहती है ताकि वह अपने पति के उपयुक्त बन सके। वह राजा को तन ही नही मन भी देती है। उनके साहित्य-सगीत-कला प्रेम मे सहयोग देती है, उनके राज-काज को ध्यान से सुनती-समझती है, और यदि राजा कभी प्रमाद भी करने लगते है तो उन्हे कर्तव्य का स्मरण कराती रहती है। राजा उसके प्रति अपने अनुराग से प्रेरित होकर कभी 'गूजरी महल' बनवाते है, कभी 'मानमदिर'। गायक बैजनाथ 'गूजरी तोडी' और 'मगल गूजरी' जैसे रागो की सृष्टि करता है। मानसिह और मृगनयनी दो दिशाओ से आकर ऐसे अभिन्न रूप मे एक हो जाते है कि ग्वालियर धन्य हो उठता है। मृगनयनी आदर्श पत्नी बन जाती है। और उसी के पूरक रूप मे वह आदर्श पत्नी भी बनती है। पति राजकाज मे इतने व्यस्त रहते है कि वह अत पुर की छोटी-छोटी बातो मे उन्हे उलझाना नही चाहती। इसलिए बडी रानी सुमनमोहिनी की ईर्ष्या और षडयत्र की कहानियाँ वह चुपचाप पी जाती है। यही नही वह निश्छल भाव से यह घोषित कर देती है कि मानसिह का उत्तराधिकारी बडी रानी का पुत्र विक्रमादित्य ही होगा, उसका पुत्र नही। सपत्नी के विद्वेष और वैर से आहत होकर भी वह न्याय का पल्ला नही छोडती।

इसी प्रकार अपने गाँव की स्मृति वह कभी नही भूलती। राजा के साथ बार-बार वहाँ शिकार को जाती है। अटल और लाखी की जब तक खोज नही हो जाती तब तक उसे चैन नही मिलता। उनके मिल जाने पर वह लाखी को महलों मे अपने समान ही मान कर रखती है और राजा से कह-सुनकर उनका विधिवत् विवाह करा देती है। अत मे राई मे एक गढी बनवाकर राजा अटल को उसका शासक घोषित कर देता है। पर लाखी और मृगनयनी फिर भी साथ ही रहती है।

'मृगनयनी मे मृगनयनी के रूप मे हमे नारी की भव्य मूर्ति के दर्शन होते है। उसके चित्रण मे लेखक ने असाधारण कौशल से काम लिया है। वैसा ही असाधारण कौशल 'झाँसी की रानी' मे मिलता है। लक्ष्मीबाई का शौर्य, देश-प्रेम और बलिदान सदा लोक मे पूजित-प्रतिष्ठित रहा। पर कुछ इतिहासकारो ने उस पर आरोप लगाये, कुछ सदेह भी प्रकट किया। वर्मा जी ने इन्ही का खण्डन करने के लिए इस उपन्यास की रचना की।

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'मृगनयनी' (पृष्ठ २०८)

उसका प्रत्येक पृष्ठ देशप्रेम और वीरता का स्तम्भ है। उसकी कल्पना उदात्त है, क्षेत्र विस्तृत है, चित्रण सोद्देश्य और स्वाभाविक है। उसके पढने पर एक पूरा युग आँखो के सामने अ। जाता है। विदेशी शासन मे भारत किस प्रकार विकल हो उठा था, और उसको समूल नष्ट करने के लिए बच्चा-बच्चा किस प्रकार वीर बन गया था, 'झाँसी की रानी' इसका अत्यन्त प्रेरक चित्र है। रानी लक्ष्मीबाई को केन्द्र बनाकर लेखक ने अनेक छोटे-बडे स्त्री-पात्रो की सृष्टि की है जो हमे साहस, त्याग और स्वदेश प्रेम का पाठ पढाती है। अनेक विस्मृत एव अज्ञात तथ्य हमारे सामने आते है, और हम अपने इतिहास के इस ज्वलत प्रकरण पर गर्व एव देशाभिमान का अनुभव करते है।

लक्ष्मीबाई का जीवन और व्यक्तित्व विलक्षण है। उसके पिता मोरोपन्त पेशवा के साथ बिठूर मे रहते थे। माँ बचपन मे ही चल बसी। बालिका लक्ष्मी (मनू) मे अद्भुत वीरता थी। घुडसवारी, धनुर्विद्या, शास्त्र-विद्या मे वह पारागत थी।

तात्या दीक्षित जब उसे देखने आते है तो वह नि सकोच अपनी वीरता का परिचय देती है। वह जो भी प्रश्न करती है, वह सेना या युद्ध से सबन्धित। जब झाँसी के राजा गगाधर राव से विवाह करने के लिए वह झाँसी आती है, तो मानो झाँसी मे एक अलौकिक ज्योति उतर आती है। वह महल की दासियो से, नोकर-चाकरो से आत्मीयता का व्यवहार करती है,[1] और उनका हृदय जीत लेती है। वह उन सबमे वीरता और साहस के भाव भरती है, अपने ज्ञान और पराक्रम से उन्हे विस्मित कर लेती है, और अपना अध-भक्त बना लेती है। लोग प्रशसा और आश्चर्य से उसके इस रूप को देखते है। छोटे-से-छोटे प्रसग मे भी वह ऐसी ही बाते करती है जो उसके मन मे समाये ध्येय और आदर्श के अनुरूप हो। वह स्त्रियो से कहती है 'पुरुषो को पुरुषार्थ सिखलाने के लिए स्त्रियो को मलखब कुश्ती इत्यादि सीखना ही चाहिए। खूब तेज दोडना भी। नाचने-गाने से भी स्त्रियो का स्वास्थ्य सुधरता है, परन्तु अपने को मोहक बना लेना ही तो स्त्री का समग्र कर्तव्य नही है।'[2] फूलो को देखकर कहती है 'मुझको भी पसन्द है, परन्तु क्या दुबले-पतले घोडे पर सोने चाँदी का जीन अच्छा लगता है।'[3] विवाह के समय गाँठ बाँधने मे जब वृद्ध पुरोहित का हाथ काँपने लगता है तो वह झट से बोल पडती है 'ऐसा बाँधिये कि कभी छूटे नही।'[4] उसकी प्रखरता से सब पर खुशी की लहर दौड जाती है। जूही मोतीबाई से कहती है 'असली राजा तो झाँसी को अब मिला बाई जी!'[5] जब राजा मह के आनन्द-राव की अवहेलना करते है तो रानी को बुरा लगता है · 'मैने देख लिया है कि बुन्देलखण्ड

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ६४)
२. वही : (पृष्ठ ६५)
३. वही : (पृष्ठ ६८)
४. वही : (पृष्ठ ७०)
५. वही : (पृष्ठ ७१)

पानीदार देश है। इस पानी को बनाये रखने की हमको जरूरत है। उस आदमी का पानी उतारा गया—यह बुरा हुआ।'[१] और काशी से कहती है, 'जिन्हे तुम छोटा आदमी कहती हो, आधार तो हमारे वे ही है।'[२] विवाहोपरान्त जब उसके पति गगाधरराव को राज्याधिकार के बदले मे अग्रेजो को अपने राज्य का पचमाश देना पड जाता है, तो सबसे अधिक क्षोभ रानी को ही होता है। जब राजा उसे नाटकशाला मे साथ चलने के लिए कहता है तो रानी बडा कठोर व्यग्य कर उठती है 'इन दिनो अब इससे अधिक और हो ही क्या सकता है? राज्य का काम चलाने के लिए दीवान है। डाकुओ का दमन करने और प्रजा को ठीक पथ पर चालू रखने के लिए अगरेजी सेना है ही। इस पर भी यदि कोई गलती हो गई तो कम्पनी के एजेण्ट की खुशामद कर ली। बस सब काम ज्यो का त्यो मनमाना चलता रहा।'[३]

जब राजा की सेवाओ से सतुष्ट होकर महारानी विक्टोरिया उन्हे प्रशसा-पत्र भेजती है तब रानी लक्ष्मीबाई को 'हर्ष नही' हुआ और न सतोष।' राजा के अपव्यय पर भी वह कुढती है। केवल एक बात उसे पसन्द आती है कि राजा ने पॉच हजार के लगभग सेना तैयार कर ली है। पर राजा के पुरातन-पथी विचार उसे नही भाते। घूमने-फिरने की आजादी न होने और पर्दा-प्रथा की झझट के कारण महलो मे बधा रहना उसे अखरता है। पर फिर भी अपनी दिनचर्या मे वह अन्तर नही आने देती। जब राजा पोलिटिकल एजेण्ट गार्डन से विवाद मे देशप्रेम का परिचय देते है तो रानी खिल उठती है। त्यौहार-उत्सवो मे वह पद भूलकर महल की सभी स्त्रियो के साथ हिलमिलकर उत्सव मनाती है, और उनको तन-मन की उन्नति के लिए प्रेरित करती है। जब तात्या आकर उसे समाचार देता है कि नाना की पैन्शन अग्रेजो ने रद्द कर दी है, और उसे कुछ करने के लिए उकसाया जा रहा है तो रानी दृढ प्रतिज्ञ पर दूरदर्शी नायक की भाँति उत्तर देती है 'टोपे, अभी समय नही आया है। घडा अपूर्ण है, अभी भरा नही है। हम लोगो के आपसी उपद्रवो ने जनता को त्रस्त कर दिया है। उसको थोडा सॉस लेने योग्य बन जाने दो। समर्थ रामदास का दिया हुआ स्वराज्य-सदेश, छत्रपति शिवाजी का पाला हुआ वह आदर्श, छत्रसाल का वह अनुशीलन अमर और अक्षय है।'[४] इस प्रकार जिन इतिहासकारो का यह कथन है कि रानी पहले अग्रेजो की भक्त थी, स्वार्थवश ही वह युद्ध मे उतरी—वर्मा जी ने लक्ष्मीबाई के पूर्व-वृत्त के विशद और प्रभावपूर्ण चित्रण से उन्हे झूठा सिद्ध कर दिया है।

जब वृद्ध राजा रोगी होकर मर जाता है, तब पहली बार हमे लक्ष्मीबाई के व्यक्तित्व का पूरा प्रकाश दिखाई पडता है। झॉसी की प्रजा रानी की भक्त है, गगाधरराव के समय

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झॉसी की रानी' (पृष्ठ ७५)
२. वही : (पृष्ठ ७५)
३. वही : (पृष्ठ ८१)
४. वही : (पृष्ठ ११६)

मे ही रानी का जो स्वरूप उन्होने देखा सुना है, वह उनके हृदय मे अमिट प्रभाव डाल चुका है। रानी ने जिस कार्य के लिए बचपन से अब तक की दीर्घ साधना द्वारा अपना जीवन गढा है, उसे पूरा करने का अब समय और अवसर आ गया है। गगाधर राव के जीवन मे रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया था, पर वह तीन महीने की आयु मे ही चल बसा। राजा ने अपना अत समीप जान रानी की स्वीकृति से आनन्दराव (दामोदरराव) नामक बालक को अपने दत्तक पुत्र के रूप मे ग्रहण किया ताकि झाँसी का वश आगे चल सके। अपनी मृत्यु-शय्या पर ही राजा अग्रेजी सरकार के नाम एक खरीता भिजवाकर इन तथ्यो का स्पष्टीकरण करवा देते है। साथ ही वे मेजर एलिस को यह भी विश्वास दिलाते है कि 'रानी बहुत अच्छी व्यवस्था करेगी। आप लोग दामोदर राव की नाबालिगी से परेशान मत होना।'[१] परन्तु राजा की मृत्यु के पाँच-छै महीने तक अग्रेजी सरकार की ओर से खरीते का कोई उत्तर नही आता। पर रानी को केवल अपनी ही चिन्ता नही है। तात्या और नाना जब उसके पास आते है तो वह सारे देश के समाचार जानने को उत्सुक है। वह यह भी स्पष्ट कर देती है कि 'जनता असली शक्ति है। मुझको विश्वास है कि वह अक्षय है। छत्रपति ने जनता के भरोसे ही इतने बडे दिल्ली सम्राट को ललकारा था राजा और नवाब की पीढी, दो पीढी ही योग्य होती है, परन्तु जनता की पीढियो की योग्यता कभी नही छिनती।'[२] जनता के प्रति रानी का यह अटूट विश्वास ही उनकी सच्ची शक्ति है। उसी के कारण झाँसी की जनता भी उनके सकेत पर मर-मिटने को तैयार हो जाती है। झाँसी के युद्ध मे और अन्य युद्धो मे अग्रेजी सेना को जो अन्तर मिला वह रानी के व्यक्तित्व के इस रूप के ही कारण। रानी राज्य के लिए नही, स्वराज्य के लिए लडती है। इसीलिए लेखक ने रानी के सघर्ष को व्यक्तिगत नही सामूहिक रूप दिया है, और रानी की ही नही जनसाधारण की भावनाओ और प्रतिक्रियाओ का भी वर्णन उतने ही विस्तार और मनोयोग से किया है। रानी और झाँसी की जनता अभिन्न हो जाती है। रानी के दत्तक-पुत्र को अग्रेज सरकार स्वीकार करेगी या नही, यह सार्वजनिक चर्चा का विषय बन जाता है। जब एलिस एक जेब मे लार्ड डलहौजी का उत्तर और दूसरी जेब मे पिस्तौल रखकर रानी के दरबार मे यह घोषणा सुनाता है कि कम्पनी सरकार ने दत्तक पुत्र को अमान्य ठहराया है, तो रानी अपना सारा विक्षोभ, सारा प्रतिवाद और सारा अभिमान एक वाक्य मे भर देती है - 'मैं अपनी झाँसी नही दूँगी।'[३]

यह घटना रानी के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण मोड है। इसके बाद वीरगति पाने तक रानी अपनी सारी शक्ति और चेतना स्वराज्य की प्राप्ति मे लगा देती है। कोई भी परिस्थिति उसे निराश नही कर पाती। इस कठिन अवसर मे जैसे उसका व्यक्तित्व तप

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ १२३)
२. वही : (पृष्ठ १४०-१४१)
३. वही : (पृष्ठ १६०)

कर निखर आता है। अग्रेज झॉसी को हडप कर अपने राज्य मे मिला लेते है, रानी को केवल पेशन का अधिकारी मानते है। पर रानी जानती है कि अभी समय नही आया है, इसलिए वह खून का घूँट पीकर रह जाती है, और धैर्य एव बुद्धिमत्तापूर्वक अपनी तैयारियो मे लगी रहती है। अग्रेजो के प्रभाव मे आकर रानी के जीवन के इस भाग का जो भ्रम-पूर्ण और विकृत चित्र खीचा गया था लेखक उसे तथ्यो के बल पर स्पष्ट कर देता है। रानी के अनुगत व्यक्ति अग्रेजो की नौकरी करते हुए भी रानी के आदेश की बाट देखते रहते है, सवाद-वाहको का कार्य करते है, और रानी को कभी निरुत्साह नही होने देते। रानी ने प्रतीक्षा की इस घडी मे जिस लगन और धैर्य का परिचय दिया उससे अग्रेज भी भ्रम मे पड गये, और रानी को देशव्यापी विद्रोह से अलग समझकर, झाँसी मे सैनिको के विद्रोह के समय रानी से ही सहायता मागते है। रानी की कूटनीति सफल सिद्ध होती है। रानी अग्रेजो का कत्ल-आम रोकने के लिए और सैनिको को अनुशासित करने के लिए अब इनका नेतृत्व स्वीकार करती है और उन्हे समझा-बुझाकर दिल्ली की ओर प्रवृत्त कर देती है। साथ ही जनमत से झाँसी का राज्य सभालती है। पर वह जानती है कि सघर्ष अनिवार्य है इसलिए प्रतिक्षण वह उस निर्णय की घडी के लिए तैयार करती है। वह अपनी अद्-भुत क्षमता के बल पर सैन्य-सगठन और सैन्य सचालन करती है, सोये और बुझे हुए हृदयो मे साहस का सचार करती है, युद्ध-नीति के छोटे-से-छोटे विवरण का स्वय ध्यान रखती है, और झाँसी ही नही, सारे देश की मुक्ति की योजना बनाती है, नाना राव साहब और तात्या को तदनुरूप आदेश देती रहती है। पर इतनी क्रियाशीलता मे भी उसके मुख की मुस्कान लुप्त नही होती, तोप के गोलो मे भी विनोद-प्रियता उसका साथ नही छोडती। न न्याय अथवा उदारता को भूलती है। स्वय नारी होने के कारण वह सहज ही अनेक नारियो को इस कार्य मे प्रवृत्त कर लेती है, स्त्रियो की सेना सगठित करती है जिसका पराक्रम देख कर शत्रु-मित्र सब आश्चर्य चकित रह जाते है। रानी ने दूरदर्शिता के बल पर इतने दिन तक झाँसी मे जो-जो कार्य किये थे, उनका सच्चा महत्व अब प्रकट होता है। पर उसका युद्ध सदा धर्म-युद्ध रहता है। अग्रेज स्त्री-बच्चो की रक्षा वह उतनी ही तत्परता से करती है जितनी से अपनी प्रजा की।[१] शत्रु से घिर जाने पर वह जनता के सारे अभाव और कष्टो मे उनका साथ देती है, और यथासभव उनकी सुविधा का ध्यान रखती है।[२] अपने अलौकिक उदाहरण से वह अनगिनती व्यक्तियो को वीर बना देती है। और अपनी दूरदर्शिता और विशाल हृदयता से सागर सिह जैसे डाकू-सरदार को स्वराज्य की लडाई में लगा लेती है।[३] झाँसी की रक्षा का युद्ध वीरो की प्रेरणा बन जाता है।

जब अन्त मे जनरल रोज पीरअली और दूल्हाजू के विश्वासघात द्वारा झाँसी मे

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ २५६-२५८)
२. वही : (पृष्ठ ३३१)
३. वही : (पृष्ठ २९३)

प्रविष्ट हो जाता है, और झाँसी का पतन अवश्यभावी लगता है तो रानी को असीम वेदना होती है। पुस्तकालय जलता देख उसका साहित्य-विद्याप्रेमी हृदय काँप उठता है। इस घोर और चहुँमुखी पीडा से हिलकर वह अपने प्राणो का अन्त करना चाहती है। पर यह केवल क्षणिक दुर्बलता ही है। वह तुरन्त प्रकृतिस्थ होकर पराक्रम से अग्रेज सेनाओ का पाश काटती अपने वीर-प्राण साथियो के साथ कालपी पहुँच जाती है, और तात्या और राव-साहब से जा मिलती है। रानी पेशवा की अस्त-व्यस्त सेना का सगठन करती है और मिलकर ग्वालियर के अग्रेज भक्त राजा को हरा कर किले पर अधिकार कर लेती है। राव साहब पेशवा की पदवी धारण कर हर्षोत्सव मे मग्न हो जाता है। रानी को इससे बडी यत्रणा होती है। जब वह देखती है कि भारतीय सेनाओ का कोई समन्वित सगठन नही हो सका है, एक मत होना और एक साथ चलना सभव नही है, और जो नायक है उनमे भी अनेक स्वराज्य का अर्थ न समझकर अवसर मिलते ही भोग-विलास मे प्रवृत्त हो जाते है, तो वह समझ जाती है कि स्वराज्य का दिन अभी दूर है। राव साहब और तात्या का प्रमाद देखकर उसे पहली बार निराशा होने लगती है, और वह मन की शान्ति के लिए बाबा गगादास के पास जाती है, और प्रश्न करती है·

'हम लोगो के जीवन काल मे स्वराज्य स्थापित हो जायगा ?'

बाबा—'यह मोह क्यो ? तुमने आरम्भ किये हुए कार्य को आगे बढा दिया है। अन्य लोग आएँगे। वे इसको बढाते जाएँगे। अभी कसर है। स्वराज्य स्थापना के आदर्शवादी अपने-अपने छोटे-छोटे राज्य बनाकर बैठ जाते है। राजा टीमटाम तथा विलामिता का दासत्व छोडकर प्रजा का सेवक बन जाय तब जानो स्वराज्य की नीव भर गई और भवन बनना आरम्भ हो गया।'[1]

इस प्रवचन से रानी को सात्वना मिलती है। वह अपना कर्तव्य निश्चित कर लेती है। उसको और उसके स्वामिभक्त वीरो को स्वराज्य के भवन की नीव भरनी है, उसका निर्माण वह नही देख पायेगी। यहाँ से रानी के चरित्र मे त्याग और बलिदान का भाव एक अपूर्व अलौकिकता प्रदान करता है। बलिदान की यह भावना उसके सभी अनुगतो मे भर जाती है। अब जब वे लडने के लिए युद्ध भूमि मे उतरते है तो इस चेतना के साथ कि यही अन्तिम युद्ध है। पर यह चेतना उनमे दूना शौर्य, चौगुना पराक्रम और अनन्त शक्ति भर देती है। और इस प्रकार स्वराज्य की वेदी पर अपनी बलि चढाकर रानी अमर हो जाती है।[2]

लक्ष्मीबाई के चरित्र-चित्रण मे वर्मा जी ने स्वदेश-प्रेम, वीरता, निर्भीकता, उदारता, साहित्य-कला, भाषा-प्रेम, दया, न्याय, दूरदर्शिता, त्याग, सगठन-क्षमता और जनहित की

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ४७३-४७४)
२. वही : (पृष्ठ ४९३)

भावना के योग द्वारा जो प्रभावोत्पादकता की सृष्टि की है, वह हमारे साहित्य का स्थायी गौरव है।

रानी के अलौकिक चरित्र की प्रेरणा से उनके आस-पास वीर और उज्ज्वल नारियो का एक मण्डल बन जाता है। रानी उनकी केन्द्र है, प्रेरणा है, मूल-ज्योति है। रानी के बिना वे सब अत्यन्त साधारण नारियाँ होती। पर रानी के व्यक्तित्व की किरणे पाकर वे सब महान बन जाती है और स्वराज्य के यज्ञ मे अपनी आहुति देकर अमिट यश की भागिनी होती है। उन्हे पाकर रानी मानो सहस्रभुजा दुर्गा बन जाती है। वे निरन्तर उसके साथ रहती है, वे नर्तकी, दासी अथवा साधारण स्थिति की नारी है, पर रानी उन्हें अपना अन्तरग बना लेती है, उनसे बडे से बडे प्रश्नो पर सलाह लेती है, उनकी रुचि और सम्मान का निरन्तर ध्यान रखती है, उनके उपयुक्त कार्य सौपती है, और सजग निरीक्षण से उनका निर्देशन करती है। वे इसके प्रत्युत्तर मे रानी के सकेत पर मर-मिटने के लिए तैयार हो जाती है, अपने परिवार, अपने सुख-दुख यहाँ तक कि अपने प्रेम को भी रानी के कार्य के आगे तुच्छ समझती है, और किसी भी दशा मे रानी का साथ नही छोडती।

इन सहयोगिनियो मे प्रमुख है मोतीबाई। वह सुन्दर है, कुशल अभिनेत्री है, नर्तकी है, और लक्ष्मीबाई के झाँसी-आगमन के पहले से ही राजा गगाधर राव की नाटक-शाला की प्रिय सदस्या है। राजा के मित्र खुदाबख्श के प्रति उसका सहज आकर्षण है। यही आकर्षण राजा के कोप का कारण बनता है। जब लक्ष्मीबाई झाँसी आती है तो खुदाबख्श को देश-निकाला दिया जा चुका है, और मोतीबाई पदच्युत हो चुकी है। पर उनका प्रेम नहीं घटता। खुदाबख्श अपने प्रति किये गए अत्याचार का बदला लेने के लिए अग्रेज़ो की शरण मे जाना चाहता है, पर मोतीबाई रानी की सहानुभूति पाकर उसे उस गलत रास्ते से हटा लाती है, और रानी का अनुचर बना देती है। दोनो अग्रेजी सेना मे आते-जाते रानी के जासूसो का कार्य करते है। मोतीबाई से रानी को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समाचार मिलते रहते है। वह इतना उपयोगी कार्य करती है कि जनरल रोज जब झाँसी के समर्पण की माँग करते है तो उसमे जिन लोगो को समर्पण करने के लिए कहते है उनमे मोतीबाई का भी नाम है। बाद मे खुदाबख्श रानी के तोपखाने का गोलन्दाज बनता है, और झाँसी की रक्षा के युद्ध मे सैयर फाटक की तोपो पर तैनात है। मोतीबाई और खुदाबख्श मिलकर फाटक की रक्षा करते है। प्रेम और वीरता का यह अद्भुत सयोग है। बाद मे खुदाबख्श के एक गोली लग जाती है, और वह मर जाता है। मोतीबाई उसकी लाश को उठाकर लाती है और दफनाने का प्रबन्ध करने लगती है। रानी मिलती है तो कहती है 'मोतीबाई, तुम लोगो का अक्षय कर्म मैंने अपनी आँखो देखा है।'[1]

पर लडाई जारी है, अग्रेजो का आक्रमण भीषणतर होता जा रहा है। मोतीबाई को रानी रोने भी नही देती। वह उसे दक्षिणी बुर्ज के तोपखाने को जगाने का काम देती है।

---

१ वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ४०८)

मोतीबाई भी गोली खाकर गिर पडती है। एक सैनिक उसे उठाकर रानी के पास लाता है :

"मोतीबाई का सिर रानी ने अपनी गोद मे रख लिया।

मोतीबाई की आँखो मे आँसू भर आये। बोली, 'इस गोदी मे सिर रक्खे हुए मरना किसी और के भाग्य मे नही, बाई साहब।'

रानी ने सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, 'मेरी मोती तू आज हीरा हुई।'

'सरकार', मोतीबाई ने व्याकुल स्वर मे कहा, 'मै कुछ भी हूँ परन्तु शुद्ध हूँ।'

'नही तू शुद्ध ही नहीं', रानी बोली, 'तू पवित्र है। देख, हीरा एक दिन सबको मरना है, परन्तु सत्कार्य मे प्राण देना, भगवान् का ध्यान करते-करते मरना, यह जन्म भर की अच्छी कमाई से ही प्राप्त होता है।"[1]

मोतीबाई की ही भाँति जूही है। वह भी लक्ष्मीबाई के आने के पहले नाटकशाला की अभिनेत्री और नर्तकी है। जब झाँसी अग्रेजो के हाथ मे चली जाती है, तो वह बेकार हो जाती है। मोतीबाई की सलाह से रानी उसको फौज मे नाचने-गाने के बहाने जाकर भेद लेने का काम सौपती है। वह अत्यत कुशलता मे अपना कर्तव्य पालती है। तात्या टोपे के प्रति उसके मन मे सच्चा और गहरा आकर्षण है, पर टोपे सेनापति है, युद्ध-नीति और रण-व्यवस्था से उसको छुट्टी कहाँ। इसलिए जूही उदास रहती है। मोतीबाई को जब इसका पता चलता है तो वह तात्या को समझाती है, और अनुरोध करती है कि वह जूही को प्रोत्साहित करे। तात्या उसी समय जूही के पास जाकर उसे प्रोत्साहन देता है 'मै लक्ष्मी से मनाता हूँ, एक दिन आवे जब इस देश की मुक्ति और तुम्हारे फूलो की महक का सम्मेलन हो।' जूही को जैसे स्वर्ग मिल गया हो। वह प्रफुल्लित होकर कहती है 'यदि उस काम के करने मे, मै या मेरी तरह की और स्त्रियाँ मर जाएँ तो इस टूटे फूल की महक और देश की मुक्ति के सम्मेलन को न भूलियेगा।' इस सयमित प्रेम-विनिमय के उपरान्त जूही मे जैसे अभूतपूर्व बल और ओज आ जाता है। वह एकाग्र मन से देश पर न्यौछावर हो जाती है।

इस काल के एक प्रसंग मे जूही के चरित्र की उच्चता का एक बडा सुन्दर प्रमाण मिलता है। वह तात्या को अपना हृदय दे चुकी है, उसके सकेत पर अपना सिर उसके चरणो पर चढा सकती है। पर जब तात्या उससे आकर 'प्रार्थना' करता है कि वह राव साहब और उनके मित्रो के मनोरजन के लिए महफिल मे नृत्य करे, तो युद्ध के समय इस बिन अवसर के निवेदन को वह वीरोचित घृणा ही देती है 'आपको इतना स्मरण रहे कि मै झाँसी की रानी की सिपाही हूँ, और किसी राजा या नवाब से अपने को कम नही समझती।'[3]

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ९६)
२. वही : (पृष्ठ २३७)
३. वही : (पृष्ठ ४३९)

रानी जब यह कथा सुनती है तो कहती है · 'तूने अपने योग्य ही उत्तर दिया। दो-एक दिन मे ही कोच मे लडाई होने वाली है और इन लोगो का यह हाल है।'[1] पर जब बाद मे युद्ध का नेतृत्व करने की प्रार्थना लेकर तात्या रानी के पास आता है, तो जूही भी उसे क्षमा कर देने की प्रार्थना करती है। जब अठारह जून को अपने अतिम युद्ध के दिन रानी जूही से कहती है 'आज तेरी सुगन्ध ऐसी बरसे कि बैरी बिछ जाएँ।'[2] तो जूही प्रसन्न होकर कहती है 'आज मैं जो कुछ कर सकूँ कह नही सकती, परन्तु आँख खुलते ही जो कुछ प्रण किया है उसके अनुसार अवश्य काम करूँगी।'[3] और सचमुच उस दिन जूही की तोपे गजब ढा देती है। जब हुजर सवार उसे घेर कर मार डालते है तो वह आह भी नही करती। बस उसकी अन्तिम आकाक्षा यही थी कि 'आपको (रानी को) गाना न सुना पायी।' 'पर शत्रु की तलवार उसकी इस मुस्कराहट को नही चीर मकी जो उसके होठो पर अनन्त दिव्यता की गोद मे खेल गई।'[4]

सुन्दर, मुन्दर और काशीबाई तीनो झाँसी के महल की दासियाँ है। विवाह के लिए जब मनू (लक्ष्मीबाई) झाँसी आती है तो सुन्दर अपना परिचय इस प्रकार देती है : 'आपकी दासी, सुन्दर मेरा नाम है।' और मुन्दर और काशीबाई का परिचय कराती हुई कहती है 'मेरी तरह ये भी आपकी दासियाँ है। प्रथम साक्षात्कार मे ही रानी उन्हे अपना बना लेती है। वह कहती है, 'मेरी सहेलियाँ बनकर रहोगी। दासी मेरी कोई न होगी।'[5] और भी दासियाँ वहाँ है। वह सब को अपनी सखी-सहेली बना लेती है। उनके सामने केवल एक ही शर्त रखती है 'मेरे साथ जो रहना चाहे—उसको घोडे की सवारी अच्छी तरह आनी चाहिए। तलवार, बन्दूक, बर्छा, छुरी-कटार, तीर, तमचा इत्यादि का चलाना, अच्छी तरह चलाना, सीखना पडेगा। दोनो हाथो से हथियार एक से चलाना सीख जावे तो और भी अच्छा।'[7]

मुन्दर कुमारी है। जब प्रसगवश उसे ध्यान दिलाया जाता है कि वह विवाहित हो कर रानी से दूर कही चली जायेगी, तो विकल हो जाती है। रानी उसकी व्यथा समझकर उसे अक मे भर कर कहती है

"पगली, क्यो मन गिरा दिया ? मेरे पास से कभी अलग न होगी।'

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ४४०)
२. वही : (पृष्ठ ४८१)
३. वही : (पृष्ठ ४८१)
४. वही : (पृष्ठ ४८६)
५. वही : (पृष्ठ ६३)
६. वही : (पृष्ठ ६४)
७. वही : (पृष्ठ ६६)

मुन्दर उसी स्थिति मे हाथ जोडकर धीरे से बोली, 'सरकार मै सदा ऐसी ही रहूँगी और चरणो मे अपनी देह को इसी दशा मे छोड़ूँगी।'[१]

जब एलिस डलहौजी की घोषणा पढकर सुनाता है, तो मुन्दर को इतना धक्का लगता है कि वह मूर्छित हो जाती है। होश मे आने पर रानी उसे प्यार से झिडकती है 'क्यो री, मूर्छित होना किससे सीखा ? क्या इस छोटे से राज्य के लिए हम लोग जीवित है ?'[२]

बाद मे जब झाँसी मे अग्रेज़ी बन्दोबस्त हो जाने पर वे तीनो रानी के पास उदास हो कर आभूषण उतार कर जाती है तो रानी उनको बरजती भी है, और दृढता से भविष्य की तैयारी करने की प्रेरणा भी देती है। उनके उत्साह से मानो वे नवीन बल पाती है। 'सहेलियो की आँखो मे भी चमत्कार उत्पन्न हो गया।'[३] जब तात्या रानी से कहता है कि एक जासूसी विभाग की बडी आवश्यकता है तो रानी तुरन्त उत्तर देती है

'मैने स्थापना कर दी है।'

तात्या ने उत्सुक होकर पूछा, 'कैसे ? कहाँ ?'

रानी ने उत्तर दिया, 'यही। मेरी ये तीनो सहेलियाँ काम सीख रही है और कर रही है।'[४]

वे पग-पग पर रानी के कार्य मे रानी का हाथ बँटाती है, कठिन से कठिन परिस्थिति मे भी विनोद की छटा बिखेरती रहती है। रानी के लिए बडे-से-बडे सुख का त्याग कर मुस्कराती रहती है। अग्रेजो को किले मे बद रहने के कारण जब खाना मिलना भी बन्द हो गया तो रानी उन्ही के हाथ किले मे दो मन रोटियाँ भिजवाती है। काशी के मन मे कुछ असमजस है, पर रानी जब कहती है 'इन लोगो को भूखा मार कर आगे बढना अनुष्ठान को कलुषित करना है,' तो उसका हृदय 'आभास-मय' हो जाता है। जब 'महाराज' सदाशिव झाँसी को हथियाने के लिए सिर उठाता है, तो रानी अपनी सहेलियो को सम्बोधन कर कहती है 'तुम तीनो कर्नलो की परीक्षा महाराजा सदाशिव नारायण के सामने होगी।' तो वे इस युद्ध को विनोद की ही वस्तु समझती है, और रानी की विजय का साधन बनती है। झाँसी की रक्षा के युद्ध मे वे रानी की सिपाही, सेवक, दूत और सहायक—सभी का कार्य करती है, उनके सजग और अदम्य सहारे के बिना रानी अपना कार्य कर सकती थी, इसमे सदेह है। बाद मे आवश्यकता पडने पर रानी उन तीनो को तोप चलाने की शिक्षा दिलाती है। काशीबाई भाऊ बख्शी से, मुन्दर रघुनाथ सिंह से और सुन्दर दूल्हाजू से यह विद्या सीखती है।

काशीबाई जब जूही के साथ तात्या की सेना को झाँसी की सहायता के लिए लाती है

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ९६)
२. वही : (पृष्ठ १६१)
३. वही : (पृष्ठ १६४)
४. वही : (पृष्ठ १८६)

तो जनरल रोज की सेना से उसकी मुठभेड होती है। वह 'हर हर महादेव' कहकर अग्रेजो पर टूट पडती है। उसकी तलवार से अनेक सिपाही घायल होते है, और मारे जाते है। जब काशीबाई का घोडा कट जाता है, तब वह पैदल लडने लगती है। अन्त मे वह घिर जाती है और वीर गति प्राप्त करती है। उसका पुरुष-वेश और पराक्रम देखकर सिपाही समझे थे कि वही रानी है, पर बाद मे उन्हे अपनी भूल मालूम पडती है तो वे उसकी वीरता पर और भी दग रह जाते है।

जब ओरछा फाटक पर विश्वासघाती दूल्हाजू अपने हाथ ढीले कर देता है, तो सुन्दर ऊँचे बुर्ज से तोप चलाती हुई उसकी यह हरकत देख लेती है, हाथ मे नगी तलवार लिए उसके पीछे-पीछे आती है और जब उसे विश्वास हो जाता है कि दूल्हाजू देशद्रोही है तो वह उस पर टूट पडती है। दूल्हाजू अपनी छड से उसकी तलवार तोड देता है और उसके पेट मे घुसा देता है। तभी गोरे फाटक से अन्दर घुस आते है और उनकी एक गोली से सुन्दर का अन्त हो जाता है। उसका पराक्रम देखकर अफसर पूछता है

" 'यह रानी है ?'

दूल्हाजू ने उत्तर दिया, 'नही साहब महज नौकरानी।'

अफसर ने साथियो से कहा, 'बट ए सोल्जर, शी विल हैव ए सोल्जर्स आनर।' (लेकिन सिपाही है। सिपाही की इज्ज़त उसको मिलेगी)।"[१]

इस प्रकार जब रानी झाँसी छोडकर कालपी पहुँचती है तो तीन सहेलियो मे से केवल मुन्दर ही उसके पास बचती है। मुन्दर रघुनाथसिह के साथ तोपन्दाज़ी करते-करते उसके प्रति आकर्षित हो गई थी, रघुनाथसिह ने भी उसे अपना हृदय दे दिया था। ऐसी कठिन घडियो मे प्राणो के इस माधुर्य से उन दोनो को ही नया बल मिलता है। पर मुन्दर रानी से एक क्षण को भी अलग होना नही चाहती। जब रानी उनके प्रेम का रहस्य जानकर मुन्दर से कहती है कि वह विवाह कर ले तो वह तुरन्त उत्तर देती है

'जब सरकार स्वराज्य स्थापित कर चुकेगी तब।'

'स्वराज्य तो देर-सवेर स्थापित होगा ही। तू विवाह के लिए क्यो रुके ?'

'वह जीवन का मुख्य कार्य नही है।'

'यह तेरी इच्छा पर निर्भर है, परन्तु मेरी अनुमति है।'

'असम्भव सरकार! मेरा प्रण है।'[२]

उसकी एकमात्र लालसा यही है कि रानी जैसी ही निर्भय बन सके और उसे मोतीबाई की-सी मृत्यु मिले। और उसकी यह लालसा पूरी होती है। अन्तिम दिन के युद्ध मे जाने के समय वह रघुनाथसिह से कहती है 'मै चाहती हूँ, आप बिल्कुल निकट रहे। मुझे

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ४०७)

२. वही : (पृष्ठ ४५६)

लगता है, मै आज मारी जाऊँगी। आपके निकट होने से शान्ति मिलेगी।'[१] और वह रघुनाथसिंह के स्वर्ग मे मिलने के आश्वासन पर गीली आँखो से उसे देखती हुई युद्ध मे कूद पडती है। घमासान लडाई मे एक अग्रेज सवार की गोली से उसका प्राणान्त होता है। रघुनाथसिह उसके शव को पीठ पर कसकर लडता रहता है। बाद मे लक्ष्मीबाई के शव के साथ ही उसके शव का भी दाह होता है।

झलकारी भी अद्वितीय चतुराई और वीरता का परिचय देती है। रानी की भेट सबसे पहले उससे 'हलदी कूँ-कूँ' के उत्सव मे होती है। वह जाति की कोरिन है और बुदेलखण्डी भूमि की कन्या है। वह रानी से यह शिकायत करने आई है कि उसका पति पूरन कपडा बुनना छोडकर मलखब और कुश्ती मे लग गया है। रानी उल्टे उससे भी मलखब, कुश्ती और घोडे की सवारी सीखने के लिए कहती है। सरल स्वभाव झलकारी मुग्ध हो जाती है। जब झाँसी को अग्रेज़ हडप लेते है तो वह एक वाक्य मे सारी जनता के विक्षोभ को समेट देती है 'छाती बर जाय, इन अगरेजन की, गटक लई झाँसी।'[२] और जब झाँसी मे स्त्रियो की वीरता परम्परा बनने लगती है तो वह भी बन्दूक चलाना सीखती है।

जब झाँसी के युद्ध मे विफल होकर रानी कालपी की ओर भागती है और अग्रेज़ सिपाही उसका पीछा करते है तो झलकारी रानी को बचाने के लिए स्वय रानी का-सा वेश धारण कर घोडे पर सवार होकर अग्रेजो की छावनी पर जाती है, और घोषित करती है कि वही रानी है। अग्रेज धोखे मे पड जाते है। रानी का समर्पण पाकर उनमे प्रसन्नता की लहर दौड जाती है। काफी देर बाद जब दूल्हाजू के कारण वह पहचान ली जाती है, तो तिरस्कार भरे स्वर मे वह दूल्हाजू से कहती है। . 'ठाकुर हौ कै तैने जौ का करौ।'[३] और जब अग्रेज उसको यह धमकी देते है कि 'तुमको गोली मारी जायगी।' तो वह निर्भय होकर उत्तर देती है 'मार दै, मैं का मारवै खो डरात हो? जैसे इत्ते सिपाही मरे तैसे एक मै सई।'[४]

झलकारी को बलिदान का अवसर तो नही मिलता पर वह अपने इस साहस से रानी के प्रति अपनी भक्ति का अमर उदाहरण प्रस्तुत कर देती है।

रानी और उसके नारी-मडल की ऐसी ही वीरता, पराक्रम और बुद्धिमत्ता के कारण अग्रेज़ और अन्य भारतीयो को दाँतो तले उँगली दबानी पड जाती है। झाँसी की रानी की वीरता लोक-मानस मे अमिट रूप से अकित है, और रहेगी। वर्मा जी ने अपने उपन्यास मे उन सब को जीवन्त रूप देकर नारी जाति का मुख उज्ज्वल कर दिया है।

---

१. **वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी'** (पृष्ठ ४८३)
२. **वही :** (पृष्ठ १६१)
३. **वही :** (पृष्ठ ४२६)
४. **वही :** (पृष्ठ ४२६)

भगवतीचरण वर्मा के पहले दो उपन्यास 'पतन' (१९२८) और 'चित्रलेखा' (१९३६) ऐतिहासिक उपन्यासो मे ही गिने जाते है, यद्यपि 'पतन' अपने कमज़ोर शिल्प के कारण विशेष महत्त्व नही रखता, और 'चित्रलेखा' मे ऐतिहासिक तत्व का भ्रम मात्र ही है। 'पतन' मे लखनऊ के विलासी नवाब वाजिद अलीशाह के युग का वातावरण चित्रित है। लेखक ने इसमे केवल उस युग के नैतिक पतन को ही लिया है, नवाब के अंग्रेज़-विरोध की ओर दृष्टिपात नही किया है। सुभद्रा सुन्दरी है, इसलिए वह भी अन्य अनेक सुन्दरियो की भाँति नवाब की अन्त पुरिका बन जाती है। पर नाच रग मदिरा की अति से दुर्गन्धमय उस वातावरण मे सुभद्रा का दम घुटने लगता है। वह अपने प्रेमी से प्रार्थना करती है कि वह उसे इस यत्रणा से मुक्ति दे 'मुझे यह स्वर्ग नही चाहिए। यह मेरे लिए नरक बन रहा है। यहाँ नाच तथा गाने होते है, हँसी से महल भर गूँजने लगता है, पर मैं करुणा के सागर मे डूबी रहती हूँ। मुझे यहाँ से बाहर ले चलो। मुझे धन नही चाहिए, ऐश्वर्य नही चाहिए। मुझे सुख चाहिए, यहाँ सुख नही, सुख तुम्हारे साथ मे है। तुम्हारे पैर पडती हूँ, मुझे यहाँ से ले चलो। चलो, देश छोड दे। मेहनत-मजदूरी करके हम दोनो रहेगे, पर एक दूसरे के पास रहेगे।'[1] इस चित्रण से लेखक यही सिद्ध करना चाहता है कि वास्तविक सुख न धन मे है, न भोग मे है, वह दो हृदयो के सच्चे, सरल और सात्विक प्रेम मे है।

भगवतीचरण वर्मा

'चित्रलेखा' मे भी एक प्रकार से यही बात कही गयी है, पर अब लेखक के शिल्प और शैली मे इतना विकास हो गया है कि 'चित्रलेखा' की भावभूमि बहुत व्यापक और गहरी बन गई है। उसकी गणना आज भी हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट उपन्यासो मे होती है। 'चित्रलेखा' का उद्देश्य पाप-पुण्य की प्रचलित व्याख्या की जाँच करना और नैतिकता के सच्चे मूल्यो की खोज करना है। इसके लिए लेखक एक मौर्यकालीन नर्तकी के चरित्र की कल्पना करता है। पर उपन्यास मे काल-विशेष की कोई निश्चित छाप नही है। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की राजसभा किसी भी प्राचीन राजसभा का प्रतिबिम्ब मानी जा सकती है। इसी प्रकार बीजगुप्त और कुमारगिरि भोगी और योगी के रूप मे कल्पित हुए है पर वे युग के प्रतिनिधि न होकर दो विभिन्न वृत्तियो के ही प्रतिनिधि है। चित्रलेखा की नर्तकी के रूप मे कल्पना भी स्वतन्त्र नारी के चित्रण के लिए अनिवार्य ही लगती है। वस्तुत 'चित्रलेखा' एक ऐतिहासिक आवरण मे सार्वकालिक मनोवृत्तियो और भावनाओ का उपन्यास है। उसके सभी पात्र कल्पना द्वारा रचे गये है।

'चित्रलेखा' मे चित्रलेखा का ही चरित्र प्रमुख है। उसके जीवन और विकास को लेकर ही उपन्यास की रचना हुई है। बाकी सारे पात्र उसके चारो ओर चक्कर काटते है, वह सब की केन्द्र है। नारी चरित्र को इतनी प्रधानता इसके पहले किसी उपन्यास में न मिली थी। वर्मा जी ने चित्रलेखा के माध्यम से नारी की प्राय सभी अवस्थाओ और

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'पतन' (पृष्ठ ५४)

मानसिक स्थितियो का विवेचन प्रस्तुत किया है, और अपने दृष्टिकोण से नारी-जीवन की सार्थकता का रहस्योद्घाटन किया है। चित्रलेखा पहेली भी है और समाधान भी। यह समाधान नारी की स्वतन्त्रता, समानता और सच्चे प्रेम की नैतिकता की घोषणा करता है।

वर्मा जी ने चित्रलेखा के चारित्रिक क्रम-विकास मे अत्यन्त सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम लिया है, और अप्रत्यक्ष रूप से समाज मे प्रचलित नारी-सम्बन्धी भ्रमो का निराकरण किया है। जीवन के अनेक और विचित्र अनुभवो से होकर गुजरती चित्रलेखा अत मे अपनी सार्थकता और सचाई पाती है और महान् बन जाती है। ऐतिहासिक आवरण का प्रयोग किये बिना न तो यह वैविध्य सभव था, न इतनी स्पष्टता। कुछ आलोचको ने चित्रलेखा के चरित्र को अस्पष्ट कहा है।[1] पर यह इसीलिए कि उन्होने चित्रलेखा मे क्रमश आते जाने वाले मनोवैज्ञानिक परिवर्तनो पर पूरा ध्यान नही दिया है। चित्रलेखा हर परिस्थति मे अपने प्रति और अपनी भावनाओ के प्रति सच्ची रहना चाहती है, इसलिए उसके चरित्र का अध्ययन उसके विकास के सहारे ही किया जा सकता है, और अन्त मे वह जिस परिणति पर पहुँचती है, वह नारी का शाश्वत आदर्श है।

चित्रलेखा चार अवस्थाओ को पार कर अत मे पाँचवी आदर्श अवस्था मे पहुँचती है। इन अवस्थाओ के अनुरूप ही उसके भावों मे, उद्देश्यो मे और कार्य-व्यवहार मे परिवर्तन होता जाता है। लेखक ने इस परिवर्तन का सविस्तार वर्णन किया है, और प्रत्येक अवस्था मे उसके मनोभावो का विश्लेषण किया है। फलस्वरूप नारी-मन की अनेक गुत्थियो पर हमे उसके मत को जानने का अवसर मिल जाता है। चित्रलेखा विदुषी और तीक्ष्ण-बुद्धि नारी के रूप मे चित्रित की गई है। कोई भी परिस्थिति उसके ऊपर तब तक नही लादी जा सकती, जब तक उसका अपना विवेक उसे स्वीकार न करे। इसलिए लेखक को उसके मन और अवचेतन मन मे चलती रहने वाली प्राय विरोधी प्रक्रियाओ का भी ध्यानपूर्वक अध्ययन प्रस्तुत करना पडा है। एक वाक्य मे 'चित्रलेखा' नारी-मन के अनेक स्तरो की खोज का इतिहास है।

चित्रलेखा ब्राह्मण कन्या है। समाज की साधारण प्रथा के अनुसार बचपन मे ही उसका विवाह हो जाता है। वह प्रथानुसार ही अपने पति को परमेश्वर मानकर उसके प्रति एकान्त रूप से समर्पित है। पर यह समर्पण विवेक और अनुभव से उत्पन्न समर्पण नही है, रूढिग्रस्त अनुभवहीनता का अबोध समर्पण है। उसका पति-प्रेम दो आत्माओ का मिलन नही है, वह पति मे अपने अस्तित्व को ही मिटा देती है। 'वह हँसती थी पति को प्रसन्न करने के लिए, वह बोलती थी पति को प्रसन्न करने के लिए, उसके जीवन का प्रत्येक पल उसके पति को समर्पित था। पति उसका विश्व था, परमेश्वर था और अस्तित्व

---

१. 'चित्रलेखा का चरित्र बहुत ही उलझा हुआ अस्पष्ट है।'
गंगाप्रसाद पाण्डेय : 'हिन्दी कथा-साहित्य' (पृष्ठ १६८)

था।[1] साराश यह कि इस अवस्था में वह अन्य अनेक साधारण नारियो की ही भाँति थी। भारतीय समाज मे विवाहित नारी का प्राय यही रूप होता है, और आजीवन बना रहता है।

पर चित्रलेखा का यह रूप बहुत दिनो नही बना रहता। अठारह वर्ष की कोमल आयु मे ही वह विधवा हो जाती है। उसका ससार अधकारमय हो जाता है, वह आत्महत्या करने की बात भी सोचती है, पर पाप के डर से जीवित रहती है। विधवा-जीवन के सम्बन्ध मे समाज मे प्रचलित रूढि के अनुसार वह ससार से विरक्त होकर सयम और तप का जीवन बिताना चाहती है, पर बहुत दिन तक उसे निभा नही पाती। 'उसे बताया गया था कि तपस्या जीवन का प्रधान अग है और विधवा का कर्तव्य है सयम-युक्त साधना। चित्रलेखा ने यह भी किया, पर यह उसके लिए कठिन था,[2] इस स्थल पर परोक्ष रूप से वर्माजी विधवा-विवाह की वकालत करते है। यदि विधवा चित्रलेखा पुनर्विवाह कर सकती तो उसके जीवन का इतिहास ही दूसरा हो जाता।

विधवा चित्रलेखा की यह साधना कृष्णादित्य द्वारा भग हो जाती है। कृष्णादित्य वर्णसकर युवक था, सुन्दर था और उसके व्यक्तित्व मे एक विचित्र प्रकार का आकर्षण था। उसने शपथ ली 'जब तक हम दोनो जीवित रहेगे, हम दोनो साथ रहेगे, कोई भी हम दोनो को अलग न कर सकेगा।[3] चित्रलेखा उसकी शपथ पर विश्वास कर आत्म-समर्पण कर देती है। इस बार का समर्पण तन की पिपासा का परिणाम है। उसमे भक्ति नही, आत्म-विस्मरण है। उसमे ऐसा प्रेम है जो निरन्तर पिपासा को जन्म देता है। चित्रलेखा को इस स्थिति मे भी सुख मिलता है। पर जब वह गर्भवती हो जाती है, तो उसकी परिस्थितियाँ फिर उसे दुख मे डाल देती है। कृष्णादित्य और चित्रलेखा दोनो अपने-अपने परिवार से निकाल दिये जाते है। 'त्याज्य नवयुवक को समाज की भर्त्सना और अपमान असह्य हो गए। इस अपमानजनक जीवन की अपेक्षा मृत्यु उसे अधिक प्रिय लगी।'[4] कृष्णादित्य के आत्म-हत्या करने पर चित्रलेखा निस्सहाय हो जाती है। समाज से अपमानित और परित्यक्त वह गर्भिणी एक वेश्या के यहाँ शरण लेती है। यथासमय वह एक पुत्र को जन्म देती है, पर वह जनमते ही मर जाता है।

पति-प्रेमी-पुत्र तीनो से वचिता और समाज से लाछित नारी नर्तकी बन जाती है। जिस नर्तकी ने उसे आश्रय दिया था, वही उसे नृत्य और सगीत की शिक्षा देती है। रूप और यौवन मे कला के सयोग से चित्रलेखा का व्यक्तित्व असाधारण रूप से आकर्षक बन जाता है, सारा पाटलिपुत्र उसके चरणो पर लोटने लगता है। पर चित्रलेखा का मन दो बार धोखा खा चुका है, वह अब अपने सयम और सयम-जनित कान्ति को बनाये रखना ही

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ ९१)
२. वही : (पृष्ठ ९१)
३. वही : (पृष्ठ १०-११)
४. वही : (पृष्ठ ११)

उचित समझती है। जब बडे-बडे सरदार, लक्षाधीश और सामन्त उसके प्रणय के प्यासे दिखते है, तब उसके मन के गहरे तल मे बैठी समाज के विरुद्ध प्रतिहिसा की भावना तृप्त होती है। वह सब से दूर रहकर मानो अपनी विजय पर गर्व का अनुभव करती है। उसने फिर अपनी परिस्थिति ऐसी बना ली है, जिसमे वह सुखी रह सकती है। 'जन समुदाय के सामने वह असाधारण सुन्दरी आती थी और विद्युत की भॉति चमक कर वह उसके सामने से लोप हो जाती थी।'[१]

पर उसकी यह स्थिति भी अधिक दिन तक नही रहती। सामन्त बीजगुप्त के प्रति वह आकर्षित होती है। इस आकर्षण के मूल मे पुरुष पर विजय पाने की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति चित्रलेखा के अब तक के जीवन की ही प्रतिक्रिया है। साधारण पुरुष को वह घृणा करती है, इसलिए दूर रहती है। पर बीजगुप्त असाधारण व्यक्ति है। वह सम्पन्न है, युवा है, विद्वान है, सुन्दर है। चित्रलेखा पहले उसको भी साधारण समझ कर उपेक्षा ही देती है, पर जब उसका व्यक्तित्व उसको चुनौती बन जाता है, तब वह मानो उसको विजित-पराजित करने के लिए ही उससे प्रेम करने लगती है। बीजगुप्त उसको पाकर धन्य हो जाता है, उसे सदा के लिए अपना हृदय दे देता है। उसके रूप और नृत्य मे उसका यौवन मादकता पाता है, वह उसमे डूब जाता है। चित्रलेखा स्वतन्त्र नारी होते हुए भी, अपना घर अलग रखते हुए भी, बीजगुप्त की पत्नी की ही भॉति रहने लगती है। दोनो मादकता और यौवन के इस सुख-ससार मे विभोर हो जाते है। भविष्य की वे सोचते तक नही। बीजगुप्त नगर की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी को अपना बनाकर कृतार्थ अनुभव करता है, चित्रलेखा आत्म-बलिदान के बिना ही धन-ऐश्वर्य और विलास का जीवन पाकर कृतार्थ अनुभव करती है। उनका यह सम्बन्ध भोग पर आधारित गहरे प्रेम का उदाहरण है। मदिरा मे डूबा उनका यह जीवन मदिरा जैसा ही विस्मृतिकारी है

"बीजगुप्त ने चित्रलेखा को आलिंगन पाश मे लेकर कहा—'तुम मेरी मादकता हो।'

चित्रलेखा ने उत्तर दिया- —'और तुम मेरे उन्माद हो!'[२]

बीजगुप्त ने हँसकर कहा—'मादकता और उन्माद—इन दोनो का सदा साथ रहा है और रहेगा। चित्रलेखा हम दोनो कितने सुखी है।'"[३]

पर विलास और विस्मरण के आधारो पर टिका हुआ यह सुख न सच्चा है न स्थायी है। यहॉ आत्म-समर्पण नही, आत्म-परिग्रह है। लेखक ने इस प्रेम के इस स्वरूप की ओर अनेक स्पष्ट सकेत दिये है। बीजगुप्त को तन-मन देकर भी चित्रलेखा का व्यक्तित्व अभी आत्म-केन्द्रित ही है। उसे अपनी शक्ति का ज्ञान है और उसके प्रभाव का भी। श्वेताक के साथ वह जिस प्रकार का खेल करती है, उसके फलस्वरूप वह बेचारा जब प्रेम-निवेदन

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ ११)

२. वही : (पृष्ठ १०)

१. वही : (पृष्ठ १३)

करता है तो अपनी विजय के गर्व मे वह जिस प्रकार खिलखिला उठती है, यह उसी का प्रमाण है। इस अवस्था मे नारी के सम्बन्ध मे उसकी जो धारणा है, उसे कुमारगिरि से वार्तालाप करते समय वह स्पष्ट कर देती है 'स्त्री शक्ति है। वह सृष्टि है, यदि उसे सचालित करने वाला व्यक्ति योग्य है, वह विनाश है, यदि उसे सचालित करने वाला व्यक्ति अयोग्य है।'[1] इसलिए वह प्रेम को अमर नही मानती, अनन्य नही मानती। वह प्रेमिका होने पर भी मुक्त है, नारी की उच्छृखलता को वह महज मानती है। जब कुमारगिरि की ओर उसके आकर्षित होने पर बीजगुप्त उससे इस सम्बन्ध मे प्रश्न करता है, तो वह स्पष्ट उत्तर देती है : "चित्रलेखा हँस पडी—'आत्मा का सम्बन्ध अमर है! बडी विचित्र बात कह रहे हो बीजगुप्त! जो जन्म लेता है वह मरता है, यदि कोई अमर है तो अजन्मा भी है। जहाँ सृष्टि है, वहाँ प्रलय भी रहेगा। आत्मा अजन्मा है इसलिए अमर है, पर प्रेम अजन्मा नही है। किसी व्यक्ति से प्रेम होता है, तो उस स्थान पर प्रेम जन्म लेता है। सम्बन्ध होना ही उस सम्बन्ध का जन्म लेना है। वह सम्बन्ध अनन्त नही है, कभी-न-कभी उस सम्बन्ध का अन्त होगा ही। प्रेम और वासना मे भेद केवल इतना है कि वासना पागलपन है, जो क्षणिक है और इसीलिए वासना पागलपन के साथ ही दूर हो जाती है, और प्रेम गम्भीर है। उसका अस्तित्व शीघ्र नही मिटता। आत्मा का सम्बन्ध अनादि नही है बीजगुप्त!'"[2] इस काल के उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे स्वय लेखक स्पष्ट मत देता है 'कुछ ऐसे व्यक्ति होते है, जो दूसरो को अपनी ओर आकर्षित कर लेते है, जो दूसरे व्यक्तित्व को आकर्षित कर के उसको दबा देते है और उसको अपना दास बना लेते है। चित्रलेखा का व्यक्तित्व भी ऐसा ही था। यद्यपि चित्रलेखा अपनी इस आकर्षण शक्ति से भली-भाँति परिचित न थी, पर अनजाने मे ही वह उसका प्रयोग करती थी।'[3]

गर्वीले पुरुष को आकर्षित कर उसे अपना दास बनाने की उसकी प्रवृत्ति ही चित्रलेखा को योगी कुमारगिरि की ओर ले जाती है। इसके लिए वह कोई सचेत प्रयत्न नही करती। प्रेम मे समर्पण न होने के कारण उसका मन अनजाने ही ऐसा बन गया है, जो कुमारगिरि के सौन्दर्य, तेज, ज्ञान, विराग और तप-सयम को चुनौती मान कर उसको विजित करने के लिए निकल पडता है। जब पहली बार बीजगुप्त और चित्रलेखा एक रात अचानक कुमारगिरि के आश्रम में आश्रय लेते है, तब उसके अन्तर्मन की यही दशा हो जाती है। बीजगुप्त इसे पहचान लेता है, और अपनी शका चित्रलेखा पर प्रकट भी कर देता है। पर चित्रलेखा का प्रेमी मन प्रकट रूप मे इस गहन सत्य को स्वीकार नही करता, उल्टे बडा प्रबल प्रतिवाद करता है। पर उसका अन्तर्मन कही-न-कही चोट खाकर तडपने लग गया है। लेखक ने इस मन स्थिति का बडा सुन्दर चित्र खीचा है :

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ ५३)
२. वही : (पृष्ठ ७४)
३. वही : (पृष्ठ १३६)

"चित्रलेखा ने बीजगुप्त को और अपने को धोखा देने का प्रयत्न किया। उसने फिर कहा—'कुमारगिरि निर्जन निवासी है और हम दोनो कर्मक्षेत्र के अभिनेता है। कुमारगिरि ने वासनाओ का हनन कर दिया है और हम दोनो वासनाओ पर विश्वास करते है। कुमारगिरि के जीवन का लक्ष्य है कल्पना का शून्य और हम दोनो के जीवन का लक्ष्य है मस्ती का पागलपन। प्रियतम! ससार मे कोई भी व्यक्ति हम दोनो के बीच मे नही आ सकता।'

बीजगुप्त का मुख प्रसन्नता से चमक उठा—'भगवान ऐसा ही करे।'

चित्रलेखा ने बीजगुप्त को धोखा दे दिया, पर वह अपने को धोखा न दे सकी, उसने मन-ही-मन कहा—'पर कुमारगिरि सुन्दर अवश्य है।'"[1]

ज्यो-ज्यो कुमारगिरि चित्रलेखा की अवहेलना करता है, त्यो-त्यो उसके प्रति चित्रलेखा का आकर्षण प्रबल होता चला जाता है। जब राज-सभा मे शास्त्रार्थ मे जीतने की इच्छा से कुमारगिरि अपने मत्रबल से सारी सभा को सत्य और ईश्वर के दर्शन कराता है, तो सब उसके प्रभाव मे आ जाते है, पर चाणक्य और चित्रलेखा अपनी विकसित आत्म-शक्ति के कारण इस प्रभाव से मुक्त रहते है, और कुछ भी नही देख पाते। चित्रलेखा भरी सभा मे उसका भण्डाफोड भी कर देती है, और योगी कुमारगिरि को चित्रलेखा से पराजित होना पडता है। सम्राट चद्रगुप्त उसे विजयिनी घोषित कर मुकुट पहना देते है, और कुमारगिरि के लिए दण्ड निर्धारित करने का भार भी उसी को सौप देते है। चित्रलेखा कुमारगिरि का समर्पण पाने का इसे उपयुक्त अवसर समझती है, और प्रकट उदारता से उसे क्षमा कर अपना मुकुट उसे पहना देती है। कदाचित् उसके अन्तर्मन की यह आशा थी कि कुमारगिरि लज्जित होकर पश्चात्ताप करेगा, और उसे अपने से महत्तर मान लेगा। पर योगी ऐसा नही करता, वह तेजी से बाहर चला जाता है। चित्रलेखा तब उसके आश्रम मे जाती है, और अपने विनम्र वचनो से उसे प्रभावित कर उसकी शिष्या बन कर दीक्षा लेने का प्रस्ताव कर उसके मुख से पराजय की स्वीकारोक्ति सुनना चाहती है। पर योगी अपनी सीमाएँ जानता है, साथ ही वह चित्रलेखा के प्रति रुष्ट है, आकर्षित नही, इसलिए दीक्षा देना स्वीकार नही करता और चित्रलेखा अपने उद्देश्य मे असफल होकर निराश लौट आती है। अपने प्रत्याख्यान से उसके मन मे योगी के प्रति आकर्षण और भी बढ जाता है। वह श्वेताक से अपने इस मनोभाव को निस्सकोच व्यक्त करती है 'जिस दिन से मैने कुमारगिरि को देखा है, उस दिन से मै उसकी ओर आकर्षित हो रही हूँ। उसकी आत्मा की थाह वही ले सकता है, जिसने उसकी आत्मा को अच्छी तरह समझ लिया हो। मै उसको अच्छी तरह से जानती हूँ और साथ ही उसकी आत्मा को। श्वेताक! कुमारगिरि मेरे जीवन का प्रधान अभिनेता है।'[2]

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ ३७)

२. वही : (पृष्ठ ६३)

बीजगुप्त चित्रलेखा के इस भाव को भली भाँति जानता है तभी तो वह कुमारगिरि और चित्रलेखा के चरित्रो का विश्लेषण करते हुए श्वेताक से कहता है 'चित्रलेखा का व्यक्तित्व बहुत ऊँचा है और प्रभावशाली भी है। कुमारगिरि विद्वान है और योगी है, वासनाओ से उसका बैर है। और चित्रलेखा विदुषी होते हुए भी साधना की विरोधी है। कुमारगिरि और चित्रलेखा दोनो ही अह-भाव से भरे हुए ममत्व के दास है और दोनो ही ममत्व की तुष्टि पर विश्वास करते है, पर दोनो के साधन भिन्न है और विपरीत है। एक ने साधना की शरण ली है, दूसरे ने आत्म-विश्वास की, पर आज जो कुछ हुआ, उमसे दोनो ही व्यक्ति अपने-अपने साधन से विरत हो गये। निकट भविष्य मे दोनो ही अपनी-अपनी शक्ति खो बैठेगे।'[1] और वह यह भी जानता है कि यह टकराहट अवश्वभावी है, उसे बचाया नही जा सकता 'चित्रलेखा परिस्थितियो के चक्र मे पड गई है, कुमारगिरि का उसके जीवन मे आना घातक है और उसका कुमारगिरि के जीवन मे आना कुमारगिरि के लिए घातक है। दुर्भाग्यवश दोनो ही एक दूसरे के जीवन मे बिना जाने हुए अपनी-अपनी साधनाओ को भ्रष्ट करने के लिए आ गए है—भगवान ही उनकी सहायता कर सकता है।'[2]

फिर भी शायद चित्रलेखा का चेतन मन कुमारगिरि से कभी प्रेम-निवेदन न करता, यदि इस अवसर पर उसे एक अनजानी दिशा मे सहारा न मिल गया होता। आर्य मृत्युजय अपनी सर्व-गुण-सम्पन्ना कन्या यशोधरा का विवाह बीजगुप्त से करना चाहते है, और जब बीजगुप्त सब के सामने यह स्वीकार करता है कि चित्रलेखा एक प्रकार से उसकी पत्नी ही है इसलिए उसे अब विवाह करना ही नही है, तब वे चित्रलेखा को वस्तु-स्थिति समझाते हुए कहते है 'जो कुछ तुम कर रही हो, वह अपनी मन प्रवृति के अनुसार, और मै यह भी मानता हूँ कि तुम्हारा सारा व्यवहार प्रेम का है। प्रेम के क्षेत्र मे अपवित्रता का कोई स्थान नहीं है, पर देवि, क्या यह मनुष्य, जिससे तुम प्रेम करती हो, यदि ठीक मार्ग पर न हो, तो उसको ठीक मार्ग पर लाना तुम्हारा कर्तव्य नही है? प्रेम मे त्याग की आवश्यकता होती है, और बीजगुप्त के लिए जो त्याग तुम करोगी, वह महान् होगा।'[3] चित्रलेखा के अचेतन मन को बीजगुप्त को छोडकर कुमारगिरि को अपनाने का यह बडा अच्छा अवसर मिल जाता है। वह मानो बीजगुप्त के हित के ही लिए अपने प्रेम का त्याग कर देती है। वह सोचती है 'बीजगुप्त को सुखी बनाना मेरा कर्तव्य है, उसे मुक्त कर देना ही मेरा महान त्याग होगा और उसके जीवन को सार्थक बनाना होगा। मुझे बीजगुप्त को छोड देना ही पडेगा, सदा के लिए छोड देना पडेगा।'[4] इसके अतिरिक्त इसमे भी सन्देह

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ ५९)
२. वही : (पृष्ठ ६७)
२. वही : (पृष्ठ ८८)
४. वही : (पृष्ठ ९३)

नहीं कि अति-विलास के जीवन से ऊब जाने के कारण भी चित्रलेखा का मन योगी की ओर दौड रहा था। लेखक ने कुमारगिरि के प्रति उसके आकर्षण का विश्लेषण करते हुए उसकी इस ऊब का स्पष्ट उल्लेख किया है 'नगर के अशान्तिमय जीवन से वह घबडा गई थी, निर्जन की शान्ति मे, सात्विकता की आभा मे, विश्वास के परदे पर उसने सुख देखा। जीवन के आमोद-प्रमोद से वह ऊब उठी थी। अति सुख उसके लिए उत्पीडन हो गया था। कुमारगिरि की कुटी के प्रशान्त वातावरण मे चित्रलेखा ने सुख देखा, तृप्ति देखी।'[1]

अदम्य व्यक्ति पर विजय पाने की मूल प्रवृत्ति, अपने आकर्षण को त्याग का रूप दे सकने की सुविधा और विलास के अतिरेक से उत्पन्न ऊब से मुक्ति की कामना —इन तीनो के सम्मिलित प्रभाव से ही चित्रलेखा योगी कुमारगिरि के पास जाकर प्रणय निवेदन करती है। पर इस निवेदन मे अब भी कुछ-न-कुछ छल अवश्य है इसीलिए वह योगी के प्रश्नो का ठीक-ठीक उत्तर नही दे पाती, वह जीवन मे पहली बार स्वीकार करती है 'मेरे शब्द ठीक न थे, मै अपने भावो को ठीक शब्दो मे व्यक्त न कर सकी।'[2] और जब योगी कहता है कि प्रेम समर्पण करता है, विवश नही करता तो वह तत्काल एक नया छल अपनाती है, अपने प्रेम को समर्पण की पोशाक पहना देती है।[3] इस छल का योगी पर असर होता है, यद्यपि वह फिर भी सोचने के लिए समय माँगता है। पर चित्रलेखा इस असमजस से और भी आकर्षित होती है, और प्राय गिडगिडा कर उसका आश्रय माँगती है। योगी मानो उपकार और दया से प्रेरित होकर ही उसे शरण देता है।

फिर भी चित्रलेखा के मन मे बीजगुप्त का प्रेम अकुश का काम करता रहता है। जब बीजगुप्त उससे मिलने आश्रम मे आता है, तब वह ईर्षा चेतना से कहती है 'बीजगुप्त, सम्भवत मै अनुचित कर रही हूँ—उसके लिए क्षमा करना'[4] और इस बात पर बार-बार बल देती है . 'तुम विवाह कर लो'[5] क्योकि बीजगुप्त यदि विवाह कर ले, तो उसके मन से अपराध की यह चेतना निकल जायेगी। यद्यपि कुमारगिरि को प्रसन्न करने के लिए वह प्रकट मे कह देती है 'मै आपको धोखा नही दे रही हूँ—इतना विश्वास रखिये गुरुदेव ! बहुत सभव है कि मै बीजगुप्त को धोखा दे रही हूँ या अपने ही को।'[6] पर उसका अन्तर्मन अभी बीजगुप्त से मुक्त नही है। यह योगी को नीचा दिखाने की उसकी योजना का ही अग है।

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ १३)
२. वही : (पृष्ठ ९६)
३. वही : (पृष्ठ ११६)
४. वही : (पृष्ठ ११६)
५. वही : (पृष्ठ ११५)
६. वही : (पृष्ठ ११७)

और अन्त मे उसकी योजना सफल होती है। चित्रलेखा की उपस्थिति मे योगी के सयम का बाँध धीरे-धीरे टूटने लगता है। वह नाना तर्क-वितर्क के द्वारा चित्रलेखा को साकार की उपासना का माध्यम बनाना चाहता है। चित्रलेखा की जीत हो जाती है क्षण के लिए योगी अपनी तपस्या भूलकर कह बैठता है 'नर्तकी मै तुमसे प्रेम करता हूँ।'[1] पर दूसरे ही क्षण वह सभल जाता है, और बाहर चला जाता है।

पर चित्रलेखा प्रसन्न नही है। योगी का तप खण्डित करने मे उसे स्वय अपना प्रेम भी खण्डित करना पडा है। इसलिए वह फूट, फूट कर रोने लगती है। विशालदेव से कहती है 'मैने यहाँ आकर अपने को गिराया है। अधिक गिरने के लिए मै तैयार नही।'[2] यदि बीजगुप्त इस बीच में पाटलिपुत्र छोड कर काशी न चला गया होता, तो इस समय वह उसके पास लौट जाती। जब लौटने का मार्ग रुद्ध दीखता है तो वह अपने क्रोध मे योगी की भर्त्सना कर उठती है। इस भर्त्सना मे योगी की पराजय पर गर्व और अपने पतन पर त्रास—दोनो के मेल से विचित्र शक्ति आ जाती है . 'मै जानती हूँ कि तुम मुझसे प्रेम करते हो, पर मै तो तुमसे प्रेम नही करती। एक क्षण के लिए मेरी इच्छा तुम पर आधिपत्य जमाने की हुई थी, और मैंने उसका प्रयत्न किया। मैं सफल भी हुई, पर उससे क्या? पुरुष पर आधिपत्य जमाने की इच्छा स्त्री के पुरुष से प्रेम की द्योतक नही है, प्रकृति ने स्त्री को शासन करने के लिए नही बनाया है। स्त्री शासित होने के लिए बनाई गई है, आत्म-समर्पण करने के लिए। स्त्री अपने से निर्बल मनुष्य से प्रेम नही कर सकती, जिस मनुष्य पर उसने आधिपत्य जमा लिया, वह मनुष्य उसके प्रेम का अधिकारी हो ही नही सकता।'[3]

इस भर्त्सना से योगी की आँखे खुल जाती है। वह फिर से अपने व्यक्तित्व को ऊँचा बनाना चाहता है। चित्रलेखा उस पर दया कर कुछ दिन और साथ रहने के लिए सहमत हो जाती है। पर चित्रलेखा की उपस्थिति योगी को सयम की ओर नही, प्रेम की ओर ही धकेलती है। अत मे वह और कोई उपाय न देखकर चित्रलेखा को यह मिथ्या सवाद देता है कि बीजगुप्त ने यशोधरा से विवाह कर लिया है। चित्रलेखा सहज ही इस पर विश्वास नही करती, पर योगी अत मे अपने छल मे सफल हो जाता है। बीजगुप्त को विश्वासघाती समझ कर ही वह योगी का प्रेम स्वीकार कर लेती है। फिर भी वह योगी की युगो से दमित वासना का उग्र रूप देखकर सुख नही पाती, काँपती -सी रहती है 'वह मलय समीरण से अठखेलियाँ करने आई थी, ज्वालामुखी मे जलने न आई थी।'[4] 'उस व्यक्ति का

१· भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ १४१)

१. वही : (पृष्ठ १४१)

२. वही : (पृष्ठ १४४)

३. वही : (पृष्ठ १४७)

४. वही : (पृष्ठ १४०)

मुख, जिसके साथ रात-भर उसने भोग-विलास किया; उसे इतना भयानक तथा घृणोत्पादक क्यो लग रहा था ?"[१]

बीजगुप्त के प्रति अपने प्रेम मे एक अटूट निष्ठा के कारण अपने पतन की चेतना और योगी की वासना के इस घृणित रूप—दोनो के कारण चित्रलेखा का मन ग्लानि से भर उठता है। उसकी यह आत्म-ग्लानि तब और भी तीव्र हो जाती है जब उसे पता लगता है कि यशोधरा का विवाह बीजगुप्त से नही, श्वेताक से हो रहा है, और इस सम्बन्ध को सम्भव बनाने के लिए बीजगुप्त ने अपनी समस्त सपत्ति श्वेताक को दान करना पसन्द किया है, पर चित्रलेखा के प्रति अपने प्रेम को छोडना पसन्द नही किया। अब वह योगी के पास एक क्षण नही ठहरना चाहती। उसको प्रेम के एक नये तत्त्व का परिचय मिलता है—आत्म-त्याग का। इस तत्व की प्रतीति करते ही उसका मार्ग अपने आप निश्चित हो जाता है। वह योगी की कातर पुकार पर उसे धिक्कारती हुई कहती है : 'वासना के कीडे! तुम प्रेम क्या जानो? तुम अपने लिए जीवित हो, ममत्व ही तुम्हारा केन्द्र है—तुम प्रेम करना क्या जानो? प्रेम बलिदान है, आत्म-त्याग है, ममत्व का विस्मरण है। तुम्हारी तपस्या और तुम्हारा ज्ञान—तुम्हारी साधना और तुम्हारी आराधना—यह सब भ्रम है, सत्य से कोसो दूर है। तुम अपनी तुष्टि के लिए गृहस्थ आश्रम की बाधाओ से कायरतापूर्वक सन्यासी का ढोग लेकर विश्व को धोखा देते हुए मुख मोड सकते हो—तुम अपनी वासना को तुष्ट करने के लिए मुझे धोखा दे सकते हो और फिर भी तुम प्रेम की दुहाई देते हो!'[२] बीजगुप्त के प्रति उसका प्रेम अब एक नये धरातल पर आ जाता है। उसका त्याग और अनन्य भाव चित्रलेखा को भी समर्पण और अनन्यता सिखा देता है। वह ग्लानि और पश्चात्ताप मे गलती, रोती-गिडगिडाती बीजगुप्त के चरणो मे जा गिरती है।[३] वह अब वैभव नही चाहती, मादकता नही चाहती, विजय नही चाहती, तृप्ति भी नही चाहती, केवल प्रेम चाहती है, आत्मा का पवित्र सात्विक प्रेम। और वे दोनो अथाह ससार मे प्रेम की नौका पर बैठ कर निकल पडते है।[४]

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ १७२)

२. वही : (पृष्ठ १७५)

३. 'मेरे देवता! मेरे देवता!! मुझे क्षमा करो'—इतना कह कर वह मूर्ति (चित्रलेखा) बीजगुप्त के चरणों पर गिर पड़ी।

.. ..

'अपने देवता की चरण-रज लेने। अपने देवता की पूजा करने के लिए।' चित्रलेखा खडी हो गई—'नाथ! मैंने तुम्हारा जीवन नष्ट कर दिया, मैंने तुम्हें मिटा दिया। तुम मुझे शाप दो, दण्ड दो, मुझे ताड़ित करो—पर मुझ से घृणा न करो!'

वही : (पृष्ठ १९०)

४. 'चित्रलेखा उठ खड़ी हुई—'तो फिर ऐसा ही हो—संसार मे हम दोनो भिखारी बन-

इस प्रकार वर्मा जी ने चित्रलेखा के जीवन के माध्यम से नारी-प्रेम की पाँच स्थितियों का बडा कुशल, यथार्थ एव मार्मिक चित्रण किया है और अन्त में प्रेम मे परस्पर निस्वार्थ आत्म-समर्पण को महत्त्व देकर नारी के सम्मुख शाश्वत आदर्श उपस्थित किया है। पत्नी, विधवा, नर्तकी, प्रेमिका—इन चार रूपो से होती हुई चित्रलेखा अन्त मे साध्वी और अनन्य सहयोगिनी बन जाती है।

छायावाद के प्रवर्तक होने के नाते जयशकर 'प्रसाद' भारत के प्राचीन इतिहास एव सस्कृति के प्रति अत्यत श्रद्धालु थे। अपने नाटको मे उन्होने मौर्यकालीन और गुप्तकालीन ऐतिहासिक प्रसगो द्वारा अत्यन्त उत्कृष्ट चरित्रो की सृष्टि की और राष्ट्र-प्रेम एव सास्कृतिक चेतना का विकास किया। यह दुख का विषय है कि ऐतिहासिक उपन्यास की ओर उनका ध्यान बहुत देर मे गया। असामयिक निधन के कारण वे अपना एकमात्र ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती' अधूरा ही छोडकर चले गये। उसका जो अश उपलब्ध है वह उनके निधन के बाद प्रकाशित हुआ है। १०८ पृष्ठ की इस अधूरी रचना के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से मत व्यक्त करना उपयुक्त न होगा, तथापि उसमे चित्रित इरावती और कालिन्दी के चरित्रो पर ध्यान देना आवश्यक है।

जयशंकर 'प्रसाद'

'इरावती' मे मौर्य काल के अन्तिम दिनो की कहानी है। अशोक के समय से ही बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार होने लगा था, और उसे राज-धर्म की प्रतिष्ठा भी मिल चुकी थी। देश-भर में अनेक स्थानो पर बौद्ध सघो की स्थापना हो चुकी थी। पर कालान्तर मे बौद्ध जीवन-प्रणाली मे अनेक दोष दिखाई देने लगे। एक ओर सघो के कठोर नियम-पालन से साधारण जन भयभीत होने लगा, दूसरी ओर बोद्ध सिद्धान्तो की आड में राजन्य वर्ग भोग-विलास की ओर उन्मुख होने लगा। सनातन वर्णाश्रम धर्म फिर से नई प्रतिष्ठा पाने लगा और फलस्वरूप बौद्ध एव ब्राह्मण सिद्धान्तो मे टकराहट होने लग गई। 'इरावती' में यही टकराहट ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का कार्य करती है। मौर्य साम्राज्य के अन्तिम विलासी राजा वृहस्पतिमित्र के काल मे पाटलिपुत्र की शोचनीय दशा, उत्तर-पश्चिम से यवनो का आक्रमण और दक्षिण से खारवेल की चुनौती मुख्य कथानक के रूप मे चित्रित है।

इस पृष्ठभूमि और कथानक मे इरावती और अग्निमित्र का प्रेम सूत्र का काम करता है। अग्निमित्र मौर्य साम्राज्य के महादण्डनायक प्रचण्ड पुष्यमित्र का पुत्र है, उनका आदि स्थान मालव है। अग्निमित्र जब विदिशा में रहता था तभी वह विधवा पडोसिन की पुत्री इरावती के प्रति अनुरक्त था। जब इरावती की माँ की मृत्यु हो जाती है तब वह

कर निकल पड़े। प्रेम और केवल प्रेम हमारा आधार हो! मेरे देवता! मै अपनी सम्पत्ति आज ही दान किये देती हूँ—रात में हम दोनों ही अथाह संसार में प्रेम की नौका पर बैठ कर निकल चलें।'

भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ १९२)

अग्निमित्र से आश्वासन पाती है। पर कुछ दिनो बाद अग्निमित्र का आना-जाना भी बन्द हो जाता है और वह अपने परिवार से इरावती के प्रसग के कारण रुष्ट होकर अन्यत्र चला जाता है। इरावती निरुपाय होकर उज्जयिनी के महाकाल के मदिर मे अपनी नृत्यकला के बल पर देवदासी बन जाती है। अग्निमित्र उच्च कुल का वशज है, इसी लिए उनका प्रेम विफल होता है। पर वे फिर भी एक-दूसरे को अपने हृदय से नही भुला पाते।

सयोग की बात है कि जिस दिन अग्निमित्र इरावती को खोजता महाकाल के मदिर मे पहुँचता है, उसी दिन राज्य-व्यवस्था का निरीक्षण करता हुआ युवराज वृहस्पतिमित्र भी वही पहुँचता है। इरावती के नृत्य-प्रदर्शन मे दोनो उपस्थित होते है। युवराज देव-मन्दिर मे इस कामुक नृत्य-प्रदर्शन से क्षुब्ध हो कर इरावती को बन्दी कर लेना चाहता है। तभी समाचार आता है कि वृद्ध सम्राट का देहावसान हो चुका है, और युवराज सम्राट बन गया है। वह इरावती को पाने की लालसा से उसे कुछ दिनो के लिए एक बौद्ध-बिहार मे रखने की आज्ञा देकर राजधानी की ओर चल देता है। अग्निमित्र इस व्यवस्था का विरोध करना चाहता है, पर इरावती उसे वारण कर देती है। वह आत्माभिमान भरे स्वर मे कहती है :

'मुझसे पूछे तुम रह नही सकते ? अग्नि ! मै जीवन-रागिनी मे वर्जित स्वर हूँ। मुझे छोडकर तुम सुखी न हो सकोगे।'

'इरा ! यह असम्भव है। मै तुमसे अपनी असमर्थता का विवरण देना चाहता हूँ। जिस अवस्था मे मुझे तुमसे अलग रहना पडा·····।'

'ठहरो, मुझे उसकी आवश्यकता नही। तुम यही न कहोगे कि तुम्हारे गुरुजन मेरा और तुम्हारा सम्बन्ध आँखो से नही देख सके। और तुम उनका प्रत्याख्यान नही कर सकते थे। ठीक है ! गुरुजन ! बाल्य-काल मे जितनी सेवा-सुश्रूषा, प्यार-दुलार और आज्ञाकारिता तुम्हारी कर चुके है, उस सब का प्रतिदान चाहते है। और तुम ऋणी हो, उसे चुकाना पडेगा। मेरा तो तुमसे कुछ प्राप्य नही। झिडकी, मारपीट और चिढाना यह सब जो था वह तो शैशव मे ही मिल चुका था। फिर अब आदान-प्रदान कैसा ?'

'इरा ! तुम मुझे कहने भी न दोगी। तुम्हारे निरुद्देश्य होने पर मै कहाँ-कहाँ भटकता हुआ यहाँ' ··· '

'मुझसे मिले, मुझे बचाना चाहते हो। यह तुम्हारी अनुकम्पा है। परन्तु मेरे ऊपर मेरा भी कुछ ऋण है। मैने भी अपने को, इतने दिनो से ससार से सार लेकर—भीख माँग कर—अनुग्रह से अनुरोध से जुटा कर कैसा कुछ खडा कर दिया है। उस मूर्ति को क्यो बिगाडूँ ? स्त्री के लिए, जब देखा कि स्वावलम्ब का उपाय कला के अतिरिक्त दूसरा नही; तब उसी का आश्रय ले कर जी रही हूँ। मुझे अपने मे जीने दो।[1]

---

१. जयशकर 'प्रसाद' : 'इरावती' (पृष्ठ १५-१६)

पर भिक्षुणी-सघ के ीरस, कठोर, मृतप्राय जीवन मे शीघ्र ही उसका दम घुटने लगता है, और वह अपना अभिमान भूल कर शिप्रा मे नौका पर सवार अग्निमित्र को देखकर चीख उठनी है 'मै तुम्हारे साथ चलना चाहती हूँ। उस दिन मैंने भूल की थी। ठहरो, नाव रोको।'[1]

और जब तक सैनिक उसे पकडे तब तक वह शिप्रा मे कूद पडती है, उसकी प्राण-रक्षा के लिए अग्निमित्र भी कूद पडता है। पर जब दोनो नौका पर लौटते है तो अग्निमित्र के गुरुदेव, महाकाल के पुजारी उन्हे सैनिको को सौप देते है। कुसुमपुर ले जाकर इरावती को एक अन्य भिक्षुणी विहार मे रख दिया जाता है और अग्निमित्रको बन्दीगृह मे रख दिया जाता है। बृहस्पतिमित्र (जो अब सम्राट हो चुका है) चाहता है कि इरावती को किसी छोटे-मोटे अपराध पर सघ से निर्वासित कर दिया जाय ताकि वह उसकी रगशाला की शोभा बढा सके। इरावती अपनी परिस्थिति से समझौता कर अपने मन को मार कर सघ जीवन अपना लेती है। वह सकल्प करती है · 'मै बलपूर्वक अपने हृदय से उन कोमल अनुभूतियो को निकाल दूँगी। काम-सुखो की स्मृतियो को कडी-से-कडी फटकार दूँगी। प्रयत्न करूँगी।'[2]

इसी कठिन सयम के बीच एक दिन वह पथ पर चलते एक ब्राह्मण ब्रह्मचारी से आलाप कर बैठती है जो कहता है 'आनन्द के उल्लास की यात्रा ही जीवन है। यह भूल क्यो गई हो।'

इरावती—'परन्तु मुझे तो अपने कर्मो पर पश्चात्ताप की ज्वाला मे जलने की आज्ञा मिली है। और इस यातना का कभी अन्त होगा कि नही, नही कह सकती।'

'कौन-से ऐसे कर्म है देवि जिन्हे हम आनन्द की भावना मे भस्म नही कर सकते। तुमसे कौन-सा अपराध हुआ है?'

'मै नही जानती। लोग कहते है—मैं नाचती थी, आनन्द मनाती थी, यही मेरा अपराध हो सकता है।'

'माँ तुम शक्ति स्वरूपा हो, अन्तर्निहित आनन्द की अग्नि प्रज्वलित करो।'[3]

महास्थविर इसी को उपयुक्त अवसर मानकर इरावती को सघ से निकाल देते है। इरावती निर्वासन का दण्ड प्रसन्न होकर स्वीकार करती है . 'कही भी, इस दिवालोक मे घूमते-घूमते सध्या तक कही-न-कही शरण मिल ही जायगी। मै भी देख लूँ कि विश्व मे, मुझे खडी होने के लिए कही हाथ भर भूमि है कि नही। ऊपर तारा या मेघो की छाया मिलती है कि नही। आर्य्ये! मिलेगी! अवश्य मिलेगी। तो मैं जाती हूँ।'[4]

---

१. जयशकर 'प्रसाद' : 'इरावती' (पृष्ठ २३)
२. वही : (पृष्ठ ३९)
३. वही : (पृष्ठ ५८-५९)
४. वही : (पृष्ठ ६१)

इ रावती पथ पर आ जाती है। इस बीच अग्निमित्र को उसके पिता पुष्यमित्र ने राजा से क्षमा दिलाकर सेना मे नायक पद दिला दिया है क्योंकि राज्य को कुशल वीरो की आवश्यकता है। इरावती के बुद्ध-विहार से निकलने के कुछ ही क्षण उपरान्त अग्निमित्र वहाँ पहुँचता है, और यह समाचार पाकर सर्वत्र उसकी खोज करता है। हार कर वह सुगाग-प्रासाद मे कालिन्दी के पास जाता है। वही इरावती ने शरण ले रखी है। पर वह यह भेद जान भी नही पाता कि कुछ राजपुरुष आकर बलात् इरावती को ले जाते है, और अग्निमित्र उसको बचाने के प्रयत्न मे आहत होकर मूर्छित हो जाता है।

राजपुरुषो के द्वारा इरावती मगध-नरेश की रगशाला मे पहुँचती है। वहाँ वृहस्पति-मित्र उससे प्रणय-निवेदन करता है। पर इरावती सर्वथा निरापराध होकर भी जीवन मे इतने कटु अनुभव भोग चुकी है कि वह प्रणय की यह भेट किसी प्रकार स्वीकार नही करती · 'आप सम्राट है। तब भी मै अपने को सुरक्षित नही समझती। आपको नही मालूम कि मै आरम्भ की देवदासी हूँ। फिर · ओह अधकार की, शून्य की उपासिका भिक्षुणी ! मुझे काम-सुख की प्रवचना मे फँसाना धर्म होगा ?'[1]

जब सम्राट बल-प्रयोग करने लगता है तो इरावती मूर्छित हो जाती है। तभी कालिंदी वहाँ पहुँचकर उसकी रक्षा करती है और अपने साथ ले जाकर अपनी सहेली की भाँति रखती है। इरावती भी कालिन्दी को स्वामिनी की भाँति श्रद्धा करती है।

बाद मे जब राज्य-रक्षा के लिए वृहस्पतिमित्र चाहता है कि कलिगनरेश मेघवाहन खारवेल राजगृह से लौट जाने की बजाय कुसुमपुर तक आये तो कालिन्दी इस कार्य का भार अपने ऊपर ले लेती है और इरावती के साथ राजगृह जाकर वह खारवेल को श्रेष्ठी धनदत्त के यहाँ आकर्षित कर लेती है। वहाँ अग्निमित्र भी उपस्थित होता है। धनदत्त के घर भोजन के उपरान्त खारवेल के बीणा-वादन पर इरावती नृत्य करती है जिस पर खारवेल मुग्ध होकर उसे एकावली उपहार मे देना चाहता है। पर इरावती अस्वीकार कर देती है. 'मै आर्य्ये कालिंदी की अनुचरी हूँ। मै उपहार नही ले सकती। क्षमा कीजिए।'[2] और वह अवगुण्ठन मे छिपी, मौन अग्निमित्र के सामने आकर बैठ जाती है।

इसके आगे की कथा लेखक नही लिख सका।

इरावती के माध्यम से 'प्रसाद' ने बौद्ध प्रभाव के कारण नारियो के अध पतन और भिक्षुणियो के अस्वाभाविक निरानन्द जीवन का अच्छा चित्र उपस्थित किया है। वहाँ व्यक्ति की कोमल भावनाओ का सर्वथा निषेध है, ये भावनाए चाहे प्रकृति के प्रति हो या व्यक्ति के प्रति। उनका मत है कि क्योंकि रात्रि का सौन्दर्य, कामभोग के लिए मन को उत्तेजित कर सकता है[3] इसलिए वर्ज्य है, किसी पुरुष के साथ वार्तालाप कोमल भावनाओ

---

१ जयशंकर 'प्रसाद' : 'इरावती' (पृष्ठ ७९)
२. वही : (पष्ठ १०६)
३. वही : (पृष्ठ १७)

को जन्म देता है। इसलिए वह भी वर्जित है, नाच-गान और कला व्यक्ति के भावों का विकास करती है, उन्हे आन्दोलित करती है इसलिए वह वर्जित है। दूसरी ओर अग्निमित्र का प्रेम सच्चा होने पर भी अपने पिता से विद्रोह नही कर पाता, और इरावती अपने एकागी प्रेम मे अटल रहकर राज-कृपा और राज-दण्ड दोनो से त्रस्त होती है।

इरावती के अतिरिक्त उपन्यास मे दो नारी पात्र और हैं कालिन्दी और मणिमाला। कालिन्दी मौर्यों से पराजित-प्रताडित नद-वश की कन्या है। वह असाधारण रूपसी है। वयोवृद्ध राजा शतधनुष उसे अपनी काम-लालसा की पूर्ति के लिए पकडवा मँगाते है, पर उसके आते-न-आते ही उनकी मत्यु हो जाती है। कालिन्दी इस दुहरे अपमान से क्षुब्ध होकर मौर्यवश का नाश करने का सकल्प कर लेती है। उसमे अदम्य साहस है, षड्यत्र और कूटनीति मे सिद्धहस्त है और अपने भावो को छिपाकर कपट-अभिनय मे पारगत है। वह कुसुमपुर मे विद्रोहियो के गुप्तदल 'स्वान्तिक-दल' की नेत्री बन जाती है। नाना प्रकार के छल-बल से धन और शक्ति का सग्रह करती रहती है ताकि अवसर पर उपयोग कर सके। इसीलिए वह इरावती को अपने यहाँ शरण देती है। अपने रूप के प्रभाव से वह अनभिज्ञ नही है, और उसको अपनी उद्देश्यपूर्ति का साधन बनाने मे भी नही हिचकती। वह जानती है कि राज्य के विरुद्ध अनेक शक्तियाँ सिर उठाने की चेष्टा मे है। पुष्यमित्र की योजना जानकर और अग्निमित्र को अपने लिए उपयोगी समझकर ही वह उससे प्रणय निवेदन करती है, यद्यपि उसमे सच्ची भावना की भी झकार मिलती है। पर फिर भी उसे सरल, निस्वार्थ प्रेम नही कहा जा सकता। उसके प्रणय वाक्य ही उसकी योजना को प्रकट करते है: 'मै तुम्हे · केवल तुम्हारी सहायता इस ससार के सुख-दुःख मे चाहती हूँ। कालिन्दी को और कुछ नही चाहिए। देखो, मगध का साम्राज्य तुम्हारा होगा और तुम मेरे, केवल मेरे हो जाओ। मै जीवन मे निष्ठुर कल्पना लेकर ही जीवित हो रही थी, किन्तु तुमने उसमे न जाने कहाँ से माधुर्य्य की पुट लगाकर उसे कैसा कुछ बना दिया है।'[1] इसीलिए वह अग्निमित्र को इरावती से विमुख करने का भी प्रयत्न करती है।

बाद मे जब कालिन्दी राज-रग-शाला मे पहुँचकर इरावती की रक्षा करती है तब बृहस्पतिमित्र उसके असाधारण रूप से आकर्षित होकर इरावती को भूलकर उसी से प्रेमालाप करने लगता है। कालिन्दी उसका प्रत्याख्यान नही करती, वरन् वह कौशल से राजकीय रहस्यो का उद्घाटन करती है, और अपनी शक्ति बढाने के लिए वह राजाज्ञा से खारवेल को लुभाने का भी कार्य करती है। प्रतिशोध मे उसकी अटूट लगन प्रशसनीय अवश्य है, पर उसके आचरण की अनैतिकता निन्दनीय है।

नारी के इन दो चरम रूपो के बीच मे मणिमाला का चरित्र है जो साधारण नारी है। श्रेष्ठी धनदत्त की पत्नी होने के कारण उसे कोई अभाव नही, पर अपने पति की लोलुपता बुरी लगती है। जब धनदत्त विदेश जाता है, तब कुसुमपुरी को सकटापन्न समझकर

---

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'इरावती' (पृष्ठ ६५)

औरो की भाँति वह भी अपने एक विश्वासपात्र सेवक के साथ सारा धन लेकर चल देती है। बाद मे धनदत्त उसे लौटा लाता है, पर जाने का उसे कोई परिताप नही है। कुछ दिन दोनो मे मनमुटाव हो जाता है, फिर समझौता हो जाता है। पर वे दोनो एक दूसरे पर सदेह करते ही रहते है। जब मणिमाला ब्रह्मचारी के साथ देव-दर्शन को जाना चाहती है, तब धनदत्त सदेह करता है, और जब धनदत्त इरावती और कालिन्दी से आत्मीयतापूर्ण सभाषण करता है तो मणिमाला सदेह करती है। यह सदेह उस युग के विशृंखल, विलासी, अनैतिक जीवन मे नारी की स्थिति का प्रतीक है।

'निराला'

ऐतिहासिक उपन्यास लिखने मे 'निराला' की प्रेरणा का स्रोत 'प्रसाद' से भिन्न है। दोनो लेखक छायावाद के प्रवर्तक होते हुए भी भिन्न भिन्न दृष्टि से इतिहास की ओर गये है। 'प्रसाद' अतीत के सास्कृतिक गौरव के शोधक है, 'निराला' रूढियो से विद्रोह कर स्वप्नशील जीवन का चित्र खीचते है। 'प्रभावती' (१९३६) उनका एकमात्र ऐतिहासिक उपन्यास इसका प्रमाण है। 'प्रभावती' की कथा राजपूत-कालीन है जब दिल्ली मे अतिम भारतीय राजा पृथ्वीराज राजा राज्य कर रहा था। जनश्रुति के अनुसार पृथ्वीराज जयचद्र की पुत्री सयोगिता को प्रेम करता था। उसको बलपूर्वक हर लाने के कारण ही जयचद और पृथ्वीराज मे युद्ध हुआ था और इस गृह-कलह के फलस्वरूप देश मे विदेशियो का शासन स्थापित हुआ था। 'प्रभावती' मे निराला ने इतिहास की इस पृष्ठभूमि मे एक काल्पनिक कथा द्वारा कुछ स्वप्न और आदर्श स्थापित किये है जो तत्कालीन स्थिति का विवेचन प्रस्तुत करते है। यही कारण है कि उपन्यास के प्रमुख नारी पात्र प्रभावती और यमुना—आदर्श रूप मे चित्रित किये गए है।

प्रभावती अलौकिक सुन्दरी है। बैसवाडे की घनी अमराइयो के बीच गगा के किनारे किले की सीढियो से चाँदनी रात मे उतरती हुई आभूषणो से सजी हुई राजकुमारी प्रभावती साक्षात् अप्सरा-सी जान पडती है। पर वह केवल सुन्दरी ही नही, वीर भी है। जगल मे आखेट के लिए जाने पर उसकी भेट राजकुमार देव से होती है। दोनो एक दूसरे पर मुग्ध हो जाते है। वे जानते है कि उन दोनो के कुलो मे परम्परागत वैर है, इसलिए उनके पिता उनके विवाह के लिए कभी सहमत न होगे। पर कुल की इस रूढि के लिए वे अपने प्रेम को विफल करना गलत समझते है। अपनी सखी और दासी यमुना की सहायता से प्रभावती देव से गान्धर्व विवाह कर लेती है और इस प्रकार रूढ़ि के प्रति विद्रोहिणी सिद्ध होती है। बाद मे वह पृथ्वीराज और सयोगिता की रक्षा करती-करती वीरगति प्राप्त करती है। यद्यपि घटनाओ के घटा-टोप मे लेखक चरित्रो का सम्यक् विकास नही कर पाया है, फिर भी प्रभावती रूप, प्रेम, वीरता और देशभक्ति की आदर्श प्रतिमा जान पडती है।

उपन्यास मे प्रभावती से भी अधिक महत्त्वपूर्ण चरित्र है यमुना का। यमुना यद्यपि प्रभावती की परिचारिका के रूप में रहती है किन्तु वही वह बुद्धि है, जिससे सारे कार्य

सचालित होते है। उसमे वीरोचित साहस, धैर्य, तेजस्विता, सामयिक सूझ और कर्तव्य निष्ठा का असाधारण समावेश है। इन्ही गुणो के कारण उसका चरित्र आदर्श बन गया है। जब बलवन्त बलपूर्वक प्रभावती को ग्रहण करना चाहता है जिसके कारण प्रभावती अनेक कष्टो मे पड जाती है, तब यमुना ही उसको कष्टो से मुक्ति दिलाकर देव से उसके गाधर्व विवाह का प्रबन्ध करती है।

यही नही, यमुना अपने देश और जाति की रक्षा करना अपना कर्तव्य और दायित्व समझती है। वह और प्रभावती मिलकर सैन्य सग्रह कर लालगढ की रक्षा करने मे सफल होती है। वह मध्ययुगीन रूढिवादिता, उत्पीडन और दासता के दुष्परिणामो से भी परिचित है। वह यह भी जानती है कि राजकुलो की आपसी स्पर्द्धा और बौद्ध एव वर्णाश्रम धर्मो की कलह देश को छिन्न-भिन्न कर देगी। इसीलिए वह जनहित को ही सच्चा मान कर स्पष्ट शब्दो मे घोषित करती है 'जिससे समस्त जाति की प्रीति हो, शक्ति पाये, वह क्षत्राणी। हमे प्रजा की सेवा के लिए अपना सर्वस्व दे देना होगा।'[1]

इस प्रकार निराला ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे आधुनिक प्रगतिशील विचारो का आरोपण किया है। लेखक का आदर्श यमुना के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ है।

उपन्यास मे नर्तकी विद्या का चरित्र भी असाधारण और आकर्षक है। वह नर्तकी होकर भी एकनिष्ठ और कर्तव्य-परायण है। यमुना की बहन रत्नावली भी अपने सयम, आत्मोत्सर्ग और कर्तव्यनिष्ठा से आदर्श नारी की प्रतिष्ठा पाती है। 'प्रभावती' के नारी पात्रो का ऐसा आदर्श चित्रण कर 'निराला' ने नारी जाति के प्रति अपनी श्रद्धा और आस्था का परिचय दिया है।

प्रेमचन्दोत्तर काल

प्रेमचन्द-युग के ऐतिहासिक उपन्यासो मे एक बात समान रूप से मिलती थी कि लेखक भारतीय सस्कृति और भारतीय अतीत जीवन के प्रति ललक रखते थे पर प्रेमचन्द-युग की समाप्ति तक हिन्दी साहित्य मे कुछ नई प्रवृत्तियाँ दिखाई पडने लग गई थी। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन अब जन-आन्दोलन बन चुका था। स्वराज्य का अर्थ अब जनता का राज्य माना जाने लगा था। इसलिए जन-साधारण के जीवन की ओर लेखक विशेष आग्रह रखने लगा। जो स्वार्थ और विशेषाधिकार साधारण जन को बन्धन मे रखते थे उनकी ओर लेखक घृणा से देखने लगे। इसी के फलस्वरूप साहित्य मे वर्ग-सघर्ष का भी समावेश हुआ और समाजवादी मार्क्सवादी विचारधाराएँ जनता की जय की कामना करने लगी। इन प्रवृत्तियो का ऐतिहासिक उपन्यासो पर भी प्रभाव पडा। अब लेखक मौर्य अथवा गुप्तकालीन स्वर्णयुग की चर्चा न कर उन विस्मृत गण-राज्यो की चर्चा करने लगा जिनमे वह वर्गहीन समाज की आदिम झाँकी देखता था। साथ ही ऐतिहासिक

---

१. 'निराला' : 'प्रभावती' (पष्ठ ६४)

घटनाओ के स्थान पर वह जीवन के विकास के विश्लेषण को महत्त्व देने लगा। और सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन नये जनवादी दृष्टिकोण से करने लगा। क्योंकि यह काल दूसरे महायुद्ध का काल भी है इसलिए इसमे जो ऐतिहासिक उपन्यास रचे गए, उनमे विदेशी आक्रमणो की चर्चा भी बहुधा की गई और अधिकतर उपन्यासो मे सामन्तो के स्वार्थ और जनता की सच्ची शक्ति दोनो का उल्लेख मिलता है। इस काल के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार राहुल साकृत्यायन, यशपाल, चतुरसेन शास्त्री, रामरतन भटनागर, और हजारीप्रसाद द्विवेदी है।

राहुल ने भारत के प्राचीन इतिहास का और मार्क्सवादी दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया है और उनके उपन्यासो मे हमे दोनो का समन्वित रूप मिलता है। यद्यपि उनके उपन्यासो का प्रमुख कथानक और थोडे-बहुत चरित्र प्रामाणिक है तथापि जिन चरित्रो पर राहल बल देते है वे उनकी कल्पना की सृष्टि है। एक वाक्य मे हम कह सकते है कि राहुल के ऐतिहासिक उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित समाजवादी दर्शन के आलोक मे प्राचीन भारतीय जन-जीवन के कल्पना-चित्र है।

राहुल सांकृत्यायन

इस अवधि मे राहुल के दो उपन्यासो पर विचार करना अभीष्ट है। 'सिह सेनापति' और 'जय यौधेय'। 'सिह सेनापति' की कहानी वैशाली गण-राज्य और मगध साम्राज्य के सघर्ष की कहानी है। वैशाली गणराज्य होने के कारण सामाजिक अवस्था मे आस-पास के अन्य राज-तत्रीय राज्यो से अधिक उन्नत और समृद्ध है। इसीलिए वह मगध जैसे साम्राज्य से टक्कर लेने मे भी नही हिचकता। वहाँ की नारियाँ भी अन्य राज्यो की नारियो की अपेक्षा अधिक समर्थ, वीर, कर्तव्य-परायण और पुरुषो की सहयोगिनी है। उपन्यास मे उनका प्रतिनिधित्व भामा करती है। भामा सेनापति सिह की भार्या है। उसकी विनोदप्रियता असाधारण है। महिलाओ की मडली मे उसकी प्रसन्न बातचीत सब को हर्षित और आनन्दित करती है।

किन्तु भामा केवल विनोदिनी नही है वह वीर भी है और प्रबन्ध-कुशल भी। जब वैशाली के गणराज्य पर मगध का आक्रमण होता है, तब वह गण की रक्षा के लिए लिच्छवि नारियो की परिषद सगठित करती है, उनको गोष्ठियो मे एकत्र कर युद्ध नीति और अस्त्र-विद्या की शिक्षा का प्रबन्ध करती है। वह उनमें साहस का सचार करती हुई कहती है 'बहन रोहिणी के-से हाथो की आवश्यकता है जिसने सौ बिम्बसार के बराबर बलशाली पार्शव राज के मद को चूर किया है·· हम दोनो ने तय किया है कि मनोरथ और सिह के हाथो मे जब खड्ग होगा, तो हम भी खड्गधारिणी बनेगी। क्या तुम भी बहिनो चाहती हो खड्गधारिणी बनना।'[१] अपने इसी उत्साह और सकल्प के बल पर वह पचास हजार लिच्छवि नारियो की सेना सगठित करने मे सफल होती है और उसकी नेत्री चुनी जाती है।

---

१. राहुल सांकृत्यायन : 'सिह सेनापति' (पृष्ठ १३४)

युद्ध छिड जाने पर वह सारी सैनिक आवश्यकताओ का प्रबन्ध स्वय करती है। घायलो की सुश्रूषा, मृतको की दाह-क्रिया, हथियारो का सग्रह और रणभूमि मे शत्रु से लोहा लेना—ये सारे कार्य वह जिस कुशलता और लगन और दूरदर्शिता से करती है उसको देखकर लक्ष्मी बाई जैसी वीर नारियो का स्मरण हो आता है।

उपन्यास मे भामा के अतिरिक्त रोहिणी का चरित्र भी महत्वपूर्ण है। रोहिणी तक्षशिला के आचार्य बहुलाश्व की सुन्दरी पुत्री है। जब सिंह विद्या-अध्ययन के लिए वहाँ जाता है, तब रोहिणी से उसका परिचय होता है। धीरे-धीरे यह परिचय घनिष्ठता मे और फिर प्रणय मे परिवर्तित हो जाता है। अन्त मे सिंह रोहिणी से विवाह कर तक्षशिला से वैशाली लौटता है। इस अवसर पर वैशाली का जो वर्णन लेखक ने किया है उससे हम उस गण-राज्य के वैभव और शक्ति का अनुभव कर सकते है।

रोहिणी मे भी भामा की भाँति नारी के आदर्श गुण है। उसका स्वभाव सरल है। अलकारो के लिए वह फूलो को ही पसद करती है। कन्नौज की राजकुमारी को नख-शिख स्वर्णालकारो से लदी देखकर उसके मन मे दया का भाव ही जगता है क्योंकि वह जानती है कि अलकार नारी की परवशता के प्रतीक हैं। कोमल होते हुए भी उसमे अद्भुत शक्ति है। वह खेती का काम भी करती है और शिकार करने मे भी असाधारण वल का परिचय देती है। वह वीर भी है और युद्ध के लिए अपने पति को भेजने मे और आवश्यकता पडने पर स्वय भी तलवार लेकर रणभूमि मे उतरने मे गौरव का अनुभव करती है। वह अपनी जातिगत प्रकृति का परिचय देती हुई सिंह से कहती है 'हम गान्धारियो के लिए वह सब से आनन्द का समय होता है, जब हमारा प्रिय रणक्षेत्र के लाल कर्दम से सने शरीर के साथ लौटता है। जानते हो, मै अपनी सहेलियो से बडे अभिमान के साथ तुम्हारे हाथ के उस खड्ग चिन्ह के बारे मे कहा करती हूँ। खड्ग-चिह्न से बढकर भूषण नही, उससे बढकर गौरव का कोई चिह्न नही।'[1] यही नही, रोहिणी पार्शव शासक को हराने मे सिंह की मदद करती है। इसी प्रकार अपूर्व सुन्दरी क्षेमा जनपद कल्याणी होते हुए भी भामा के साथ सेना-सचालन मे सहयोग देकर अपने अदम्य साहस का परिचय देती है। गणराज्य मे नारियो का ऐसा तेजोमय आत्मनिर्भर चित्रण कर राहुल ने नारी की समाज मे आदर्श की झलक दी है।

ऐसी ही झलक हमे उनके दूसरे उपन्यास 'जय यौधेय' (१९४४) मे मिलती है जिसमे शक्तिशाली यौधेय गणराज्य के जीवन का चित्रण है। ईसा की चौथी शताब्दी मे यह गणराज्य यमुना, सतलज, चम्बल और हिमालय के बीच मे बसा हुआ था। उसके जीवन मे और आसपास के राज-तत्रीय राज्यो के जीवन मे आकाश-पाताल का अन्तर दिखाया गया है। जब मगध मे गुप्त सम्राट भोग-विलास और पारस्परिक कलह मे व्यस्त थे तब यौधेय गण स्त्री-पुरुष के समान अधिकार और स्वतन्त्रता के आधार पर विकास कर रहा

---

१. राहुल सांकृत्यायन : 'सिंह सेनापति' (पृष्ठ ४७)

था। गण की नारियाँ पुरुषो के साथ मिलकर हर कार्य मे हाथ बँटाती थी। यहाँ तक कि युद्ध भूमि मे भी वे पुरुषो से पीछे नही रहती थी। बसुनन्दा के चरित्र द्वारा लेखक ने स्वतन्त्र नारी की वीरता और पराक्रम का चित्रण किया है।

उपन्यास का नायक जय है जो पाटलिपुत्र के परिवार मे राजसी ऐश्वर्य और वैभव के बीच शिक्षा पाता है। वहाँ के पतनोन्मुख दोषग्रस्त जीवन को देखकर वह खिन्न होता है। विशेषत नारी की हीनावस्था उसे विकल करती है। नारी के प्रति राजन्य-वर्ग का व्यवहार अत्यन्त कामुक और अनैतिक था। एक राजा मनमाने ढग से अनगिनत रानियाँ रखता था। नारी को किसी स्थिति मे प्रतिवाद तक का अधिकार न था। जब जय बौद्ध भिक्षु बनकर सिंहल जाता है तो वहाँ भी नारी की दुर्दशा देखकर उसे दुख होता है। अपने पति के वश की वृद्धि के लिए उपासिका को जब नियोग स्वीकार करना पडता है तब वह इतना दुखी होता है कि उपासिका से कहता है 'आज की नारी जो कुछ है उसके बनाने मे पुरुष का ही हाथ है; नारी के लिए कोई और नही, यही पुरुष विधाता है।'[१]

यशपाल का ऐतिहासिक उपन्यास 'दिव्या' सन् १९४५ मे लिखा गया है। यद्यपि उसमे बौद्ध-कालीन समाज का चित्रण है तथापि उसके घटना-सूत्रो मे और दृष्टिकोण मे द्वितीय महायुद्ध की विचारधारा की स्पष्ट छाया है।

यशपाल

यशपाल मार्क्सवादी लेखक है और द्वितीय महायुद्ध के सम्बन्ध मे जो मार्क्सवादी धारणाएँ थी, उनका किसी न किसी रूप मे प्रस्फुटन इस ऐतिहासिक उपन्यास मे भी आ गया है। राज्य मे बाहरी आक्रमण के सकट से साधारण जन तटस्थ रहता है, सामन्तगण सकट कालीन परिस्थिति का लाभ उठाकर अपनी शक्ति और अपना धन बढाने की चाल चलते है और सकट तभी टलता है, जब पुरानी परिपाटियो को त्यागकर सारे गण के जनो को समान अधिकार दे दिये जाते है और देश के लिए युद्ध सच्चा 'जन-युद्ध' बन जाता है।

'दिव्या' की मूल आत्मा यही कथानक है। किन्तु लेखक ने यथासम्भव ऐतिहासिकता का निर्वाह किया है और जैसा कि उसका स्वय कहना है कि यह उपन्यास एक कल्पना ही है। फिर भी लेखक ने कही भी ऐसी कल्पना नही की है जो उस काल के लिए असम्भव जान पडे। वर्णाश्रम और श्रमण धर्मों का सघर्ष, आभिजात्य और व्यवसायी वर्ग की टकराहट और साधारण जन की अनन्त नि स्वता और निराशा सभी सम्भाव्य लगते है। लेखक द्वारा दिये गए विवरण, भाषा, वर्णन-शैली और प्राचीन गणराज्यो के स्वरूप की शक्ति और कमजोरी सभी प्रभावोत्पादक है।

इस पृष्ठभूमि मे लेखक ने दिव्या के चरित्र के माध्यम से उस काल की नारी का चित्रण किया है। दिव्या उन बहुद्रष्टा, उदार महापण्डित धर्मस्थ देव शर्मा की प्रपौत्री

---

१. राहुल सांकृत्यायन : 'जय यौधेय' (पृष्ठ २२८)

है जिनका प्राचीर 'दास-दासियो से सेवित, सम्पन्न प्रासाद विद्या और सस्कृति का केन्द्र था।'[१]

'इस वातावरण मे पोषित होकर दिव्या ज्ञान, कला और सस्कृति से उसी प्रकार भिजी हुई थी जैसे कमल जल से भीगा न रहने पर भी जल से रचा रहता है।'[२]

दिव्या नृत्य कला मे राजनर्तकी मल्लिका की पट्टशिष्या के रूप मे गणराज्य की सर्वोत्तम उपाधि 'सरस्वती-पुत्री' प्राप्त करती है। इस अवसर पर गण के प्रमुख युवक उसकी शिविका को कधा देने के लिए स्पर्द्धा करने लगते है। इसी स्पर्द्धा मे दिव्या दास-पुत्र पृथुसेन के तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसको अपना हृदय दे देती है। दिव्या के परिवार वाले उसका यह प्रेम-सम्बन्ध पसन्द नही करते। वे दिव्या का विवाह रुद्रधीर से करना चाहते है। किन्तु दिव्या अपने प्रेम मे अटल है। वह अपनी धाता की पुत्री छाया से अपने मन के सकल्प को प्रकट करती है 'तात और सम्पूर्ण प्रासाद जान ले, आर्य पृथुसेन के अतिरिक्त मै किसी से विवाह न करूँगी। आर्य पृथुसेन ने ही मेरे पाणि के लिए तात के सम्मुख प्रार्थना नही की, मै स्वय यही चाहती हूँ। अन्य कुछ नही चाहती, यह सब जान ले। मेरे लिए किसी अन्य वर की सम्भावना नही। यह जानने पर ही तात आर्य की प्रार्थना पर उचित ध्यान देंगे। विवाह भी बिलम्ब से नही, तुरन्त·· आर्य के युद्ध पर जाने से पूर्व ही करना चाहती हूँ।'[३] किन्तु देव शर्मा दिव्या के आग्रह पर भी अपना निर्णय देने मे हिचकिचाते है और बात टल जाती है।

गणराज मद्र पर विदेशियो का आक्रमण होने के कारण पृथुसेन युद्ध मे चला जाता है। और विजयी होकर किन्तु घायल हो कर लौटता है। गणपति की कन्या सीरो उसकी सेवा, सुश्रूषा करती है।

इधर पृथुसेन के प्रेम-सम्बन्ध के कारण दिव्या गर्भवती हो गई है, वह अत्यन्त व्यग्रता और उत्सुकता पूर्वक पृथुसेन के लौटने की बाट जोहती रही है और अब उसके आने की सूचना पाकर वह उससे मिलने जाती है। वह रुग्ण है। जिस समय वह पहुँचती है, पृथुसेन सोया हुआ है। सीरो वहाँ उपस्थित है। वह पृथुसेन की ओर स्वय आकर्षित है इसलिए वह दिव्या के साथ अत्यन्त रूखा, व्यग्यपूर्ण और हिसायुक्त व्यवहार करती है। वह वैद्यराज स्थविर चीवुक का आदेश दिव्या को सुनाती हुई कहती है – 'किसी भी अवस्था मे आर्य की निद्रा भग न की जाय। अभ्यागत वार्तालाप द्वारा रोगी को क्लान्त न करे।'[४] अपने सम्मुख पृथुसेन को पाकर भी उससे बात न कर पाने और स्पर्श न कर पाने की बाधा और अपने और उसके बीच के दूसरे व्यक्ति के व्यवधान से दिव्या

१. यशपाल : 'दिव्या' (पृष्ठ २०)
२. वही : (पृष्ठ २१)
३. वही : (पृष्ठ ७२)
४. वही : (पृष्ठ ८०)

अधीर हो उठती है। इधर सीरो के प्रतिहिंसापूर्ण व्यवहार के कारण और शिष्टाचार की रक्षा के लिए वह पृथुसेन के जगने के पहले ही लौट आती है।

दिव्या के जीवन मे यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मोड सिद्ध होता है। यदि वह सीरो की उपेक्षा कर वही बैठी रहती तो उसकी जीवन-धारा कुछ और ही होती क्योकि पृथुसेन के मन मे उसके प्रति सच्चा प्रेम था और वह उससे विवाह भी करना चाहता था। पर बाद मे सीरो उसके कान भर देती है, उसके पिता अपने कुल की प्रगति के लिए उसे दिव्या के आकर्षण से विरत कर देते है[1] और पृथुसेन सीरो से ही विवाह कर लेता है।

गर्भवती दिव्या जब इस विवाह की बात सुनती है तो वह अपने प्रेमी से शरण की भिक्षा माँगने के लिए फिर एक बार उसके पास जाती है। पृथुसेन का उत्तर एक यवनी आकर निवेदन करती है, 'आर्य क्षमा निवेदन करते है। वे अस्वास्थ्य के कारण सगति लाभ करने मे असमर्थ है।'[2] अपनी लज्जा छिपाने मे असमर्थ, प्रेमी द्वारा प्रताडित दिव्या अपने घर न जाकर जन-पथ पर आ जाती है।

यहाँ से दिव्या का जीवन परिस्थितियो के थपेडो से कभी अत्यन्त कष्टमय और कभी अत्यन्त ऐश्वर्यमय बनता रहता है। वह दासो के सौदागर के हाथ पड जाती है जो उसे मथुरापुरी ले जाकर एक ब्राह्मण के हाथ बेच देता है। दिव्या अब माता बन चुकी है। उसका पुत्र शाकल उसकी गोद मे है। और यह ब्राह्मण उसे खरीद कर अपने पुत्र को स्तन-पान कराने का काम सौपता है। शाकल के प्रति इस अन्याय को न सह सकने के कारण वह ब्राह्मण के यहाँ से भाग निकलती है और बोद्ध विहार मे शरण पाने की चेष्टा करती है। स्थविर पूछते है 'यदि पति और पिता नही है तो क्या तुम्हारे पुत्र की अनुमति तुम्हारे चेरी धर्म ग्रहण करने मे है ? देवी, धर्म के नियमानुसार स्त्री के अभिभावक की अनुमति बिना सघ स्त्री को शरण नही दे सकता।'[3] स्थविर के इन प्रश्नो से दिव्या अपने दुर्भाग्य से हतचेतन होकर उनकी ओर देखती रह जाती है। वह हाथ जोडकर पुन. निवेदन करती है :

"'परन्तु देव, भगवान तथागत ने तो वेश्या अम्बपाली को भी सघ मे शरण दी थी।'

'वेश्या स्वतन्त्र नारी है, देवी।' उत्तर दे स्थविर उठ गये।"[4]

---

१. 'पुत्र, तुम नीतिवान हो, विचार करो, यवन गणपति की पौत्री से विवाह कर तुम अनायास, बिना किसी विरोध के महाकुलीन बन जाओगे। परन्तु देव शर्मा की प्रपौत्री से विवाह की इच्छा करने पर, उदार देवशर्मा के आपत्ति न करने पर भी सम्पूर्ण द्विज-समाज को शत्रु बना लोगे।'
यशपाल : 'दिव्या' (पृष्ठ ८५)

२. वही : (पृष्ठ ९४)

३. वही : (पृष्ठ १२४)

४. वही : (पृष्ठ १२४)

एक वेश्या को सब शरण दे सकता है, किन्तु उसको नही। यह बात सोच कर दिव्या का सिर चकराने लगता है। वह स्वय भी वेश्या बनने की सोचती है। जब वह अपना यह विचार राह चलते मारिश से कहती है तो मारिश उसको धिक्कारता है और यमुना की शरण जाने के लिए कहता है। 'तू वेश्या बनना चाहती है? माता का सम्मानित पद पाकर तू वेश्या बन समाज की शत्रु बनना चाहती है? जा! यमुना की शीतल धारा मे विश्राम ले?'[1] दिव्या सचमुच यमुना की शरण मे चली जाती है। वह डूबने को ही है कि मथुरा की राज नर्तकी रत्नप्रभा उसे बचा लेती है यद्यपि उसका पुत्र नही बच पाता।

रत्नप्रभा की कृपा पाकर दिव्या अंशुमाला के नाम से प्रसिद्ध नर्तकी बन जाती है। ऐश्वर्य और विलास उसके चरणो मे न्यौछावर होते है। और बडे-से-बडे प्रतापी, धर्मात्मा, सम्पन्न व्यक्ति दूर-दूर से उसकी कृपा पाने के लिए आते है। इन आने वालो मे मारिश भी है और रुद्रधीर भी। मारिश उसके प्रति तभी से अनुरक्त है जब उसने दिव्या को सागल मे देखा था। पर तब दिव्या सामन्त वर्ग की थी और मारिश साधारण वर्ग का। इसलिए वह कभी प्रेम निवेदन करने का साहस भी न कर सका। अब वह दिव्या से विवाह का प्रस्ताव करता है। पर दिव्या ने इतने कटु अनुभव उठा लिये है कि दुबारा अनजानी राह पर जाना उसे कठिन लगता है। वह मारिश के प्रेम की सचाई जानती है, फिर भी वह नर्तकी के स्वतन्त्र जीवन को ही श्रेयस्कर समझती है। इस स्थल पर यशपाल ने चार्वक मारिश और दिव्या के वार्तालाप मे तत्कालीन समाज मे नारी की स्थिति पर कटु व्यग्य किया है, यद्यपि उसमे मार्क्सवादी विचारधारा की भी झलक मिलती है

'मारिश ने उत्तर दिया—भद्रे, नारी सृष्टि का साधन है। सृष्टि की आदि शक्ति का क्षेत्र। वह समाज और कुल का केन्द्र है। पुरुष उसके चारो ओर घूमता है, जैसे कोल्हू का बैल।'

दिव्या—'आर्य, वह सब नारी के जीवन की सार्थकता अवश्य है, वह नारी की दुर्दमनीय प्रकृति और स्वभाव भी है। परन्तु उस सार्थकता को नारी पा सकती है केवल अपने अस्तित्व के मूल्य मे · केवल पुरुष की भोग्य बन कर। स्वय दूसरे के लिए भोग्य बनकर कोई स्वय क्या सार्थकता पायेगा आर्य?'

· · · ·

अनेक क्षण विचार मग्न रहकर मारिश पुन बोला' नारी के प्रति अनुराग से, उसके आश्रय की कामना से ही पुरुष उसे अपने अधीन रख उसे आत्मनिर्भर नही रहने देता। नारी प्रकृति के विधान से नही, समाज के विधान से भोग्य है। प्रकृति मे और समाज मे भी स्त्री और पुरुष अन्योन्याश्रित है। पुरुष का प्रश्रय पाने से ही नारी परवश है। परन्तु भद्रे, नारी के जीवन की सार्थकता के लिए पुरुष का आश्रय आवश्यक है और नारी पुरुष का आश्रय भी है।'

---

१. यशपाल : 'दिव्या' (पृष्ठ १२६)

उत्तेजित स्वर मे अशुमाला ने पुन उत्तर दिया—'आर्य, इस प्रश्रय मे नारी के जीवन की सार्थकता क्या है; पुरुष द्वारा उसका भोग और उपभोग ? जैसे कि इच्छा होने पर पान-पत्र की सार्थकता है। आर्य, उस प्रश्रय की इच्छा न करने पर ही नारी स्वतन्त्र है। वेश्या स्वतन्त्र नारी है।' . . .

अशु को उत्तर देने के लिए मारिश ने उसकी ओर दृष्टि की और उत्तेजनाहीन, गम्भीर स्वर मे प्रश्न किया—'भद्रे, वेश्या की, जनपद कल्याणी की स्वतन्त्रता की सार्थकता क्या है ? अपनी स्वतन्त्रता से वह क्या प्राप्त करती है ? . उसकी कला दूसरो के जीवन मे वासना की पूर्ति के अनुष्ठान के रूप मे उपयोगी है। परन्तु वह स्वय क्या पाती है ? वह 'काम' के यज्ञ का साधन मात्र है। वह स्वय पूर्ति के हविश्य से वचित है। उसकी स्वतन्त्रता का भोग जन करता है, वह स्वय नही। वह केवल वचना पाती है।'[1]

यद्यपि दिव्या मारिश के भौतिकवादी तर्कों का उत्तर नही दे पाती तथापि वह जीवन की विफलता मे भी वेश्या की आत्म-निर्भरता स्वीकार करती है।[2] मारिश की भाँति रुद्रधीर भी उसको अपनी पत्नी बनाकर सागल की महादेवी का पद देने का वचन देता है, पर दिव्या उसका प्रस्ताव भी ठुकरा देती है।[3]

राजनर्तकी मल्लिका वृद्धा हो जाने के कारण उपयुक्त उत्तराधिकारिणी की खोज मे है। अशुमाला की ख्याति सुन कर वह मथुरापुरी आती है और उसके रूप मे दिव्या को पाकर गद्‌गद हो जाती है। रत्नप्रभा से कहकर वह दिव्या को अपने साथ ले जाती है और सागल पहुँच कर उसे राजनर्तकी के पद पर अभिषिक्त करने का आयोजन करती है। किन्तु दिव्या के विप्र-पुत्री होने के कारण गण के अनेक व्यक्ति इसका विरोध करते है। आचार्य रुद्रधीर भी इस विरोध से सहमत है। दिव्या फिर एक बार हताश होकर जनपथ पर आ जाती है। पर इस समय सारा गण उसके पीछे-पीछे चलता है। वह नगर के बाहर पान्थ-शाला मे टिक जाती है और गण के सारे जन बाहर कोलाहल करते रहते है। तब एक-एक कर रुद्रधीर, पृथुसेन (जो इस बीच मे बौद्ध भिक्षु बन चुका है) और मारिश तीनो इस पान्थशाला मे आते है और बारी-बारी से दिव्या से अपने साथ चलने का निवेदन करते है। दिव्या रुद्रधीर को इसलिए इन्कार कर देती है कि वर्णाश्रम धर्म नारी को भोग्या मानता है, वहाँ स्वत्व का महत्त्व नही होता,[4] पृथुसेन को इसलिए इन्कार कर देती है कि श्रमण धर्म

---

१. यशपाल : 'दिव्या' (पृष्ठ १५४-१५५)
२. वही : (पृष्ठ १५९)
३. वही : (पृष्ठ १६६-१६७)
४. 'परन्तु आचार्य, कुलमाता और कुलमहादेवी निरादृत वेश्या की भाँति स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर नहीं हैं। ज्ञानी आचार्य, कुलवधू का सम्मान, कुलमाता का आदर और कुलमहादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रय मात्र है। वह नारी का सम्मान नहीं। उसे भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है। आर्य, अपनी इच्छा से अपने

नारी को बाधा मानता है और मारिश के साथ जाने को प्रस्तुत हो जाती है क्योंकि मारिश यथार्थवादी है, वह आश्रय और प्रेम का आदान-प्रदान चाहता है। वह परलोक की नही सोचता, न वह जीवन को दु खो की शृंखला मानता है। वरन् यथासम्भव अपनी चेष्टा और शक्ति से अपने जीवन को सुन्दर बनाने मे विश्वास करता है। वह कहता है :

'मारिश देवी को राजप्रासाद मे महादेवी का आसन अर्पण नही कर सकता। मारिश देवी को निर्वाण के चिरन्तन सुख का आश्वासन नही दे सकता। वह ससार के सुख-दुख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है। वह ससार के धूल-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना मे वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन मे सतोष की अनुभूति दे सकता है। सन्तति की परम्परा के रूप मे मानव की अमरता दे सकता है।'

भूमि पर बैठी दिव्या ने भित्ति का आश्रय छोड दोनो बाहु फैला दिये। उसका स्वर आर्द्र हो गया—'आश्रय दो आर्य।'[१]

दिव्या के जीवन को इतने अधिक और इतने प्रकार के मोड देने मे लेखक का उद्देश्य यही है कि वह उस युग मे नारी की स्थिति के सभी पहलुओ का चित्रण कर सके। विप्रकुल मे जन्म लेने के कारण दिव्या को दास-पुत्र से विवाह करने की अनुमति नही मिलती, फिर अपने प्रेम मे गर्भवती हो जाने के कारण उसके लिए समाज मे स्थान नही बचता और दासी बन जाने के कारण बौद्ध धर्म की करुणा भी उसके लिए सूख जाती है। इन कटु अनुभवों के कारण दिव्या भली भाँति सीख जाती है कि नारी केवल भोग्या है, वह पुरुष की आश्रित है। उसका अपना कोई अस्तित्व नही और अपने जीवन पर भी उसका कोई अधिकार नही है। इसीलिए वह नर्तकी रहना पसद करती है। क्योकि नर्तकी चाहे वेश्या ही सही स्वतन्त्र तो है। लेकिन जब मारिश के तर्क से वह यह जानती है कि वेश्या की स्वतन्त्रता भी केवल भ्रम है, और उसकी स्थिति भी सामन्तो की इच्छा पर निर्भर है, तथा मारिश स्त्री-पुरुष मे समान रूप से प्रेम और आश्रय के आदान-प्रदान मे विश्वास करता है तब वह उसके साथ जाने को प्रस्तुत हो जाती है।

लेखक ने दासियो के जीवन पर और वेश्याओ के जीवन पर उपन्यास मे काफी प्रकाश डाला है, और यह दिखाया है कि उस समय दासी पशु के समान खरीदी और बेची जाती थी। उसको आत्महत्या करने तक का अधिकार न था और नारी-सुलभ-लज्जा

स्वत्व का त्याग करके ही नारी वह सम्मान प्राप्त कर सकती है। ज्ञानी आर्य, जिसने अपना स्वत्व ही त्याग दिया, वह क्या पा सकेगा। आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी। स्वत्वहीन होकर वह जीवित नहीं रहेगी।'
यशपाल : 'दिव्या' : (पृष्ठ २१२)

१. वही : (पृष्ठ २१३)

२६

उसके लिए दण्डनीय कार्य था। जो नारियाँ दासी नही थी उनकी स्थिति भी बहुत अच्छी नही थी। केवल वेश्या और नर्तकी ऐसी नारियाँ थी जिनको स्वतन्त्र कह सकते है।

राहुल और यशपाल के उपन्यासो की भाँति आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू मे' (१९४७) भी बौद्धकालीन गणराज्य के जीवन का चित्र है किन्तु वह चित्र राहुल के आदर्श चित्र से एकदम विपरीत है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

जहाँ तक नारी की स्थिति का प्रश्न है इस उपन्यास मे वह दिव्या से भी अधिक दयनीय दिखाई गई है। स्थान-स्थान पर ऐसे प्रसग वर्णित है जिनसे पता चलता है कि नारी को अपने सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार के निर्णय का अधिकार न था। वह पूर्णत अपने पति की सम्पत्ति मानी जाती थी। पति उसको धन के लोभ मे पर-पुरुष के पास भी भेज सकता था।[१] और यदि वह नि सन्तान होती तो उसे वियोग द्वारा वश-वृद्धि के लिए बाध्य किया जाता था। शास्त्री जी के अनुसार इस काल मे नारी की वैदिकयुगीन स्थिति धीरे-धीरे मिट चुकी थी और उस पर नये बधन आरोपित किये जा रहे थे।

इसी प्रकार पाचाल गणपरिषद मे विवाह के नियमो पर अथर्व अगिरस और वैशम्पायनो मे जो विवाद होता है वह नारी की इस बदलती हुई स्थिति का अच्छा परिचय देता है।

नारी की इस हीन अवस्था पर दुखित होकर श्रावस्ती की राजमहिषी कहती है. 'यहाँ कोशल, मगध और अग, बग, कलिग मे तो कही भी ऐसा न पाओगी। यहाँ स्त्री न नागरिक है न मनुष्य। वह पुरुष की क्रीत सम्पत्ति और उसके विलास की सामग्री है। पुरुष का उसके शरीर और आत्मा पर असाध्य अधिकार है।'[२]

परन्तु गान्धार देश की स्वतन्त्र कन्या कलिगसेना यह अत्याचार मौन होकर नही सहती। जब बूढे सम्राट प्रसेनजित से उसका विवाह होता है तो वह विह्वल हो जाती है[३] और विद्रोह के स्वर मुखरित करती है . 'परन्तु मैं देवी नन्दिनी यह कदापि न होने दूँगी, मैने आत्मबलि अवश्य दी है, पर स्त्रियो के अधिकार नही त्यागे है। मै नही भूल सकती कि मै भी एक जीवित प्राणी हूँ, मनुष्य हूँ, समाज का एक अग हूँ। मनुष्य के सम्पूर्ण अधिकारो पर मेरा भी स्वत्व है।'[४] पर ऐसे प्रसग अपवाद ही है।

नारी की इस विवश, असहाय स्थिति की पृष्ठभूमि मे अम्बपाली का चित्रण कर लेखक

---

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : 'वैशाली की नगरवधू' (पृष्ठ ६५३-५४)
२. वही : (पृष्ठ २९६)
३. केवल स्त्री ही आत्म समर्पण करती है, पुरुष नहीं। पुरुष स्त्री को केवल आश्रय देता है। वही : (पृष्ठ २९४)
४. वही : (पृष्ठ २९६)

ने यह दिखाया है कि अपनी यत्रणा से मुक्ति पाने के लिए नारी के पास बौद्ध धर्म की शरण लेने के अतिरिक्त और कोई उपाय न था।

अम्बपाली वैशाली के लिच्छवि गणसघ की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है। वह महानायक की पालिता पुत्री है। सघ के नियमानुसार सघ की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी को कुमारी रहकर नगर के मनोरजन और कला-साधना मे अपना जीवन बिताना पडता है। इसी नियम का पालन करने के लिए अम्बपाली को 'नगरवधू' घोषित कर दिया जाता है। अम्बपाली को सघ का यह निर्णय अन्याय और अत्याचार मालूम पडता है। वह युवती है, रूपवती है और युवक हर्षदेव को सच्चे मन से प्रेम करती है। इस निर्णय से उसकी सारी कामनाओ पर तुषारपात हो जाता है। उसका हृदय रुदन कर उठता है।

लेकिन उसका दुख और उसकी घृणा दोनो ही सघ के अनुशासन के सामने विफल और व्यर्थ है। उसे सघ का निर्देश-पालन कर नगरवधू के रूप मे रहना पडता है। जब हर्षदेव उससे मिलने आता है और उसके हृदय मे सोया प्रेम फिर से हिलोरे लेने लगता है तो वह फिर फूट पडती है 'अपनी हृदय की ज्वाला से जनपद को फूंक दो। यह भस्म हो जाय।'[१] अपनी भावनाओ का नाश होते देखकर वह इतनी विह्वल हो जाती है कि चुनौती के स्वर मे हर्षदेव से कहती है 'यदि तुममे इतना साहस हो तो आओ और देखो कि तुम्हारी वाग्दत्ता-पत्नी से वैशाली के तरुण श्रेष्ठिपुत्र और सामन्तपुत्र किस प्रकार प्रेम-प्रदर्शन करते है और वह किस कौशल से हृदय के एक-एक खण्ड का क्रय-विक्रय करती है। देखोगे तुम ? देख सकोगे ?'[२]

किन्तु अपनी स्थिति को बदल सकने मे असमर्थ अम्बपाली को जब और कोई उपाय नही सूझता तो निश्चय करती है कि वह नगर-वधू की भाँति ही रहकर अपने अन्याय और अपमान का बदला लेगी। और वह ऐसा ही करती है। उसकी रूप-मदिरा का पान करने के लिए उसके पास सम्पन्न-से-सम्पन्न और प्रतिष्ठित-से-प्रतिष्ठित व्यक्ति आकर उसके प्रेम की भीख माँगते रहते है। वह सभी को अपने अभिनय से पागल बनाती रहती है और जब उसके प्रतिद्वन्द्वियो मे कभी कलह हो जाती है तो उसकी प्रतिहिंसा को तृप्ति का अनुभव होता है। वह कभी एक को और कभी दूसरे को प्रोत्साहन देती, गण के बडे-से-बडे व्यक्तियों को अपने सकेत पर नचाती है और इस प्रकार अपने क्षुब्ध असतुष्ट मन की शान्ति का प्रयत्न करती है।

पर वास्तविक शान्ति उसे नही मिलती। वैभव और विलास उसके चरणो पर लोटते है। यौवन और मदिरा के रागो से उसका घर गूँजता रहता है पर उसका मन अतृप्त और अशान्त ही रहता है। एकान्त और अनन्य प्रेम जो नारी का सहज धर्म है उससे वह वचित है। अपने जीवन को निस्सार समझकर शान्ति की कामना से वह तथागत भगवान बुद्ध

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : 'वैशाली की नगर वधू' (पृष्ठ ४३)
२. वही : (पृष्ठ ४२)

को सघ सहित अपने यहाँ आमन्त्रित करती है और जब तथागत उसका निमत्रण स्वीकार कर उसके यहाँ पधारते है तो वह एक भिक्षु से उसका उत्तरीय माँग कर अपना नर्तकी वेश परित्याग कर तथागत से प्रवज्या देने का निवेदन करती है।[1] आनन्द उसको वारण करते है पर तथागत अम्बपाली की मानसिक अशान्ति समझकर और उसकी भावना की सचाई जानकर उसे प्रव्रज्या देना स्वीकार करते है।[2]

अम्बपाली की यह गाथा बौद्ध धर्म-ग्रन्थो मे भी पाई जाती है और शास्त्री जी ने यथासभव मूल गाथा का स्वरूप ज्यो-का-त्यो रक्खा है। अम्बपाली का चरित्र अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है और यह सिद्ध करता है कि उस युग मे नारी का स्वतन्त्र और सुखी जीवन कितनी अलभ्य बात थी।

रामरतन भटनागर के दो ऐतिहासिक उपन्यास आलोच्य काल मे आते है 'अम्बपाली' (१९३९) और 'जय वासुदेव' (१९४७)। अम्बपाली की कथा प्रसिद्ध बौद्ध आख्यान पर आधारित है और 'जयवासुदेव' की कथा 'प्रसाद' के अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' पर। यद्यपि भटनागर के अम्बपाली और शास्त्री के 'वैशाली की नगर-वधू' मे अनेक समानताएँ है, फिर भी दोनो के दृष्टिकोणो मे अन्तर है। भटनागर का उपन्यास पहले लिखा गया है और उसमे अम्बपाली की मानसिक उथल-पुथल का चित्रण कम है। लेखक ने उपन्यास मे अम्बपाली के वेश्या-जीवन की विलासिता और उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप बाद मे उसके भिक्षु-जीवन की पवित्रता, इन दो पक्षो पर ही विशेष बल दिया है।

रामरतन भटनागर

अम्बपाली वैशाली नगर की वेश्या है। उसका जीवन विलासमय है।

बाद मे तक्षशिला से विद्याध्ययन कर लौटे हुए अभिजात वशीय कुमार सूर्यमणि और हेमाक भी उससे प्रेम करने लगते है। इस प्रकार अम्बपाली को ले कर प्रेम का त्रिकोण बन जाता है। अम्बपाली की सुकुमारी दासी चद्रसेना के कारण इसमे चतुष्कोणता आ जाती है। किन्तु अम्बपाली की सौम्य प्रकृति के कारण यह सघर्ष तीव्र रूप धारण नही कर पाता। यही प्रेम-चक्र वैशाली के भविष्य-निर्णय का मुख्य कारण बनता है। ये सब लोग एक प्रेम-सूत्र मे बधकर भगवान तथागत के धर्म के प्रचारक बन जाते है। विलासिनी अम्बपाली भिक्षुणी बन जाती है। यह भगवान बुद्ध का ही प्रभाव है कि अम्बपाली के विलासमय जीवन मे इतना परिवर्तन हो सका। उसका वासनामय प्रेम विश्व-प्रेम मे परिणत हो जाता है।

रामरतन भटनागर के 'जय वासुदेव' की मूल कथा और उसके पात्र 'प्रसाद' के 'इरावती' उपन्यास से इतना अधिक साम्य रखते है कि सम्भवत लेखक ने 'इरावती' की पूर्ति करने की कामना से ही 'जय वासुदेव' की रचना की है।

---

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : 'वैशाली की नगरवधू' (पृष्ठ ७८४)
२. वही : (पृष्ठ ७८५)

इरावती अग्निमित्र को प्रेम करती है किन्तु वह उसे स्वीकार नही करता। इरावती महाकाल के मन्दिर मे नर्तकी बनकर जीवन व्यतीत करने लगती है किन्तु मौर्य सम्राट की लोलुप दृष्टि उस पर पडती है और वह बौद्ध सघ मे भेज दी जाती है। वहाँ के नियम और प्रतिबन्धो की शृखला मे बन्दी उसका मन विकल होकर छटपटाने लगता है।

इरावती नृत्य-कला मे पारगत है। नृत्य उसकी जीविका का साधन ही नही, उसकी मानसिक शान्ति का भी आधार है। जब भिक्षु सघ मे उसे इसी आधार से वचित किया जाता है, तब उसका मन रो उठता है। वह वहाँ से मुक्ति के लिए व्यग्र हो उठती है। 'रहने दो भिक्षु ! तुम कला और आनन्द के मर्म को क्या जानो ? तुमने अनात्म को वरण किया है। तुम पाखण्डी हो। मैं इस पाखण्ड भवन मे रहना नही चाहती, तुम मेरा गला घोट रहे हो। तुम आनन्द की उपासिका कलाकर्त्री इरावती को शील और सयम का पाठ नही पढा सकते।'[1]

जब सम्राट बृहस्पतिमित्र इरावती को सुगागेय प्रासाद की विशाल रगशाला मे ले आता है और उससे प्रेम-याचना करता है तो इरावती निर्भीक और दृढव्रती नारी की भाँति उसका तिरस्कार कर कहती है 'मौर्य सम्राट के लिए वाग्दत्ता नारी का इस तरह छिपा चोरी रगमहल मे ले आना कोई बडे श्रेय की बात है ?'[2] अग्निमित्र चाहे उसे स्वीकार न करे, पर उसका मन उसी को समर्पित है। वह अपने को अग्निमित्र की वाग्दत्ता पत्नी समझती है। वह साहसपूर्वक कहती है 'इरावती अब भी अग्निमित्र की है · मैं अग्निमित्र की वाग्दत्ता हूँ।'[3] बाद मे अग्निमित्र से उसका विवाह हो जाता है।

इसी प्रकार लेखक ने कालिंदी का चित्रण भी बहुत कुछ 'इरावती' के अनुसार ही किया है। वह भी अग्निमित्र को प्रेम करती है, इसलिए इरावती को अपनी प्रतिद्वन्द्विनी समझ कर उससे ईर्ष्या करने लगती है। लेकिन जब वह देखती है कि मौर्य सम्राट बृहस्पति-मित्र के कारण इरावती का जीवन कष्ट और यत्रणा से घिर गया है तो वह अपनी प्रतिहिंसा भूलकर उसकी रक्षा करती है। बाद मे कालिंदी अपनी विलक्षण शक्ति से सेना का सगठन करती है, अग्निमित्र को मुक्त करती है, और इरावती और अग्निमित्र का मिलन करा देती है। अपने प्रेम के लिए इस त्याग का परिचय देकर वह आदर्श बन जाती है।

'इरावती' के समान 'जय वासुदेव' मे भी वर्णाश्रम धर्म और बौद्धधर्म की टकराहट चित्रित की गई है। नारी की स्थिति उस समाज मे अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। पुरुष की भोग-वासना की लक्ष बनकर वह जीवन भर सुख से वचित हो जाती थी। 'या तो वे

---

१. रामरतन भटनागर : 'जय वासुदेव' (पृष्ठ १११)
२. वही : (पृष्ठ १५४)
३. वही : (पृष्ठ १६४)

सुगागेय प्रासाद की शोभा बढाती या अधिकारियो की भोग-लिप्सा की वस्तु बनती, या वेश्या बनकर रूप की हाट मे बैठती।"[१]

इस विलासी कृत्रिम जीवन मे नारी को न तो आत्म-सतोष मिलता है, न वह अपना स्वाभाविक धर्म पूरा कर सकती है। मणिमाला के चरित्र के माध्यम से लेखक ने नारी-मन की इस कुठा को मार्मिक ढग से व्यक्त किया है। 'मै इस जीवन से ऊब गई हूँ। अशुक और मोती-मानिक से भरी हुई देव-प्रतिमा मै बनना नही चाहती। चाहती हूँ, जीवन का ऊष्ण स्पर्श, जागृति का कॉपता हुआ स्वर, एक तरल उन्माद, एक सर्वग्राही तितीक्षा। धन और ऐश्वर्य से उत्पन्न अवमाद मुझे नही चाहिए।"[२]

हजारीप्रसाद द्विवेदी

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'बाण भट्ट की आत्म-कथा' (१९४६) अपनी प्रेरणा और उद्देश्य की विशिष्टता के कारण अन्य सारे ऐतिहासिक उपन्यासो से सर्वथा भिन्न है। यह इतिहास पर आधारित न होकर ऐतिहासिक सामग्री पर आधारित है। यद्यपि उसमे कुछ ऐतिहासिक पात्रो का भी उल्लेख है, पर उनका चित्रण भी लेखक ने अपनी कल्पना से ही किया है। इस कल्पना को सस्कृत साहित्य और प्राचीन कला की प्रतिकृतियो के सहारे लेखक ने कवि-सुलभ दृष्टि और समर्थ गद्य शैली से बडा ही अनूठा रूप दिया है। उपन्यास को पढने मे ऐसा आनन्द आता है मानो हम प्राचीन उत्कृष्ट साहित्य की कोई कृति पढ रहे हो। इसे अध्ययन-रस भी कह सकते है। अपने प्रकाण्ड पाडित्य को विशद सहानुभूति और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से घुला-मिला कर लेखक ने इस उपन्यास की रचना की है। आत्म-कथा का रूप देने के कारण उसमे एक प्रकार की आकर्षक धूमिलता और अनदेखे पहलू के उद्घाटित होने का विस्मय भी मिलता है।

'बाण भट्ट की आत्म-कथा' हर्षकालीन जीवन का चित्र है, और उसमे नारी-जीवन का चित्रण ही प्रमुख है। इस काल का सामाजिक जीवन बाहरी आक्रमण की आशका से, वर्णाश्रम और श्रमण धर्मो की टकराहट से, निरकुश राजसी भोग-विलास और म्रियमाण जन-जीवन के वैषम्य से, सीमित पाडित्य और लोक-प्रचलित अज्ञान के विरोध से अत्यन्त विश्रृखलित और अनिश्चित हो गया था। इसी के फलस्वरूप नारी अत्यन्त विवश, अशक्त और पुरुष के हाथ का खिलौना बन गई थी। नारी के आकर्षण से मुक्त न हो सकने के कारण बौद्ध धर्म की तात्रिक शाखा का विकास हो गया था; और नारी को मुक्ति के पथ की बाधा मानने के कारण प्रतिक्रिया-स्वरूप वैष्णव धर्म का सूत्रपात हो रहा था। 'बाण भट्ट की आत्म-कथा' मे इन दो नये धर्मो का अत्यन्त विशद और प्रामाणिक चित्र दिया गया है। अघोर भैरव की तात्रिक साधना मे महामाया का योग उसकी, गूढ़, रहस्यमय,

---

१. रामरतन भटनागर : 'जय वासुदेव' (पृष्ठ १००)
२. वही : (पृष्ठ ११४)

रटी-रटाई भाषा और उसका चमत्कारपूर्ण अस्वाभाविक जीवन तान्त्रिक-पद्धति का प्रभावशाली उदाहरण है। इसी प्रकार सुचरिता का वेंकटेश भट्ट की कृपा से वैष्णव धर्म अगीकार कर अपने सारे कर्म-अकर्म नि सकोच नारायण को समर्पित कर अनन्य भक्ति मे चित्त की शान्ति पाना भागवत धर्म का पूर्व रूप है।

'बाण भट्ट की आत्म-कथा' मे चार नारी पात्र प्रमुख है। महामाया, भट्टिनी, निपुणिका और सुचरिता। इनके अतिरिक्त उपन्यास मे यथास्थान अन्त पुरिकाओ का, नगर-नर्तकियो और पुर-नारियो का उल्लेख और वर्णन भी मिलता है जिससे केवल यही सिद्ध होता है कि उस काल की नारी भोग्या थी, पुरुष की बदिनी थी और अज्ञान के गर्त मे डूबी हुई थी।

इन असख्य साधारण नारियो की हीन-दशा की पृष्ठभूमि मे उपन्यासकार ने ये चार दिव्य नारी-मूर्तियाँ स्थापित की हैं और उनके माध्यम से नारी की महिमा को पुन प्रतिष्ठा देने का प्रयत्न किया है। ज्यो-ज्यो उपन्यास विकास करता है और इन नारियो के चरित्र उद्घाटित होते चलते है त्यो-त्यो हम उनके निश्छल प्रेम, सकल्पवान जीवन और आत्मोत्सर्ग की क्षमता देखकर आनन्दमग्न होते जाते है। स्वय लेखक ने उपसहार मे कहा है 'सारी कथा मे स्त्री-महिमा का बडा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन है।' इन चारो नारियो का सारा जीवन उनके प्रेम की ही कहानी है, किन्तु न तो उस प्रेम मे कोई ओछापन है न वाचालता। प्राय मौन रहकर वे अपने निर्धारित पथ पर चलती रहती है और बडो से बडी बाधाओ को चूर कर अपने जीवन की सार्थकता पाती है।'

नारी जीवन की सार्थकता क्या है? इस प्रश्न पर भी उपन्यास मे पात्रो के माध्यम से लेखक ने काफी विचार किया है। महामाया भट्ट से कहती है 'स्त्री प्रकृति है। उसकी सफलता पुरुष को बाँधने मे है, किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति मे है।'[1] यह तान्त्रिक मत है और इसीलिए महामाया अघोर भैरव का साथ देने पर भी उसकी पत्नी नही है। यह उस युग का सत्य हो सकता है, पर लेखक ने इससे भी बडा सत्य निपुणिका और चन्द्र-दीधिति के माध्यम से प्रकट किया है। चन्द्रदीधिति बाणभट्ट को देखते ही जिन अलौकिक भावनाओ का अनुभव करती है, सचमुच नारी की परम सार्थकता उन्ही मे है। अथवा जिस प्रकार निपुणिका मौन-भाव से बाणभट्ट पर अपना मन न्यौछावर करती हुई भी कोई प्रतिदान नही माँगती और देते रहने को ही अपना चरम कर्तव्य समझती है, वही नारी के आदर्श प्रेम का रूप है। सुचरिता जिस प्रकार अपने विरागी पति को फिर सासारिकता की दिशा मे लौटा लाती है और दोनो मिलकर जिस प्रकार भागवत धर्म अगीकार कर पवित्र जीवन व्यतीत करते है वह नारी का आदर्श गौरव है। इन चारो रूपो मे नारी-प्रेम की बडी मार्मिक और बहुमुखी व्याख्या प्रस्तुत कर लेखक ने सार्वयुगीन सदेश दिया है।

पहले चन्द्रदीधिति को ले। उसके देवी रूप की चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है, पर उसके

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (पृष्ठ १११)

चरित्र के कुछ पहलुओ का विवेचन यहाँ अभीष्ट है। यवनराज देवपुत्र तुवर मिलिन्द की कन्या होने के कारण साधारणत उसका जीवन सुखमय ही बीतना चाहिये था, पर सामाजिक दुरवस्था के कारण ऐसा नही हो पाता। दस्यु लोग उसका अपहरण कर लेते है, और वह नाना कष्टो से पार होकर मौखरि राजवश के अन्त पुर मे पहुँचती है। पर वह शुद्ध और पवित्र भावनाओ की नारी है। राजसी वैभव उसे आकर्षित नही करने पाते। अन्त पुर का कामुक और विलासी जीवन देखकर उसके प्राण छटपटाने लगते है और निपुणिका एव बाणभट्ट की सहायता से वह वहाँ से मुक्ति पाती है। बाणभट्ट की देखरेख मे जब वह नौका द्वारा पूर्व की ओर जा रही होती है तब जलदस्यु उन पर फिर आक्रमण करते है और चन्द्रदीधिति अपनी रक्षा का और कोई उपाय न देखकर नदी मे कूद पडती है और बाणभट्ट उसे दुबारा बचाकर भद्रेश्वर पहुँचता है।

इन असाधारण दु ख-जनक घटनाओ के कारण चन्द्रदीधिति का मन एक ओर घुटा-घुटा-सा रहता है तो दूसरी ओर बाणभट्ट के शील, परोपकार और सदाचार के कारण उसके प्रति आकर्षित हो जाता है। नैतिक पतन के उस सर्वव्यापी वातावरण मे बाणभट्ट का चरित्र उसको अलौकिक लगता है। और ज्यो-ज्यो समय बीतता है त्यो-त्यो उसका अनुराग गहरा होता जाता है। फिर भी उसमे नारी-सुलभ लज्जा और सकोच उसे मुखर नही बनने देता, और भट्ट और भट्टिनी दोनो एक दूसरे के प्रति आसक्त होते हुए भी निश्छल समर्पण देते रहते है। इसी निश्छल समर्पण के कारण भट्टिनी निपुणिका को अपनी सहानुभूति भी सहज रूप मे दे पाती है क्योकि वह जानती है कि बाणभट्ट के जिस शील के प्रति वह स्वय आकर्षित है उसी के प्रति निपुणिका भी आकर्षित है। भट्टिनी और निपुणिका का आकर्षण समानान्तर होते हुए भी कोई टकराहट उत्पन्न नही करता, वरन् उन दोनो को एक-दूसरे के निकट ले आता है। निपुणिका की मृत्यु पर भट्टिनी को मर्मान्तिक शोक होता है[1] और बाणभट्ट की सान्त्वना ही उसको जीते रहने की प्रेरणा देती है। लेकिन इतना होने पर भी आकस्मिक घटनाओ के कारण भट्ट और चन्द्रदीधिति का मिलन नही हो पाता और मौन समर्पण से ही उन्हे सतोष करना पडता है। लेखक ने चन्द्रदीधिति के चरित्र मे सौन्दर्य, शील, सदाचार, साहस, धैर्य और विवेक के सयोग से एक आदर्श नारी-चरित्र की प्रतिष्ठा की है।

महामाया के चरित्र मे तेज और सकल्प प्रमुख है। वह वास्तव मे कलूत राज की पुत्री नही है। यद्यपि एक युवक से उसका वाग्दान हो चुका है तथापि कुछ धूर्तों के छल के

---

१. भट्टिनी ने दौड़ कर उसका सिर अपनी गोद मे ले लिया और कुररी की भाँति कातर चीत्कार के साथ चिल्ला उठी, 'हाय भट्ट, अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया। उसने प्रेम की दो दिशाओं को एकसूत्र कर दिया।' और पछाड़ खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर लोट पड़ीं।
हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (पृष्ठ ६७८)

कारण उसका विवाह मौखरि नरेश से कर दिया जाता है। पर रनिवास मे पहुँच कर भी महामाया उस जीवन को स्वीकार नही कर पाती। जिस युवक से उसका वाग्दान हो चुका था, वह निराश होकर सन्यासी बन जाता है और महामाया का मन निरन्तर उसी की ओर आकर्षित होता रहता है। फलस्वरूप एक दिन वह स्वय भी सन्यास धारण कर लेती है और उस युवक अघोर भैरव के साथ तान्त्रिक साधना का जीवन बिताने लगती है। जब स्थाण्वीश्वर पर विदेशी आक्रमण के बादल घिरने लगते है और पुरजन अपनी रक्षा के लिए राजा की ओर देखने लगते हैं तब महामाया अपने आपको नही रोक पाती। वह जानती है कि राजवश विलासिता और कामुकता की दलदल मे फँसकर इतना पतित हो गया है कि अब उसमे कोई सामर्थ्य नही। इसीलिए वह पुरजनो का आह्वान करती है।

इस आह्वान मे आधुनिक जीवन का प्रतिबिम्ब है। महामाया के इस आह्वान पर नगर निवासियो मे नई स्फूर्ति भर जाती है और उसके लाखो शिष्य पुरुषपुर की सीमा पर पहुँच कर देश की रक्षा करने मे समर्थ होते है। इस प्रकार महामाया के चरित्र मे सच्चे प्रेम, दृढ सकल्प और निर्भीक पराक्रम का समावेश मिलता है।

निपुणिका का जीवन एक अन्य प्रकार की दुर्घटना के कारण तत्कालीन साधारण नारी के जीवन से भिन्न बन जाता है। विवाह के कुछ दिन उपरान्त ही वह विधवा हो जाती है और फिर दर-दर की ठोकरे खाती हुई वह अन्त मे उज्जयिनी पहुँच कर बाणभट्ट की नाटक मडली मे सम्मिलित हो जाती है। बाणभट्ट की नाटक मडली मे और भी अनेक अभिनेत्रियाँ है। मडली की प्रतिष्ठा अक्षुण्य रखने के लिए बाणभट्ट ने अभिनेत्रियो से मिलने-जुलने के बडे कठोर नियम बना रखे है। स्वय बाणभट्ट नारी को देवमदिर के समान पवित्र और गौरववान मानता है तथा उसका शील एव निश्छल व्यवहार उसे सहज ही आकर्षक बना देता है। निपुणिका भी इसीलिए बाणभट्ट के प्रति अत्यन्त गहरा अनुराग अनुभव करने लग जाती है। एक दिन भावावेश मे जब वह बाण के प्रति अपने प्रणय का मौन-निवेदन करती है पर बाण की ओर से उसकी कोई स्वीकृति न पाकर उसको इतना दु ख होता है कि वह उसी रात को नाटक मडली छोडकर चली जाती है। बाद मे बाणभट्ट के पूछने पर निपुणिका दीर्घ निश्वास लेती हुई कहती है 'हॉ भट्ट, मेरे भाग आने के कारण तुम्ही हो, परन्तु दोष तुम्हारा नही है। दोष मेरा ही है। तुम्हारे ऊपर मुझे मोह था। उस अभिनय की रात को मुझे एक क्षण के लिए ऐसा लगा था कि मेरी जीत होने वाली है, परन्तु दूसरे ही क्षण तुमने मेरी आशा को चूर कर दिया। निर्दय, तुमने बहुत बार बताया था कि तुम नारी-देह को देव-मन्दिर के समान पवित्र मानते हो, पर एक बार भी तुमने समझा होता कि यह मन्दिर हाड-मास का है, ईंट-चूने का नही। जिस क्षण मैं अपना सर्वस्व लेकर इस आशा से तुम्हारी ओर बढी थी कि तुम उसे स्वीकार कर लोगे, उसी समय तुमने मेरी आशा को धूलिसात् कर दिया। उस दिन मेरा निश्चित विश्वास हो गया कि तुम जड पाषाड-पिण्ड हो, तुम्हारे भीतर न देवता है, न पशु, है एक अडिग जडता। मैं इसीलिए वहाँ नही ठहर सकी। जीवन मे मैने उसके बाद बहुत दु ख झेले हैं;

पर उस क्षण-भर के प्रत्याख्यान के समान कष्ट मुझे कभी नही हुआ। छ वर्षों तक इम कुटिल दुनिया मे असहाय मारी-मारी फिरी और अब मेरा मोह भक्ति रूप मे बदल गया है। भट्ट तुम मेरे गुरु हो, तुमने मुझे स्त्री-धर्म सिखाया है। छ वर्ष के कठोर अनुभवो के बल पर कह सकती हूँ कि तुम्हारी जडता ही अच्छी थी—मै अभागिन थी, जो तुम्हारा आश्रय छोडकर चली आई।'[१]

लगभग छ वर्ष के बाद जब बाणभट्ट घूमता-फिरता स्थाण्वीश्वर पहुँचता है तो उसे पथ पर जाते देखकर निपुणिका उसे पहिचान कर पुकारती है। अनेक कटु अनुभवो से होती हुई निपुणिका इस समय पान बेचने का काम करती है और छोटे राजकुल के अन्त पुर मे भी पान देने जाया करती है। वही उसे चन्द्रदीधिति का परिचय मिलता है और वह अपने दुखद अनुभवो के कारण चन्द्रदीधिति के उद्धार के लिए व्यग्र हो उठती है। अचानक बाणभट्ट का साक्षात्कार पाकर उसे अत्यन्त प्रसन्नता होती है[२] और वह बाणभट्ट से चन्द्रदीधिति के कष्ट की कथा कहती है।[३] फिर उसकी सहायता से चन्द्रदीधिति का उद्धार करती है।[४] पर बाणभट्ट के प्रति उसके अनुराग मे लेशमात्र भी अन्तर नही आता है। वह निरन्तर बाणभट्ट के प्रति समर्पिता बनी रहती है। इसी समर्पण के कारण चन्द्रदीधिति के प्रति भी उसके मन मे गहरी सहानुभूति और आन्तरिक स्नेह उत्पन्न हो जाता है और एक प्रकार से भट्टिनी और भट्ट को निकट लाने मे भी वह योग देती है। वह जानती है कि जिस प्रकार कडवा और दूषित उसका अतीत जीवन रहा है उसके कारण अब जीवन मे बाणभट्ट का सहयोग पाना कल्पना से भी परे की बात हो गई है। पर फिर भी उसका मन निश्छल और पवित्र ही रहता है और वह अपने सम्पूर्ण मन से बाणभट्ट और चन्द्रदीधिति दोनो को प्यार करती हुई उन्ही की सेवा मे मिट जाती है।

सुचरिता के चरित्र मे पातिव्रत और प्रेम-समर्पण दोनो का समावेश मिलता है। बाल्यकाल मे ही उसका विवाह हो जाता है और उसके यौवन के पूर्व ही उसका पति ससार छोडकर बौद्धधर्म मे दीक्षित हो जाता है। सुचरिता की सास उसको साथ लेकर तीर्थ यात्रा करने लगती है, तभी अकस्मात् एक बार काशी के निकट सुचरिता की अपने पति से भेट हो जाती है। सुचरिता का पति अपनी माँ के अनुरोध पर सुचरिता को फिर से अपनी सगिनी बनाने को प्रस्तुत हो जाता है। सुचरिता से कहता है 'मै माता की आज्ञा से तुम्हारा हाथ पकडना चाहता हूँ। क्या तुम जीवन मे मेरे लक्ष्य की ओर बढने मे मुझे सहायता पहुँचाने को तैयार हो?'[५] सुचरिता के स्वीकार करने पर भी वह एक बार अपने

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (पृष्ठ ६७८)
२. वही : (पृष्ठ २८)
३. वही : (पृष्ठ ३१)
४. वही : (पृष्ठ ४५)
५. वही : (पृष्ठ २७७)

गुरु से इसकी अनुमति लेना आवश्यक समझता है। और सुचरिता एव उसकी सास दोनो उसे इस कार्य के लिए गुरु के पास चले जाने देती है। उसके गुरु उसका झुकाव देखकर उसे अघोर भैरव के पास भेज देते है और अघोर भैरव उसे भागवत धर्म के प्रवर्तक वेंकटेश भट्ट के पास भेज देते है। इस प्रकार सुचरिता और उसका पति विरतिवज्र दोनो भागवत धर्म के अनुयायी बन जाते है और नारायण की भक्ति मे अपना जीवन अर्पित कर देते है।

विरतिवज्र के इस प्रकार धर्म-परिवर्तन कर लेने के कारण बौद्ध धर्म के मठाधीश क्रुद्ध हो जाते है और वे श्रेष्ठी धनदत्त के माध्यम से उन पर ऋण शोध का झूठा अभियोग लगा कर उसे बन्दी बनवा देते है। सुचरिता के बन्दी हो जाने पर स्थाण्वीश्वर की प्रजा मे राज्य के प्रति विक्षोभ फैल जाता है। विदेशी आक्रमण की पृष्ठभूमि मे यह विक्षोभ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है और महाराज की ओर से बाणभट्ट को यह कार्य सौपा जाता है कि वह किसी प्रकार सुचरिता को राज्य के अनुकूल बना दे। बाणभट्ट जब कारागार मे सुचरिता से भेट करता है[1] तब वह अपने जीवन की पूरी कहानी उसे सुनाती है। उसके मन मे महाराज के प्रति कोई रोष नही है। वह पूरी तौर से भागवत धर्म के अनुकूल आचरण करती हुई कहती है 'कि अपना सर्वस्व नारायण के प्रति अर्पण कर देने के बाद उसका अपना भला-बुरा कुछ भी नही बचा है।'[2] बाणभट्ट सुचरिता का यह रूप देखकर गद्गद् हो जाता है और उसकी प्रशसा करते हुए कहता है 'तुम सार्थक हो, देवि! तुम्हारा शरीर और मन सार्थक है, तुम्हारा ज्ञान और वाणी सार्थक है, सब से बढ कर तुम्हारा प्रेम सार्थक है। तुमको प्रणाम कर के भवसागर मे निर्लक्ष्य बहने वाले अकर्मा जीव भी सार्थक होगे। तुम सतीत्व की मर्यादा हो, पातिव्रत्य की काष्ठा हो, स्त्री-धर्म का अलकार हो।'[3]

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (पृष्ठ २८१)
२. वही : (पृष्ठ २८३)
३. वही : (पृष्ठ २८४)

उपसंहार

सच्चे अर्थों मे हिन्दी का पहला सफल उपन्यास 'सेवासदन' था जिसका प्रकाशन सन् १९१६ मे हुआ था। तब से सन् १९५० तक के पैंतीस वर्षों मे हिन्दी उपन्यास ने अभूतपूर्व प्रगति की। उसने सामयिक जीवन के विविध पहलुओ, विविध रूपो और विविध स्तरो पर प्रकाश डाला और मनुष्य की आशा-आकाक्षा, दु ख-निराशा, कर्तव्य और आदर्श का अधिकाधिक यथार्थ विवेचन किया। जिन महत्त्वपूर्ण सामाजिक, राजनैतिक और वैचारिक आन्दोलनो से यह युग आलोडित-विलोडित हो रहा था, उनका यथेष्ठ प्रतिबिम्ब इस काल के उपन्यासो मे मिलता है।

यही कारण है कि अपने जन्म-काल से ही हिन्दी उपन्यास नारी-जीवन और उसकी विभिन्न समस्याओ के प्रति सजग रहा। प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासो मे प्राचीन आदर्शों के प्रति गहरी निष्ठा होने के कारण उपन्यासकारो ने उन्ही आदर्शों के सहारे नारी का चित्रण किया और उन आदर्शों मे ही नारी-जीवन की सार्थकता की उपलब्धि की। प्रेमचन्द-काल के उपन्यासकार प्राचीन और नवीन आदर्शो मे सामजस्य की खोज करते रहे और इसलिए उन्होने नारी की सामाजिक एव पारिवारिक समस्याओ का हल ऐसे सुधारो मे पाने की चेष्टा की जिनमे प्राचीन आदर्श की परम्परा भी बनी रहे और नवीन जीवन का स्वरूप भी उतर आये। प्रेमचन्द के 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' का यही रहस्य है। परिवार मे पुरुष को प्रधान मानते हुए भी वे नारी को समान अधिकार देने के पक्ष मे थे। नारी शिक्षा की आवश्यकता मानते हुए भी वे नारी के स्वतन्त्र अर्थोपार्जन को उचित नही समझते थे। और सामाजिक, राजनैतिक कार्यो मे नारी की रुचि को श्रेयस्कर मानने पर भी पाश्चात्य नारी-जीवन को गलत मानते थे।

प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासो मे नारी-जीवन को कुछ अधिक गहराई से समझने का प्रयत्न किया गया। जैनेन्द्र ने नारी की विवशता का और इलाचन्द्र जोशी ने उसकी मनोवैज्ञानिक हीन-भावना का चित्रण किया। यशपाल ने राजनैतिक दल मे काम करने वाली नारी का और पुरुष-प्रधान समाज मे नारी के विभिन्न बन्धनो का रूप उपस्थित किया। नारी के प्रेम की समस्या, वैवाहिक असगति की समस्या और घर-बाहर की समस्या सभी पर लेखको ने दृष्टिपात किया।

लेकिन इतना होते हुए भी हमे यह कहने को बाध्य होना पडता है कि जिस प्रकार हमारे समाज मे पुरुष की प्रधानता है उसी प्रकार औपन्यासिक कृतित्व मे भी पुरुष-चित्रण को ही प्रधानता मिलती रही। यदि जैनेन्द्र के उपन्यासो को छोड दे तो शायद ही ऐसा कोई उपन्यास मिले जिसमें नारी-जीवन का चित्रण प्रधान हो। इसका एक कारण यह भी हो

सकता है कि उपन्यास-लेखक अधिकतर पुरुष ही थे, यद्यपि महिला उपन्यासकारो ने भी नारी को केवल स्वप्नशील अथवा भावुक ढग से ही देखा, उसके समग्र जीवन का कोई यथार्थ चित्र देने का यत्न नही किया। यही कारण है कि होरी और शेखर के साथ खडे हो सकने वाले नारी-चरित्र हमे हिन्दी उपन्यासो मे नही मिलते। जैसा हम कह आये है, इसका प्रमुख कारण यही ज्ञात होता है कि उपन्यास मे जीवन का ही प्रतिबिम्ब होता है और हमारा सामाजिक जीवन अब भी पुरुष-प्रधान ही है।

लेकिन दु ख की बात यह है कि प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासो मे कुछ ऐसी समस्याएँ भी छूट गई है जो यथार्थ जीवन मे काफी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। शिक्षा के क्षेत्र मे बालक और बालिकाओ मे विभेद, लालन-पालन मे भी बालिका की अपेक्षा बालक के साथ पक्षपात और जीवन के विकास के लिए बालिका के लिए उपयुक्त अवसर की कमी की ओर उपन्यासकार ने ध्यान नही दिया है। इसी प्रकार सहशिक्षा से उत्पन्न कृत्रिम वातावरण और समस्याएँ बहुत कम ध्यान आकृष्ट कर पाई है। केवल रागेय राघव के 'घरौंदे' मे उसका उल्लेख मिलता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे पुरुष-मन का जितना विश्लेषण है उतना नारी-मन का विश्लेषण नही मिलता। अधिकाश उपन्यासो मे पुरुष के परिप्रेक्ष्य से ही नारी के मनोविज्ञान का अध्ययन किया गया है जिसके कारण नारी-मन के बहुत-से सूक्ष्म पहलू छूट गये है। और नारी के बाल-मनोविज्ञान का चित्रण तो कही भी नही मिलता। व्यक्तित्व के विकास मे बचपन का जो महत्त्व होता है उसका अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण 'शेखर . एक जीवनी' मे पुरुष-मन के माध्यम से मिलता है, पर नारी-मन का वैसा कोई चित्रण नही मिलता।

सन् चालीस के आसपास भारतीय नारी नवीन जीवन के आदर्श अपनाने लग गई थी और प्रयत्नपूर्वक अपने जीवन को उन आदर्शो के अनुरूप बनाने लग गई थी। इस प्रयत्न मे उसे अपने परिवार मे अनेक प्रकार का सघर्ष करना पडता था और प्राचीन सस्कार एव समाज मे प्रचलित स्वार्थ और कामुकता से जूझना पडता था। किन्तु उपन्यासकार ने उसके इस सघर्ष को अनदेखा ही किया। 'गिरती दीवारे' और 'पथ की खोज' मे उपेन्द्र-नाथ 'अश्क' और डा० देवराज ने क्रमश चेतन और चन्द्रनाथ के माध्यम से उस मध्य-वर्गीय आधुनिक बुद्धिजीवी पुरुष का चित्रण बडी ईमानदारी के साथ किया है जो नवीन आदर्शो की प्रेरणा से अपने जीवन का सस्कार और विकास करना चाहता है और उस विकास मे अपनी पत्नी का सहयोग पाना चाहता है और जब पत्नी अज्ञान अथवा असमर्थता के कारण वैसा सहयोग नही दे पाती तो जिसको गहरी मानसिक पीडा होती है। पर इसी के समानान्तर उस नारी का चित्रण नही मिलता जो अपने विकास के लिए व्यग्र है और जो अपने परिवार और अपने पति की ओर से दी जाने वाली बाधाओ के कारण छटपटाती रह जाती है, और न उस तेजस्विनी नारी का चित्रण किया गया है जो इन बाधाओ को पार करती हुई अपना इच्छित लक्ष्य प्राप्त करती है। नारी के पिछडेपन की निन्दा तो अनेक स्थलो पर मिलती है, पर पुरुष के पिछडेपन का कोई उल्लेख नही मिलता।

इसी प्रकार दाम्पत्य-जीवन की विषमता अथवा असफलता का दोष बहुधा नारी के सिर पर ही मढा गया है। नारी का भी अपना व्यक्तित्व है और पुरुष को उस व्यक्तित्व को मान्यता देनी होगी—यह बात बहुत कम उपन्यासकारो ने कही है। अमृतराय के 'बीज' उपन्यास मे दाम्पत्य-जीवन का जो चित्रण है एकमात्र वही इसका अपवाद है। चेतन और चन्द्रनाथ दोनो विवाहित होने पर भी अपनी पत्नी की उपेक्षा कर पर-नारी से प्रेम करते है, फिर भी लेखक उनकी आलोचना करते नही पाये जाते और न वे पत्नी के मन की निराशा, वितृष्णा और विवशता के प्रति कोई सहानुभूति देते मिलते है।

आधुनिक हिन्दी उपन्यासो मे नारी-जीवन के एक और पहलू पर भी प्रकाश नही डाला गया है। सन् १९३५ के आर्थिक सकट से ही भारतीय नारी अर्थोपार्जन की ओर ध्यान देती आई है और सन् १९५० तक हम अनेक पुरुषोचित धन्धो मे नारी को प्रवेश करते पाते है। क्लर्क, अध्यापिका, लेडी-डाक्टर, लेडी-वकील, राजनैतिक कार्यकर्त्री, समाज-सेविका, अभिनेत्री के रूप मे यहाँ तक कि मत्रालय और दूतावास मे भी नारी की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, पर नारी के इन अनेक रूपो मे से उपन्यास-लेखको ने केवल दो-तीन की ओर ही ध्यान दिया है। इस प्रकार के धधे अपनाने से उसके पारिवारिक जीवन मे जो परिवर्तन आता है और उसके सामाजिक जीवन मे जो कठिनाइयाँ और ठोकरे उसको मिलती है उनका कोई उल्लेख हिन्दी उपन्यासकार ने नही किया है।

इसी प्रकार स्वावलम्बिनी नारी के अस्वाभाविक जीवन का और विवाह को अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण समझ कर उससे दूर रहने वाली नारी का कोई चित्र हमे हिन्दी उपन्यास मे नही मिलता।

यथार्थ जीवन मे नारी के सौन्दर्य को अनावश्यक रूप से महत्त्व दिया जाता है। इसीलिए नारी की कुरूपता एक प्रकार से अभिशाप बन जाती है। कुरूपा नारी को साधारणत अपना समस्त जीवन कष्ट और अपमान मे बिताना पडता है। इस अपमान के कारण उसका मन भी असाधारण और अस्वाभाविक बन जाता है। नारी जीवन के इस पहलू की ओर लेखको का ध्यान जाना अभी बाकी है।

यद्यपि हिन्दी उपन्यासो मे उपर्युक्त अभाव खटकते अवश्य है, फिर भी नारी चित्रण की दृष्टि से उपन्यासो के विकास को असतोषजनक कहना सही न होगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी उपन्यासो के क्षेत्र मे नित्य नई रचनाएँ सामने आती रही है जिनमे आधुनिक जीवन के विस्तार और गहराई को प्रतिबिम्बत करने का अधिकाधिक प्रयत्न किया जा रहा है। नागार्जुन और फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यासो से आचलिक जीवन को नई गहराई और नया रग मिला है और उन्होने अनेक जीते-जागते नारी चरित्रो की सृष्टि की है। अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' और भगवतीचरण वर्मा के 'भूले बिसरे चित्र' मे नागरिक जीवन की अनन्त विविधता का यथार्थ चित्र उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार उदयशकर भट्ट के उपन्यास 'सागर, लहरे और मनुष्य' मे पहली बार समुद्र तट के मछुओ के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। शिक्षित नारियो का चित्रण भी

अनेक उपन्यासो मे कुशलतापूर्वक किया गया है। इनमे 'अज्ञेय' का 'नदी के द्वीप' प्रमुख है।

हमे आशा करनी चाहिए कि शीघ्र ही ऐसे उपन्यास भी रचे जायेगे जिनमे आधुनिक जीवन की पृष्ठभूमि मे नारी-चरित्र की समग्रता प्रतिबिम्बित होगी।

●

ग्रथानुक्रमणिका

उपन्यास-ग्रंथ (सन् १९५० तक)

लेखक	पुस्तक	संस्करण
अमृतलाल नागर	महाकाल	प्रथम सस्करग १९४७ इलाहाबाद
अवधनारायण श्रीवास्तव	विमाता	तृतीय सस्करण
अनूपलाल मण्डल	निर्वासित	प्रथम सस्करण
,,	ज्योतिमयी	,,
,,	वे अभागे	,,
,,	मीमासा	,,
,,	समाज की वेदी पर	,,
अयोध्यासिह उपाध्याय	ठेठ हिन्दी का ठाठ	प्रथम सस्करण १८९९
,,	अधखिला फूल	प्रथम सस्करण १९०७
अम्बिकाप्रसाद चतुर्वेदी	कोहेनूर	प्रथम सम्करण १९१९
'अज्ञेय'	शेखर एक जीवनी दो भाग,	पचम सस्करण, बनारस
इलाचन्द्र जोशी	लज्जा	तृतीय सस्करण १९५०, इलाहाबाद
,,	सन्यासी	चतुर्थ सस्करण १९४९, इलाहाबाद
,,	पर्दे की रानी	तृतीय सस्करण १९५१, प्रयाग
	प्रेत और छाया	द्वितीय सस्करण १९४७, इलाहाबाद
,,	निर्वासित	प्रथम सस्करण १९४६, इलाहाबाद
,,	मुक्तिपथ	सन् १९४९, इलाहाबाद
ईश्वरीप्रसाद शर्मा	वामा शिक्षक	प्रथम सस्करण १८८३, मेरठ
,,	स्वर्णमयी	प्रथम सस्करण १९१०, केशव मत्रालय

ईश्वरीप्रसाद शर्मा	मागधी कुसुम	प्रथम सस्करण १९११, काशी
ईश्वरीप्रसाद गुप्त और मदनबिहारी वर्मा	कमला	प्रथम सस्करण १९४०
उदयराजसिह	अधूरी नारी	प्रथम सस्करण १९४३, साहित्य मदिर
उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	सितारो के खेल	तृतीय सस्करण १९५२, प्रयाग
,,	गिरती दीवारे	द्वितीय सस्करण १९१५, प्रयाग
उमाशकर मिश्र	बनारस की वेश्याएँ	प्रथम सस्करण १९३९, बनारस सिटी
उषादेवी मित्रा	वचन का मोल	पचम सस्करण १९४६
,,	पिया	तृतीय सस्करण १९४४
,,	जीवन की मुस्कान	तृतीय सस्करण १९४५
,,	सोहनी	प्रथम सस्करण १९४९ बनारस
ऋषभचरण जैन	भाई	प्रथम सस्करण १९३०
,,	मास्टर साहब	प्रथम सस्करण १९२७
,,	वेश्या पुत्र	प्रथम सस्करण १९२९
,,	मन्दिर दीप	प्रथम सस्करण १९३६
,,	चम्पाकली	प्रथम सस्करण १९३७, सस्ता साहित्य मण्डल
ओंकार शरद	मिटती छाया	प्रथम सस्करण, इलाहाबाद
कुटुमप्यारीदेवी सक्सेना	हृदय की ताप	प्रथम सस्करण १९३६, बनारस
कञ्चनलता सब्बरवाल	त्रिवेनी	प्रथम सस्करण १९५०, देहरादून
किशोरीलाल गोस्वामी	स्वर्गीय कुसुम	द्वितीय सस्करण
,,	लवगलता	प्रथम सस्करण १८९०
,,	त्रिवेणी	प्रथम सस्करण १८८८
,,	हृदयहारिणी	प्रथम सस्करण १८९०
,,	तारा	प्रथम सस्करण १९०२
,,	चपला	द्वितीय सस्करण १९१५

किशोरीलाल गोस्वामी	लखनऊ की कब्र	प्रथम सस्करण १९०६
,,	अँगूठी का नगीना	प्रथम सस्करण १९१८
गगाप्रसाद मिश्र	सघर्षो के बीच	प्रथम सस्करण
गगाप्रसाद गुप्त	वीर पत्नी	प्रथम सस्करण १९०३
गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	अरुणोदय	प्रथम सस्करण १९३०
गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	बहता पानी	प्रथम सस्करण
गुरुदत्त	उन्मुक्त प्रेम	द्वितीय सस्करण १९४४
गोविन्दवल्लभ पत	मदारी	प्रथम सस्करण १९३५
गोविन्ददास	इन्दुमती	प्रथम सस्करण १९५०, बम्बई
गोपालराम गहमरी	ठनठन गोपाल	प्रथम सस्करण
,,	गुप्तचर	,,
,,	झडा डाकू	,,
,,	अद्भुत खून	प्रथम सस्करण १९०६
चतुरसेन शास्त्री	हृदय की परख	दसवाँ सस्करण
,,	अमर अभिलाषा	प्रथम सस्करण
,,	हृदय की प्यास	प्रथम सस्करण
,,	आत्मदाह	द्वितीय सस्करण
,,	वैशाली की नगर वधू	प्रथम सस्करण १९४९
चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'	मनोरमा	प्रथम सस्करण १९२४
,,	मगल प्रभात	प्रथम सस्करण १९२६
चण्डिकाप्रसाद मिश्र	सुहागिनी	
चद्रशेखर पाठक	अबला की आत्मकथा	द्वितीय सस्करण १९३६, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
जयराम गुप्त	राज दुलारी	प्रथम सस्करण
जैनेन्द्र कुमार	तपोभूमि	प्रथम सस्करण १९३२
,,	परख	तृतीय सस्करण, बम्बई ४
,,	त्यागपत्र	द्वितीय सस्करण १९४३, बम्बई
,,	सुनीता	द्वितीय सस्करण १९४१, बम्बई
,,	कल्याणी	प्रथम सस्करण १९४०, बम्बई
जगदीशशरण मिश्र	मदाकिनी	प्रथम सस्करण १९३८, जगदीश उपन्यासमाला

जगदीशशरण मिश्र	विनीता	प्रथम सस्करण १९३९, जगदीश उपन्यासमाला
जगदीश झा 'विमल'	मातृ मदिर	प्रथम सस्करण १९४१, छात्र हितकारी पुस्तक माला
जयशकर 'प्रसाद'	ककाल	षष्ठ सस्करण १९५०, इलाहाबाद
जयशकर प्रसाद	तितली	पचम सस्करण १९४८, इलाहाबाद
,,	इरावती	चतुर्थ सस्करण १९५६, इलाहाबाद
(ठा०) जगमोहनसिंह	श्यामा स्वप्न	प्रथम सस्करण १८८८, कुला द्वारा प्रकाशित
तेजरानी दीक्षित	हृदय का कॉटा	प्रथम सस्करण १९३८
देवीप्रसाद धवन 'विकल'	भाभी	प्रथम सस्करण १९४५, लखनऊ
,,	चिनगारी	प्रथम सस्करण १९३८, कानपुर
देवकीनन्दन खत्री	चन्द्रकान्ता	प्रथम सस्करण १८९३
,,	चन्द्रकान्ता सतति	पॉचवॉ सस्करण १९१६
,,	कुसुम कुमारी	आठवी बार १९५३
,,	काजर की कोठरी	आठवॉ सस्करण
,,	भूतनाथ	प्रथम सस्करण १९०८
,,	नरेन्द्र मोहिनी	आठवॉ सस्करण
देवनारायण द्विवेदी	दहेज	प्रथम सस्करण १९३८
,,	पश्चात्ताप	प्रथम सस्करण १९३८
धनीराम 'प्रेम'	मेरा देश	प्रथम सस्करण १९३६
,,	वेश्या का हृदय	प्रथम सस्करण १९३३, अलीगढ़
डा० धर्मवीर भारती	गुनाहों का देवता	चतुर्थ सस्करण १९५७, इलाहाबाद
नरोत्तमप्रसाद नागर	दिन के तारे	प्रथम सस्करण
नागार्जुन	रतिनाथ की चाची	प्रथम सस्करण
प्रेमचन्द	वरदान	द्वितीय सस्करण १९४५
,,	प्रतिज्ञा	नवॉ सस्करण १९५०

प्रेमचन्द	सेवासदन	सरस्वती प्रेस बनारस से प्रकाशित
,,	निर्मला	छठवाँ सस्करण
,,	गबन	नवाँ सस्करण
,,	कर्मभूमि	छठवाँ सस्करण
,,	रगभूमि (दोनो भाग)	ग्यारहवाँ सस्करण १९४६, लखनऊ
,,	कायाकल्प	चतुर्थ सस्करण
,,	प्रेमाश्रम	ग्यारहवाँ सस्करण
,,	गोदान	छठवाँ सस्करण
प्रतापनारायण श्रीवास्तव	विजय	प्रथम सस्करण १९३७
,,	विकास	प्रथम सस्करण १९३९
,,	विदा	सातवाँ सस्करण १९४६, लखऊन
प्रभावती भटनागर	पराजय	प्रथम सस्करण १९३४
प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'सुमन'	पाप और पुण्य	प्रथम सस्करण १९३०
,,	तलाक	प्रथम सस्करण १९३२
बलदेवप्रसाद मिश्र	पानीपत	द्वितीय सस्करण १९१७
बालकृष्ण दामोदर शास्त्री	महेन्द्र मोहिनी	द्वितीय सस्करण १९२१
बालकृष्ण भट्ट	सौ अजान और एक सुजान	प्रथम सस्करण १८८१
,,	नूतन ब्रह्मचारी	प्रथम सस्करण १८८६
ब्रजनदन सहाय	रजिया बेगम	प्रथम सस्करण १९१५
,,	सौन्दर्योपासक	प्रथम सस्करण १८८९
बेचन शर्मा 'उग्र'	मनुष्यानद	द्वितीय सस्करण १९५५
,,	दिल्ली का दलाल	प्रथम सस्करण १९२७
,,	चद हसीनो के खतूत	सातवाँ सस्करण
,,	शराबी	प्रथम सस्करण, पुस्तक भवन, बनारस
भारतेदु हरिश्चन्द्र	पूर्णप्रकाश चद्रप्रभा	प्रथम सस्करण १८८९
भगवतीप्रसाद वाजपेयी	त्यागमयी	द्वितीय सस्करण १९३२
,,	लालिमा	प्रथम सस्करण १९३०
,,	पतिता की साधना	द्वितीय सस्करण १९३८
,,	पिपासा	प्रथम सस्करण १९३७
,,	प्रेम निर्वाह	प्रथम सस्करण १९३६

भगवतीप्रसाद वाजपेयी	निमत्रण	प्रथम सस्करण १९४२, इलाहाबाद
,,	दो बहने	द्वितीय सस्करण १९४४
,,	गुप्त धन	प्रथम सस्करण १९४९
भगवतीचरण वर्मा	पतन	प्रथम सस्करण १९२८
,,	चित्रलेखा	पद्रहवाँ सस्करण १९५७, इलाहाबाद
,,	तीन वर्ष	द्वितीय सस्करण १९४२
,,	आखिरी दाँव	प्रथम सस्करण १९५०, प्रयाग
भैरवप्रसाद गुप्त	इसान	प्रथम सस्करण १९५०, मद्रास
,,	शोले	प्रथम सस्करण १९४७, इलाहाबाद
मन्मथनाथ गुप्त	कुचरित्र	प्रथम सस्करण १९४९, नई दिल्ली
,,	अधेर नगरी	प्रथम संस्करण प्रगति प्रकाशन
,,	अवसान	प्रथम सस्करण १५९०, बनारस
यशपाल	दिव्या	तृतीय सस्करण १९५४, लखनऊ
,,	पार्टी कामरेड	द्वितीय सस्करण १९४७, लखनऊ
,,	दादा कामरेड	तृतीय सस्करण १९४८, लखनऊ
,,	देशद्रोही	तृतीय सस्करण, लखनऊ
,,	मनुष्य के रूप	प्रथम सस्करण १९४८, लखनऊ
यज्ञदत्त	स्वाधीनता के पथ पर	प्रथम सस्करण
,,	प्रेम समाधि	प्रथम सस्करण १९४०, दिल्ली
रत्नचद्र प्लीडर	नूतन चरित्र	सन् १९२२ मे प्रकाशित
राधा कृष्णदास	निस्सहाय हिन्दू	प्रथम सस्करण १८९०
रामनरेश त्रिपाठी	वीरागना	प्रथम सस्करण १९११
,,	वीरबाला	प्रथम सस्करण १९११
रमाशकर सक्सेना	अबला	प्रथम सस्करण १९२८

रामकिशोर मालवीय	शैलकुमारी	द्वितीय सस्करण १९२८
रामरतन भटनागर	अम्बपाली	प्रथम सस्करण १९३९
,,	जय वासुदेव	प्रथम सस्करण १९४७
राधिकारमण प्रसाद सिंह	राम रहीम	द्वितीय सस्करण १९४४, शाहाबाद
,,	पुरुष और नारी	प्रथम सस्करण १९४०, शाहाबाद
रामवृक्ष बेनीपुरी	कैदी की पत्नी	प्रथम सस्करण १९४०, पटना
,,	पतितो के देश मे	(बेनीपुरी ग्रथावली मे सग्रहीत)
,,	माटी की मूरते	,,
राहुल साकृत्यायन	सिंह सेनापति	द्वितीय सस्करण १९४५, इलाहाबाद
,,	जय यौधेय	द्वितीय सस्करण १९४६, इलाहाबाद
रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाडी'	चलचित्र	द्वितीय सस्करण १९४८, इलाहाबाद
,,	सराय	प्रथम संस्करण १९४४, इलाहाबाद
रागेय राघव	विषाद मठ	प्रथम सस्करण १९४६
,,	घरौदे	प्रथम सस्करण १९४६, बनारस
रामचन्द्र तिवारी	कमला	प्रथम सस्करण १९४३, बनारस कैण्ट
,,	सागर सरिता और अकाल	प्रथम सस्करण १९४६, बनारस
रामेश्वर शुक्ल 'अचल'	चढती धूप	१९५५ का सस्करण, इलाहाबाद
,,	नई इमारत	,,
,,	उल्का	
रूपनारायण पाडे	कपटी	प्रथम सस्करण १९३४
लज्जाराम शर्मा मेहता	धूर्त रसिकलाल	प्रथम सस्करण १८९९
,,	आदर्श दम्पति	प्रथम सस्करण १९०४
लज्जाराम शर्मा मेहता	बिगडे का सुधार	प्रथम सस्करण १९०७
,,	आदर्श हिन्दू (तीन भाग)	प्रथम सस्करण १९१५

लालजी शुक्ल	वीरबाला	प्रथम सस्करण १९०६
विश्वनाथ वैशम्पायन	मातृत्व का अभिशाप	प्रथम सस्करण १९५०, मलिक नगर (गाजियाबाद)
विनोदशकर व्यास	अज्ञात	प्रथम सस्करण १९२७
विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'	भिखारिणी	तृतीय सस्करण १९५२
,,	माँ	प्रथम सस्करण १९२९
वृन्दावनलाल वर्मा	गढ कुण्डार	पचम सस्करण १९४६, लखनऊ
,,	विराटा की पद्मिनी	पचम सस्करण १९५१
,,	मुसाहिबजू	प्रथम सस्करण १९४६
,,	कचनार	पचमावृत्ति १९५९, झाँसी
,,	झाँसी की रानी	षष्ठमावृत्ति १९५६, झाँसी
,	मृगनयनी	प्रथम सस्करण १९५०, झाँसी
,,	अचल मेरा कोई	तृतीय सस्करण १९५४, झाँसी
,,	लगन	द्वितीय सस्करण १९५१
,,	प्रेम की भेट	प्रथम सस्करण १९३१
,,	प्रत्यागत	प्रथम सस्करण १९३९
,,	कुण्डली-चक्र	प्रथम सस्करण, झाँसी
शालिग्राम गुप्त	आदर्श रमणी	प्रथम सस्करण १९११
शिवचन्द्र शर्मा	नया आदमी	प्रथम सस्करण, १९४९, इलाहाबाद
शिवपूजन सहाय	देहाती दुनिया	प्रथम सस्करण लहेरिया सराय, पटना
श्रीनिवासदास	परीक्षा गुरु	द्वितीय सस्करण १८८६
श्रीनाथ सिह	प्रजा मण्डल	प्रथम सस्करण, दीदी कार्यालय
,,	उलझन	प्रथम सस्करण
श्रीकृष्णदास	अग्निपथ	द्वितीय सस्करण १९४५, इलाहाबाद
श्रीकृष्णदास	क्रान्तिदूत	द्वितीय सस्करण १९४७,
,,	जुलेखा	प्रथम सस्करण, प्रयाग

सर्वदानन्द वर्मा	सस्मरण	प्रथम सस्करण १९४०, बॉकीपुर
,,	नरमेध	प्रथम सस्करण १९४१, प्रयाग
,,	नरक	सरस्वती सिरीज
,,	प्रश्न	प्रथम सस्करण १९३८, लखनऊ
सियारामशरण गुप्त	नारी	तृतीय सस्करण १९४४, झाँसी
,,	गोद	द्वितीय सस्करण १९३७, झाँसी
,,	अन्तिम आकाक्षा	प्रथम सस्करण १९३४, झाँसी
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	अप्सरा	षष्ठ सस्करण १९५२
,,	अलका	प्रथम सस्करण १९३३
,,	निरुपमा	द्वितीय सस्करण
,,	प्रभावती	प्रथम सस्करण १९३६, लखनऊ
(डा०) हजारीप्रसाद द्विवेदी	बाणभट्ट की आत्मकथा	प्रथम सस्करण १९४६, शान्ति निकेतन
त्रिमूर्ति	मीठी चुटकी	प्रथम सस्करण १९२७

सन् १९५० के उपरान्त प्रकाशित हिन्दी उपन्यास तथा अन्य भाषा के उपन्यास

अमृतलाल नागर	बूंद और समुद्र	प्रथम सस्करण १९५६, इलाहाबाद
अमृतराय	बीज	प्रथम सस्करण १९५६, इलाहाबाद
'अज्ञेय'	नदी के द्वीप	प्रथम सस्करण १९५१ नई दिल्ली
अनातोले फ्रास	ताइस (हिन्दी अनुवाद)	सरस्वती सिरीज
अलेक्जेण्डर कुप्रिन	गाडीवालो का कटरा	तृतीय सस्करण १९४५, बनारस
इलाचन्द्र जोशी	सुबह के भूले	प्रथम सस्करण १९५२, इलाहाबाद

इलाचन्द्र जोशी	जहाज का पछी	प्रथम सस्करण १९५६
उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	गर्म राख	प्रथम सस्करण, इलाहाबाद
,,	बडी बडी आँखे	प्रथम सस्करण इलाहाबाद
उदयशकर भट्ट	सागर, लहरे और मनुष्य	प्रथम सस्करण नई दिल्ली
एमिल ज़ोला	नाना की माँ (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम सस्करण
(श्रीमती) क्रेक	जान वावर बैंक की पत्नी (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम सस्करण
चार्ल्स डिकेन्स	डेविड कापरफील्ड	
जैनेन्द्रकुमार	सुखदा	प्रथम सस्करण
,,	विवर्त	,,
,,	व्यतीत	,,
टामस हार्डी	टैस (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम सस्करण
टाल्सटाय	अन्ना केरिनिना (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम सस्करण
,	प्रेम की प्रतिक्रिया	प्रथम सस्करण
डायटोवस्की	क्राइम एण्ड पनिशमैट (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम सस्करण
विलियम थैकरे	वैनिटी फेयर (हिन्दी अनु०)	प्रथम सस्करण
दामोदर मुखोपाध्याय	मृण्मयी (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम सस्करण
(डा०) देवराज	पथ की खोज (दो भाग)	प्रथम सस्करण १९५१,लखनऊ
,,	घर-बाहर	प्रथम सस्करण
डा० धर्मवीर भारती	सूरज का सातवाँ घोडा	प्रथम सस्करण १९५२, इलाहाबाद
नागार्जुन	बलचनमा	प्रथम सस्करण
नरेश मेहता	डूबते मस्तूल	प्रथम सस्करण
फणीश्वरनाथ 'रेणु'	मैला ऑचल	प्रथम सस्करण, इलाहाबाद
,,	परती परिकथा	प्रथम सस्करण १९५७, प्रयाग
फ्लाबेयर	मादाम बोवारी (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम सस्करण
बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय	विष वृक्ष (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम सस्करण १९२१
,,	देवी चौधुरानी (,,)	प्रथम सस्करण
,,	दुर्गेशनन्दिनी (,,)	,,
,,	आनन्द मठ (,,)	,,

भगवतीचरण वर्मा	भूले बिसरे चित्र	प्रथम सस्करण १९५९, दिल्ली
मैक्सिम गोर्की	माँ (हिन्दी अनुवाद)	तृतीय सस्करण १९४४, बनारस
मेरी करेली	प्रतिशोध	प्रथम सस्करण १९२४
यज्ञदत्त	झुनिया की शादी	प्रथम सस्करण १९५३, दिल्ली
रवीन्द्रनाथ ठाकुर	घर-बाहर (हिन्दी अनु०)	जगत शखधर द्वारा प्रकाशित
रामेश्वर शुक्ल 'अचल'	मरु-प्रदीप	द्वितीय सस्करण १९५८, इलाहाबाद
(डा०) लक्ष्मीनारायण लाल	काले फूल का पौधा	प्रथम सस्करण
,,	बया का घोसला और साँप	प्रथम सस्करण, इलाहाबाद
विलियम समरसेट	ममता के बधन (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम सस्करण
शरच्चद्र चट्टोपाध्याय	गृहदाह (हिन्दी अनु०)	शरत् साहित्य, बम्बई
,,	शेष प्रश्न (,,)	,,
,,	चरित्रहीन (,,)	,,
,,	विराज बहू (,,)	,,
,,	देवदास (,,)	,,

अन्य सहायक ग्रंथ

अन्ना गार्लिन स्पैन्सर	वीमेन्स शेयर इन सोशल कल्चर	द्वितीय सस्करण
(डा०) इन्द्रनाथ मदान	माडर्न हिन्दी लिटरेचर	प्रथम सस्करण १९३९, लाहौर
,,	प्रेमचन्द चिन्तन और कला	सरस्वती प्रेस, बनारस
,,	शरच्चंद्र चिन्तन और कला	हिन्दी भवन, जालधर और इलाहाबाद
(डा०) इन्द्रनाथ मदान	स्टेटस आफ वीमेन इन एन्शियेण्ट इण्डिया	प्रथम सस्करण
,,	वीमेन अन्डर बुद्धिज्म	,,
इलाचन्द्र जोशी	विवेचना	प्रथम सस्करण १९४८, प्रयाग
(डा०) ए० एस० अल्टेकर	पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिवलीजेशन	१९३९, बनारस

लेखक	पुस्तक	संस्करण
एन्थानी एम० लूडोविची	वोमन ए विन्डीकेशन	प्रथम सस्करण १९२३
एस० ए० डॉंगे	प्रिमिटिव इन्डिया	प्रथम सस्करण १९४९, बम्बई
एस० सी० सरकार एण्ड के० के० दत्ता	द टैक्स्ट बुक आफ म.डर्न इण्डियन हिस्ट्री	(पोथी दो)
क्लारा जेटकिन	स्त्री स्वातन्त्य और कम्यूनिस्ट नैतिकता पर लेनिन के विचार (हिन्दी अनु०)	प्रथम सस्करण १९५१, जोधपुर
कृष्णशकर शुक्ल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास	द्वितीय सस्करण १९३६, बनारस
कोमल कोठारी, विजयदान देया (सम्पादक)	प्रेमचन्द के पात्र	प्रथम सस्करण
(बाबू) गुलाबराय	हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास	सप्तदश सस्करण १९५४, आगरा
गगाप्रसाद पाडे	हिन्दी कथा साहित्य	प्रथम सस्करण १९५१, इलाहाबाद
चद्रावती लखनपाल	स्त्रियों की स्थिति	प्रथम सस्करण
चन्द्रप्रकाश वर्मा	साहित्यालोक	प्रथम सस्करण १९४२
जैनेन्द्रकुमार	प्रस्तुत प्रश्न	प्रथम सस्करण १९३९, बम्बई
,,	काम, प्रेम और परिवार	प्रथम सस्करण
जान स्टुअर्ट मिल	सब्जेक्शन आफ वीमेन	१९२४ मे प्रकाशित
जी० टी० डब्ल्यू	द साइकोलाजी आफ वोमेन	प्रथम सस्करण
जे० एल० डेविस	द शार्ट हिस्ट्री आफ वोमेन	१९२१ मे प्रकाशित, लन्दन
दयानद सरस्वती	सत्यार्थप्रकाश	इक्कीसवी बार १९२७
दयाराम जिडुमल	द स्टेटस आफ बोमन इन इन्डिया	प्रथम सस्करण १८८९
देवराज उपाध्याय	आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान	प्रथम सस्करण १९५६, प्रयाग
नददुलारे वाजपेयी	आधुनिक साहित्य	प्रथम सस्करण १९५०, प्रयाग
डा० नगेन्द्र	विचार और अनुभूति	१९४५, मुरादाबाद
,,	विचार और विवेचन	प्रथम सस्करण, दिल्ली
,,	विचार और विश्लेषण	,, ,,

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	हिन्दी कथा साहित्य	प्रथम सस्करण १९५४, बम्बई
पट्टाभि सीतारामैया	काग्रेस का इतिहास	प्रथम सस्करण (१८८५-१९३५)
प्रकाशचन्द्र गुप्त	साहित्यधारा	प्रथम सस्करण १९५६, बनारस
फर्डिनैड शेविल	आधुनिक योरप का इतिहास	प्रथम सस्करण, इलाहाबाद
फ्रेडरिक एन्गिल्स	द ओरिजिन आफ द फेमिली	प्रथम सस्करण १९४८, मास्को
बर्टरैन्ड रसैल	मैरिज एड मारल्स	प्रथम सस्करण १९२९
(डा०) बेनीप्रसाद	हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता	प्रथम सस्करण १९३१, प्रयाग
बेरी मिलार्ड	वोमन अगेन्स्ट मिथ	प्रथम सस्करण १९४८, न्यूयार्क
भगवतशरण उपाध्याय	वीमेन इन ऋग्वेद	१९४१, बनारस
,,	भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण	१९५०, काशी
(डा०) भोलानाथ	हिन्दी साहित्य	प्रथम सस्करण १९५४, प्रयाग
(श्रीमती) महारानी साहबा (बडौदा)	भारतीय स्त्रियाँ	प्रथम सस्करण १९२६
मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्रनाथ वर्मा	कथाकार प्रेमचन्द	प्रथम सस्करण १९४७
मार्गरेट ई० कजिन्स	अवेकनिग आफ एशियन वोमन हुड	१९२२ मे प्रकाशित
मार्गरेट ई० कजिन्स	इन्डियन वोमनहुड टुडे	प्रथम सस्करण
मोहनदास कर्मदास गाधी	स्त्रियो की समस्याएँ	१९४२ मे प्रकाशित, साधन सदन
महादेवी वर्मा	शृखला की कडियाँ	प्रथम सस्करण १९४२, बनारस
मित्तर (जस्टिस)	पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू ला	१९१३ मे प्रकाशित, कलकत्ता
यशपाल	बात बात मे बात	१९५०, लखनऊ
,,	मार्क्सवाद	प्रथम सस्करण १९४०, लखनऊ

राल्फ फाक्स	नावेल एण्ड द पीपुल	१९३७ मे प्रकाशित
डा० रामविलास शर्मा	भारतेंदु-युग	युग मन्दिर, उन्नाव
,,	प्रगति और परम्परा	प्रथम सस्करण १९४८, इलाहाबाद
,,	प्रेमचन्द ओर उनका युग	दिल्ली
,,	निराला	प्रथम सस्करण १९४८, बम्बई
रामस्वरूप चतुर्वेदी	शरद् के नारी-पात्र	ज्ञानपीठ प्रकाशन, बनारस
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास	सशोधित और परिवर्द्धित सस्करण १९४५, काशी
राहुल साकृत्यायन	वैज्ञानिक भौतिकवाद	द्वितीय सस्करण १९४५, प्रयाग
(लाला) लाजपतराय	दुखी भारत	१९२८, प्रयाग
,,	द आर्य समाज	१९१५ मे प्रकाशित
(डा०) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य (१७५७-१८५७)	प्रथम सस्करण १९५२, प्रयाग
,,	आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९००)	सशोधित एव परिवर्द्धित सस्करण १९५४, इलाहाबाद
वासुदेव उपाध्याय	मध्यकालीन भारत	प्रथम सस्करण
व्रजरत्नदास	हिन्दी उपन्यास साहित्य	प्रथम सस्करण, बनारस
वाइ० एम० रीग	व्हिदर वीमेन	प्रथम सस्करण
वायला क्लीन	फैमिनिन कैरेक्टर	प्रथम सस्करण
वेन्डा फ्रेकन नैफे	विक्टोरियन वर्किंग वोमन	,,
वी० एल० शर्मा	भारतीय सस्कृति का विकास	,,
शरच्चद्र चट्टोपाध्याय	नारी का मूल्य (शरत् साहित्य १५)	चौथा सस्करण १९५१, बम्बई
,,	शरद पत्रावली (शरत्-साहित्य २५)	प्रथम सस्करण १९५२, बम्बई
शिवनारायण श्रीवास्तव	हिन्दी उपन्यास	तृतीय सस्करण १९५०, बनारस
शिवदानसिंह चौहान	हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	प्रथम सस्करण १९५४, दिल्ली
,,	प्रगतिवाद	प्रथम सस्करण १९४६ बम्बई

शिवदान सिह चौहान	साहित्य की परख	प्रथम सस्करण १९४८, दिल्ली
शिवदत्त ज्ञानी	भारतीय सस्कृति	प्रथम सस्करण
शिवकुमार मिश्र	वृन्दावन लाल वर्मा . उपन्यास और कला	प्रथम सस्करण १९५६, कानपुर
शिवरानीदेवी प्रेमचन्द	प्रेमचन्द घर मे	प्रथम सस्करण १९४४, बनारस
शकुन्तला राव शास्त्री	वीमेन इन वैदिक एज	१९५४, बम्बई
(डा०) शैल कुमारी	आधुनिक हिन्दी काव्य मे नारी भावना	प्रथम सस्करण, प्रयाग
श्यामकुमारी नेहरू	आवर काज	१९३६, इलाहाबाद
शान्तिप्रिय द्विवेदी	युग और साहित्य	प्रथम सस्करण १९४१, इलाहाबाद,
श्रीकृष्णलाल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९००-१९२५)	तृतीय सस्करण १९५२ इलाहाबाद
(डा०) सत्येन्द्र	मृग नयनी मे कला और कृतित्व	प्रथम सस्करण, साहित्य प्रकाशन, मन्दिर
प्रेमानन्द	हिन्दू विवाह मे कन्या-दान का स्थान	प्रथम सस्करण १९५४
यतीन्द्रनाथ मजूमदार	विवेकानन्द चरित्र	प्रथम सस्करण, कलकत्ता
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य की भूमिका	प्रथम सस्करण
,,	हिन्दी साहित्य	१९५२, अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स, दिल्ली, अम्बाला, आगरा
हावर्ड फास्ट	लिटरेचर एण्ड रीयल्टी	प्रथम सस्करण १९५२, बम्बई
हरिशकर व्यास	मध्यकालीन भारत	प्रथम सस्करण
हेलेन ड्यूश	साइकोलोजी आफ वोमन	प्रथम सस्करण १९४६
त्रिभुवनसिंह	हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	प्रथम सस्करण १९५५, बनारस

पत्र-पत्रिकाएँ

आलोचना	१९५१–१९५८
कल्पना	१९४९–१९५७
प्रतीक	१९४९–१९५१

सुधा	१९२८–१९४१
सरस्वती	१९३०–१९५७
साहित्य	१९५२–१९५५
साहित्य सदेश	१९३०–१९५८
साप्ताहिक हिन्दुस्तान	१९५५–१९५८
युग चेतना	१९५५–१९५९
हस	१९३३–१९४६

●

नामानुक्रमणिका

व्यक्ति

●

ग्रन्थ